कार्यकारणपरंपरा विशिष्टा सत्ता संतान इति चेत् कुतस्तद्विशिष्टः कार्यकारणोपाधित्वादिति चेत्, कथमेवमनेका सत्ता न स्यात्। विशेषणानेकत्वादुपचारादनेकास्त्विति चेत् कथमेवं परमार्थतोनेकसंतानसिद्धिर्यतोनेकसंतानांतरे प्रवृत्तिरविसंवादिनी स्यात्।

कार्य और कारणोंकी परम्परासे विशिष्ट हो रही, एकसत्ताको यदि संतान कहोगे तो बताओ, किस कारणसे उस सत्तामें विशिष्टता प्राप्त हुई। यदि कार्यकारणरूप विशेषणोंसे सत्ताकी विशिष्टताको स्वीकार करोगे तब तो इस प्रकार अनेकसत्तायें क्यों नहीं हो जायेंगी ? अर्थात् अनेक कार्यकारणोंमें न्यारी न्यारी रहनेवाली सत्ता अनेक हो जायेंगी, किंतु वैशेषिकोंने सत्ताको एक माना है। यदि वैशेषिक यों कहें कि विशेषणोंके अनेक होनेके कारण उपचारसे भले ही सत्ता अनेक हो जाओ, वस्तुतः सत्ता एक है, जैसे कि अनेक क्षेत्र या अनेक गृहोंमें रहनेवाला सूर्यका आतप एक है। इस पर तो हम जैन कहेंगे कि इस प्रकार वास्तविकरूपसे अनेक देवदत्त, यज्ञदत्त, मिट्टी, सोना आदि संतानोंकी सिद्धि भला कैसे होगी ? बताओ, जिससे कि एक संतानसे न्यारी दूसरी संतानमें सम्वादको रखनेवाली प्रवृत्ति ठीक ठीक हो सके अर्थात् सत्ता एक है तो संपूर्ण पदार्थोंकी सत्तारूप संतान भी एक ही ठहरेगी। ऐसी दशामें एक द्रव्यकी स्थूलपर्यायें—स्वरूप अनेक संतानों या वंशसंतानों अथवा ज्ञानोंकी संतानोंकी प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी।

येषां पुनरेकानेका च वस्तुनः सत्ता तेषां सामान्यतो विशेषतश्च तथा संतानैकत्वनानात्वव्यवहारो न विरुध्यते। न च विशिष्टकार्यकारणोपाधिकयोः सत्ताविशेषयोः संतानयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावाभावः शाश्वतत्वादिति युक्तं वक्तुं, कथंचिदशाश्वतत्वाविरोधात्। पर्यायार्थतः सर्वस्यानित्यत्वव्यवस्थितिः। ततः संतानिनामिव संतानयोः कथंचिदुपकार्योपकारकभावोऽभ्युपगंतव्य इति सिद्धमुभयात्मकयोरन्योन्यं साधनत्वं लिंगत्रितयनियमं विघटयत्येव। न चैवमन्योन्याश्रयणं तयोरेकतरेण प्रसिद्धे नान्यतरस्याप्रसिद्धस्य साधनात्। तदुभयसिद्धौ कस्यचिदनुमानानुदयात्।

जिन स्याद्वादियोंके यहां फिर वस्तुकी सत्ता एक और अनेक भी मानी गई है, उनके यहां तो सामान्यरूप और विशेषरूपसे तिस प्रकार संतानके एकपन या अनेकपनका व्यवहार होना विरुद्ध नहीं पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि कार्यकारणरूप उपाधियोंसे विशिष्ट हो रहे सत्ता विशेषरूप संतानोंका परस्परमें उपकार्य उपकारकभाव नहीं है। क्योंकि वे सत्तायें नित्य वर्त रही हैं। नित्योंमें कार्यकारणभाव नहीं होता है, इस प्रकार कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि सत्ता विशेषोंमें भी कथंचिद् अनित्यपनेका कोई विरोध नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्तमें संपूर्ण पदार्थोंका पर्यायार्थिकदृष्टिसे अनित्यपना व्यवस्थित किया गया है। तिस कारण व्यक्तिरूपसंतानियोंके समान सत्ताविशेषरूपसे संतानोंका भी कथंचिद् उपकृत उपकारकभाव स्वीकार करलेना चाहिये। इस प्रकार लम्बे चौडे प्रकरण द्वारा बीजसंतान और अंकुरसंतान इन दोनोंस्वरूप कार्यकारणोंका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परस्परमें एक दूसरेका ज्ञापकपना सिद्ध हो गया। अतः यह कार्यकारण उभयरूप हेतु तो लिंगोंके कार्य, कारण, और अकार्यकारणरूप तीन संख्याके नियमका विघटन करा देता ही है। इस प्रकार परस्पर हेतु साध्य बनकर एकसे दूसरेका ज्ञापन करनेमें कोई अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। क्योंकि उन दोनोंमें प्रसिद्ध हो रहे एक हेतुकरके दोनोंमेंसे अप्रसिद्ध बचे हुये एक साध्यकी सिद्धि करली जाती है। जिस विद्वान्को उन दोनोंका निर्णय हो रहा है, उसको उन दोनोंमेंसे किसका भी अनुमान करना उत्पन्न नहीं होता है। शद्वके परिणामीपन और कृतकत्वमें भी तो परस्पर साध्य साधनभाव सभीने अभीष्ट किया है। अतः हेतुकी संख्याओंका उक्त नियम करना ठीक नहीं है। कार्य और कारण तथा अकार्यकारण इन तीन हेतुओंसे न्यारा भी चौथा कार्यकारण उभय हेतु है।

संप्रति पराभिमतसंख्यांतरनियममनूद्य दूषयन्नाह;—

अब इस समय अन्य वादियोंके द्वारा स्वीकार की गई हेतुओंकी अन्य अन्य विभिन्न संख्याके नियमका अनुवाद कर उसको दूषित करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं—

यच्चाभूतमभूतस्य भूतं भूतस्य साधनं।
तथा भूतमभूतस्याभूतं भूतस्य चेष्यते ॥ २०७ ॥
नान्यथानुपपन्नत्वाभावे तदपि संगतम्।
तद्भावे तु किमेतेन नियमेनाफलेन वः ॥ २०८ ॥

जो किसीके द्वारा चार प्रकारके ज्ञापक हेतु माने गये हैं कि अभूत साध्यका अभूत हेतु ज्ञापक है और भूत (हो चुके) साध्यका साधक भूतहेतु है। तिस ही प्रकार अभूतका साधक भूतहेतु है। तथा भूतसाध्यको साधनेवाला अभूत हेतु इष्ट किया गया है। वह सभी अन्यथानुपपत्तिके न होनेपर संगठित नहीं होता है। हां, उस अन्यथानुपपत्तिके होनेपर तो इन चार भेदोंके निष्फल नियम करनेसे तुम्हारे यहां क्या प्रयोजन सधा ? अर्थात् अभूत आदि भेद करना व्यर्थ है। अन्यथा सिद्ध हैं।

न ह्यभूतादिलिंगचतुष्टयनियमो व्यवतिष्ठते भूताभूतोभयस्वभावस्यापि लिंगस्य तादृशि साध्ये संभवात्। न च तद्व्यवच्छेदमकुर्वन्नियमः सफलो नाम।

अभूत आदिक हेतुके चार भेदरूप अवयवोंका नियम करना व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि तिस प्रकारके भूत, अभूत, उभयस्वरूप साध्यको साधनेमें भूतअभूत–उभयस्वभाव हेतुका भी सम्भवना बन रहा है। और उस पांचवें हेतु भेदके व्यवच्छेदको नहीं कर रहा चारका नियम तो कैसे भी सफल नहीं कहा जा सकता है। भावार्थ—विरोधी हेतुओंके उदाहरण इस प्रकार हैं कि तीव्रवायु और बादलोंका संयोग हो चुका था, क्योंकि वर्षा नहीं हुई थी। इस अनुमानमें भूत

वायुबादलसंयोगका अभूतवर्षा हेतु है। बरसनेवाले बादलोंको भी वायु उडा देती है। इसी प्रकार नहीं उत्पन्न हो चुके स्फोट आदिक हेतुभूत मंत्रपाठके ज्ञापक लिङ्ग हैं। मंत्रपाठ कर देनेसे विषधर जीवके काटनेपर या अग्निसे पीडा, फोडा, फलक नहीं होते हैं। तथा भूतस्फोट आदिक हेतु अभूतमंत्रपाठके ज्ञापक हैं। मंत्र नहीं पढनेसे तो फोडा आदिक हो जाते हैं। इसी प्रकार हो चुका (भूत) वायु और मेघोंका संयोग अभूत (नहीं हो चुकी) वर्षाका ज्ञापकहेतु है। अभूतमणि आदिके सन्निकटत्वका भूतदाह हेतु है। चन्द्रकान्तमणिके निकटवर्ती न होनेसे दाह हो चुकी है। नहीं तो दाहका प्रतिबंध हो जाता। तथा भूतलिङ्ग भूत-साध्यका ज्ञापक है। विद्यमान विरोधी जीवकरके विद्यमान हो रहे विरोधीका कहीं अनुमान हो जाता है। जैसे कि मुरझाये हुये सर्पको देखकर झाडीमें छिपे हुये नौलेका अनुमान हो जाता है। तथा अभूतसे यानी वर्षाके नहीं उपयोगी बादलोंसे अभूतवर्षाका अनुमान कर लिया जाता है। अच्छी मेघघटा नहीं होनेसे वर्षा नहीं हो सकी। किन्तु इन चारोंसे अतिरिक्त अभूत, उभय स्वभाववाले एक ही साध्य और हेतु भी देखे जाते हैं। जैसे कि औषधिके सेवनसे रोगके अभावका अनुमान करना। औषधिसे रोग दूर भी हो जाता है, नहीं भी होता है। विना औषधिके भी रोग दूर हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो हेतुभेदोंका नियम करना व्यर्थ है, और यदि अन्यथानुपपत्ति है तो भी भेद, प्रभेद, करना निःसार है। हां, शिष्यकी बुद्धिको विशद करानेके लिये समुचित भेद करना उपयोगी है।

सर्वहेतुविशेषाणां संग्रहो भासते यथा।
तथा तद्भेदनियमे द्विभेदो हेतुरिष्यताम् ॥ २०९ ॥
संक्षेपादुपलंभश्चानुपलंभश्च वस्तुनः।
परेषां तत्प्रभेदत्वात्तत्रांतर्भावसिद्धितः ॥ २१० ॥

यदि संपूर्ण हेतुओंके भेदोंका संग्रह हो जाना जिस प्रकार प्रतिभासित हो जाय उस ढंगसे उस हेतुके भेदोंका नियम करना चाहते हो तब तो दो प्रकारके हेतु इष्ट करलो। अन्य टंटा बढाना व्यर्थ है। संक्षेपसे वस्तुका उपलम्भ होना और अनुपलम्भ होना ये दो भेद हेतुके करना अच्छा है। क्योंकि अन्य शेषभेदोंको उन दो भेदोंका ही प्रभेदपना हो जानेसे उन हीमें अन्तर्भाव करना सिद्ध हो जाता है।

उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरेवेति सर्वहेतुविशेषाणामंतर्भावः प्रतिभासते संक्षेपात्तेषां तत्प्रभेदत्वादिति तदिष्टिः श्रेयसी। न हि कार्यादयः संयोग्यादयः पूर्ववदादयो वीतादयो वा हेतुविशेषास्ततो भिद्यंते तदप्रभेदत्वाप्रतीतेः।

इस प्रकार सम्पूर्ण हेतुओंके भेद प्रभेदोंका उपलब्धि और अनुपलब्धिमें ही अंतर्भाव होना प्रतिभास रहा है। क्योंकि संक्षेपसे उन दो भेदोंके ही वे सब कार्य आदिक, भूत आदिक, वीत आदिक प्रभेद हैं। इस प्रकार वह दो भेदोंका इष्ट करना ही श्रेष्ठ है। कार्य, कारण, आदिक तथा संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी, और विरोधी तथा पूर्ववत् आदिक अथवा वीत आदिक ये सब हेतुओंके विशेष उन दो भेदोंसे न्यारे नहीं हो रहे हैं। क्योंकि कार्य आदिकोंको उपलब्धि-अनुपलब्धि का प्रभेद रहितपना प्रतीत नहीं हो रहा है। प्रत्युत कार्य आदिकोंसे अतिरिक्त अन्य भी पूर्वचर, व्यापक व्यापकविरुद्ध आदिक अनेक हेतु भी उपलब्धि और अनुपलब्धिके बडे पेटमें समाजाते हैं।

ननूपलभ्यमानत्वमुपलंभो यदीष्यते।
तदा स्वभावहेतुः सद्व्यवहारप्रसाधने ॥ २११ ॥
अथोपलभ्यते येन स तथा कार्यसाधनः।
समानोनुपलंभेपि विचारोयं कथं न ते ॥ २१२ ॥

जैनोंद्वारा माने गये हेतुके दो भेदोंपर बौद्धोंकी शंका है कि उपलंभ शब्दका अर्थ यदि कर्म अर्थकी प्रतिपत्ती कराते हुए घञ् प्रत्ययकर उपलम्भ किया गयापन इष्ट किया गया है, तब तो स्वभाववान्के सद्भावके व्यवहारको अच्छा साधनेमें वह उपलम्भ हेतु स्वभावहेतु ही हुआ और यदि अब उपलम्भ किया जाय, जिसकरके वह उपलम्भ है, तैसा करणमें घञ् प्रत्यय करनेपर उपलम्भ बनाया जायगा, तो उपलम्भहेतु कार्यहेतु क्यों नहीं तुम जैनोंके यहां बन जावेगा? फिर कार्य और स्वभावके अतिरिक्त उपलम्भ हेतुके माननेकी क्या आवश्यकता है? यह विचार अनुपलम्भ शब्दमें भी कर्मसाधन और करणसाधन व्युत्पत्ति करनेपर समानरूपसे लागू होता है। अतः तुम्हारे यहां कार्य, स्वभाव अनुपलम्भ हेतुओंमें ही सर्वहेतुओंका अन्तर्भाव क्यों नहीं कर लिया जाता है। यह उपलम्भ अनुपलम्भका क्यों ढोंग रचा जाता है। तुम्ही हम बौद्धोंकी ओर झुक आओ, जैसे कि हमें अपनी ओर खींचते हो।

यद्युपलंभः कर्मसाधनस्तदा स्वभावहेतुरेव सद्व्यवहारे साध्ये करणसाधनमनुपलंभे ततः सोपि न स्वभावकार्यहेतुभ्यां भिन्नः स्यात्। कर्मसाधनत्वेऽनुपलभ्यमानत्वस्य स्वभाव-हेतुत्वात्। करणसाधनत्वेऽनुपलंभनस्य कार्यस्वभावयोर्विधिसाधनत्वादनुपलंभस्य प्रतिषेध-विषयत्वादन्यस्ताभ्यामनुपलंभ इत्यसंगतं इत्याह—

बौद्ध कह रहे हैं उपलंभ शब्द यदि कर्ममें प्रत्ययकर साधा गया है, तब तो स्वभावहेतु ही होगा। जो देखा जा रहा है, वह वस्तुका स्वभाव है। अतः शिंशपासे वृक्षपनके व्यवहार समानभावके सद्भावका व्यवहारको साध्य करनेमें साध्यका स्वभाव उपलम्भ हेतु है और करणसाधन

उपलम्भ शब्द यदि माना जायगा तो उसका अर्थ कार्य हेतु हो जायगा। यही बात अनुपलम्भमें भी लगा लेना। तिसकारण वह भी स्वभाव और कार्य हेतुओंसे भिन्न नहीं हो सकेगा। अनुपलम्भ शब्दको कर्मसाधन माननेपर उपलम्भ नहीं किया गयापन तो स्वभावहेतु हुआ और करणसाधन माननेपर तो अनुपलम्भका अनुपलब्धिमें अंतर्भाव हो जाता है। हम बौद्धोंके यहां विधिको साधने वाले कार्य और स्वभाव दो हेतु माने गये हैं। तथा उन दोनोंसे न्यारा प्रतिषेधको विषय करनेवाला होनेसे तीसरा अनुपलम्भ हेतु इष्ट किया है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना असंगत है। इस बातका आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं।

यथा चानुपलंभेन निषेधोऽर्थस्य साध्यते।
तथा कार्यस्वभावाभ्यामिति युक्ता न तद्भिदा ॥ २१३ ॥

जिस प्रकार अनुपलम्भ करके अर्थका निषेध साधा जाता है, उसी प्रकार कार्य और स्वभावोंसे भी वस्तुका निषेध साधा जा सकता है। इस कारण अनुपलम्भका उन कार्य और स्वभावसे भेद करना युक्त नहीं है। भावार्थ—बौद्धोंके माने गये हेतुके तीन भेद ठीक नहीं है।

ननु च द्वौ साधनावेकः प्रतिषेधहेतुरित्यत्र द्वावेव वस्तुसाधनौ प्रतिषेधहेतुरेवैक इति नियम्यते न पुनर्द्वौ वस्तुसाधनावेव ताभ्यामन्यव्यवच्छेदस्यापि साधनात्। तथा नैक एव प्रतिषेधहेतुरित्यवधार्यते तत एव यतो लिंगत्रयनियमः संक्षेपान्न व्यवतिष्ठत इति न तद्भिदो हेतुरिष्यते तस्याव्यवस्थानादित्यत्राह—

पुनः बौद्धोंका अवधारण है कि हमारे यहां कहा गया है कि वस्तुविधिको साधनेवाले हेतु दो प्रकारके हैं और एक हेतु प्रतिषेधको साधनेवाला है। इस प्रकार इस कथनमें दोनों ही हेतु वस्तुको साधनेवाले हैं और एक हेतु प्रतिषेधको साधनेवाला ही है। इस प्रकार एवकार लगाकर नियम कर दिया जाता है। किन्तु फिर वस्तुकी विधिको ही साधनेवाले दो हेतु हैं, ऐसा नियम तो नहीं किया गया है। क्योंकि उन दो स्वभाव और कार्यहेतुओंसे अन्य पदार्थोंका व्यवच्छेद करना भी साधा जाता है। तथा एक ही हेतु निषेधका साधक है। यह भी हम अवधारण नहीं करते हैं। वही कारण होनेसे यानी निषेधसाधक हेतुसे अन्य किसी पदार्थकी विधि भी साधली जाती है, जिससे कि हम बौद्धोंके यहां संक्षेपसे तीन प्रकारके हेतुका नियम करना व्यवस्थित न होवे अर्थात् हमारे माने गये तीन हेतु ठीक हैं। इस प्रकार हेतुके जैनोंद्वारा माने गये उन उपलम्भ, अनुपलम्भ दो भेदोंको हम इष्ट नहीं करते हैं। क्योंकि उनकी समीचीन-व्यवस्थिति नहीं हो सकी है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

निषेधहेतुरेवैक इत्ययुक्तं विधेरपि।
सिद्धेरनुपलंभेनान्यव्यवच्छिद्विधिर्यतः ॥ २१४ ॥

आप बौद्धोंने कहा था कि निषेधको साधनेवाला एक ही अनुपलम्भ हेतु है, यह कहना अयुक्त है। क्योंकि अनुपलम्भकरके पदार्थोंके विधिकी भी सिद्धि हो जाती है। जिस कारण कि अन्यके व्यवच्छेदकी विधि भी तो अनुपलम्भसे कर दी जाती है। यानी विधिकी सिद्धि भी तो अनुपलम्भ हेतुसे हुई।

नास्तीह प्रदेशे घटादिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरित्यनुपलंभेन यथा निषेध्यस्य प्रतिषेधस्तथा व्यवच्छेदस्य विधिरपि कर्तव्य एव। प्रतिषेधो हि साध्यस्ततोऽन्योऽप्रतिषेधस्तद्व्यवच्छेदस्याविधौ कथं प्रतिषेधः सिद्धयेत् ? तद्विधौ वा कथं प्रतिषेधहेतुरेवैक इत्यवधारणं सुघटं ॥

यहां भूतलरूप प्रदेशमें घट, पुस्तक, आदि नहीं हैं। क्योंकि उपलब्धिस्वरूपकी योग्यताको प्राप्त हो रहेकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अर्थात् यहां घट आदिक यदि होते तो अवश्य दीखनेमें आते, दीखने योग्य होकर वे नहीं दीख रहे हैं। अतः वे यहां नहीं हैं। इस प्रकार अनुपलम्भ करके जैसे निषेध करने योग्य घट आदिका प्रतिषेध हो जाता है, तिस ही प्रकार अन्य घट आदिके व्यवच्छेदकी विधि भी तो करने योग्य ही है। कारण कि यहां अनुमान द्वारा निषेध करना साध्य किया गया है। उस प्रतिषेधसे भिन्न अप्रतिषेध है। यदि उस अप्रतिषेधके निराकरण की विधि न की जायगी तो भला निषेध कैसे पक्का सिद्ध होगा ? बताओ। और यदि अनुपलम्भ हेतु करके उस अप्रतिषेधकी विधि भी साधी गयी मानोगे तो एक हेतु प्रतिषेधका ही साधक है। इस प्रकारका एवकारद्वारा अवधारण करना भला किस प्रकार अच्छा घटित होगा ? तुम्हीं कहो अर्थात् यहां एवकार नहीं लग सकता है।

गुणभावेन विधेरनुपलंभेन साधनात्प्राधान्येन प्रतिषेधस्यैव व्यवस्थापनात्सुघटं तथावधारणमिति चेत्, तर्हि द्वौ वस्तुसाधनावित्यवधारणमस्तु ताभ्यां वस्तुन एव प्राधान्येन विधानात्। प्रतिषेधस्य गुणभावेन साधनात्। यदि पुनः प्रतिषेधोपि कार्यस्वभावाभ्यां प्राधान्येन साध्यते यथा नानग्निरत्र धूमात्, नावृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति मतं तदानुपलंभेनापि विधिः प्रधानभावेन साध्यतां। यथास्त्यत्राग्निरनौष्ण्यानुपलब्धेरिति कथं निषेध साधन एवैक इत्येकं संविधित्सोरन्यत्प्रच्यवते।

बौद्ध कहते हैं कि अनुपलम्भ हेतुकरके गौणरूपसे विधिका भी साधन हो जाता है। किन्तु प्रधानतासे निषेधकी ही अनुपलब्धि करके व्यवस्था कराई जाती है। इस कारण तिस प्रकार एक हेतु प्रतिषेधका साधक है, यह अवधारण करना अच्छा बन जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो कार्य, स्वभाव, ये दो हेतु भावस्वरूप वस्तुके ही साधनेवाले हैं, यह नियम करना भी हो जाओ। क्योंकि उन दो कार्य स्वभाव हेतुओंसे वस्तुके भावकी ही प्रधानतासे विधि की जाती है। निषेधका गौणरूपसे साधन किया जाता है। यदि फिर कार्य और स्वभाव हेतुसे प्रतिषेध

भी प्रधानता करके साधा जायगा जैसे कि यहां अग्निरहितपना नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि धुआं हो रहा है (कार्य हेतु)। तथा यहां वृक्षरहितपना नहीं है, क्योंकि शीशोंका पेड खडा है (स्वभावहेतु) इस प्रकार प्रधानतासे निषेध भी सध गया, ऐसा मानोगे तब तो अनुपलम्भकरके भी प्रधानतासे विधिकी सिद्धि होना मानलो। जिस प्रकार यहां अग्नि है, क्योंकि उष्णतारहितपना नहीं दीख रहा है, या विलक्षण शीतलपना नहीं प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार एक अनुपलब्धि हेतु निषेधको ही साधनेवाला भला कैसे बना ? बताओ। इस कारण एक बातको भले प्रकार बनाओगे तो तुम्हारे हाथसे दूसरी बात गिरी जाती है। अर्थात् अपने लगाये हुये अनुपलब्धि हेतुमें नियमकी रक्षा करनेसे कार्य, स्वभाव, हेतुओंमें भी नियम लगा देना आवश्यक हो जाता है। और कार्यस्वभाव हेतुओंमें नियमकी शिथिलता कर देनेसे अनुपलब्धिमें भी नियम करनेकी शिथिलिता हुई जाती है। एक बातकी रक्षा करनेसे बौद्धोंकी दूसरी बातका स्वयं घात हुआ जाता है।

ननु च नानग्निरत्र धूमादिति विरुद्धकार्योपलब्धिः प्रतिषेधस्य साधिका नावृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिश्च यावत्कश्चित्प्रतिषेधः स सर्वोनुपलब्धेरिति वचनात्। तथास्त्यत्राग्निरनौष्ण्यानुपलब्धेरित्ययमपि स्वभावहेतुरौष्ण्योपलब्धेरेव हेतुत्वात्प्रतिषेधद्वयस्य प्रकृतार्थसमर्थकत्वादिति न प्राधान्येन द्वौ प्रतिषेधसाधनौ। नाप्येको विधिसाधनो यतो-दोषः स्यादिति कश्चित्, सोपि न प्रातीतिकाभिधायी कार्यस्वभावानुपलब्धिषु प्रतीयमा-नासु विपर्ययकल्पनात्।

बौद्ध पुनः अपना आग्रह स्थिर करनेका प्रयत्न करते हैं कि यहां अग्निका अभाव नहीं है। धूम होनेसे, इस अनुमानमें विरुद्धकार्यकी उपलब्धिरूप अनुपलम्भ हेतु निषेधका साधक है। तथा यह प्रदेश वृक्षरहित नहीं है, शीशोंके होनेसे, यह विरुद्धसे व्याप्तिकी उपलब्धिरूप अनुपलम्भ हेतु है, अर्थात् अनग्निसे विरुद्ध अग्नि हुई उसका कार्य धूम है। अवृक्षका विरुद्ध वृक्ष है। उसका व्याप्य शीशम है। जितने भी कोई निषेध साधे जा रहे हैं, वे सभी अनुपलब्धिसे ही सधते हैं। ऐसा हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा गया है। अतः अनुपलब्धिसे ही निषेधकी सिद्धि हुई। कार्य और स्वभावोंसे निषेध नहीं साधा गया। धूम और शिंशपा ये हेतु अभावको साधनेमें अनुपलम्भरूप माने गये हैं। तथा यहां अग्नि है, अनुष्णताके नहीं दीखनेसे, इस प्रकार यह भी बहिरंगसे अनुपलब्धिसरीखी दीखती है, किन्तु वस्तुतः यह उष्णताकी उपलब्धि स्वभाव हेतु ही है। क्योंकि अनुष्णताकी अनुपलब्धि भी स्वभाव है। अनुष्णताकी अनुपलब्धि उष्णताकी उपलब्धि ही तो है। अभावका अभाव भावरूप होता है। दो निषेधोंको प्रकृत अर्थका समर्थकपना है। " घट नहीं है यह नहीं समझना " इसका अर्थ घटका सद्भाव ही होता है। इस कारण दो कार्य और स्वभाव हेतुओंको हम प्रधानतासे निषेध को साधनेवाले नहीं मानते हैं, किन्तु गौणरूपसे निषेधको और प्रधानतासे सद्भावको साधनेवाले मानते हैं। तथा एक अनुपलम्भ हेतु तो विधिका साधनेवाला कैसे भी नहीं माना गया है, जिससे

कि उक्त दोष हमारे ऊपर आवे। इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहा है। वह भी प्रमाणद्वारा विश्वास करने योग्य कथन करनेवाला नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण लौकिक परीक्षक विद्वानोंद्वारा प्रतीत किये जा रहे, कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हेतुओंमें बौद्धोंने विपरीत ही कल्पना कर रक्खी है।

तथाहि—सर्वत्र कार्यस्वभावहेतोर्विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरूपतापत्तेरनुपलब्धेरेवैका स्यात् अनुपलब्धेर्वा कार्यस्वभावहेतुतापत्तेस्तावेव स्यातां तत्र प्रतीत्यनुसरणे यथोपयोक्तृभिप्रायं कार्यस्वभावावपि प्राधान्येन विधिप्रतिषेधसाधनावुपेयौ। विधिसाधनश्चानुपलंभ इति न विषयभेदाल्लिंगसंख्यानियमः सिद्धयेत्।

उस बौद्धोंकी विपरीतकल्पनाका ही निदर्शन कराते हैं कि यों तो सभी स्थानोंपर कार्य और स्वभाव हेतुओंको विरुद्धसे व्याप्तकी उपलब्धिस्वरूपपना प्राप्त हो जावेगा। अतः एक अनुपलब्धि ही हेतुका भेद मान लिया जाय अर्थात् बौद्धोंके विचार अनुसार धूम और शीशोंको भी अनुपलम्भमें अंतर्भूत किया जाता है। तब तो सभी हेतु अनुपलम्भरूप ही मान लिये जांय अथवा अनुपलब्धि हेतुको भी कार्यहेतुपने या स्वभावहेतुपनेकी आपत्ति हो जायगी। अतः अनुपलब्धिका दोमें अन्तर्भाव हो जानेसे कार्य और स्वभाव ये दो ही हेतु रहे हैं। क्योंकि अनुष्णताकी अनुपलब्धिको बौद्धोंने स्वभावहेतुमें गिनदिया है। यदि वहां प्रतीतिका अनुसरण करोगे, तब तो उपयोग करनेवालेके अभिप्रायका नहीं अतिक्रमण कर कार्य, स्वभावहेतुओंको प्रधानतासे विधि और निषेधका भी साधनेवाला मान लेना चाहिये तथा अनुपलम्भ हेतु प्रधानतासे विधिको भी साधनेवाला मान लिया जाना चाहिये। इस कारण विधि और निषेधरूप विषयोंके भेदसे हेतु भेदोंकी संख्याका नियम नहीं सिद्ध हो सकेगा, जो कि बौद्धोंने मान रक्खा है। जैनसिद्धान्त तो " उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च " ऐसा है।

यस्मादनुपलंभोत्रानुपलभ्यत्वमिष्यते।
तथोपलभ्यमानत्वमुपलंभः स्वरूपतः॥ २१५॥
भिन्नावेतौ न तु स्वार्थाभेदादिति नियम्यते।
भावाभावात्मकैकार्थगोचरत्वाविशेषतः॥ २१६॥

जिस कारणसे कि यहां हेतुभेदोंमें नहीं उपलम्भ किया जा रहापन ही अनुपलम्भ माना जाता है, तिसी प्रकार उपलम्भ किया गयापन ही स्वरूपसे उपलम्भ हेतु इष्ट किया गया है। अतः वस्तुके धर्मोंकी अपेक्षासे ये उपलम्भ और अनुपलम्भ भिन्न माने गये हैं, किंतु अपने धर्मी अर्थके अभेद होनेसे तो दोनों अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं है, ऐसा नियम किया जाता है। क्योंकि भाव और अभावस्वरूप एक अर्थ (साध्य) को विषय करनापन धर्म दोनों हेतुओंमें अंतररहित है।

उपलभ्यत्वानुपलभ्यत्वस्वरूपभेदादेव भिन्नादुपलंभानुपलंभौ मंतव्यौ न पुनः स्वविषयभेदादिति नियम्यते विधिप्रतिषेधात्मकैकवस्तुविषयत्वस्य तयोर्विशेषाभावात् ।

एक वस्तुके उपलभ्यपन और अनुपलभ्यपन—नामक स्वरूपभूत धर्मोंके भेदसे ही उपलम्भ और अनुपलम्भोंको भले ही भिन्न मान लेना चाहिये, किन्तु फिर अपने धर्मीरूप विषयके भेदसे ये हेतु भिन्न नहीं हैं, इस प्रकार नियम किया जाता है । क्योंकि विधि और प्रतिषेधस्वरूप एक वस्तु (साध्य) को विषय करनापन उन दोनोंमें विशेषतारहित होकर विद्यमान है । भावार्थ—बौद्धोंके समान प्रमेयभेदसे प्रमाणके भेद होनेको जैसे हम नहीं मानते हैं, प्रमाण कई होय किन्तु सामान्य विशेष आत्मक वस्तुनामका प्रमेय एक ही है । हां, प्रत्यक्षप्रमाणका विषयपन, अनुमानका विषयपन, आगमद्वारा जानने योग्यपन, आदि धर्मोंको वस्तुमें न्यारा न्यारा अवश्य मानते हैं । उसी प्रकार विषयी अर्थके भेदसे उनके ज्ञापक हेतुओंका भेद हमें अभीष्ट नहीं है । हां, अर्थके धर्मोंकी अपेक्षासे हेतुसंबंधी भेद बन जाना समुचित है । " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकस्वभावभेदाः " ऐसा अकलंकवचन है ।

यथैवेत्युपलंभेन प्राधान्याद्विधिगुणभावात् प्रतिषेधश्च विषयीक्रियते तथानुपलंभेनापि । यथानुपलंभेन प्रतिषेधः प्राधान्यात्, विधिश्च गुणभावात्तथोपलंभेनापीति यथायोग्यमुदाहरिष्यते । ततः संक्षेपादुपलंभानुपलंभावेव हेतू प्रतिपत्तव्यौ ।

जिस ही प्रकार यों उपलम्भ हेतुकरके प्रधानतासे विधिको और गौणरूपसे निषेधको विषय किया जाता है, तिस ही प्रकार अनुपलम्भ हेतुकरके भी प्रधानतासे विधि और गौणरूपसे निषेध जाना जाता है । तथा जिस प्रकार अनुपलम्भकरके प्रधानतासे निषेध और गौणरूपसे विधिका जानना अभीष्ट है, उसी प्रकार उपलम्भ करके भी प्रधानतासे निषेध और गौणरूपसे विधिका ज्ञापन करना इष्ट करलो । इन सब हेतुभेदोंके यथायोग्य भविष्यमें उदाहरण दिये जावेंगे । तिस कारण संक्षेपसे उपलम्भ और अनुपलम्भ ही दो हेतु समझलेने चाहिये ।

तत्तत्रैवोपलंभः स्यात्सिद्धः कार्यादिभेदतः ।
कार्योपलब्धिरग्न्यादौ धूमादिः सुविधानतः ॥ २१७ ॥

तिस कारण तिन हेतुभेदोंमें उपलम्भ नामका हेतु तो कार्य, व्याप्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, इन भेदोंसे छह प्रकारका सिद्ध है । जैनसिद्धान्त अनुसार हेतुओंकी अच्छी भेद गणना करनेसे अग्नि आदि कारणोंको साध्य करनेमें धूम आदिक हेतु कार्य उपलब्धिरूप हैं । अर्थात् अग्निके कार्य धूमहेतुके दीख जानेसे अग्निरूप कारणका अनुमान हो जाता है ।

कारणस्योपलब्धिः स्याद्विशिष्टजलदोन्नतेः ।
वृष्टौ विशिष्टता तस्याश्चित्या छायाविशेषतः ॥ २१८ ॥

कारणकी उपलब्धिके उदाहरण इस प्रकार विचार लेना चाहिये कि विशिष्ट ढंगके मेघोंकी उन्नति होनेसे भविष्यमें होनेवाली वर्षाकी विशिष्टता उससे जानली जाती है। तथा छायाविशेषकी छत्रसे ज्ञप्ति हो जाती है। इसी ढंगके अन्य निदर्शन विचार लिये जासकते हैं।

कारणानुपलंभेपि यथा कार्ये विशिष्टता।
बोध्याभ्यासात्तथा कार्यानुपलंभेपि कारणे ॥ २१९ ॥

कारणका प्रत्यक्ष न होनेपर भी जिस प्रकार कार्यमें विशिष्टताको अभ्याससे जान लिया जाता है, अर्थात् प्रत्यक्षकार्यसे परोक्षकारणका अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार कार्यका अनुपलम्भ होनेपर भी कारणमें विशिष्टता जानली जाती है। भावार्थ—प्रत्यक्ष हो रहे कारणहेतुसे परोक्ष कार्यका अनुमान करलिया जाता है।

समर्थं कारणं तेन नांत्यक्षणगतं मतम्।
तद्बोधे येन वैयर्थ्यमनुमानस्य गद्यते ॥ २२० ॥

कार्यके करनेमें समर्थ हो रहे कारणको हम हेतु मानते हैं, तैसा होनेसे अन्त्यक्षणको प्राप्त हो रहा कारण हमारे यहां हेतु नहीं माना गया है, जिससे कि उत्तरक्षणमें उस कार्यका प्रत्यक्ष हो जानेपर अनुमानप्रमाण उठानेका व्यर्थपना कहा जाय। भावार्थ—कारणकूट मिलकर समर्थ सामग्री हो जानेसे अव्यवहित उत्तरक्षणमें कार्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दशामें अन्त्यक्षणको प्राप्त हो रहे कारणसे कार्यका अनुमान करना व्यर्थ है। क्योंकि अनुमानके समयमें तो कार्यका प्रत्यक्ष ही हो जायगा।

न चानुकूलतामात्रं कारणस्य विशिष्टता।
येनास्य प्रतिबंधादिसंभवाद्व्यभिचारिता ॥ २२१ ॥

तथा कारणको ज्ञापक हेतु बनानेके प्रकरणमें स्वरूपयोग्यतारूप केवल अनुकूलताको भी हम कारणकी विशिष्टता नहीं मानते हैं। जैसे कि वृक्षमें लग रहा या कोनेमें धरा हुआ दंड तो घटका कारण नहीं है। हां, स्वरूपयोग्य होकर अनुकूल है, फलका उपघातक नहीं है, तिसी प्रकार अंकुरके अनुकूल हो रहे कारण अकेले खेत, बीज, जल, आदिको ही हम ज्ञापक कारण नहीं मानते हैं, जिससे कि इस कारणका प्रतिबंध, पृथक्करण, आदि सम्भवनेसे कारणहेतुका व्यभिचार दोष बन बैठे अर्थात् कार्य करानेमें उपयोगी हो रहे और कारणपनेकी सामर्थ्यके प्रतिबन्धसे रहित कारणको कार्यका ज्ञापक हेतु माना जाता है। अन्य सभी कारणोंको नहीं।

वैकल्यप्रतिबंधाभ्यामनासाद्य स्वभावताम्।
विशिष्टतात्र विज्ञातुं शक्या छायादिभेदतः ॥ २२२ ॥

तद्विलोपेऽखिलख्यातव्यवहारविलोपनम् ।
तृप्त्यादिकार्यसिद्ध्यर्थमाहारादिप्रवृत्तितः ॥ २२३ ॥

बौद्धजन कार्यको तो ज्ञापकहेतु मानते हैं, किन्तु कारणको ज्ञापकहेतु नहीं मानते हैं। क्योंकि कार्य तो अवश्य ही कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। किन्तु कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करे ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि अनेक कारण कार्यको उत्पन्न किये बिना ही स्वरूपयोग्यतारूप कारणतासहित बने रहते हैं। अन्य कारणोंके एकत्रित न हो पानेसे फलको नहीं उत्पन्न कर पाते हैं। जैसे कि खेतमें पड़ी हुई मट्टी अन्य कुम्हार, चक्र, जल, आदि कारणोंके न मिलनेसे घटको नहीं बना पाती है। अतः कारणको ज्ञापक हेतु बनानेसे व्यभिचार दोष आता है। इस प्रकार बौद्धोंका अनुभव होनेपर आचार्य महाराज कहते हैं कि अन्यकारणोंकी विकलता (रहितता) और कारणोंकी सामर्थ्यका प्रतिबन्ध करके अपने हेतुस्वभावपनको नहीं प्राप्त होकर तो कारणहेतु व्यभिचारी बन जायगा। किन्तु अन्य कारणोंकी परिपूर्णता और कार्य करनेमें हेतुकी सामर्थ्यका प्रतिबंध न होनेसे यहां कारणहेतुकी विशिष्टताको विशेषरूपसे जाना जा सकता है। छाया उष्णता, आदिके भेदसे छत्र, अग्नि, आदिका कारणपना सुव्यवस्थित होरहा है। यदि अन्य कारणोंकी पूर्णता और हेतुसामर्थ्यकी अक्षुण्णता रहते हुये भी उस कारणसे कार्यके ज्ञान होनेका विलोप हो जानेको बौद्ध मानेंगे तो जगत्प्रसिद्ध सम्पूर्ण–व्यवहारोंका विलोप हो जावेगा। तेलके लिये तिलोंका उपादान न हो सकेगा। भविष्यमें सुख, शान्तिको प्राप्त करनेके लिए धर्मसाधनमें प्रवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु ऐसा नहीं है। तृप्ति, प्यास बुझना आदि कार्योंकी सिद्धिके लिये आहार, जलपान, आदिमें प्रवृत्ति होना देखा जा रहा है। अतः सभी कारण तो नहीं, किंतु कार्यको नियमसे करनेवाले कारणोंको ज्ञापक हेतु मानना न्याय्य है। "किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामार्थ्याप्रतिबंधकारणान्तरावैकल्ये" ऐसा परीक्षामुखमें लिखा है।

हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोनुमीयते ।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात्स स्वभाव इतीरणे ॥ २२४ ॥
कार्योत्पादनयोग्यत्वे कार्ये वा शक्तकारणम् ।
स्वभावहेतुरित्यार्यैर्विचार्य प्रथमे मतः ॥ २२५ ॥
स्वकार्ये भिन्नरूपैकस्वभावं कारणं वदेत् ।
कार्यस्यापि स्वभावत्वप्रसंगादविशेषतः ॥ २२६ ॥
समग्रकारणं कार्यस्वभावो न तु तस्य तत् ।
कोऽन्यो ब्रूयादिति ध्वस्तप्रज्ञैरात्मवादिनः ॥ २२७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बौद्धजनोंको भी स्वभाव और कार्यके सदृश कारणहेतु मानना आवश्यक होगा। देखिये, रससे एक सामग्रीका अनुमानकर रूपका अनुमान चाहनेवालोंको कारण हेतु इष्ट करना पडता है। मुखमें चाट लिये गये रससे एक सामग्रीका पहिले अनुमान होता है। यह तो कार्यसे कारणका अनुमान है। किन्तु सामग्रीसे पुनः रूपका अनुमान करना यह कारणसे कार्यका अनुमान है। दाल या शाकमें पडे हुये नीबूके रसका ज्ञान तो रसनासे प्रत्यक्ष हो रहा है। किंतु नीबूके रस जलमें रूपका ज्ञान अनुमानसे ही हो सकता है। रूपसामग्री रसको उत्पन्न करनेमें रूपको बनाती हुई ही व्यापार कर सकती है। अर्थात् रूपको नहीं बनाकर अकेले रसका बनाना उससे असंभव है। अतः रूपस्कंधस्वरूप एक सामग्रीसे खट्टी दालमें नीबूके रूपका ज्ञान हो जाना, कारणहेतुद्वारा अनुमान–साध्य कार्य है। हां, यह अवश्य है कि मणि, मंत्र आदिसे यदि अग्निकी सामर्थ्य नष्ट हो गई है, ऐसी दशामें अग्निसे दाह करनेका अनुमान नहीं किया जा सकता है। तथा बोरेमें भरे हुये गेंहूं चना आदिसे उनके अंकुरोंका अनुमान नहीं होता है। क्योंकि खेत, पानी, मिट्टी, आदि कारणोंकी विकलता होनेसे बीज अकेला अंकुरोंको नहीं पैदा करता है। यदि सामग्रीसे युक्त हो रहे हेतुकरके जो कार्यके उत्पादका अनुमान किया जाता है, वह अन्य अर्थोंकी नहीं अपेक्षा होनेसे स्वभाव हेतु है। ऐसा कहोगे अथवा कार्यके उत्पाद करानेकी योग्यता होते संते कार्य करनेमें समर्थ हो रहा कारण यदि स्वभाव हेतु है। इसपर आर्य विद्वानोंकरके विचार कर पहले स्वभाव हेतुमें कारण हेतु मानना नीतियुक्त होगा। किन्तु जो बौद्ध अपने कार्य करनेमें भिन्नस्वरूप हो रहे एक कारणको यदि स्वभाव कहेगा, तब तो कार्यहेतुको भी स्वभाव हेतुपनका प्रसंग हो जायगा। कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् स्वभाववान् कारणका स्वभाव कार्य हेतु हो सकता है। बुद्धपनसे कोई कहता है कि समग्र कारण तो कार्यका स्वभाव है, किन्तु उस समग्र कारणका स्वभाव वह कार्य नहीं है। इस बातको नष्ट हो गई है विचारशालिनी बुद्धि जिसकी, और आत्माको न मानकर पदार्थोंको निःस्वभाव माननेवाले बौद्धोंके अतिरिक्त अन्य कौन कह सकेगा। अतः स्वभावहेतुसे अतिरिक्त जैसे कार्यहेतु माना जाता है, उसी प्रकार कारणहेतु भी न्यारा मानना चाहिये।

यत्स्वकार्याविनाभावि कारणं कार्यमेव तत्।
कार्यं तु कारणं भावीत्येतदुन्मत्तभाषितम्॥ २२८॥

जो कारण अपने कार्यके साथ अविनाभाव रखता है, वह तो कार्य ही है। भविष्यमें होनेवाले कारण भी कार्यके जनक माने गये हैं, जैसे कि भविष्यमे होनेवाले पत्नीवियोगरूप कारण द्वारा पहले ही तिल, मसा आदि चिन्ह शरीरमें बन जाते हैं। यों कार्यहेतुद्वारा प्रयोजन सध जाता है। इस प्रकार बौद्धोंका यह कहना तो उन्मत्तोंका भाषण है। भला विचारो तो सही

कि कार्यमें व्यापार करनेवाले कारण माने जाते हैं। भविष्यमें होनेवाले कारण भला कार्यमें कैसे सहायता कर सकते हैं ? कथमपि नहीं।

परस्पराविनाभावात् कश्चिद्धेतुः समाश्रितः।
हेतुतत्त्वव्यवस्थैवमन्योन्याश्रयणाज्जनैः ॥ २२९ ॥

कार्य और कारणका परस्परमें अविनाभाव हो जानेसे दोनोंमेंसे चाहे जिस किसीको हेतु बनानेका आश्रय लोगे तब तो इस ढंगसे मनुष्यों द्वारा हेतुत्वकी व्यवस्था हो चुकी ? (उपहास) क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है।

राज्यादिदायकादृष्टविशेषस्यानुमापकम्।
पाणिचक्रादि तत्कार्यं कथं वो भाविकारणम् ॥ २३० ॥

राजापन, सेठपन, यशस्वीपन, पुत्र, कलत्र, धन, आदिसे सहितपना, विद्वत्ता, तथा पुत्रवियोग, दरिद्रता, चिरस्थिररोग, मूर्खता आदिको भविष्यमें दिलानेवाले, पुण्यपापविशेषोंका अनुमान करानेवाले पाणिचक्र आदि चिन्ह उन भविष्यमें होनेवाले राज्य आदि कारणोंसे बनाये गये हैं अर्थात् हाथमें चक्र, हाथी, मछली, रेखा अथवा, पैरोंमें शंख आदि चिन्ह उनके कार्य हैं। और भविष्यमें होनेवाले राज्य, पत्निवियोग आदिक कारण हैं। आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार भविष्यमें होनेवाले कारणोंका आश्रय कर वे भूत हो चुके राज्य आदिक कार्य तुम्हारे यहां कैसे हो जाते हैं ? यह महान् आश्चर्य है। जहां सरोवर भविष्यमें खुदनेवाला है। वहां पूर्वसे ही मगर कैसे किलोलें कर सकता है ? अर्थात् नहीं, भविष्यमें होनेवाले पदार्थ भूतकार्यके कारण नहीं बन सकते हैं। हां, सामग्रीयुक्त समर्थकारणसे कार्यका अनुमान कर लिया जाता है।

तत्परीक्षकलोकानां प्रसिद्धमनुमन्यताम्।
कारणं कार्यवद्धेतुरविनाभावसंगतम् ॥ २३१ ॥

तिस कारण परीक्षकजनोंको यह बात प्रसिद्ध हो रही मान लेनी चाहिये कि कार्यके समान अविनाभावसे युक्त हो रहा कारण भी ज्ञापक हेतु बन जाता है।

एवं कार्योपलब्धिं कारणोपलब्धिं च निश्चित्य संप्रत्यकार्यकारणोपलब्धिं विभिद्योदाहरन्नाह;—

इस प्रकार विधिको साधनेवाले उपलम्भ हेतुओंमेंसे कार्य–उपलम्भ और कारण–उपलम्भ हेतुओंका निश्चयकर इस समय कार्य, कारणसे रहित उपलब्धिके विशेषभेदका उदाहरण दिखलाते हुए आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य

कार्यकारणनिर्मुक्तवस्तुदृष्टिर्विवक्ष्यते ।
तत्स्वभावोपलब्धिश्च तदसम्बन्धनिश्चिता ॥ २३२ ॥
कथंचित्साध्यतादात्म्यपरिणाममितस्य या ।
स्वभावस्योपलब्धिः स्यात्साविनाभावलक्षणा ॥ २३३ ॥
उत्पादादित्रयाक्रांतं समस्तं सत्त्वतो यथा ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं द्रव्यत्वादिति चोच्यते ॥ २३४ ॥

कार्य और कारणसे रहित हो रहे वस्तुका उपलम्भ जब विवक्षित किया जाता है, तब वह कार्यकारण सम्बन्धके रहितपनसे निश्चित की गई स्वभावउपलब्धि कही जाती है। साध्यके साथ कथंचित् तदात्मकपन परिणामको प्राप्त हो रहे स्वभावका उपलम्भ जो होगा वह अविनाभावस्वरूप होता हुआ स्वभाव उपलम्भ हेतुका बीज है। उसके उदाहरण यों हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन धर्मोंसे अधिरूढ हो रहे हैं (साध्य), सत्त्व होनेसे (हेतु) घडा, कडा, पेडा, आदिके समान (दृष्टान्त) तथा द्रव्य (पक्ष) सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायोंसे युक्त है (साध्य), द्रवणपना होनेसे (हेतु), इस प्रकार स्वभाव उपलम्भके उदाहरण कहे जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंका सत्पना स्वभाव है। और गुणपर्ययवान्का स्वभाव द्रव्यत्व धर्म है।

यस्यार्थस्य स्वभावोपलंभः स व्यवसायकः ।
सिद्धिस्तस्यानुमानेन किं त्वयान्यत्प्रसाध्यते ॥ २३५ ॥
समारोपव्यवच्छेदस्तेनेत्यपि न युक्तिमत् ।
निश्चितेर्थे समारोपासंभवादिति केचन ॥ २३६ ॥

किसी प्रतिवादीका यहां पूर्वपक्ष है कि जिस अर्थके स्वभावका उपलम्भ निश्चयसहित हो रहा है, उस स्वभाववान् अर्थके निश्चयकी सिद्धि तो अवश्य ही हो चुकी है। फिर उस स्वभाववान् अर्थका अनुमान करनेसे तुमने किस अतिरिक्त अर्थको बढिया साधा है ? बताओ। यदि तुम जैन यों कहो कि स्वभाववान् अर्थमें किसी कारणसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अथवा अज्ञानरूप समारोप उत्पन्न होगया है, उसका व्यवच्छेद करना अनुमानसे साधा जाता है, यह तुम्हारा कहना भी युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि निश्चित किये जा चुके अर्थमें समारोप होनेका असंभव है। इस प्रकार कोई कह रहे हैं।

तदसद्वस्तुनोनेकस्वभावस्य विनिश्चिते ।
सत्त्वादावपि साध्यात्मनिश्चयान्नियमान्नृणाम् ॥ २३७ ॥

निश्चितानिश्चितात्मत्वं न चैकस्य विरुध्यते ।
चित्रताज्ञानवन्नानास्वभावैकार्थसाधनात् ॥ २३८ ॥

वह किसीका कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि वस्तुके अनेक स्वभावोंका विशेष निश्चय होते हुये भी कतिपय धर्मयुक्त वस्तुका निश्चय नहीं हो पाता है । ऐसी दशा होनेपर सत्त्व, परिणामित्व आदि हेतुओंमें उत्पाद आदिसे घिरे हुये साध्यस्वरूपके साथ अविनाभावका निश्चय होनेसे भी साध्यका निश्चय होना मनुष्योंके देखा जाता है । उष्णताको देखकर अग्निका ज्ञान हो जाता है । एक भावके निश्चितस्वरूपपन और अनिश्चितस्वरूपपनमें कुछ विरोध नहीं पडते हैं । कारण कि अनेक स्वभाववाले एक अर्थको चित्रपनके ज्ञानसमान साध दिया गया है । अर्थात् वस्तुके एक निश्चितस्वभावसे अनुमान द्वारा अन्य स्वभावोंके साथ तदात्मक हो रहे वस्तुका निश्चय हो जाता है ।

तत एव न पक्षस्य प्रमाणेन विरोधनं ।
नापि वृत्तिर्विपक्षे तद्धेतोरेकान्ततश्च्युतेः ॥ २३९ ॥
उत्पादव्ययनिर्मुक्तं न वस्तु खरशृंगवत् ।
नापि ध्रौव्यपरित्यक्तं त्र्यात्मकं स्वार्थतत्त्वतः ॥ २४० ॥

तिस ही कारण पक्षका यानी प्रतिज्ञाका प्रमाणकरके विरोध नहीं हुआ । एक ही धर्मसे युक्त पदार्थ हैं, इस सिद्धांतसे च्युत हो जानेके कारण उस सत्त्वहेतुकी विपक्षमें वृत्ति भी नहीं है । जो उत्पाद और व्ययसे सर्वथा रहित है, वह गधेके सींगसमान कोई वस्तु नहीं है । तथा ध्रुवपनसे छोड दिया गया भी शशाके सींग समान कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है । अतः कूटस्थ नित्यवादी सांख्योंका और निरन्वय क्षणिकवादी बौद्धोंका मन्तव्य गिर जाता है । विचार करनेपर अपना अर्थ-क्रिया करनारूप, प्रयोजन तत्त्वकी अपेक्षासे सम्पूर्ण पदार्थ पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तरवर्त्ती स्वभावोंका ग्रहण, तथा अन्वितरूपसे ध्रुवपनारूप तीन धर्मोंकरके तदात्मक हो रहे हैं ।

सहभाविगुणात्मत्वाभावे द्रव्यस्य तत्त्वतः ।
क्रमोत्पित्सु स्वपर्यायाभावत्वे च न कस्यचित् ॥ २४१ ॥
नाक्रमेण क्रमेणापि कार्यकारित्वसंगतिः ।
तदभावे कुतस्तस्य द्रव्यत्वं व्योमपुष्पवत् ॥ २४२ ॥
एवं हेतुरयं शक्तः साध्यं साधयितुं ध्रुवम् ।
सत्त्ववन्नियमादेव लक्षणस्य विनिश्चयात् ॥ २४३ ॥

अनादिसे अनंतकालतक ठहरनेवाले द्रव्यके साथ ध्रुवरूपसे हो रहे सहभावी गुणात्मकपना न माननेपर द्रव्यकी यथार्थ करके अक्रमपनेसे यानी युगपत् कार्यकारीपनकी संगति नहीं बनेगी, तथा क्रमसे उत्पन्न होना चाह रहे उत्पाद, व्ययरूप अपने पर्यायोंके अभाव माननेपर किसी भी द्रव्यके क्रम, क्रमसे कार्यकारीपनकी समीचीन गति नहीं हो सकती है, जब अर्थक्रियाको संपादन करानेके बीजभूत वे उत्पाद व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सहभावी और क्रमभावी परिणाम नहीं माने जायगे तो उस पदार्थका द्रव्यपना कैसे सिद्ध होगा ? जैसे कि क्रम और युगपत्पन सो अर्थ-क्रियाको न करनेसे आकाश पुष्पको द्रव्यपना नहीं सिद्ध होता है। इस प्रकार यह द्रव्यत्व हेतु सत्त्वहेतुके समान उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, आत्मक साध्यको साधनेके लिये पक्के तौरसे समर्थ है। क्योंकि अविनाभाव यहां विद्यमान है। अविनाभावसे ही समीचीन हेतुके लक्षणका विशेष निश्चय हो जाता है।

तदियमकार्यकारणरूपस्य साध्यस्वभावस्योपलब्धिर्निश्चितोक्ता। साध्यादन्यस्योपलब्धिं पुनर्विभज्य निश्चिन्वन्नाह;—

तिस कारण यह कार्य, कारण, दोनों स्वरूपोंसे रहित साध्यस्वभावकी उपलब्धि निश्चित की जा चुकी कह दी गई है। अब साध्यसे अन्यकी उपलब्धिरूप हेतुका फिर विभाग कर निश्चय कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं।

साध्यादन्योपलब्धिस्तु द्विविधाप्यवसीयते।
विरुद्धस्याविरुद्धस्य दृष्टेस्तेन विकल्पनात् ॥ २४४ ॥

साध्यसे अन्यपदार्थकी उपलब्धि तो दोनों भी प्रकारकी निश्चित जानी जा रही है। उस साध्यके साथ विरुद्ध हो रहेका उपलम्भ होना और उस साध्यसे अविरुद्धका उपलम्भ होना, इस प्रकार दो भेद किये जाते हैं। साध्यकोटिमेंसे न को निकालकर उससे विरुद्धकी उपलब्धि समझ लेना।

साध्यादन्यस्य हि तेन साध्येन विरुद्धस्योपलब्धिरविरुद्धस्य वा द्विधा कल्प्यते सा गत्यंतराभावात्। तत्र—

कारण कि साध्यसे अन्यकी उस साध्यकरके विरुद्ध हो रहे की उपलब्धि और साध्यसे अविरुद्धकी उपलब्धि इस ढंगसे वह उपलब्धि दो प्रकार कल्पित की गई है। अन्य उपायका अभाव है। तिनमें पहिलीका निरूपण करते हैं।

प्रतिषेधे विरुद्धोपलब्धिरर्थस्य तद्यथा।
नास्त्येव सर्वथैकांतोऽनेकांतस्योपलंभतः ॥ २४५ ॥

यावान्कश्चिन्निषेधोत्र स सर्वोनुपलंभवान् ।
तदेकः विरुद्धोपलंभोस्यानुपलंभनम् ॥ २४६ ॥
इत्ययुक्तं तथाभूतश्रुतेरनुपलंभनम् ।
तन्मूलत्वात्तथाभावे प्रत्यक्षमनुमास्तु ते ॥ २४७ ॥

अर्थके निषेधको साधनेपर निषेध्य अर्थके विरुद्धकी उपलब्धिरूप हेतुका वह उदाहरण इस प्रकार है कि सम्पूर्ण प्रकारोंसे एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेक धर्मोकी उपलब्धि हो रही है। यहां किसीकी शंका है कि जिस कारण कि जितने भी कोई यहां निषेध हैं, वे सभी अनुपलम्भयुक्त हैं, तिस कारण यह एकान्तसे विरुद्ध अनेकान्तका उपलम्भ होना अनुपलंभ हो जाओ। आचार्य कहते हैं कि यह कहना युक्तिरहित है। क्योंकि तिस प्रकार होता हुआ अनुपलम्भ सुना गया है। अनुपलम्भका मूल कारण प्रत्यक्ष है। तिस प्रकार न माननेपर तो तुम्हारे यहां प्रत्यक्षप्रमाण अनुमान हो जाओ अर्थात् अनेकान्तके प्रत्यक्षस्वरूप उपलम्भसे एकान्तोंका अभाव अनुमित हो जाता है। ऐसी दशामें प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रतिष्ठित बने रहते हैं, अन्यथा नहीं।

तथैवानुपलंभेन विरोधे साधिते क्वचित् ।
स्यात्स्वभावविरुद्धोपलब्धिवृत्तिस्तथैव वा ॥ २४८ ॥
लिंगे प्रत्यक्षतः सिद्धे साध्यधर्मिणि वा क्वचित् ।
लिंगिज्ञानं प्रवर्तेत नान्यथातिप्रसंगतः ॥ २४९ ॥
गौणश्चेद्व्यपदेशोऽयं कारणस्य फलेस्तु नः ।
प्रधानभावतस्तस्य तत्राभिप्रायवर्तनात् ॥ २५० ॥

तिस ही प्रकार अनुपलम्भ करके कहीं विरोधका साधन करनेपर स्वभाव विरुद्धकी उपलब्धिका वर्तना होवेगा जैसे कि विशिष्ट उष्णताके अनुपलम्भसे अग्निका अभाव (विरोध) साधा जाता है। अथवा तिस ही प्रकार किसी साध्यरूप धर्मसे सहित हो रहे दृष्टान्तमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हेतुके प्रसिद्ध हो जानेपर कहीं लिङ्गीका ज्ञान प्रवर्त्तेगा। ज्ञापकत्व संबंधसे लिंगसहित लिंगी साध्य कहलाता है। दूसरे प्रकारोंसे लिंगीके ज्ञानोंकी प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि अतिप्रसंग दोष हो जायगा अर्थात् दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण किये विना ही चाहे जिस अतीन्द्रिय हेतुसे चाहे जिस साध्यका अनुमान हो सकेगा। यदि बौद्ध यों कहें कि यह कारणपनेका व्यवहार करना गौण है। तब तो हम जैन कहेंगे कि हमारे यहां फलरूप कार्यमें स्वभावपनेका व्यपदेश गौणरूपसे हो जाओ कि उस स्वभाववान्के साधनेमें अथवा स्वभावविरुद्ध हेतुका विरोधी भावके साधनेमें प्रधानरूपसे अभिप्राय वर्त रहा है।

मार्गदर्शक :- पूज्यपाद श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्वभावविरुद्धोपलब्धिं निश्चित्यानुपलब्धेरर्थांतरभूतां व्याप्यविरुद्धोपलब्धिमुदाहरतिः-

यहांतक निषेध्यसाध्यके स्वभावसे विरुद्धकी उपलब्धिका निश्चय कर अब ग्रन्थकार अनुपलब्धिसे भिन्नस्वरूप हो रही व्याप्यविरुद्ध-उपलब्धिका उदाहरण दिखाते हैं।

व्यापकार्थविरुद्धोपलब्धिरत्र निवेदिता ।
यथा न सन्निकर्षादिः प्रमाणं परसंमतम् ॥ २५१ ॥
अज्ञानत्वादतिव्याप्तेर्ज्ञानत्वेन मितेरिह ।
व्यापकव्यापकद्विष्टोपलब्धिर्वेयमिष्यते ॥ २५२ ॥
स्यात्साधकतमत्वेन स्वार्थज्ञप्तौ प्रमाणता ।
व्याप्ता या च तया व्याप्तं ज्ञानात्मत्वेन साध्यते ॥ २५३ ॥

लगे हाथ यहां व्यापक अर्थसे विरुद्ध हो रहे की उपलब्धि भी निवेदन कर दी गई है। उसका उदाहरण यों है कि वैशेषिक सांख्य आदि परवादियोंके सम्मत हो रहे सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य, आदिक (पक्ष) प्रमाण नहीं हैं (साध्य), अज्ञानरूप होनेसे (हेतु) यहां ज्ञानपने करके प्रमाणताकी व्याप्ति हो रही है। अज्ञानको प्रमाण माननेपर अतिव्याप्ति दोष है। अर्थात् घट आदिक भी प्रमाण बन बैठेंगे, जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रमाणरहितपना साध्यमेंसे निषेध अंशको निकालकर प्रमाणपनरूप साध्यके व्यापक ज्ञानत्वसे विरुद्ध अज्ञानपनकी उपलब्धि व्यापकविरुद्ध उपलब्धि है। अथवा यह अज्ञानत्व हेतु व्यापकव्यापक-विरुद्ध उपलब्धि इष्ट किया गया है। प्रमाणपनका व्यापक प्रमितिका साधकतमपना है, और प्रमितिके साधकतमपनेका व्यापक-ज्ञानपना है। उस ज्ञानपनेके विरुद्ध अज्ञानत्वकी उपलब्धि हो रही है। स्व और अर्थकी ज्ञप्ति करनेमें प्रकृष्ट उपकारकपनेकरके जो प्रमाणता व्याप्त हो रही है, वही प्रमाणता ज्ञानरूपपनेसे व्याप्त हो रही है। और व्यापकज्ञानपनेके निषेधस्वरूप अज्ञानपनकरके प्रमाणत्वका अभाव साध लिया जाता है।

यदा प्रमाणत्वं ज्ञानत्वेन व्याप्तं साध्यतेऽज्ञानस्य प्रमाणत्वेतिप्रसंगात् तदा बद्विरुद्धस्याज्ञानत्वस्योपलब्धिर्व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्बोध्या न सन्निकर्षादिरचेतनः प्रमाणमज्ञानत्वादिति। यदा तु प्रमाणत्वं साधकतमत्वेन व्याप्तं तदपि ज्ञानात्मकत्वेन व्याप्तं साध्यतेऽसाधकतमस्य प्रमाणतानुपपत्तेरज्ञानात्मकस्य च स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वायोगात्। छिदिक्रियादावेवाज्ञानात्मनः परश्वादेः साधकतमत्वोपपत्तेः। तदा व्यापकव्यापकविरुद्धोपलब्धिः सैवोदाहर्तव्या ॥

जिस समय प्रमाणपना ज्ञानपनेसे व्याप्त हो रहा साधा जा रहा है, अज्ञानको प्रमाणपना माननेसे प्रदीप, घट, आदिमें अतिप्रसंग हो जायगा, तब तो उस निषेधरहितसाध्यके व्यापक ज्ञानपनसे विरुद्ध अज्ञानपनकी उपलब्धिरूप हेतु व्यापकविरुद्ध उपलब्धि समझ लेनी चाहिये। अचेतन हो रहे सन्निकर्ष आदिक प्रमाण नहीं हैं (प्रतिज्ञा), अज्ञानपना होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें व्यापकविरुद्ध–उपलब्धि हेतु है। किन्तु जब प्रमाणपना प्रमितिके साधकतमपनसे व्याप्त हो रहा है और ज्ञानस्वरूपसे प्रमितिका साधकतमपना व्याप्त हो रहा साधा जाता है। क्योंकि प्रमितिके असाधकतमको प्रमाणपना नहीं बनता है। तथा अज्ञानस्वरूप पदार्थोंको स्वार्थोंकी प्रमितिमें साधकतमपना अयुक्त भी है। हां, छेदन, लवण, एकारा, आदि क्रियाओंमें भले ही अज्ञानस्वरूप फर्सा, वसूला, प्रदीप, आदिको साधकतमपना युक्त है, तब तो वही अनुमान व्यापकव्यापकविरुद्ध–उपलब्धिका उदाहरण समझ लेना चाहिये। किसी किसी सद्धेतुमें सद्धेतुओंके अनेक गुण भी रह जाते हैं। जैसे कि वायु ज्ञानवान् है, स्नेह होनेसे, इस अनुमानके असद्धेतुमें कई हेत्वाभास दोष सम्भव रहे हैं।

व्यापकद्विष्ठकार्योपलब्धिः कार्योपलब्धिगा।
श्रुतिप्राधान्यतः सिद्धा परंपर्याद्विरुद्धवत् ॥ २५४ ॥
यथा नात्मा विभुः काये तत्सुखाद्युपलब्धितः।
विभुत्वं सर्वभूर्तार्थसंबंधित्वेन वस्तुनः ॥ २५५ ॥
व्याप्तं तेन विरोधीदं कायसंबंधमात्रकं।
काय एव सुखादीनां तत्कार्याणां विबोधनम् ॥ २५६ ॥

कार्य उपलब्धिको प्राप्त हो रही व्यापकविरुद्ध कार्य उपलब्धि हेतु भी आगम प्रमाणकी प्रधानतासे सिद्ध हो रही है। जैसे कि स्वभावविरुद्ध या कार्यविरुद्ध हेतु सिद्ध हैं। उसी प्रकार व्यापक या व्यापककारण आदिकी परम्परा लगानेसे भी हेतु भेद बन जाते हैं। जैसे कि आत्मा (पक्ष) व्यापक नहीं है (साध्य), शरीरमें ही उसके सुख, दुःख आदि गुणोंकी उपलब्धि हो रही है। वैशेषिकोंने आत्मा, काल, आकाश, दिक्वस्तुओंका विभुपना सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच मूर्त अर्थोंके संबंधीपनसे व्याप्त हो रहा माना है। उस व्यापकपनसे यह केवल कार्यसे ही संबंधी होनापन विरुद्ध है। उस आत्माके कार्य हो रहे सुख आदिकोंका शरीर हीमें तो विशद बोध हो रहा है। अतः " सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् " ऐसे निषेध करने योग्य विभुपनका व्यापक सम्पूर्ण मूर्तद्रव्योंसे संबंधीपना है। और सर्व मूर्त संबंधीपनसे विरुद्ध केवल शरीरमें ही संबंधीपना है। उस कार्य संबंधीपनका कार्यशरीरमें ही सुख, दुःख, प्रयत्न, आदिका उपलम्भ होना है। अतः यह व्यापकविरुद्धकार्य उपलब्धि हेतु है।

ननु प्रदेशवृत्तीनां तेषां संवादनं कथं ।
शरीरमात्रसंबंधमात्मनो भावयेत्सदा ॥ २५७ ॥
यतो निःशेषमूर्तार्थसंबंधविनिवर्तनात् ।
विभुत्वाभावसिद्धिः स्यादिति केचित्प्रचक्षते ॥ २५८ ॥
तदयुक्तं मनीषायाः साकल्येनात्मनस्थितेः ।
तच्छून्यस्यात्मताहानेस्तादात्म्यस्य प्रसाधनात् ॥ २५९ ॥

यहां वैशेषिकको शंका है कि व्यापकद्रव्योंके गुण सम्पूर्ण प्रदेशोंमें तो हम लोगोंको नहीं दीख सकते हैं, जैसे कि व्यापक आकाशका शब्द किसी परिमित देशमें ही सुना जाता है। जैनोंके मत अनुसार शरीरके ही परिमाण मानी गई आत्मामें भी सम्पूर्ण अंशोंमें पीडा, सुख, आदि तो कभी कभी अनुभवे जाते हैं। किन्तु एक एक प्रदेशमें पीडाका अनुभव अनेक बार होता रहता है। शिरमें वेदना है, पेटमें पीडा है, घोंटुओंमें व्यथा है, नेत्रमें क्लेश है, हृदयमें गुदगुदीका सुख है। इस प्रकार आत्माके एक एक अंशमें ही उसके कार्योंका उपलम्भ होता है। व्यापक पदार्थोंके सभी अंशोंमें रहनेवाले सर्वगतकार्योंका उपलम्भ होना तो कठिन है। हां, व्यापकद्रव्यके प्रदेशोंमें वर्त रहे उन सुख आदिकोंका अच्छा सम्वादीज्ञान हो रहा है। वह सदा आत्माके केवल शरीरमें ही संबंधीपनको भला कैसे समझा सकता है ? जिससे कि सम्पूर्ण पांचों मूर्त अर्थोंके साथ संबंध होनारूप सर्वगतपनकी विशेषतया निवृत्ति हो जानेसे आत्मामें व्यापकपनका अभाव सिद्ध हो जाय अर्थात् व्यापक आत्माके कतिपय छोटे छोटे अंशोंमें जाने जा रहे दुःख, सुख, आदिक आत्माके व्यापकपनका बिगाड नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार कोई बडी ऐंठके साथ बखान रहे हैं। उनका वह कथन अयुक्त है। क्योंकि बुद्धि नामका गुण आत्माके सकल अंशोंमें व्यापरहा माना गया है। उस बुद्धिसे रहित पदार्थोंको आत्मापनेकी हानि है। कारण कि आत्माका बुद्धिके साथ तदात्मक होना भले प्रकार साध दिया गया है। और बुद्धि तो शरीरमें ही वर्त रहे आत्मामें जानी जा रही है। परीक्षा दे रहे विद्यार्थीके निकट गुरुके आत्माकी बुद्धि नहीं पहुंच रही है। अतः आत्माके सकल अंशोंमें व्याप रही बुद्धिकी स्थिति केवल शरीरमें ही हो रही है। अतः आत्मा शरीरके परिमाण ही है। व्यापक नहीं है।

यद्यपि शिरसि मे सुखं पादे मे वेदनेति विशेषतः प्रदेशवृत्तित्वं सुखादीनामनुभूयते तदनुभवविशेषाणां च तथापि ज्ञानसामान्यस्य सर्वात्मद्रव्यवृत्तित्वमेव, ज्ञानमात्रशून्यस्यात्मविरोधादतिप्रसक्तेरिति साधितं उपयोगात्मसिद्धौ । ततो युक्तेयं व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः ।

मेरे शिरमें सुख है, मेरे पांवमें वेदना है, इत्यादि विशेषरूपोंसे आत्माके सुख आदिकोंका यद्यपि प्रदेशोंमें वर्तना अनुभवा जा रहा है। और उन सुख आदिकोंके विशेष सम्वेदन होनेका भी अखण्ड आत्माके कतिपय प्रदेशोंमें ही अनुभव हो रहा है, तो भी ज्ञानसामान्यका सम्पूर्ण आत्मा द्रव्यके प्रदेशोंमें वर्तना ही सिद्ध है। जो पदार्थ सामान्यज्ञानसे भी रहित है, उसके आत्मपनका विरोध है। क्योंकि ज्ञानरहितको भी यदि आत्मा मान लिया जायगा तो ढेल, कटोरा, आदि जड पदार्थोंमें भी आत्मापनेकी अतिव्याप्ति हो जावेगी। इस बातको हम उपयोगस्वरूप आत्माको साधते समय सिद्ध कर चुके हैं। तिस कारण आत्माको अव्यापक साधनेके लिये दिया गया " कार्यमें ही सुख आदिककी उपलब्धिरूप हेतु व्यापकविरुद्ध—कार्य उपलब्धि है। यह युक्तिओंसे भरपूर है "।

विरुद्धकार्यसंसिद्धिर्नास्त्येकांतेनपेक्षिण्य-।
नेकांतेऽर्थक्रियादृष्टेरित्येवमवगम्यते ॥ २६० ॥

विरुद्ध कार्य उपलब्धिका उदाहरण इस प्रकार जाना जाता है कि अपेक्षारहित एकान्तमें किसी भी कार्यकी भले प्रकार सिद्धि नहीं है। अतः अपेक्षाओंसे रहित हो रहा सर्वथा एकान्त नहीं है। क्योंकि अनेक धर्मोंसे युक्त हो रहे पदार्थमें अर्थक्रियाका होना देखा जा रहा है। यहां कविसङ्केतकी नहीं अपेक्षा कर नैयायिक आचार्यने द्वितीयपाद और तृतीयपादमें सन्धि कर दी है।

निरपेक्षैकांतेन ह्यनेकांतो विरुद्धस्तत्कार्यमर्थक्रियोपलब्धिर्निषेध्यस्याभावं साधयति।

कारण कि अपेक्षाओंसे रहित हो रहे एकान्तसे अनेकान्त विरुद्ध है। उस अनेकान्त अर्थका कार्य अर्थक्रियाकी उपलब्धि है। वह निषेध करने योग्य एकान्तके अभावका साधन करा देती है। अतः साध्य कोटिमेंसे अभावको निकालकर उस निषेध्यसे विरुद्ध अर्थके कार्यकी संसिद्धि होनेसे यह विरुद्धकार्य—उपलब्धिरूप हेतु है।

कारणार्थविरुद्धा तूपलब्धिर्ज्ञायते यथा।
नास्तिमिथ्याचरित्रं मे सम्यग्विज्ञानवेदनात् ॥ २६१ ॥
तद्धि मिथ्याचरित्रस्य कारणं विनिवर्तयेत्।
मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु तस्य तद्विनिवर्तिका ॥ २६२ ॥

कारणरूप अर्थसे विरुद्धकी उपलब्धि तो इस उदाहरण द्वारा जान ली जाती है कि मेरे पास मिथ्याचारित्र नहीं है (प्रतिज्ञा), क्योंकि सम्यक्ज्ञान प्रकाश रहा है (हेतु)। इस अनुमानमें निषेध करने योग्य मिथ्याचारित्रका कारण मिथ्याज्ञान है। उस मिथ्याज्ञानके विरुद्ध हो रहे

सम्यक्ज्ञानकी उपलब्धि हो रही है। अतः वह सम्यक्ज्ञानका प्रकाश मिथ्याचारित्रके कारण मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिको करावेगा और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तो उस मिथ्याचारित्रकी विशेषरूपसे निवृत्त करानेवाली हो जायगी।

ननु च सम्यग्विज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्न मिथ्याचारित्रस्य निवृत्तिका प्रादुर्भूत-सम्यग्ज्ञानस्यापि पुंसोऽचारित्रप्रसिद्धेः पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरमिति वचनादन्यथा तद्व्या-घातादिति चेन्न, मिथ्याचारित्रस्य मिथ्यागमादिज्ञानपूर्वस्य पंचाग्निसाधनादेर्निषेधत्वात्। चारित्रमोहोदये सति निवृत्तिपरिणामाभावलक्षणस्याचारित्रस्य तु निषेध्यत्वानिष्टे मोहोदय-मात्रापेक्षित्वस्य तु द्वयोरप्यचारित्रमिथ्याचारित्रयोरभेदेन वचनमागमे व्यवस्थितिविरुद्धमेव मिथ्यादर्शने मिथ्याचारित्रस्यांतर्भावाच्च मिथ्याज्ञानवत्॥

यहां शंका है कि सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है। किन्तु मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तो मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति करानेवाली नहीं ठहरती है। क्योंकि जिस आत्माके सम्यग्ज्ञान उत्पन्न भी हो गया है, उसके भी चतुर्थ–गुणस्थानमें अचारित्रकी प्रसिद्धि हो रही है। "एवं पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्" पूर्वके सम्यग्ज्ञानके लाभ होनेपर भी उत्तरवर्त्ती चारित्र भजनीय है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान हो जाय और चारित्र होय भी अथवा नहीं भी होय, ऐसा मूलसूत्र अनुसार बखानेगये वार्त्तिक शास्त्रोंमें कहा गया है। अन्यथा यानी सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्रकी भी सिद्धि मानी जायगी तब तो उस अकलङ्कवचनका व्याघात होता है। अतः सम्यग्ज्ञानके हो जानेसे मिथ्याचारित्रका निषेध नहीं साधा जा सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि सम्यक्ज्ञान हेतुसे मिथ्याआगम, मिथ्याउपदेश, हिंसापोषकवेद, आदिके ज्ञानोंको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले पंच अग्निसाधन, पेडोंपर उल्टा लटकना, एक हाथको ऊपर ही उठाये रखना, नख जटा बढा लेना, आदिक मिथ्याचारित्रोंका निषेध किया गया है। अर्थात् मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और मिश्रप्रकृतिका उदय होनेपर हो रहे मिथ्याचारित्र या मिश्रचारित्रका सम्यग्ज्ञानसे निषेध साधा जाता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय होते संते हो रहे निवृत्तिपरिणामोंके अभावस्वरूप अचारित्रका तो निषेध्यपना अनिष्ट है। हां, सामान्यरूपसे मोहनीयकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवालापनका तो अचारित्र और मिथ्याचारित्र दोनोंमें भी अभेद करके आगममें प्ररूपण कहा गया है। अथवा मिथ्याचारित्र और अचारित्रका अभेद करके कथन करना तो आगममें की गई व्यवस्थाके विरुद्ध ही पडता है। दूसरी बात यह है कि मिथ्यादर्शनमें मिथ्याज्ञानके समान मिथ्याचारित्रका अन्तर्भाव किया गया है। अतः मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति मिथ्याचारित्रको निवृत्त करावेगी ही, उत्तरवर्त्ती गुण भजनीय है। यह विशेषचारित्रकी अपेक्षासे कथन है। अतः अचारित्रके होते हुये भी सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति जान ली जाती है। कई चतुरमनुष्य पंडित न होते हुये भी मूर्ख नहीं होते हैं।

कारणद्विष्टकार्योपलब्धिर्याथात्म्यवाक्ततः ।
तस्य तेनाविनाभावात् पारंपर्येण तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

कारणविरुद्ध कार्य उपलब्धिका उदाहरण यों समझना कि मेरे मिथ्याचारित्र नहीं है । क्योंकि सत्यार्थवचन बोलना हो रहा है । वस्तुतः विचारा जाय तो उस यथार्थ वचनका उस मिथ्याचारित्रके अभावके साथ परम्परासे अविनाभाव हो रहा है । अतः यह हेतु साध्यका भले प्रकार ज्ञापक है ।

नास्ति मिथ्याचारित्रमस्य याथात्म्यवाक्कादिति कारणविरुद्धकार्योपलब्धिः मिथ्याचारित्रस्य हि निषेध्यस्य कारणं मिथ्याज्ञानं तेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तस्य कार्यं याथात्म्यवचनं तन्निर्णीय सुविवेचितं निषेध्याभावं साधयत्येव व्यभिचाराभावात् ॥

इस जीवके मिथ्याचारित्र नहीं है (प्रतिज्ञा), यथार्थस्वरूप वचनप्रयोग होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें दिया गया हेतु कारणविरुद्ध-कार्यउपलब्धिरूप है । क्योंकि निषेध करने योग्य मिथ्याचारित्रका कारण मिथ्याज्ञान है । उस मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है । उस सम्यग्ज्ञानका कार्य यथार्थवचन कहना है । अतः सम्यग्ज्ञानद्वारा बनाया जाकर वह यथार्थ वचन हेतु भले प्रकार विवेचन किये गये निषेध्य मिथ्याचारित्रके अभावको साध देता ही है । कोई व्यभिचार, असिद्ध, आदि दोष नहीं आते हैं ।

कारणव्यापकद्विष्टोपलब्धिर्नास्तिनिर्वृतिः ।
सांख्यादेर्ज्ञानमात्रोपगमादिति यथेक्ष्यते ॥ २६४ ॥
निर्वृतेः कारणं व्याप्तं दृष्टयादित्रितयात्मना ।
तद्विरुद्धं तु विज्ञानमात्रं सांख्यादिसम्मतम् ॥ २६५ ॥

निषेधरहित साध्यके कारणके व्यापकसे विरोध रखनेवालेकी उपलब्धि हेतुका उदाहरण इस प्रकार पहिचाना जाता है कि सांख्य, अक्षपाद, कणाद आदिके यहां मोक्ष नहीं बनती है, क्योंकि उन्होंने अकेले तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका कारण स्वीकार किया है । अर्थात् रत्नत्रयसे मुक्तिसंपादन किया जाता है । अकेले ज्ञानसे तो मोक्ष नहीं हो पाती है । इस अनुमानमें निषेध करने योग्य मुक्तिका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस त्रितयस्वरूपसे व्याप्त हो रहा है । और उस रत्नत्रयसे अकेला विज्ञान तो विरुद्ध पडता है, जो कि सांख्य नैयायिक आदि वादियोंकी सम्मतिमें आरहा है । सांख्योंने " तत्त्वज्ञानान्मोक्षः " प्रकृति और पुरुषका भेदज्ञानरूप तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होना अभीष्ट किया है । नैयायिकोंने दुःख-जन्म-प्रवृत्ति आदि सूत्र द्वारा तत्त्वज्ञान हीको मोक्षका कारण माना है । वैशेषिक, प्रौग, आदि वादियोंकी भी यही दशा है ।

न हीयं कारणव्यापकविरुद्धोपलब्धिरसिद्धा निषेधस्य निर्वाणस्य हेतोर्व्यापकस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य निश्चयात् तद्विरुद्धस्य ज्ञानमात्रात्मकत्वस्य सांख्यादिभिः स्वयं संमतत्वात् ॥

यह कारणव्यापकविरुद्ध उपलब्धि हेतु असिद्ध नहीं है, अर्थात् पक्षमें वर्त्त रहा है। क्योंकि निषेध करने योग्य निर्वाणका कारण मोक्षमार्ग है। उस मोक्षमार्गका व्यापक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंकी एकतास्वरूप है, ऐसा इसका निश्चय हो रहा है। उस रत्नत्रयसे विरुद्ध अकेले ज्ञानस्वरूपको ही सांख्य आदिकोंने एवं मोक्षका कारण सम्मत किया है।

कारणव्यापकद्विष्टकार्यदृष्टिस्तु तद्वचः।
सम्यग्विवेचितं साध्याविनाभावि प्रतीयते ॥ २६६ ॥

इसी कहे हुये हेतुमें कार्य लगाकर कारणव्यापकविरुद्ध कार्यउपलब्धिका उदाहरण तो इस प्रकार है कि सांख्य आदिकोंके यहां मोक्ष नहीं बनती है। क्योंकि उनके यहां मोक्षका कारण अकेले ज्ञानका ही वचन सुना जाता है। यह हेतु अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाला प्रतीत हो रहा है। इसका हम भले प्रकार विवेचन कर चुके हैं। अथवा भले प्रकार विचार कर लिया गया साध्यसे अविनाभावी हेतु अपने साध्यको साधनेवाला प्रतीत हो रहा है।

सांख्यादेर्नास्ति निर्वाणं ज्ञानमात्रवचनश्रवणादिति कारणव्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रत्येया सुविवेचितस्य कार्यस्य साध्याविनाभावसिद्धेः।

सांख्य आदि प्रतिवादियोंके यहां मोक्ष नहीं हो पाती है। क्योंकि उनके यहां मोक्षके कारणोंमें अकेले ज्ञानका ही वचन सुना जाता है। इस प्रकार कारणव्यापकविरुद्ध-कार्यउपलब्धि समझ लेनी चाहिये। निषेध करने योग्य निर्वाणका कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है। उसका व्यापक रत्नत्रय है। रत्नत्रयके विरुद्ध अकेला ज्ञान है। उस अकेले ज्ञानका कार्य उनके शास्त्रोंमें मुक्तिके कारण अकेले ज्ञानका ही वचन सुना जाता है। प्रतिपादकके ज्ञानका कार्य प्रतिपादकका वचन है। अच्छे प्रकार विवेचन कर दिया गया, कार्य तो साध्यके साथ अविनाभाव रखता हुआ सिद्ध हो जाता है।

दृष्टा सहचरद्विष्टोपलब्धिस्तद्यथा मयि।
नास्ति मत्याद्यविज्ञानं तत्त्वश्रद्धानसिद्धितः ॥ २६७ ॥
सहचारिनिषेधेन मिथ्याश्रद्धानमीक्षितम्।
तन्निहंत्येव तद्घाति तत्त्वश्रद्धानमंजसा ॥ २६८ ॥

तदभावे च मत्याद्यविज्ञानं विनिवर्तते ।
मतिज्ञानादिभावेन तदास्य परिणामतः ॥ २६९ ॥

प्रतिषेध करने योग्य अर्थात् जिस साध्यदलमेंसे अभाव अंश छोड दिया गया है, ऐसे साध्यके सहचारीके विरुद्धकी उपलब्धिरूप हेतु देखा गया है । उसका उदाहरण इस प्रकार है कि मुझमें मति आदिक अज्ञान यानी कुमति, कुश्रुत, विभंग, या तीसरे गुणस्थानके मिश्रज्ञान नहीं हैं, क्योंकि जीव आदि तत्त्वार्थोंके श्रद्धानकी सिद्धि हो रही है । यहां सहचारीके निषेध करके मिथ्याश्रद्धान देखा जा चुका है । अतः निषेध्य कुज्ञानोंके साथ चरनेवाले मिथ्याश्रद्धानसे विरुद्ध तत्त्वश्रद्धानकी सिद्धि देखी जाती है । तिस कारण उस मिथ्याश्रद्धानको घातनेवाला तत्त्वश्रद्धान उस मिथ्याश्रद्धानको शीघ्र नष्ट कर देता ही है । और मिथ्याश्रद्धानका अभाव हो जानेपर कुमति, कुश्रुत, विभंग, अज्ञानोंकी विशेषतया निवृत्ति हो जाती है । क्योंकि उस समय तत्त्वश्रद्धानके होनेपर इस कुज्ञानका ही उत्तरकालमें सुमति, सुश्रुत, और अवधिज्ञानपर्याय करके परिणमन हो जाता है। जैसे कि श्रेष्ठ औषधिके सेवनसे दूषितरक्त, मांस आदिका ही समीचीन पुष्ट, बलिष्ठ, रक्त, मांस आदि परिणाम हो जाता है ।

सहचरविरुद्धोपलब्धिरपि हि गमिका प्रतीयते इति प्रसिद्धासौ ।

सहचरविरुद्ध उपलब्धि भी अपने साध्यकी ज्ञापिका हो रही है । इस कारण वह भी हेतुके भेदोंमें प्रसिद्ध हो रही गिनी जाती है ।

तथा सहचरद्विष्टकार्यसिद्धिर्निवेदिता ।
प्रशमादिविनिर्णीतेस्तन्नास्माखिति साधने ॥ २७० ॥

इस ही साध्यवाले अनुमानमें सहचर विरुद्ध कार्य उपलब्धिका निवेदन कर दिया गया समझ लेना, जो कि हम धार्मिक जैन लोगोंमें कुज्ञान नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि गुणोंका विशेषरूपसे निर्णय हो रहा है (हेतु), इस प्रकार साधनेपर घटित हो जाती है । निषेध करने योग्य मत्यज्ञान आदिका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है । उससे विरुद्ध तत्त्वश्रद्धान है । उसका कार्य प्रशम आदि गुणोंकी सिद्धि है ।

तस्मिन्सहचरव्यापि विरुद्धस्योपलंभनम् ।
सदर्शनत्वनिर्णीतेरिति तज्ज्ञैरुदाहृतम् ॥ २७१ ॥

उस पूर्वोक्त साध्यको साधनेमें ही सम्यग्दर्शनपनेका निर्णय करनारूप हेतु लगा देनेसे सहचर व्यापक विरुद्धकी उपलब्धि हो जाती है । इस प्रकार अनुमानवेत्ता विद्वानोंने उदाहरण दिया है ।

अर्थात् हम लोगोंमें मत्यज्ञान आदिक नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शका निर्णय हो रहा है। यहां कुज्ञानोंका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है, मिथ्याश्रद्धानका व्यापक मिथ्यादर्शन है। उसके विरुद्ध सम्यग्दृष्टिपनेकी उपलब्धि हो रही है।

तदेतत्सहचरव्यापि द्विष्टकार्योपलंभनम् ।
प्रमाणादिप्रतिष्ठानसिद्धेरिति निबुध्यताम् ॥ २७२ ॥

इसी अनुमानमें प्रमाण, प्रमेय, वस्तुत्व, आत्मा आदि तत्त्वोंकी प्रतिष्ठापूर्वक सिद्धि होनेसे इस प्रकार हेतु लगा देनेसे यह सहचरव्यापकविरुद्ध-कार्य उपलब्धि समझ लेनी चाहिये। वह इस प्रकार है कि निषेध्य कुज्ञानोंका सहचर मिथ्याश्रद्धान है, उसका व्यापक मिथ्यात्व है। उसका विरुद्ध सम्यग्दृष्टिपना है। सम्यग्दृष्टिपनका कार्य प्रमाण, प्रमाता, संवर, निर्जरा, आदि तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा करना है, तिस कारण यह सहचर-व्यापकविरुद्ध-कार्यउपलब्धिहेतु है।

सहचारिनिमित्तेन विरुद्धस्योपलंभनं ।
तन्नास्त्यस्मासु दृग्मोहः प्रतिपक्षोपलंभतः ॥ २७३ ॥

निषेध्य साध्यके सहचारीके निमित्त कारणसे विरुद्ध हो रहेकी उपलब्धिरूप न्यारा हेतु है। उसका उदाहरण यों है कि अर्हंतदेवकी उपासना करनेवाले हम आदि लोगोंमें दर्शनमोहनीयकर्मका उदय नहीं है। क्योंकि उसके प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंकी उपलब्धि हो रही है। यहां निषेध योग्य दर्शनमोहनीय उदयका सहचारी कुमतिज्ञान है। उसका निमित्तकारण मिथ्याश्रद्धान है। उसके विरुद्ध सम्यग्दर्शन परिणामोंकी उपलब्धि हो रही है।

यथेयं सहचरविरुद्धोपलब्धिर्नास्ति मयि मत्याद्यज्ञानं तत्त्वश्रद्धानोपलब्धेरिति तथा सहचरविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रशमादिनिश्चितेरिति सहचरव्यापकविरुद्धोपलब्धिः सद्दर्शनत्वनिश्चितेरिति सहचरव्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रमाणादिव्यवस्थोपलब्धेरिति सहचरकारणविरुद्धोपलब्धिर्दर्शनमोहप्रतिपक्षपरिणामोपलब्धेरिति निबुध्यतां मत्याद्यज्ञानलक्षणनिषेध्याभावाविनाभावप्रतीतेरविशेषात् ।

जिस प्रकार यह सहचरविरुद्ध उपलब्धि है। यह विशेष स्पष्टीकरण यों समझ लेना कि मुझमें मति, श्रुत, अवधिके प्रतिकूल अज्ञान नहीं हैं। क्योंकि तत्त्वोंके श्रद्धानकी उपलब्धि हो रही है, यह हेतु है, उसी प्रकार सहचरविरुद्ध-कार्यउपलब्धि हेतु प्रशम आदिका निश्चय होना है। तथा सद्दर्शनपनेका निश्चय यह हेतु सहचरव्यापक-विरुद्ध उपलब्धि है। और प्रमाण आदिकी व्यवस्थाका उपलम्भ होना यह सहचरव्यापक-विरुद्धकार्यउपलब्धि हेतु है। तथैव दर्शनमोहनीयके प्रतिपक्षी परिणामोंकी उपलब्धि यह हेतु तो सहचरकारणविरुद्ध-उपलब्धि है, ऐसा

समझ लेना चाहिये। क्योंकि मति आदिकोंका अज्ञानस्वरूप निषेध्यके अभावरूप साध्यके साथ इन हेतुओंके अविनाभाव प्रतीत होनेका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् उक्त हेतुओंका अपने साध्यके साथ अविनाभाव विशेषतारहित होकर प्रतीत हो रहा है।

इत्येवं तद्विरुद्धोपलब्धिभेदाः प्रतीतिगाः।
यथायोगमुदाहार्याः स्वयं तत्त्वपरीक्षकैः॥ २७४॥

इत्यादि ढंगसे उस विरुद्ध उपलब्धिके प्रतीतिमें आरूढ हो रहे, भेदोंके यथायोग्य उदाहरण तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाले विद्वानोंकरके स्वयं समझ लेने चाहिये। ग्रन्थविस्तारके भयसे यहां अधिक उदाहरण नहीं लिखे हैं। व्युत्पन्नपुरुष उन उदाहरणोंकी स्वयं ऊहा कर सकते हैं।

इत्येवं निषिद्धे विरुद्धोपलब्धिभेदाश्चतुर्दशोदाहृताः प्रतीतिमनुसरंति कार्यकारण स्वभावोपलब्धिभेदत्रयवत्ततो यथायोगमन्यान्युदाहरणानि लोकसमयप्रसिद्धानि परीक्षकैरुप-दर्शनीयनि प्रतीतिदार्ढ्योपपत्तेः।

इस पूर्वोक्त प्रकार निषेधयुक्त साध्य करनेपर विरुद्ध-उपलब्धिके चौदह उदाहरण कहे जा चुके हैं। वे सभी भेद कार्योपलब्धि, कारणउपलब्धि, स्वभावउपलब्धि, इन तीन भेदोंके समान प्रतीतिका अनुसरण कर रहे हैं। अर्थात् कारण, भाव, आदिको साधनेमें कार्य, स्वभाव आदिक हेतु जैसे प्रतीत हैं, उसी प्रकार निषेधको साधनेमें विरुद्ध उपलब्धिके भेद भी प्रतीत किये जा रहे हैं। तिस कारण परीक्षक विद्वानोंकरके योग्यता अनुसार अन्य भी लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध हो रहे उदाहरण दिखला देने चाहिये। क्योंकि उदाहरणोंसे प्रतीतिकी दृढता सिद्ध हो जाती है। साधारण बुद्धिको रखनेवाले पुरुष भी उदाहरणोंसे कठिन प्रमेयोंको जान जाते हैं। यहांतक दो सौ चवालीसवीं वार्तिकमें कही गयी पहिली विरुद्ध--उपलब्धिका विस्तार कहा।

संप्रति साध्येनाविरुद्धस्याकार्यकारणेनार्थस्योपलब्धिभेदान् विभज्य प्रदर्शयन्नाह–

इस समय साध्य अर्थसे अविरुद्ध हो रहे और कार्य, कारणपनेसे रहित अर्थकी उपलब्धिके भेदोंका विभाग कर प्रदर्शन कराते हुए, आचार्य महाराज कहते हैं। अर्थात् तीसरे अकार्यकारण-हेतुका विस्तार कहा जाता है।

साध्यार्थेनाविरुद्धस्य कार्यकारणभेदिनः।
उपलब्धिस्त्रिधाम्नाता प्राक्सहोत्तरचारिणः॥ २७५॥

साध्यरूप अर्थके साथ अविरोधको प्राप्त हो रहे और कार्यकारणपनेसे भेदवान् हो रहे हेतुकी उपलब्धि तीन प्रकारकी पूर्वाचार्य सम्प्रदाय अनुसार मानी गई है। वह पूर्वचर, सहचर और उत्तरचरभेदोंमें विभक्त है।

तत्र पूर्वचरस्योपलब्धिः सिद्धान्तवेदिनाम् ।
यथोदेष्यति नक्षत्रं शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ २७६ ॥

तिन तीन भेदोंमें पूर्वचरहेतुकी उपलब्धिका तो सिद्धान्त जाननेवालोंके यहां यह उदाहरण प्रदर्शित किया है कि एक मुहूर्तके पीछे रोहिणी नक्षत्रका उदय होवेगा। क्योंकि कृत्तिका नक्षत्रका उदय अभी हुआ है। यहां अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, इस क्रमके अनुसार शकट उदयका पूर्वचारी कृत्तिकाका उदय है।

पूर्वचारि न निःशेषं कारणं नियमादपि ।
कार्यात्मलाभहेतूनां कारणत्वप्रसिद्धितः ॥ २७७ ॥
न रोहिण्युदयस्तु स्यादमुष्मिन् कृत्तिकोदयात् ।
तदनंतरसंधित्वाभावात्कालान्तरेक्षणात् ॥ २७८ ॥

पूर्वमें रहनेवाले सम्पूर्ण ही पदार्थ कारण नहीं हुआ करते हैं। जिससे कि यह कृत्तिका उदय हेतु भी कारण हेतुमें गर्भित हो जाय। क्योंकि जो पूर्ववर्त्ती होते हुये नियमसे कार्यके आत्मलाभ करनेमें कारण भी हो रहे हैं, उनको कारणपनेकी प्रसिद्धि है। सहारनपुरसे शिखरजीको जानेपर पहिले मध्यमें अयोध्या पडती है। एतावता संमेदशिखरका कारण अयोध्या नहीं है। नहीं तो कलकत्ता या आरावालोंको भी अयोध्या अवश्य पडती। रेलगाडी आनेके प्रथम सिगनल गिरता है। किन्तु वह रेलगाडीको खीचनेमें कारण नहीं है। मध्यान्हके प्रथम प्रातःकाल होता है। परन्तु इनका कार्यकारणभाव नहीं है। हां, पूर्वचर उत्तरचरपना है। दूसरी बात यह है कि अन्वय, व्यतिरेकसे कार्यकारणभावका निर्णय किया जाता है। कृत्तिका उदय होनेसे उस समयमें रोहिणीका उदय तो नहीं है। क्योंकि उस कृत्तिका उदय के अव्यवहित उत्तरकालमें शकट उदयका सम्मेलन नहीं देखा जाता है। किन्तु मुहूर्त्त पीछे अन्यकालमें शकटका उदय होना देखा जाता है। अतः शकट उदय और कृत्तिका उदय कार्यकारणभाव नहीं होनेसे कृत्तिका उदयका कारण हेतुओंमें अंतर्भाव नहीं हो सकता है।

विशिष्टकालमासाद्य कृत्तिकाः कुर्वते यदि ।
शकटं भरणिः किं न तत्करोति तथैव च ॥ २७९ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि सभी कारण अव्यवहित उत्तरक्षणमें ही कार्यको थोडे ही कर देते हैं। अन्य सामग्रीके जुटने या स्वयंके परिपक्व होनेके लिये अवसरकी आकांक्षा रखते हुये वे कारण कार्योंको करते हैं। अतः कृत्तिका नक्षत्रका उदय भी विशिष्टकालको प्राप्त होकर शकटके उदयको

कर देता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि एक मुहूर्त्तका व्यवधान देकर जैसे कृत्तिका रोहिणीको कर देती है, वैसे ही दो मुहूर्त्तका व्यवधान देकर भरणी और तीन मुहूर्त्तका व्यवधान देकर अश्विनीनक्षत्र ही शकट (रोहिणी) को क्यों नहीं तिस ही प्रकार उदयरूप बना देते हैं। कई ताराओंका समुदाय होकर कृत्तिका नक्षत्र बना है। अतः कृत्तिका शब्द बहुवचनान्त प्रयुक्त किया गया है। त्रिलोकसारमें "कित्तियपहुदिसु तारा छप्पण तिय एक" यों कृत्तिकामें छह तारे माने हैं।

व्यवधानादहेतुत्वे तस्यास्तत्र क्व वासना ।
स्मृतिहेतुर्विभाव्येत तत्त एवेत्यवर्तिनम् ॥ २८० ॥

वहां अधिक व्यवधान हो जानेसे अश्विनी, भरणीको यदि उस रोहिणीके उदयका हेतुपना न मानोगे तब तो हम कहेंगे कि धारण नामक अनुभव करते समय बहुतकाल पहिले हो चुकी वासना भला अधिक काल पीछे होनेवाली स्मृतिका कारण कहां समझी जावेगी ? अर्थात् अधिक काल पहिले हो चुकीं धारणाज्ञानस्वरूप वासनायें वर्षों पीछे होनेवाली स्मृतिकी कारण तुम बौद्धोंके यहां तिस ही कारण यानी बहुत व्यवधान पड जानेसे नहीं बन सकेंगी। इस प्रकार कार्यमें व्यापार करते हुये नहीं वर्त्त रहे पदार्थको कारण नहीं मानना चाहिये।

कारणं भरणिस्तत्र कृत्तिका सहकारिणी ।
यदि कालांतरापेक्षा तथा स्यादश्विनी न किम् ॥२८१॥

कृत्तिकाको सहकारि कारण बनाती हुई भरणी भी उस शकटके उदयमें यदि कारण मान ली जावेगी तब तो कुछ और भी अन्यकालकी अपेक्षा रखती हुई अर्थात् भरणी और कृत्तिकाको सहकारीकारण मानती हुई अश्विनी भी तिसी प्रकार शकटका कारण क्यों न हो जाय ? यों तो कोई व्यवस्था नहीं टिक सकेगी, पोल मच जायगी। मूर्ख भी पंडितकी थोडी सहायता प्राप्त कर व्याख्याता या पाठक बन जायगा। कछुआ भी हिरणकी सहकारितासे लम्बी दौड लगा लेगा। धर्मात्माओंके विमानोंको पकडकर पापीजन भी स्वर्गोंकी चहल पहलका आनन्द भोग लेंगे।

पितामहः पिता किं न तथैव प्रपितामहः ।
सर्वो वानादिसंतानः सूनोः पूर्वत्वयोगतः ॥ २८२ ॥

जिस प्रकार पुत्रका कारण पिता है, तिस ही के समान पितामह (बाबा) अथवा प्रपितामह (पडबाबा) भी बाप क्यों नहीं हो जावे एवं पुत्रके पूर्वमें रहनेपनका सम्बंध होनेसे सभी सैकडों हजारों पीढियां और पहिलेकी अनादि संतान भी पुत्रका बाप बन जावेंगीं जो कि मानी नहीं गई हैं।

स्वरूपलाभहेताश्चेत् पितृत्वं नेतरस्य तु ।
प्राक् शकटस्य मा भूवन् कृत्तिका हेतवस्तथा ॥ २८३ ॥

यदि पुत्रके स्वरूपको लाभ करानेमें कारण हो रहे पहिली पीडीमें होनेवाले जनकको ही पितापन है, अन्य बाबा आदिको पितापना नहीं है, तभी तो माताको दादी परदादीपनका प्रसंग दूर हो जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो पूर्वकालमें वर्त्त रही कृत्तिका भी तिस ही प्रकार शकटका कारण नहीं होवे। न्याय सर्वत्र एकसा होना चाहिये।

पूर्वपूर्वचरादीनामुपलब्धिः प्रदर्शिता ।
पूर्वाचार्योपलंभेन ततो नार्थांतरं मतम् ॥ २८४ ॥

पूर्ववर्त्ती नक्षत्रोंके भी पहले चरनेवाले आदिकोंकी उपलब्धि भी इस पूर्वचर नामके भेदसे ही दिखलादी गयी है। पूर्व आचार्योंने इसी प्रकार देखा है। अथवा पूर्वसे भी पूर्वचरनेवाले नक्षत्र आदिकोंमें पूर्वचरपना देखा जाता है। तिस कारण वे पूर्वचर हेतुसे भिन्न हेतु नहीं मानी गयी हैं। जैसे कि दो मुहूर्त्त पीछे रोहिणी का उदय होगा, क्योंकि मरणीका उदय हो रहा है। अथवा इस चाकके ऊपर कोश बन जावेगा। क्योंकि इस समय छत्र बन गया है। कुम्हार द्वारा चाकपर घडा बनानेके पहिले मिट्टीकी शिवक (पिंडी) छत्र (हाथसे चौडा छत्ता बनाना) स्थास (कुछ ऊंचेकी ओर चौडाई करना) कोश (मिट्टीमें सरवा सरीखा बनाना) कुशूल (ऊंचा उठाकर भीतें बनाना) अवस्थायें रची जाती हैं। पुनः थोडी क्रिया करनेसे घट बन जाता है। अतः कोश पर्यायके पूर्वमें स्थास है और स्थासके पहिले मृत्तिकाकी छत्रपर्याय है।

सहचार्युपलब्धिः स्यात्कायश्चैतन्यवानयम् ।
विशिष्टस्पर्शसंसिद्धेरिति कैश्चिदुदाहृतम् ॥ २८५ ॥

अब सहचरउपलब्धि हेतुका उदाहरण देते हैं कि यह शरीर (पक्ष) चैतन्ययुक्त है। अर्थात् मृत नहीं है (साध्य) जीवित पुरुषोंमें पाये जानेवाले विशिष्ट प्रकारके स्पर्शकी अच्छी सिद्धि हो रही है (हेतु) इस प्रकार किन्हीं विद्वानोंने सहचर उपलब्धिका उदाहरण दिया है। आयुर्वेद, या शारीरिक शास्त्रको जाननेवाले विद्वान् चैतन्य और स्पर्शविशेषका सहचरपना जानते हैं।

कार्ये हेतुरयं नेष्टः समानसमयत्वतः ।
स्वातंत्र्येण व्यवस्थानाद्गामदक्षिणशृंगवत् ॥ २८६ ॥

यह सहचरहेतु कार्यहेतुमें गर्भित हो जाय ऐसा इष्ट नहीं है। क्योंकि इन दोनोंका समय समान है। साथ साथ रहनेवाले साध्य और हेतु स्वतंत्रतासे व्यवस्थित हो रहे हैं। जैसे कि गौके

मस्तकपर बांये ओरका और दाहिने ओरका सींग साथ रहकर स्वतंत्र व्यवस्थित हैं । पहिले और पीछे समयोंमें होनेवालोंमें कार्यकारणभाव सम्भवता है, साथ रहनेवालोंमें नहीं । अतः यह सहचर हेतु कार्यहेतुसे निराला ही है ।

एकसामग्र्यधीनत्वात्तयोः स्यात्सहभाविता ।
कान्यथा नियमस्तस्यास्ततोन्येषामितीति चेत् ॥ २८७ ॥
नैकद्रव्यात्मतत्त्वेन विना तस्या विरोधतः ।
सामग्र्येका हि तद्द्रव्यं रसरूपादिषु स्फुटम् ॥ २८८ ॥

बौद्ध कहते हैं कि एक सामग्रीके अधीन होनेसे यदि उन डेरे सीधे सींगोंमें सहभावीपना माना जाय, अन्यथा उस सामग्रीका नियम भला कहां माना जायगा ? । उससे भिन्नोंका नियम तो कहीं भी न बनेगा । अर्थात् सहचर हेतुओंमें भी कार्यकारणभाव मान लो । तभी तो एक सामग्रीके अनुसार उनमें सहचरपना बन जाता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि एक द्रव्यस्वरूप हो जानारूप तत्त्वके विना उस सामग्रीका विरोध है । कारण कि वह द्रव्य ही तो एक सामग्री है । यह रूप रस आदिकोंमें स्पष्ट देखा जाता है । ऐसी दशामें रस, रूप, आदिकोंका कार्यकारणभाव कैसा ? ।

न च तस्यानुमा स्वाद्यमानाद्रसविशेषतः ।
समानसमयस्यैव रूपादेरनुमानतः ॥ २८९ ॥
कार्येण कारणस्यानुमानं येनेदमुच्यते ।
कारणेनापि रूपादेस्ततो द्रव्येण नानुमा ॥ २९० ॥

रससे रूपका अनुमान करते समय वह कार्यसे कारणका अनुमान नहीं है । किन्तु सहचर हेतु है । नींबूके चाट लिये जा रहे रसविशेषसे समान समयवाले ही रूप आदिका अनुमान होना देखा जाता है । बौद्धोंने भी प्रत्यक्ष हुये रससे रूपसामग्रीका अनुमान कर पुनः रूपका अनुमान न होना माना है । जिस बौद्धने इसको कार्य द्वारा कारणका ज्ञान होनारूप अनुमान कहा है, उसके यहां कारणकरके भी रूप आदिका अथवा तिस ही कारणद्रव्यकरके रूप आदिका अनुमान होना नहीं बन सकेगा । बौद्धोंने कारणहेतु तो स्वीकार नहीं किया है ।

समानकारणत्वं तु सामग्र्येका यदीष्यते ।
पयोरसात्सरोजन्मरूपस्यानुमितिर्न किम् ॥ २९१ ॥

यथैव हि पयोरूपं (?) रूपाद्रससहायकात् ।
तथा सरोद्भवेपीति स्यात्समाननिमित्तता ॥ २९२ ॥

यदि रूप और रसका कारण समान है, अतः रूप और रसकी एक सामग्री इष्ट की जायगी, तब तो जलके रससे कमलके रूपका अनुमान क्यों न हो जावे ? क्योंकि जलके रसका कारण जल है। और कमलके रूपका कारण भी वही जल है। जिस ही प्रकार रस है सहायक जिसका, ऐसे रूपस्कंधसे जलका रूप बनता है, तिस ही प्रकार कमलमें भी रूप बन जाता है। ऐसी दशामें समाननिमित्तपना हो जावेगा।

प्रत्यासत्तेरभावाच्चेत्साध्यसाधनतानयोः ।
नष्टैकद्रव्यतादात्म्यात् प्रत्यासत्तिः परा च सा ॥ २९३ ॥

कार्य और कारणोंकी प्रत्यासत्ति न होनेसे इन कार्यकारणभिन्नोंका साध्यसाधनपना यदि मानोगे तब तो हम जैन कहेंगे कि एक द्रव्यके साथ तदात्मक हो रहे रूपसंबंधके अतिरिक्त और कोई वह प्रत्यासत्ति नहीं है। कार्यकारण भावको प्राप्त हो रहे पदार्थोंमें अन्य क्षेत्रप्रत्यासत्ति, काल-प्रत्यासत्ति आदिका हम खण्डन कर चुके हैं। अथवा प्रत्यासत्ति नहीं होनेसे बौद्ध इन सहचरोंके साध्यसाधनभावको नष्ट कर देंगे तब तो हम जैन कहते हैं कि एक द्रव्यमें तदात्मक होनेसे वह बढिया द्रव्यप्रत्यासत्ति उनकी विद्यमान है। जिनकी माता वर्तमान है, उनको विना मैय्याका क्यों कहा जाता है !

नन्वर्थान्तरभूतानामहेतुफलताश्रिताम् ।
सहचारित्वमर्थानां कुतो नियतमीक्ष्यते ॥ २९४ ॥
कार्यकारणभावास्ते कस्मादिति समं न किम् ।
तथा संप्रत्ययात्तुल्यं समाधानमपीदृशं ॥ २९५ ॥

यहां बौद्धोंकी शंका है कि सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न हो रहे और कार्यकारण भावके आश्रय नहीं हो रहे पदार्थोंका सहचारिपना किस हेतुसे नियत हो रहा विचारा जा सकता है ? बताओ। अर्थात् किसी भी प्रकारसे कुछ भी संबंध नहीं रखनेवाले सर्वथा उदासीन दो सहचर पदार्थोंका अविनाभाव जान लेना दुःशक्य है। इसका समाधान आचार्य महाराज करते हैं कि तुम बौद्धोंके यहां पूर्व, उत्तरवर्त्ती निरन्वयक्षणिक पदार्थोंका कार्यकारणभाव भला किससे निर्णीत किया जाता है ? बताओ। पूर्वसमयवर्त्ती क्षणका उत्तर समयवर्त्ती क्षणिकपरिणामके साथ तुमने कोई भी संबंध नहीं माना है। इस प्रकार तुम्हारा सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थोंमें कार्यकारणभाव मानना और हमारा

अविनाभाव मानना समान क्यों नहीं हो जावेगा। इस पर यदि तुम यह समाधान करो कि हम क्या करें सर्वथा भिन्न पडे हुये भी पूर्व अपर क्षणोंमें कार्यकारणभाव हो रहा तिस प्रकार अच्छे ढंगसे जाना जा रहा है। तब तो इस प्रकारका समाधान हम जैनोंके यहां भी तुल्य पडता है। अपने रुपयेको सुन्दर, सुडौल, दृढ, कहकर मागना और उसके द्वारा पहिले दे दिये गये रूपयेको रुपिल्ली कहकर तिरस्कार करना अन्याय्य है।

स्वकारणात्तथाग्निश्चेज्जातो धूमस्य कारकः।
चैतन्यसहकार्यस्तु स्पर्शोंगे तददृष्टतः ॥ २९६ ॥
दृष्टाद्धेतोर्विना केर्थाः नियमात्सहकारिणः।
अदृष्टकरणं तेषां किंचिदित्यनुमीयते ॥ २९७ ॥

अपने कारणोंसे उत्पन्न हो चुकी अग्नि धुआं को बनानेवाली देखी जाती है। ऐसा कहने पर तो हम भी कहते हैं कि तिसी प्रकार शरीरमें पाया जा रहा स्पर्श भी तो उसके पुण्य, पापसे सहकृत हो रहे चैतन्यरूप सहकारी कारणसे उत्पन्न हो गया है। प्रत्यक्ष देखे गये हेतुके विना भी जो अर्थ नियमसे सहचारी हो रहे हैं, उनका भी कोई न कोई अदृष्ट कारण इस प्रकार अनुमान द्वारा जानलिया जाता है। तभी तो एक ही गुरुके पढाये हुये अनेक विद्यार्थियोंकी व्युत्पत्तिका वैलक्षण्य देखकर उनके ज्ञानावरणके तीव्र, मन्द, मन्दतर, मध्यम, आदि विजातीय क्षयोपशमोंका अनुमान कर लिया जाता है। प्रकरणमें साथ रहनेवाले हेतु और साध्योंके संबंधका अविनाभाव रूपसे कहीं कहीं अनुमान कर लिया जाता है।

द्रव्यतोऽनादिरूपाणां स्वभावोस्तु न तादृशः।
साध्यसाधनतैवैषां तत्कृतान्योन्यमित्यसत् ॥ २९८ ॥

बौद्ध कहते हैं कि अनादिनिधनद्रव्यकी अपेक्षासे अनादिसे चले आये स्वरूपोंका तिस प्रकारका स्वभाव तो नहीं है। क्योंकि हम बौद्ध किसी भी द्रव्य को अनादिनिधन नहीं मानते हैं। जिससे कि इन सहचारियोंका उस द्रव्यस्वरूपसे किया गया परस्परमें साध्यसाधनभाव हो जाय। आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। पदार्थोंका कालान्तरतक स्थायीपना और संबंध तो पूर्वप्रकरणोंमें साध दिया गया है, वहांसे समझलेना।

ये चार्वाक्परभागाद्या नियमेन परस्परम्।
सहभावमितास्तेषां हेतुरेतेन वर्णितः ॥ २९९ ॥

और भी किसी भींत या डेरे, सूर्य आदिके उरले भाग परले भाग आदिक जो नियम करके परस्परमें साथ रहनेपनको प्राप्त हो रहे हैं, उनका भी साध्यसाधनभाव है। इस कथन करके उनके सहचारीपनका साधन भी वर्णन कर दिया गया है। इस भींतमें परभाग अवश्य है, क्योंकि उरला भाग दीख रहा है, अथवा इस अधिक चौडी नदीमें परला पार (किनारा) अवश्य है। क्योंकि यह उरला तट दीख रहा है। विचारशील पुरुषोंकरके साथ रहनेवाले कतिपय पदार्थोंका अविनाभाव जाना जा सकता है। वह भी पदार्थोंकी स्वरूपभूत हो रही किसी न किसी परिणतिपर अवलंबित है।

ततोतीतैककालानां गतिः किं कार्यलिंगजा।
नियमादन्यथा दृष्टिः सहचार्यादसिद्धितः॥ ३००॥

तिस कारण अधिक काल पहिले हो चुके और एक ही कालमें हो रहे पदार्थोंका ज्ञान क्या कार्यहेतुसे उत्पन्न हुआ माना जायगा ? चिरभूतमें हुये और वर्तमानमें हो रहे पदार्थका तथा वर्तमानमें ही साथ हो रहे दो पदार्थोंका कार्यकारणभाव तो असम्भव है। व्यापार, सहकारिता, उपादेयताको कर रहे पूर्वक्षणवर्ती पदार्थका व्यापार आदिके झेल रहे अव्यवहित उत्तरवर्ती पदार्थके साथ कार्यकारणभाव संबंध माना गया है। बौद्धोंने जो यह कहा था कि " अतीतैककालानां गतिर्नानागतानां " सो आग्रह करना ठीक नहीं है। नियमके विना दूसरे प्रकारोंसे सहचरपनेसे केवल देख लेना तो गमक नहीं है। क्योंकि अविनाभावरहित पदार्थोंके हेतु हेतुमद्भावकी असिद्धि है, दो खडाम् साथ रहते हैं, गाडीके दो पहिये या पर्वत नारद अथवा सन्दूकका ऊपर नीचेका परला साथ रहते हैं। फिर भी अविनाभ नहीं होनेके कारण इनका सहचारीपनसे हेतु हेतुमद्भाव असिद्ध है। संभव है एक ही खडाम् किसीने बनाई होय, अथवा दूसरी खडाम् खो गई होय, आदि यहांतक पूर्वचर हेतुका वर्णन किया है।

तथोत्तरचरस्योपलब्धिस्तज्ज्ञैरुदाहृता।
उदगाद्भरणिराग्नेयदर्शनान्नभसीति सा॥ ३०१॥

अब उत्तरचर हेतुका वर्णन करते हैं। उन हेतुभेदोंको जाननेवाले विद्वानोंकरके तिसी प्रकार उत्तरचरकी उपलब्धिका उदाहरण यों दिया है कि आकाशमंण्डलमें (पक्ष) भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका है (साध्य), क्योंकि कृत्तिकाका उदय देखा जा रहा है (हेतु)। इस प्रकार वह भरणी उदयके मुहूर्त पीछे उदय होनेवाली कृत्तिकाकी उपलब्धि है।

सर्वमुत्तरचारीह कार्यमित्यानिराकृतेः।
नानाप्राणिगणादृष्टात्सातेतरफलाद्विना॥ ३०२॥

यदि बौद्ध यों कहें कि उत्तरचर हेतुओंको कार्यहेतुमें गर्भित कर लिया जाय, कार्य भी तो कारणके उत्तरकालमें रहता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो ठीक नहीं है। क्योंकि यहां उसका चारों ओरसे निराकरण कर दिया है। अनुकूल वेदनीय सातस्वरूप सुख और प्रतिकूल होकर अनुभव किये गये असातरूप दुःख हैं फल जिनके, ऐसे अनेक प्राणीसमुदायके पुण्यपापोंके विना कोई कार्य होता नहीं है। अतः सुखदुःखरूप फलसे जो पुण्यपापका अनुमान है, वह कार्यसे कारणका अनुमान है। और घडीमें चार बजचुकनेका ज्ञापक वर्त्तमानमें पांच बजना यह उत्तरचर हेतु है। यहां कुछ अप्रसंगसा दीखता है। विशेष बुद्धिमान् विचार कर ठीक कर लेंगे ऐसी सम्भावना है।

पूर्वोत्तरचराणि स्युर्भानि क्रमभुवः सदा।
नान्योन्यं हेतुता तेषां कार्याबाधा ततो मता॥ ३०३॥

क्रमकाके होनेवाले अतः पूर्वकाल पदार्थोंसे पूर्वचरत्वं उदय होकर गमन कर रहे नक्षत्र जो होवेंगे, उनका परस्परमें हेतुपना नहीं करना चाहिये। हां, भूत, भविष्यत् कालको मध्यमें देकर तिस कारण निर्बाध होकर उनको हेतुपना माना गया है। जिस प्रकार लौकिक अथवा शास्त्रीय विद्वानोंका बाधारहित व्यवहार होवे, उस प्रकार हेतु हेतुमद्भाव मानकर समीचीन हेतुकी व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

साध्यसाधनता च स्यादविनाभावयोगतः।
हेत्वाभासास्ततोन्ये ये सौगतैरुपदर्शितं॥ ३०४॥

अन्यथानुपपत्तिरूप अविनाभावके योगसे साध्यसाधनभाव माना गया है। अविनाभावको न मानकर जो सौगतोंने उन व्याप्य आदिकोंसे न्यारे हेतु माने हैं, वे सब हेत्वाभास हैं, इस बातको हम भले प्रकार दिखला चुके हैं। अथवा अविनाभावके संबंधसे साध्यसाधनभाव नहीं होता है। कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, ये तीन ही हेतु हैं। उनसे न्यारे पूर्वचर आदिक हेत्वाभास ही हैं। इस प्रकार बौद्धोंका कथन ठीक नहीं है।

तदेवं सहचरोपलब्ध्यादीनां कार्यस्वभावानुपलब्धिभ्यो भिन्नत्वभाजां व्यवस्थापनात्ततोन्ये हेत्वाभासा एवेति न वक्तव्यं सौगतैरित्युपदर्शयति;—

तिस कारण इस प्रकार सहचर उपलब्धि, पूर्वचर उपलब्धि, आदि जो कि बौद्धों द्वारा माने गये कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतुओंसे न्यारेपनको प्राप्त हो रहे हैं। उनकी व्यवस्था कर दी गयी होनेसे बौद्ध यदि यों कहें कि उन कार्य आदि तीन हेतुओंसे भिन्न सभी हेतु हेत्वाभास ही हैं। सो यह तो उन्हें नहीं कहना चाहिये। इस बातको ग्रन्थकार दिखलाते हैं। अर्थात्

बौद्धोंके माने गये तीन ही हेतु नहीं हैं। किंतु अन्य सहचर आदि हेतुओंकी भी व्यवस्था की जा चुकी है।

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमादिति वाच्यं न धीमता ॥ ३०५ ॥
पक्षधर्मात्यये युक्ताः सहचार्यादयो यतः।
सत्यं च हेतवो नातो हेत्वाभासास्तथापरे ॥ ३०६ ॥

बौद्ध कहते हैं कि उस साध्यवान् पक्षके अंशरूप साध्यकरके व्याप्त हो रहा वह हेतु पक्षमें वर्तता संता तीन ही प्रकारका है। पक्षमें वर्त्तरहे हेतुका अविनाभावनियम भी घटित हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो बुद्धिमान बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। जिस कारणसे कि सहचारी, उत्तरचारी, आदि हेतु भी पक्षमें वर्तना नहीं होनेपर भी सत्यार्थरूपसे हेतु माने गये हैं। इस कारण तिस प्रकार पक्षसत्त्व नामक गुण नहीं रहनेसे कार्यस्वभाव, अनुपलब्धि हेतुओंसे भिन्न सभी हेतु हेत्वाभास नहीं हो सकते हैं। भावार्थ—पक्षमें वर्तना न होते हुये भी पूर्वचर आदि हेतुओंको सद्धेतुपना साध दिया गया है।

त्रिधैव वाविनाभावानियमाद्धेतुरास्थितः।
कार्यादिर्नान्य इत्येषा व्याख्यैतेन निराकृता ॥ ३०७ ॥

" हेतुस्त्रिधैव " इसका व्याख्यान बौद्ध यों करते हैं कि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति, इन तीन गुणोंसे युक्त हो रहे कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, ये तीन ही हेतु हैं। अथवा कोई यों व्याख्या करते हैं कि कार्य १ कारण २ अकार्यकारण ३ तथा वीत १ अवीत २ वीतावीत ३ एवं पूर्ववत् आदि तीन संयोगी आदि तीन ही प्रकारके हेतु सब ओर व्यवस्थित हो रहे हैं। अन्य हेतुओंके भेद नहीं हैं। अविनाभाव नियमकी कोई आवश्यकता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार ये व्याख्यान भी इस उक्त कथनकरके निराकृत कर दिये गये हैं। अर्थात् पूर्ववत् आदि, कार्य आदिसे न्यारे सहचर आदिक हेतु भी अविनाभावकी सामर्थ्यसे सद्धेतु प्रसिद्ध हैं।

तदेवं कस्यचिदर्थस्य विधौ प्रतिषेधे वोपलब्धिभेदानभिधाय संप्रति निषेधेनुपलब्धि-प्रपंचं निश्चिन्वन्नाह;—

तिस कारण इस ढंगसे किसी भी अर्थकी विधिको अथवा प्रतिषेधको साधनेमें दिये गये उपलब्धिके भेदोंका कथन कर चुकनेपर अब (इस समय) निषेधको साधनेमें अनुपलब्धि हेतुओंके विस्तारका निश्चय कराते हुये आचार्य महाराज कहते हैं।

निषेधेऽनुपलब्धिः स्यात्फलहेत्वद्वयात्मना।
हेतुसाध्याविनाभावनियमस्य विनिश्चयात् ॥ ३०८ ॥

निषेधको साधनेमें फल (कार्य) कारण और इन दोनोंसे न्यारे तीसरे अकार्यकारण स्वरूप-करके तीन प्रकारकी अनुपलब्धि है। क्योंकि हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव रखनारूप नियमका विशेषरूपसे निश्चय हो रहा है।

निषेधेऽनुपलब्धिरेवेति नावधारणीयम् विरुद्धोपलब्ध्यादेरपि तत्र प्रवृत्तिः निषेध एवानुपलब्धिरित्यवधारणे तु न दोषः प्रधानेन विधौ तदप्रवृत्तेः। सा च कार्यकारणानुभयात्मनामवबोद्धव्या।

निषेधको साधनेमें अनुपलब्धि ही हेतु है, इस प्रकारका अवधारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस निषेधको साधनेमें विरुद्ध उपलब्धि आदिकी भी प्रवृत्ति हो रही है। हां, निषेधको साधनेमें ही अनुपलब्धि हेतु उपयोगी है। ऐसा अवधारण करनेमें तो कोई विशेष दोष नहीं आता है। कारण कि प्रधानरूपसे विधि करनेमें उस अनुपलब्धिकी प्रवृत्ति नहीं मानी गई है। तथा वह अनुपलब्धि कार्यकी कारणकी और उभयभिन्न अकार्यकारणकी समझ लेनी चाहिये।

तत्र कार्याप्रसिद्धिः स्यान्नास्ति चिन्मृतविग्रहे।
वाक्क्रियाकारभेदानामसिद्धेरिति निश्चिता ॥ ३०९ ॥

तिस अनुपलब्धिके तीन भेदोंमें कार्यकी अनुपलब्धिका उदाहरण इस प्रकार निश्चित किया गया समझो कि इस मृतक शरीरमें (पक्ष) चैतन्य नहीं है (साध्य) वचनोंके विशेष, क्रियाओंके विशेष, और आकारोंके विशेषोंकी अनुपलब्धि हो रही है।

ननु वागादिष्वप्रतिबद्धसामर्थ्याया एव चितो नास्तित्वं वचनानुपलब्धेः सिध्येन्न तु प्रतिबद्धसामर्थ्याया विद्यमानाया अपि वागादिकार्ये व्यापारासंभवान्नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवंति प्रतिबंधवैकल्यसंभवे कस्यचित्कारणस्य स्वकार्याकरणदर्शनात्ततो नेयं कार्यानुपलब्धिर्गमिका चिन्मात्राभावसिद्धाविति कश्चित्। तस्यापि संबंधकार्याभावात्कथं-नित्यात्माद्यभावसिद्धिरिति स्वमतव्याहतिरुक्ता। ततः स्वसंताने संतानांतरं वर्तमान क्षणे क्षणांतरं संविदद्वये वेद्याकारभेदं वा तत्कार्यानुपलब्धेरसत्त्वेन साधयन्कार्यानुपलब्धे-रन्यथानुपपत्तिसामर्थ्यनिश्चयाद्गमकत्वमभ्युपगंतुमर्हत्येव।

यहां ब्रह्म अद्वैतवादीके किसी एकदेशीका या बौद्धोंका पूर्वपक्ष है कि वचन बोलना, हाथ पांवकी क्रिया करना, नाडी चलना, आदि व्यापारोंमें नहीं रोकी जा रही सामर्थ्यसे युक्त हो रहे

चैतन्यका ही नास्तिपना (साध्य) मृतशरीरमें वचन अनुपलब्धि हेतुसे सिद्ध हो सकेगा, किन्तु जिस छिपे हुये चैतन्यकी बोलना, नाडी चलना, हृदयकी धडकन, आदि व्यापार करानेकी सामर्थ्य नष्ट हो गई है, उस गुप्तचैतन्यका निषेध तो वचन आदिकी अनुपलब्धिसे नहीं हो सकता है। सर्पकरके काटे गये किसी किसी पुरुषका चैतन्य विद्यमान रहता है। फिर भी बोलना, नाडी चलना, आदि कार्योंमें व्यापार होनेका असंभव है। मत्त, मूर्च्छित, अंडस्थ आदि अवस्थाओंके समान मृतशरीरमें भी सूक्ष्मचैतन्य विद्यमान हो सकता है। वह नाडी चलाना, आदि कार्योंको नहीं करता है। सभी कारण आवश्यक रूपसे कार्योंको करें ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। वृक्षमें स्थित हो रहा दण्ड देखो घटको नहीं कर रहा है। प्रतिबन्धकोंके आजानेसे अथवा अन्य कारणोंकी विकलता (कमी) सम्भवने पर कोई कोई कारण तो अपने कार्योंको अपनी स्थिति (पूरी आयु) पर्यन्त भी नहीं करते हुये देखे गये हैं। तिस कारण यह कार्यअनुपलब्धि हेतु अपने साध्यका गमक नहीं है। अतः स्थूल, सूक्ष्म, गुप्त सभी सामान्य रूपसे चैतन्योंके अभावको साधनेमें दिया गया वचन आदिकी अनुपलब्धि हेतु अपने साध्यका साधक न हो सका, इस प्रकार कोई कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उसके यहां संबंधरूप कार्यके नहीं होनेसे नित्य आत्मा, आकाश, आदिके अभावकी सिद्धि भला कैसी हो जायगी ? इस कारण उसको अपने मतका व्याघात दोष प्राप्त हुआ कह दिया गया है। अर्थात् बौद्धोंने आत्माको नित्य नहीं माना क्योंकि उसके कार्य अनादि अनंत पर्यायोंमें संबंध रहना, अन्वितसंतान बनजाना, आदि नहीं देखे जाते हैं। ऐसी दशामें कोई कह सकता है कि नित्य आत्मा बना रहे और उसके कार्य न भी होवें, जैसे कि नाडी चलना आदि कार्योंको नहीं करता हुआ भी चैतन्य उन्होंने मृतशरीरमें मानलिया है। इस ढंगसे बौद्धोंको अपने क्षणिकसिद्धान्तकी क्षति उठानी पडती है। दरिद्रपुरुषोंके भी करोडों रुपयोंकी सत्ता मानली जायगी, मूर्ख भी पंडित बन जावेंगे। मृतका दाह करनेवालोंको महापातकीपनका प्रसंग होगा। तिस कारण अपनी संतानमें अन्य संतानोंके अभावको उनके कार्योंके नहीं दीखनेसे साधन करा रहा बौद्ध कार्य–अनुपलब्धि हेतुसे किसी अविनाभावी कारणके अभावकी सिद्धिको अवश्य मान रहा है। अथवा वर्त्तमान क्षणिकपर्यायके अवसरमें अन्य कालोंकी पर्यायके अभावको साध रहा प्रतिवादी बौद्ध कार्य अनुपलब्धि हेतुसे अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्य द्वारा कारणका अभाव स्वीकार कर ही रहा है। तथा शुद्धसंवेदन अद्वैतमें वेद्य, वेदक, संवित्ति, इन तीनके भेदको उनके कार्यकी अनुपलब्धिसे असत्पने करके साधन कर रहा वैभाषिक बौद्ध अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यके निश्चयसे कार्यानुपलब्धि हेतुका गमकपना स्वीकार करनेके लिये समर्थ हो जाता ही है। सौत्रान्तिक पक्षसे नाता तोडकर योगाचार बनो या योगाचार भी नहीं बनकर वैभाषिक बननेका अभिनय करो, कार्यानुपलब्धिको गमक मानना ही पडेगा। शून्यवादी माध्यमिक तो " सर्वं सर्वत्र विद्यते "

इस कपिलमतको कालत्रयमें भी स्वीकार नहीं करेगा। दृश्य कार्योंकी अनुपलब्धिसे कारणका निषेध जानलेना समुचित है।

स्वभावानुपलब्धेस्तु तादृशेनिष्टेः प्रकृतकार्यानुपलब्धौ पुनरन्यथानुपपन्नत्व-सामर्थ्यनिश्चयो लोकस्य स्वत एवात्यंताभ्यासात्तादृशं लोको विवेचयतीति प्रसिद्धेस्ततः साधीयसी कार्यानुपलब्धिः।

कारण कि स्वभाव अनुपलब्धिको तो तिस प्रकारके अभावको साधनेमें नहीं इष्ट किया गया है। अर्थात् मृतव्यक्तिमें जीवका निषेध करनेके लिये स्वभावानुपलब्धि पर्याप्त नहीं है। योग्य कारणके अभावको साधनेमें दी गई प्रकरणप्राप्त कार्य–अनुपलब्धिमें फिर अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यका निश्चय तो जनसमुदायको स्वतः ही हो जाता है। बौद्धोंके यहां भी यह प्रसिद्ध है कि अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे तिस प्रकारका अर्थका लोक स्वयं विचार कर लेता है। जिसके पास पचास रुपये भी नहीं हैं, उसके पास सौ रुपये नहीं हैं। वृक्षके न होनेसे शीशोंका अभाव या विलक्षण उष्णताके न होनेसे अग्निका अभाव जान लिया जाता है। वृद्धजन या वैद्य विद्वान् महिनों, दिनों, घन्टों, प्रथम ही किसीकी मृत्युको बता देते हैं। मृतकी परीक्षा विशेष कठिन कार्य नहीं है। तिस कारण कार्यकी अनुपलब्धि बहुत अच्छी सिद्ध कर दी गई है।

कारणानुपलब्धिस्तु मयि नाचरणं शुभम्।
सम्यग्बोधोपलम्भस्याभावादिति विभाव्यते ॥ ३१० ॥

दूसरी कारणअनुपलब्धिका उदाहरण तो इस प्रकार विचारकर निर्णीत किया जाता है कि मुझमें समीचीन चारित्र नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानका उपलम्भ नहीं हो रहा है। यहां निषेध्य सम्यक्-चारित्रके कारण सम्यग्ज्ञानकी अनुपलब्धि होनेसे यह कारण–अनुपलब्धि हेतु समझा गया।

सम्यग्बोधो हि कारणं सम्यक्चारित्रस्य तदनुपलब्धितः स्वसंताने तदभावं साधयति-कुतश्चिदुपजातस्य विभ्रमस्यान्यथा विच्छेदायोगात् ॥

सम्यग्ज्ञान अवश्य ही सम्यक्चारित्रका कारण है। उस सम्यक्ज्ञानका अनुपलम्भ होनेसे। वह ज्ञानाभाव अपनी आत्मसंतानमें उस सम्यक्चारित्रके अभावका साधन करा देता है। किसी भी भ्रमका दूसरे प्रकारोंसे निराकरण नहीं हो पाता है। जैसे कि किसी झूंठे पुरुष द्वारा अपनेमें दरिद्रताका आरोप किये जानेपर सम्पत्ति, भूषण, यथायोग्य पूर्ण भोजन सामग्रीके सद्भाव अथवा ऋण देना न होनेसे दरिद्रताके आरोपकी भ्रान्तिका निवारण हो जाता है।

अहेतुफलरूपस्य वस्तुनोनुपलंभनम्।
द्वेधा निषेध्यतादाम्येतरस्यादृष्टिकल्पनात् ॥ ३११ ॥

निषेधको साधनेमें दिये गये अनुपलब्धि हेतुका तीसरा भेद अकार्यकारणस्वरूप वस्तुका अनुपलम्भ है। वह दो प्रकारका मान लिया गया है। निषेध करने योग्यके साथ तादात्म्य रखनेवालेकी अनुपलब्धि और निषेध्यके साथ तादात्म्य नहीं रखनेवालेकी अनुपलब्धि, ये दो भेद हैं।

तत्राभिन्नात्मनोः सिद्धिर्द्विविधा संप्रतीयते।
स्वभावानुपलब्धिश्च व्यापकादृष्टिरेव च ॥ ३१२ ॥

तिन दो भेदोंमेंसे पहिले निषेध्यसे अभिन्नस्वरूप हो रहे दो पदार्थोंकी सिद्धि तो दो प्रकारकी भली प्रतीत हो रही है। पहिली स्वभावकी अनुपलब्धि और दूसरी व्यापककी अनुपलब्धि, इस ढंगसे ही दो भेद किये गये हैं।

आद्या यथा न मे दुःखं विषादानुपलंभतः।
व्यापकानुपलब्धिस्तु वृक्षादृष्टेर्न शिंशपा ॥ ३१३ ॥

पहिली स्वभाव अनुपलब्धिका उदाहरण इस प्रकार है कि मुझको दुःख नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि कोई खेद नहीं देखा जा रहा है (हेतु)। और दूसरी व्यापक अनुपलब्धिका उदाहरण यों है कि यहां शीशों नहीं है (प्रतिज्ञा), क्योंकि कोई वृक्ष नहीं देखा जा रहा है (हेतु)। दुःखका स्वभाव विषाद है और शीशोंका व्यापक वृक्ष है, अतः स्वभाव और व्यापककी अनुपलब्धि स्वभाववान् और व्याप्यके निषेधको सिद्ध करा देती है।

कार्यकारणभिन्नस्यानुपलब्धिर्न बुध्यताम्।
सहचारिण एवात्र प्रतिषेध्येन वस्तुना ॥ ३१४ ॥
मयि नास्ति मतिज्ञानं सद्दृष्ट्यनुपलब्धितः।
रूपादयो न जीवादौ स्पर्शासिद्धेरितीयताम् ॥ ३१५ ॥

कार्य और कारणसे भिन्न हो रहे, चाहे जिसकी अनुपलब्धिसे चाहे जिस किसीका अभाव साध लेना तो नहीं समझना चाहिये, किन्तु प्रतिषेध करने योग्य वस्तुके साथ रहनेवालेका ही यहां अभाव साधा जाता है अर्थात् अकार्यकारणरूप वस्तुकी अनुपलब्धिका दूसरा भेद अतादात्म्य अनुपलब्धिहेतु अपने अविनाभावी साध्यको ही साध सकेगा। जैसे कि मुझमें मतिज्ञान नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं अनुभूत हो रहा है (हेतु)। जीवद्रव्य, आकाशद्रव्य, आदिमें रूप आदिक नहीं है, क्योंकि स्पर्शगुणकी अनुपलब्धि हो ही है। इस प्रकार समझ लेना चाहिये। अर्थात् मतिज्ञानका सहचारी सम्यग्दर्शन है और रूप आदिका सहचारी स्पर्श है। एक सहचारीके न होनेसे दूसरे अविनाभावी सहचारीका अभाव साध दिया जाता है। हेतुकी जीवनशक्ति अविनाभाव है।

सैवमनुपलब्धिः पंचविधोक्ता श्रुतिप्राधान्यात् ।

इस प्रकार वह अनुपलब्धि अपने भेदप्रभेदोंकरके पांच प्रकारकी कह दी गई है । क्योंकि लोकमें और शास्त्रमें उक्त प्रकार प्रयोगोंके सुननेकी प्रधानता हो रही है । जो समीचीन प्रयोग अविनाभावके अनुसार हो रहे हैं, उनको सद्धेतुओंसे अनुमान द्वारा साध लिया जाता है ।

ननु कारणव्यापकानुपलब्धयोपि श्रूयमाणाः संति । सत्यं । तास्त्वत्रैवांतर्भावमुपयांतीत्याह;—

यहां शंका है निषेध्य—साध्यअंशके कारणसे व्यापक हो रहे की अनुपलब्धि अथवा साध्य दल निषेध्यके व्यापकसे व्यापक हो रहे की अनुपलब्धि आदिक भी तो सुनी जा रही हैं । फिर उक्त ढंगसे पांच ही अनुपलब्धियां क्यों कहीं ? इसपर आचार्य कहते हैं कि भाई तुम ठीक कहते हो, पांच प्रकारोंके अतिरिक्त भी अनुपलब्धियां हैं । किन्तु वे सब इन पांचोंमें ही अंतर्भावको प्राप्त हो जाती हैं । इस बातको स्पष्ट कहकर दिखलाते हैं ।

कारणव्यापकादृष्टिप्रमुखाश्रास्य दृष्टयः ।
तत्रांतर्भावमायांति पारंपर्यादनेकधा ॥ ३१६ ॥

इस निषेध्यसाध्यकी कारण, व्यापक, अनुपलब्धिको आदि लेकरके जो अनुपलब्धियां देखी सुनी जा रही हैं, वे सब अनेक प्रकारकी उन पांचोंमें ही परम्परासे अंतर्भावको प्राप्त हो जाती हैं । कई उपलब्धियां भी तो उपलब्धिहेतुओंमें प्रविष्ट हो चुकी हैं । फिर अनुपलब्धिमें ही ऐसी कौनसी नयी बात आ पडी है ।

काः पुनस्ता इत्याह;—

वे अंतर्भूत हो रहीं अनुपलब्धियां फिर कौन कौनसी हैं ? इस बातको स्पष्ट कहते हैं ।

प्राणादयो न संत्येव भस्मादिषु कदाचन ।
जीवत्वासिद्धितो हेतुव्यापकादृष्टिरीदृशी ॥ ३१७ ॥
क्वचिदात्मनि संसारप्रसूतिर्नास्ति कात्स्न्र्यतः ।
सर्वकर्मोदयाभावादिति वा समुदाहृता ॥ ३१८ ॥

भस्म, डेल, कटोरा, आदिकमें (पक्ष) प्राण, नाडी चलना, आदिक कभी भी नहीं है । (साध्य), क्योंकि प्राणधारणरूप जीवपनेकी उनमें सिद्धि नहीं हो रही है । इस प्रकारकी हेतु व्यापक अनुपलब्धि है । निषेध करने योग्य प्राण आदिकोंका कारण शरीरसहितपना है । और शरीरसहितपनेका व्यापक जीवत्व है । अथवा यह भी उदाहरण बहुत अच्छा दिया गया है कि किसी

आत्मामें (पक्ष) पुनः संसारमें जन्म लेना सम्पूर्णरूपसे नहीं है (साध्य) ज्ञानावरण आयुष्य आदि सम्पूर्ण कर्मोंके उदयका अभाव होनेसे (हेतु)। संसारमें जन्ममरण करनेका कारण आयुष्यकर्म या राग, द्वेष, योग, और द्रव्यकर्म हैं। इनका व्यापक सम्पूर्ण कर्मोंमेंसे चाहे किसीका भी उदय है। अतः यह कारण–व्यापक–अनुपलब्धि है।

तद्धेतुहेत्वदृष्टिः स्यान्मिथ्यात्वाद्यप्रसिद्धितः ।
तन्निवृत्तौ हि तद्धेतुकर्माभावात्क संसृतिः ॥ ३१९ ॥

उस निषेध्यके हेतुओंके हेतुओंकी अनुपलब्धि तो यों होगी कि किसी आत्मामें (पक्ष) फिर संसारकी उत्पत्ति नहीं है (साध्य), क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरत, कषाय आदिकी अप्रसिद्धि हो रही है (हेतु)। उन मिथ्यात्व आदिकी निवृत्ति हो चुकनेपर उनका कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले कर्मोंका अभाव हो जाता है। और समस्त कर्मोंका अभाव हो जानेसे फिर भला संसारकी उत्पत्ति कहां हो सकती है ? अर्थात् कर्मरहित जीवकी पुनः संसारमें उत्पत्ति, विपत्तियां नहीं हो पाती हैं। यहां निषेध करने योग्य संसारमें जन्म लेना है, उसका कारण समस्त कर्मोंका या यथायोग्य कर्मोंका उदय है। और कर्मोंके उदयका कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, आदिक हैं। अतः हेतुके हेतुकी अनुपलब्धि मिथ्यात्व आदिकी असिद्धि है।

तत्कार्यव्यापकासिद्धिर्यथा नास्ति निरन्वयं ।
तत्त्वं क्रमाक्रमाभावादन्वयैकांततत्त्ववत् ॥ ३२० ॥

उस निषेध्यके कार्यके व्यापककी अनुपलब्धिका उदाहरण यह है कि सत्स्वरूपतत्त्व (पक्ष) पूर्व उत्तर पर्यायोंमें अन्वय नहीं रखता हुआ, क्षणिक हो रहा नहीं है (साध्य) क्रम और अक्रम नहीं बन रहा होनेसे (हेतु) जैसे कि सर्वथा कूटस्थवादी द्वारा माना गया कोरा अन्वय रख रहा सर्वथा नित्य एकान्तरूप तत्त्व नहीं है (दृष्टान्त), अथवा अन्वय नहीं रखता हुआ क्षणिक पदार्थ (पक्ष) तत्त्व नहीं है (साध्य) क्रम और अक्रम नहीं बननेसे (हेतु)। यहां साध्य दलमें निषेध्य पडे हुये तत्त्वका कार्य अर्थक्रिया है। तथा अर्थक्रियाके व्यापकक्रम और अक्रम हैं। अतः उन क्रम, अक्रमोंकी अनुपलब्धि होनेसे यह कार्य व्यापक अनुपलब्धि है।

तत्कार्यव्यापकव्यापि पदार्थानुपलंभनं ।
परिणामविशेषस्याभावादिति विभाव्यताम् ॥ ३२१ ॥

उस निषेध्यके कार्यके व्यापकके व्यापक हो रहे पदार्थकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार समझ लेनी चाहिये कि बौद्धों द्वारा माना गया निरन्वय क्षणिक पदार्थ (पक्ष) तत्त्व नहीं है (साध्य) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम विशेषका अभाव होनेसे (हेतु)। यहां निषेध्य तत्त्वका कार्य

अर्थक्रिया है । अर्थक्रियाके व्यापक क्रम और अक्रम हैं । तथा क्रम और अक्रमको भी व्यापनेवाला परिणामविशेष है । उसकी अनुपलब्धि है । अतः यह कार्यव्यापकव्यापक–अनुपलब्धि है ।

कारणव्यापकादृष्टिः सांख्यादेर्नास्ति निर्वृतिः ।
सद्दृष्ट्यादित्रयासिद्धेरियं पुनरुदाहृता ॥ ३२२ ॥

कारणव्यापक–अनुपलब्धिका उदाहरण फिर इस प्रकार कहा गया समझो कि सांख्य, नैयायिक आदि प्रतिवादियोंके यहां (पक्ष) मोक्ष नहीं होती है (साध्य), सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनकी असिद्धि होनेसे (हेतु)। यहां निषेध करने योग्य मोक्षका कारण मोक्षमार्ग-रूप परिणाम है, उसका व्यापक रत्नत्रय है, उसकी अनुपलब्धि है । अतः यह कारणव्यापक–अनुपलब्धि है । पहिली कही हुई कारणव्यापकविरुद्ध–उपलब्धिसे इस अनुपलब्धिका ढंग निराला है ।

कारणव्यापकव्यापि स्वभावानुपलंभनं ।
तत्रैव परिणामस्यासिद्धेरिति यथोच्यते ॥ ३२३ ॥
परिणामनिवृत्तौ हि तद्व्याप्तं विनिवर्तते ।
सद्दृष्ट्यादित्रयं मार्गं व्यापकं पूर्ववत्परम् ॥ ३२४ ॥

उस ही को साध्य करनेमें कारणके व्यापकसे व्यापक हो रहे स्वभावकी अनुपलब्धि तो इस दृष्टान्त द्वारा कही जाती है कि सांख्य आदिकोंके मतमें या सांख्य, नैयायिक, आदि विद्वानोंकी (पक्ष) मोक्ष सिद्ध नहीं हो पाती है, (साध्य), परिणाम विशेषकी असिद्धि होनेसे (हेतु) । यहां निषेध्य मोक्षका कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है । उसका व्यापक रत्नत्रय है । उसका भी व्यापक परिणाम होना है । जब सांख्य आदिकोंके यहां आत्मामें परिणाम नहीं बनते हैं, तो पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावका ग्रहण, और द्रव्यरूपसे या स्थूलपर्यायरूपसे रूपपरिणामकी निवृत्ति हो जानेपर उससे व्याप्त हो रहे रत्नत्रयकी तो अवश्य निवृत्ति हो जाती है । व्यापकके नहीं रहने पर व्याप्य तो नहीं ठहरपाता है । और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयकी निवृत्तिसे मार्गकी तथा दूसरे व्यापककी पूर्वके समान निवृत्ति हो जाती है । अतः यह कारणव्यापकव्यापकस्वभावकी अनुपलब्धि है।

सहचारिफलादृष्टिर्मत्यज्ञानादि नास्ति मे ।
नास्तिक्याध्यवसानादेरभावादिति दर्शिता ॥ ३२५ ॥
नास्तिक्यपरिणामो हि फलं मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
सहचारितया मत्यज्ञानादिबद्धिपश्रिताम् ॥ ३२६ ॥

सहचरकार्यकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार दिखलाई गई है। मेरी आत्माके (पक्ष) मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान, आदिकभाव नहीं हैं, (साध्य), कारण कि परलोक, स्वर्ग, मोक्ष, पुण्य, पाप, आदि पदार्थोंके नास्तिपनके आग्रह, अभिनिवेश, आदिका अभाव है। यहां निषेध्य–कुमतिज्ञानका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है। उसका फल नास्तिकपनेका अध्यवसाय, कलुषता, तीव्रक्रोध, विपरीतज्ञान, आदिक हैं। उनका अभाव अनुभूत हो रहा है। अतः यह सहचर कार्य अनुपलब्धि हेतु है। मिथ्यादर्शनका कार्य नास्तिक्य परिणाम है। वह सहचारीपनकरके मति अज्ञान आदिसे विशिष्ट हो रहा है। यह विद्वानोंके सन्मुख स्पष्ट विषय है।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

सहचारिनिमित्तस्यानुपलब्धिरुदाहृता ।
दृष्टिमोहोदयासिद्धेरिति व्यक्तं तथैव हि ॥ ३२७ ॥

निषेध्यके सहचारीके निमित्तकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार उदाहरण प्राप्त की गई है कि मेरी आत्मामें (पक्ष) मति अज्ञान आदि नहीं हैं (साध्य), क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयकी असिद्धि हो रही है। तिस ही प्रकार यह उदाहरण भी प्रकट है। मति अज्ञानका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है। उस मिथ्याश्रद्धानका निमित्तकारण दर्शनमोहनीय कर्मका उदय है। अतः यह सहचारी-निमित्त-अनुपलब्धि है या सहचारि–कारणानुपलब्धि है।

सहभूव्यापकादृष्टिर्नास्ति वेदकदर्शनैः ।
सहभाविमतिज्ञानं तत्त्वश्रद्धानहानितः ॥ ३२८ ॥

साथ होनेवाले (सहचर) के व्यापककी अनुपलब्धि तो इस प्रकार है कि मुझमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनोंके साथ होनेवाला मतिज्ञान नहीं है (साध्य), क्योंकि तत्त्वोंके श्रद्धानकी हानि देखी जाती है (हेतु)। यहां निषेध्य मतिज्ञानका सहचारी क्षयोपशम सम्यक्त्व है। उसका व्यापक तत्त्वश्रद्धान है। अतः यह सहचर व्यापक अनुपलब्धि है।

सहभूव्यापिहेत्वाद्यदृष्टयोप्यविरोधतः ।
प्रत्येतव्याः प्रपंचेन लोकशास्त्रनिदर्शनैः ॥ ३२९ ॥

सहचरव्यापक–हेतु अनुपलब्धि या सहचरव्यापककार्य–अनुपलब्धि आदिक भी विस्तार-करके लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध दृष्टान्तोंद्वारा समझ लेनी चाहिये। यह ध्यान रहे कि कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध प्राप्त न हो जाय। जैसे कि इस चक्रपर (पक्ष) कुशूल नहीं हुआ है (साध्य), कारण कि शिवकके पीछे छत्रकी अनुपलब्धि हो रही है (हेतु)। यह कारण-कारण-कारण-अनुपलब्धि है। निषेध करने योग्य कुशूलका कारण कोश है। और कोशका कारण स्थास

है, तथा श्वासका कारण छत्र है। अतः यह कारणकी परम्परासे अनुपलब्धि है। ग्रन्थवृद्धिके भयसे वार्त्तिक ग्रन्थमें सभी उदाहरण नहीं दिये जासकते हैं। विद्वानोंकरके स्वयं ऊहा करलेनी चाहिये।

सहचरव्यापककार्यानुपलब्धिर्यथा नास्त्यभव्ये सम्यग्विज्ञानं दर्शनमोहोपशमाद्यभावात्। सहचरव्यापककारणानुपलब्धिर्यथा तत्रैवाधःप्रवृत्तादिकरणकाललब्ध्याद्यभावात्। सहचरव्यापककारणव्यापकानुपलब्धिस्तत्रैव दर्शनमोहोपशमादित्वाभावादिति समयप्रसिद्धान्युदाहरणानि।

सहचरव्यापकार्य-अनुपलब्धिका दृष्टांत तो इस प्रकार है कि अभव्यमें (पक्ष) समीचीन ज्ञान नहीं है [साध्य] दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं होनेसे [हेतु] यहां निषेध्य सम्यक्ज्ञानके सहचारी क्षयोपशमसम्यक्त्व आदि तीन सम्यग्दर्शन हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शनका कार्य भविष्यमें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम, क्षय, करना है। तथा सहचरव्यापक--कारणकी अनुपलब्धिका दृष्टान्त तो इस प्रकार है कि तिस हीको साध्य कोटिमें यानी अभव्यमें सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काललब्धि आदिका अभाव है। यहां निषेध्य सम्यग्ज्ञानके सहचारी क्षयोपशम आदि सम्यक्त्व हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन सामान्य है। उसके कारण अधःप्रवृत्तकरण, काललब्धि, आदि हैं। उनकी अनुपलब्धिसे सम्यग्ज्ञानका निषेध सिद्ध हो जाता है। अब सहचरव्यापककारण--व्यापककी अनुपलब्धिका उदाहरण सुनिये। तिस ही अभव्यमें सम्यग्ज्ञानके अभावको साध्य करनेपर दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम आदि भावोंके अभाव हेतुसे वह साधी जाती है। निषेध्य सम्यग्ज्ञानके सहचारी क्षयोपशम सम्यक्त्व आदि हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन है। उसके कारण अधःकरण आदिक हैं। उन करणत्रय, काललब्धि, आदिके व्यापक दर्शनमोहके उपशम आदिक हैं। उनका अभाव होनेसे अभव्यमें सम्यग्ज्ञानका निषेध साध दिया जाता है। इस प्रकार आप्तोपज्ञ शास्त्रोंके अनुसार अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हो रहे हैं। चौइंद्रिय भौंरा, बर्र आदि जीवोंके कान नहीं हैं। क्योंकि कर्ण इंद्रिय आवरण कर्मके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका क्षयोपशम नहीं है। अथवा मनुष्य आयु या तिर्यंच आयु अथवा नरक आयुको बांध चुका मनुष्य महाव्रतों और अणुव्रतोंको धारण नहीं कर सकता है, क्योंकि व्रतियोंके होनेवाले परिणामोंका अभाव है। नरकोंसे आकर जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। किन्तु नारायण, चक्रवर्त्ती, बलभद्र, नहीं हो सकते हैं। क्योंकि तिस जातिका पुण्य उनके पास नहीं है। इत्यादिक आत्माके परिणामोंके अनुसार अनेक अतीन्द्रिय पदार्थोंके विधि या निषेध आर्षशास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। एक अविनाभावी हेतुसे द्वितीयका अनुमान कर लिया जाता है।

लोकप्रसिद्धानि पुनर्नास्त्यस्य दक्षिणं शृंगं शृंगारंभकाभावादिति सहचरव्यापककारणानुपलब्धिः। दक्षिणशृंगसहचारिणो हि वामशृंगस्य व्यापकं शृंगमात्रं तस्य कारणं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तदारंभकाः पुद्गलविशेषाः तदनुपलब्धिर्दक्षिणशृंगस्याभावं साधयत्येव। सहचरव्यापक-कारणकारणानुपलब्धिस्तत्रैव शृंगारंभकपुद्गलसामान्याभावादिति प्रतिपत्तव्यानि।

लोकमें प्रसिद्ध हो रहे तो अनुपलब्धिके उदाहरण फिर इस प्रकार हैं कि घोडेके (पक्ष) दक्षिण [दाहिना] सींग नहीं है (साध्य), सींगको बनानेवाले पुद्गलस्कन्धोंका अभाव होनेसे (हेतु)। भावार्थ—घोडेके शिरमें ऐसे स्कन्ध नहीं है, जो कि सीधे या डेरे सींगको बना सकें। यहां दक्षिणसींगका सहचारी डेरा सींग है। उसका व्यापक सामान्यरूपसे सभी सींग हैं। उनके कारण उन सींगोंको बनानेवाले विशेषजातिके पुद्गल हैं, जो कि गाय, भैंस, आदिमें पाये जाते हैं। इनकी अनुपलब्धि हेतु दक्षिणसींगके अभावको साध ही देती है। अतः यह लोकमें प्रसिद्ध हो रही सहचरव्यापक–कारणकी अनुपलब्धि है। तथा सहचरव्यापककारणकारणकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार समझना कि उसही को साध्य करनेमें यानी अश्वके सीधी ओरका सींग नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सींगको बनानेवाले पुद्गल सामान्यका अभाव है। अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे आहारवर्गणा द्वारा बनाये गये सींगके उपयोगी पुद्गलसामान्यका अश्वमें अभाव है। यहां दक्षिणशृंगका सहचारी वामशृंग है। उसका व्यापक शृंगसामान्य है। उसका कारण उसको बनानेवाले पुद्गलविशेष हैं। उनके भी कारण सामान्य पुद्गल हैं, जो कि सींगके उपयोगी हो रहे विशेषपुद्गलको बनाया करते हैं। उनकी अनुपलब्धि होनेसे घोडेके शिरमें दक्षिणसींगका अभाव साधा गया है। अतः यह सहचरव्यापक–कारण कारण अनुपलब्धि है। एवं देवदत्त शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं है। क्योंकि प्रवेशिकामें उत्तीर्ण नहीं हो सका है। निषेध्य शास्त्रीय परीक्षाकी कारण विशारद परीक्षा है, उस विशारदका भी कारण प्रवेशिका है। अतः यह कारणकारण अनुपलब्धि है। पूर्वचर, पूर्वचर, अनुपलब्धि भी यह हो सकती है। इसी ढंगसे इतर भी उदाहरण समझ लेने चाहिये।

उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामित्येवं सर्वहेतवः।
संगृह्यन्ते न कार्यादित्रितयेन कथंचन ॥ ३३० ॥
नापि पूर्ववदादीनां त्रितयेन निषेधने।
साध्ये तस्यासमर्थत्वाद्द्विधा चैव प्रयुक्तितः ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार पूर्वमें दिखलायी गयी उपलब्धियों और अनुपलब्धियोंकरके तो संपूर्ण हेतुओंका संग्रह कर लिया जाता है। किन्तु कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, इस बौद्धोंके माने हुए हेतुत्रयसे कैसे भी सम्पूर्ण हेतुओंके भेद संग्रहीत नहीं हो पाते हैं। तथा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट इन तीन हेतुओं करके भी सभी हेतुओंका संग्रह नहीं हो पाता है। क्योंकि निषेधको साध्य करनेमें वे पूर्वचर आदि तीनों भी असमर्थ हैं। इस कारण जैनसिद्धान्त अनुसार उपलब्धि और अनुपलब्धि ये दो

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकारके ही हेतु प्रयुक्त किये गये हैं। गौण और मुख्य रूपसे विधि और निषेध दोनोंको साधनेवाले इन दो हेतुओंमें ही करोडो, असंख्यों, भेदोंका गर्भ हो जाता है। फिर भी इनका बडा पेट बचा रहता है।

ननु च कार्यस्वभावानुपलब्धिभिः सर्वहेतूनां संग्रहो माभूत् सहचरादीनां तत्रान्तर्भावायेतुमशक्तेः। पूर्ववदादिभिस्तु भवत्येव, विधौ निषेधे च पूर्ववतः परिशेषानुमानस्य सामान्यतो दृष्टस्य च प्रवृत्त्यविरोधात्सहचरादीनामपि तत्रांतर्भावयितुं शक्यत्वात् ते हि पूर्ववदादिलक्षणयोगमनतिक्रामंतो न ततो भिद्यंत इति कश्चित्। सोपि यदि पूर्ववदादीनां साध्याविरुद्धानामुपलब्धिं विधौ प्रयुंजीत निषेध्यविरुद्धानां च प्रतिषेधे निषेध्यस्वभावकारणादीनां त्वनुपलब्धिं तदा कथमुपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां सर्वहेतुसंग्रहं नेच्छेत्।

नैयायिक शंका करते हैं कि बौद्धों द्वारा माने गये कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि हेतुओंकरके भले ही संपूर्ण हेतुओंका संग्रह नहीं होवे। क्योंकि सहचर, पूर्वचर, आदिकोंका उन तीनमें अंतर्भाव करनेके लिये सामर्थ्य नहीं है। किन्तु पूर्ववत् आदि भेदोंकरके तो सब हेतुओंका संग्रह हो ही जाता है। देखिये, विधि और निषेधको साध्य करनेमें पूर्ववत् हेतुकी और प्रसंग प्राप्तोंका निषेध किये जा चुकनेपर परिशेषमें अवशिष्ट रहे का अनुमान करानेवाले शेषवत् हेतुकी तथा सामान्यतो दृष्ट हेतुकी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। सहचर, पूर्वचर, आदिकोंका भी उन पूर्ववत् आदिकोंमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। कारण कि वे सहचर आदिक हेतु पूर्ववत् आदिके लक्षणके सम्बन्धको नहीं अतिक्रमण करते हुये उन पूर्ववत् आदिकोंसे भिन्न नहीं हो रहे हैं। इस प्रकार कोई अक्षपादका अनुयायी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि वह नैयायिक भी यदि साध्यसे अविरुद्ध हो रहे पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धिको विधि साधनेमें प्रयोग करेगा और निषेध्यसे विरुद्ध हो रहे पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धिको प्रतिषेध साधनेमें प्रयुक्त करेगा तथा निषेध करने योग्य स्वभाव, कारण, आदिकोंकी अनुपलब्धिको विधि और निषेधको साधनेमें प्रयुक्त करेगा तब तो उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतुओंकरके ही सब हेतुओंके संग्रहको क्यों नहीं इच्छेगा, अर्थात् विधि और निषेधको साधनेवाली उपलब्धि तथा विधि और निषेधको साधनेवाली अनुपलब्धिके ढंगपर ही संपूर्ण हेतुओंका संग्रह होना बनता है। अन्यथा नहीं।

पूर्ववत्कारणात्कार्येनुमानमनुमन्यते।
शेषवद्कारणे कार्याद्विज्ञानं नियतस्थितेः॥ ३३२॥
कार्यकारणनिर्मुक्तादर्थात्साध्ये तथाविधे।
भवेत्सामान्यतो दृष्टमिति व्याख्यानसंभवे॥ ३३३॥

विधौ तदुपलंभः स्युर्निषेधेनुपलब्धयः ।
ततश्च षड्विधो हेतुः संक्षेपात्केन वार्यते ॥ ३३४ ॥

कारणसे कार्यमें (का) अनुमान करानेवाला पूर्ववत् हेतु माना जाता है । और कार्यसे कारणमें अनुमान करानेवाला शेषवत् है । विषयं सप्तमी विभक्तिः । क्योंकि हेतुकी अपने साध्यके साथ नियत स्थिति होनी चाहिये तथा कार्यकारणरहित पदार्थसे तिस प्रकारके कार्यकारणरहित साध्यमें जिस हेतुसे अनुमान किया जायगा वह सामान्यतो दृष्ट हेतु होगा । यदि इस प्रकार नैयायिकोंद्वारा व्याख्यान होना संभव है, तब तो विधिको साधनेमें उन पूर्ववत् आदि तीनके उपलम्भ हुये और निषेधको साधनेमें उन तीनकी अनुपलब्धियां हुईं । तिस ढंग करके तो संक्षेपसे हुये छह प्रकारके हेतुका कौन निवारण करता है ? अर्थात् हम स्याद्वादी भी किसी अपेक्षासे पूर्ववत आदिकोंकी उपलब्धि और अनुपलब्धिके भेदसे छह प्रकारका हेतु अभीष्ट करते हैं। किसी भी वस्तुके प्रकारोंकी गणना अनेक अपेक्षाओंसे भिन्न भिन्न ढंगकी हो जाती है ।

अत्र निषेधेनुपलब्धय एवेति नावधार्यते स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादीनामपि तत्र व्यापारात् तत एव विधावेवोपलब्धय इति नावधारणं श्रेय इत्युक्तप्रायं ।

इस प्रकरणमें निषेधको साधनेमें अनुपलब्धियां ही उपयोगी हो रही हैं, यह अवधारण नहीं करना चाहिये । क्योंकि स्वभावसे विरुद्ध उपलब्धि आदिकोंका भी उस निषेधको साधनेमें व्यापार हो रहा है । यहां अग्नि नहीं है, क्योंकि विशेष ठंड छूई जा रही है । इसमें अग्निके स्वभाव उष्णपनसे विरुद्ध शीतपनेकी उपलब्धिसे अग्निका अभाव साधा गया है । तिस ही कारण विधिको साधनेमें ही उपलब्धियां चलती हैं । यह अवधारण (आग्रह) करना श्रेष्ठ नहीं है । देखो, शीत-स्पर्शकी विधिको साधनेमें अग्नि आदि उष्ण द्रव्योंकी अनुपलब्धि हेतु माना जाता है । इस बातको हम पूर्व प्रकरणोंमें कह ही चुके हैं ।

एतेन प्राग्व्याख्यानेपि पूर्ववदादीनामुपलब्धयस्तिस्रोनुपलब्धयश्चेति संक्षेपात् षड्विधो हेतुरनिवार्यत इति निवेदितं । अतिसंक्षेपाद्विशेषतो द्विविध उच्यते सामान्यादेक एवान्यथानुपपत्तिनियमलक्षणोर्थ इति न किंचिद्विरुद्धमुत्पश्यामः ।

इस कथनसे यह भी निवेदन कर दिया गया समझो कि पूर्वमें किये हुये व्याख्यानमें भी पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धियां तीन हैं । और पूर्ववत् आदिकोंकी अनुपलब्धियां तीन हैं । इस प्रकार संक्षेपसे छह प्रकारका हेतु नहीं निवारण किया जाता है । हां, अत्यन्त संक्षेपसे भेदोंकी विवक्षा करनेपर तो दो प्रकारका हेतु कहा जाता है । और सामान्यकी अपेक्षासे तो अन्यथानुपपत्ति-रूप नियम नामके लक्षणसे युक्त हो रहा यह हेतु एक ही है । इस प्रकार कथन करनेमें कुछ भी विरुद्ध हमको नहीं दीख रहा है । अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे एक ही हेतु अन्यथानुपपत्तिस्वरूप

है। और विशेषभेदोंकी अपेक्षा करनेपर अतिसंक्षेपसे दो प्रकार है। वे दो भेद उपलब्धि, अनुपलब्धि हैं। तथा संक्षेपसे पूर्ववत् आदिके साथ उपलब्धि अनुपलब्धिको जोडकर छह प्रकारका हेतु है। एवम् विस्तारसे अनेक भेद हो सकते हैं।

षड्विधो हेतुः कुतो न निवार्यत इत्याहः—

नैयायिक और जैनोंके अर्द्धसम्मेलन अनुसार मान लिया गया छह प्रकारका हेतु क्यों नहीं निवारित किया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

केवलान्वयिसंयोगी–वीतभूतादिभेदतः।
विनिर्णीताविनाभावहेतूनामत्र संग्रहात् ॥ ३३५ ॥

केवलान्वयी आदिक, संयोगी आदिक, वीत आदिक, भूत आदिक, भेदोंसे मान लिये गये सभी हेतुओंका इन छह हेतुओंमें संग्रह हो जाता है। किन्तु उन केवलान्वयी आदिकोंका अपने साध्यके साथ अविनाभाव विशेषरूपसे निर्णीत हो चुका रहना चाहिये अर्थात् जिन हेतुओंका अपने साध्यके साथ अविनाभावरूप–नियम निश्चित हो रहा है, वे वीत आदिक कोई भी हेतु होंय इन दो, या छह भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। जैसे कि मनुष्य आयुका उदय होनेसे लंगडे, अंधे, चमार, चाण्डाल, सम्मूर्च्छन, भोगभूमियां नर, लडकियां, वृद्धायें, हीजडा, ये सब भेद मनुष्योंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं।

न हि केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिणः संयोगिसमवायिविरोधिनो वा वीतावीततदुभयस्वभावा चाभूतादयो वा कार्यकारणानुभयोपलंभनातिक्रामं नियतो नियतहेतुभ्योन्ये भवेयुरविनाभावनियमलक्षणयोगिनां तेषां तत्रैवांतर्भवनादिति प्रकृतमुपसंहरन्नाह।

केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी और संयोगी, समवायी, विरोधी, अथवा वीत, अवीत, उन वीतावीत दोनों स्वभाववाले तथा भूत, अभूत, भूताभूत ये माने गये हेतुओंके भेद (कर्ता) कार्य, कारण, अकार्यकारण उपलब्धियोंका अतिक्रमण नहीं करते हैं, जिससे कि हमारे नियम युक्त हो रहे हेतुओंसे न्यारे हो जाते। अविनाभाव नामके नियमरूप लक्षणसे युक्त हो रहे उन केवलान्वयी आदिकोंका उन पूर्ववत् आदिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् " पूर्ववत्कारणात्कार्येऽनुमानमनुमन्यते " इत्यादि दो कारिकाओं द्वारा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टका व्याख्यान जो कारण, कार्य और अकार्यकारण किया गया है, तदनुसार इन कारण हेतु आदिमें ही सम्पूर्ण केवलान्वयी, भूत, आदिकोंका अन्तर्भाव हो जाता है। आवश्यकता (शर्त) यह है कि उन हेतुओंमें अविनाभावलक्षण घटित होना चाहिये। इस प्रकार प्रकरणप्राप्त व्याख्यानका उपसंहार करते हुये आचार्य महाराज अंतिम निर्णय कहते हैं कि—

अन्यथानुपपत्येकलक्षणं साधनं ततः ।
सूक्तं साध्यं विना सद्भिः शक्यत्वादिविशेषणं ॥ ३३६ ॥

तिस कारण अन्यथानुपपत्ति ही है एक लक्षण जिसका, ऐसा समीचीन हेतु होता है। साधनेके लिये शक्यपना और वादीको अभीष्ट होनापन तथा प्रतिवादीको अप्रसिद्ध होनापन इन तीन विशेषणोंसे युक्त हो रहे साध्यके विना जो हेतु नहीं रहता है, वह सज्जनों करके समीचीन हेतु कहा गया है। अथवा अन्यथानुपपत्तिनामक एक ही लक्षणसे युक्त समीचीन हेतु होता है। और शक्यपन, अभिप्रेतपन, अप्रसिद्धपन, इन तीन विशेषणोंसे युक्त साध्य होता है। यों सज्जन विद्वानों करके बहुत अच्छा कहा जा चुका है।

एवं हि यैरुक्तं " साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततो परं। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥ " इति तैः सूक्तमेव, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणसाधनविषयस्य साध्यत्व-प्रतीतेस्तदविषयस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साधयितुमशक्यस्य प्रसिद्धस्यानभिप्रेतस्य वा साध्याभासत्वनिर्णयात्। तत्र हि—

तब तो जिन वादियोंने इस प्रकार कहा था कि साधन करसकनेके योग्य और वादीको इष्ट हो रहा तथा प्रतिवादी या तटस्थ पुरुषोंको विवादापन्न होकर असिद्ध हो रहा धर्म साध्य होता है। उससे भिन्नधर्म साध्याभास कहा जाता है। जो कि विरुद्ध, बाधित, आदि हेतुओं (हेत्वाभासों) द्वारा कहा गया है। समीचीन साधनके विषय नहीं होनेसे वे अशक्य, अनभिप्रेत और प्रसिद्ध हो रहे धर्म साध्याभास कहे जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो उन वादियोंने बहुत ही अच्छा कहा था। उनकी विद्वत्ताकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति नामक एक लक्षणवाले हेतु द्वारा साधेगये विषयको साध्यपना प्रतीत हो रहा है। उस अविनाभावी हेतुका अविषय साध्य नहीं होता है। जो कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध है। इस ही कारण जो साध्य करनेके लिये अशक्य है, और जन समुदायमें प्रसिद्ध हो रहा है, अथवा जो वादीको अभीष्ट नहीं है, क्योंकि सन्मुख बैठे हुये पुरुषोंको समझानेके लिये वादीकी ही इच्छा होती है, ऐसे बाधित, प्रसिद्ध, अनिष्ट, होरहे धर्मको साध्याभासपनेका निर्णय हो रहा है। साध्यके लक्षण हो रहे उन तीन विशेषणोंमें यों व्यवस्था है। कारण कि—

शक्यं साधयितुं साध्यमित्यनेन निराकृतः ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्न पक्ष इत्येतदास्थितम् ॥ ३३७ ॥

इस प्रकार साधनेके लिये शक्य जो होगा वह साध्य है। इस शक्य विशेषणकरके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे निराकृत कर दिया गया पक्ष नहीं होना चाहिये, यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया

है। अर्थात् जिस प्रतिज्ञावक्यमें प्रत्यक्ष आदिसे बाधा उपस्थित होगी वह साध्यकोटिमें नहीं स्थिर रह सकेगा। " प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्षः "।

तेनानुष्णोग्निरित्येष पक्षः प्रत्यक्षबाधितः।
धूमोनग्निज एवायमिति लैंगिकबाधितः॥ ३३८॥
प्रेत्यासुखप्रदो धर्म इत्यागमनिराकृतः।
नृकपालं शुचीति स्याल्लोकरूढिप्रबाधितः॥ ३३९॥
पक्षाभासः स्ववाग्बाध्यः सदा मौनव्रतीति यः।
स सर्वोपि प्रयोक्तव्यो नैव तत्त्वपरीक्षकैः॥ ३४०॥

तिस कारण अर्थात साध्यके लक्षणमें शक्यपद डाल देनेसे इनकी व्यावृत्ति हो जाती है कि अग्नि अनुष्ण (ठंडी) है, यों यह पक्ष स्पर्शन इंद्रियजन्य प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है और धुआं तो अग्निभिन्न पदार्थोंसे ही उत्पन्न है, यह प्रतिज्ञा अनुमानसे बाधित है। क्योंकि अग्निसे उत्पन्न हुआ धुआं है। इस प्रकार अव्यभिचारी कार्यकारणभावका अनुमान कर लिया गया है। तथा धर्मपालन करना मरनेके पीछे सुख देनेवाला नहीं है, यह पक्ष आगमप्रमाणसे निराकृत हो जाता है। क्योंकि प्रायः सर्व ही वादियोंके अभीष्ट शास्त्रोंमें धर्मपालनद्वारा परलोकमें सुखप्राप्ति होना माना गया है। " धर्मः सुखस्य हेतुः " " धर्मेण गमनमूर्ध्वं " ' यतोभ्युदयनिश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः " " धर्मात्प्रभवति सुखं " " संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे " इत्यादि आगमोंके निर्दोष वाक्य हैं। एवं मनुष्यके शिरका कपाल शुद्ध है, (प्रतिज्ञा) प्राणीका अंग होनेसे, यह पक्ष लोकरूढिसे प्रबाधित हो रहा है। कोई भी सत्कर्मा मनुष्य खोपडीको पवित्र नहीं मानता है। अघोरी या कुत्सितमंत्रोंको साधनेवालोंकी कथा न्यारी है। तथैव अपने वचनोंसे ही बाधी जा रही यह प्रतिज्ञा पक्षाभास है कि कोई चिल्लाकर कहे कि मै सर्वदा मौनव्रत रखता हूं, इत्यादि और भी जो पक्षाभास (साध्याभास) हैं, वे सभी तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाले विद्वानोंकरके नहीं प्रयोग करने चाहिये। क्योंकि हम जैनोंने शक्य यानी अबाधितको ही साध्य अभीष्ट किया है।

शब्दक्षणक्षयैकांतः सत्त्वादित्यत्र केचन।
दृष्टांताभावतोशक्यः पक्ष इत्यभ्यमंसत॥ ३४१॥
तेषां सर्वमनेकान्तमिति पक्षो विरुध्यते।
तत एवोभयोः सिद्धो दृष्टांतो न हि कुत्रचित्॥ ३४२॥

प्रमाणबाधितत्वेन साध्याभासत्वभाषणे ।
सर्वस्तथेष्ट एवेह सर्वथैकांतसंगरः ॥ ३४३ ॥

यहां कोई बौद्ध विद्वान् इस प्रकार मान बैठे हैं कि शब्दमें क्षणिकपनके एकान्तको साधने पर सत्त्वात् यह हेतु दृष्टान्त नहीं मिल सकनेके कारण अशक्य भी पक्ष मानलिया गया है। फिर जैनोंद्वारा साध्यका विशेषण शक्य क्यों लगाया जाता है ? इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो उनके यहां तिस ही कारण यानी दृष्टांत नहीं मिल सकनेसे संपूर्ण पदार्थ अनेक धर्मवाले हैं, इस प्रकार प्रतिज्ञा बोलना विरुद्ध हो जावेगा। दोनोंके यहां पहिलेसे प्रसिद्ध हो रहा दृष्टान्त तो कहीं भी नहीं मिल सकता है। अतः अशक्यका अर्थ दृष्टान्तका अभाव करना ठीक नहीं। यदि प्रमाणोंसे बाधित हो जानेके कारण सबको अनेकान्तपनके इस साधनेको साध्याभासपना कहोगे तब तो तिस प्रकार सब पदार्थोंके सर्वथा एकान्तपनकी प्रतिज्ञा यहां इष्ट ही करली गयी। किन्तु सर्वथा एकान्त भी तो प्रमाणसे बाधित है।

तथा साध्यमभिप्रेतमित्यनेन निवार्यते ।
अनुक्तस्य स्वयं साध्यभावाभावः परोदितः ॥ ३४४ ॥
यथा ह्युक्तो भवेत्पक्ष तथानुक्तोपि वादिनः ।
प्रस्तावादिबलात्सिद्धः सामर्थ्यादुक्त एव चेत् ॥ ३४५ ॥
स्वागमोक्तोपि किं न स्यादेव पक्षः कथंचन ।
तथानुक्तोपि चोक्तो वा साध्यः स्वेष्टोस्तु तात्त्विकः ॥
नानिष्टोतिप्रसंगस्य परिहर्तुमशक्तितः ॥ ३४६ ॥ (षट्पदम्)

तथा वादीको अभिप्रेत हो रहा साध्य होता है। यों साध्यके लक्षणमें पडे हुये अभिप्रेत इस विशेषण करके अनिष्टको स्वयं ही साध्यपना निवारण कर दिया जाता है। दूसरे वादियोंने भी अनिष्टका साध्यपना नहीं कहा है। अथवा शब्दद्वारा भले ही साध्यको न कहा होय, यदि वादीने अन्य अभिप्रायोंसे समझा दिया है तो वह भी साध्य हो जाता है। अनुक्तको साध्यरहितपनका अभाव है। कारण कि जिस प्रकार वादीके द्वारा कंठोक्त कह दिया गया पक्ष हो जाता है, उसी प्रकार वादीकरके नहीं कहा गया किन्तु अभिप्रेत हो रहा भी पक्ष हो जाता है। यदि कोई यों कहे कि प्रस्ताव, प्रकरण, अवसर, आदिके बलसे सिद्ध हो रहा भी पक्षसामर्थ्यसे कह दिया गया ही समझो, तब तो हम सिद्धान्ती कहेंगे कि अपने प्रामाणिक आगमोंसे कहा गया भी कथंचित् पक्ष क्यों नहीं हो सकेगा ? तब तो यह सिद्ध हुआ कि उक्त हो

अथवा अनुक्त भी होय यदि वादीको स्वयं इष्ट है, वह तो यथार्थरूपसे साध्य हो जावेगा। हां, जो वादीको इष्ट नहीं है, वह कैसे भी साध्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अतिप्रसंगका परिहार नहीं किया जा सकता है अर्थात् मीमांसकोंको शब्दका क्षणिकपना और जैनोंको या बौद्धोंको आत्माका कूटस्थपना भी साध्य करनेके लिये बाध्य होना पडेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

ननु नेच्छति वादीह साध्यं साधयितुं स्वयम्।
प्रसिद्धस्यान्यसंवित्तिकारणापेक्ष्य वर्तनात् ॥ ३४७ ॥
प्रतिवाद्यपि तस्यैतन्निराकृतिपरत्वतः।
सभ्या नोभयसिद्धान्तवेदिनोऽपक्षपातिनः ॥ ३४८ ॥
इत्ययुक्तमवक्तव्यमभिप्रेतविशेषणम्।
जिज्ञासितविशेषत्वमिवान्ये संप्रचक्षते ॥ ३४९ ॥

यहां शंका है कि वादी स्वयं तो साध्यको साधनेके लिये इच्छा नहीं करता है। प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको अन्यको समझानेकी अपेक्षासे वादी प्रवर्त रहा है और प्रतिवादी भी उस साध्यके इस प्रकरण प्राप्त निराकरणको करनेमें तत्पर हो रहा है। निकटमें बैठे हुए सभाके जन तो पक्षपातरहित हैं और वादी प्रतिवादी दोनोंके सिद्धान्तोंको जाननेवाले नहीं हैं। इस कारण साध्यके लक्षणमें अभिप्रेत यह विशेषण लगाना अयुक्त है। जैनोंको साध्य इष्ट नहीं कहना चाहिये। जैसे कि जाननेकी इच्छाका विषयपना यह साध्यका विशेषण नहीं कहा जाता है अर्थात् वादीकी अपेक्षासे यदि साध्यका इष्ट विशेषण लगाया जाता है, तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे साध्यका विशेषण जिज्ञासितपना भी लगाना चाहिये। क्योंकि प्रतिवादीको जिसकी जिज्ञासा होगी उस विषयका प्रतिपादन वादी करता है। यदि जैन यों कहें कि प्रतिवादी तो किसी तत्त्वकी जिज्ञासा नहीं करता है। वह तो खण्डन करनेके लिये आवेशयुक्त होकर संनद्ध हो रहा है, तब तो वादीकी ओरसे भी कुछ कहे जाना मान लिया जाय, इष्ट विशेषण लगाना व्यर्थ है। सभ्य पुरुषोंमें बहुभाग विनोद चाहनेवाले होते हैं। वे इष्ट और जिज्ञासितकी ओर नहीं झुंकते हैं। इस प्रकार कोई अन्य शंकाकार आटोप-सहित बखान रहे हैं।

तदसद्वादिनेष्टस्य साध्यत्वाप्रतिघातितः।
स्वार्थानुमासु पक्षस्य तन्निश्चयविवेकतः ॥ ३५० ॥

आचार्य कहते हैं कि उनका वह कहना सत्य नहीं है। क्योंकि वादीद्वारा इष्ट हो रहे धर्मके साध्यपनका प्रतिघात नहीं किया जा सकता है। भले ही प्रतिवादी खण्डन करे किन्तु वादी

अपने अभीष्ट साध्यको प्रतिवादीके सन्मुख समीचीन हेतुओंसे साधता ही रहेगा। जिस सभामें विद्वान् वादी, प्रतिवादी, सभाजन, दर्शक आदि बैठे हुये हैं, ऐसी दशामें भला वादी अन्ट सन्ट क्यों बकता फिरेगा। यह कोई गंवारोंका सिलबड़ा नहीं है। न कोई यों ही ठलुआ बैठा है। दूसरी बात यह है कि स्वार्थानुमानोंमें किये गये पक्षका तो उस इष्टपनेकरके निश्चयका विचार कर लिया गया है, जैसे कि स्वयं ही दूरवर्त्ती धूमको देखकर अभीष्ट अग्निका अनुमान कर लिया जाता है।

परार्थेष्वनुमानेषु परो बोधयितुं स्वयम्।
किं नेष्टस्येह साध्यत्वं विशेषानभिधानतः ॥ ३५१ ॥

और दूसरे प्रतिपाद्योंके लिये किये गये अनुमानोंमें तो दूसरा प्रतिपाद्य ही स्वयं समझानेके लिये योग्य होता है। जो वादीको इष्ट है वही तो प्रतिपाद्यको समझाया जावेगा, जैसे कि भूषणोंको बेचनेवाला सर्राफ ग्राहकको अपने निकटवर्त्ती भूषण मोल लेनेके लिये समझाता है। अतः यहां स्वार्थ अनुमान परार्थअनुमान इन विशेषोंके नहीं कथन करनेसे सामान्यकरके इष्टको साध्यपना क्यों नहीं अभीष्ट किया जाता है?

इष्टः साधयितुं साध्यः स्वपरप्रतिपत्तये।
इति व्याख्यानतो युक्तमभिप्रेतविशेषणं ॥ ३५२ ॥

जो वादीको अभीष्ट हो रहा है, वही अपने और दूसरेकी प्रतिपत्तिके अर्थ साधनेके लिये साध्य मानना चाहिये, इस प्रकार व्याख्यान करनेसे साध्यका विशेषण अभिप्रेत (इष्ट) लगाना युक्त है। यहांतक साध्यके शक्य और अभिप्रेत इन दो विशेषणोंका विचार कर दिया गया है। अब तीसरे अप्रसिद्ध विशेषणकी सफलताको दिखलाते हैं।

अप्रसिद्धं तथा साध्यमित्यनेनाभिधीयते।
तस्यारेका विपर्यासाव्युत्पत्तिविषयात्मता ॥ ३५३ ॥
तस्य तद्व्यवच्छेदत्वात्सिद्धिरर्थस्य तत्त्वतः।
ततो न युज्यते वक्तुं व्यस्तो हेतोरपाश्रयः ॥ ३५४ ॥

तथा वादीके द्वारा कहा गया साध्य प्रतिवादी या प्रतिपाद्य-श्रोताओंको अप्रसिद्ध होना चाहिये। अतः इस अप्रसिद्ध विशेषणकरके यह कहा जाता है कि वह साध्य श्रोताओंके संशय, विपर्यय, और अज्ञानका विषयस्वरूप हो रहा है। वादीके द्वारा साध्यका ज्ञान करादेने पर श्रोताओंके उन संशय, विपर्यय, अज्ञानोंका व्यवच्छेद हो जानेसे अर्थकी यथार्थरूपसे सिद्धि हो

जाती है । तिस कारण यह कहनेके लिये युक्ति नहीं है कि तीन समारोपोंमेंसे एक ही संशयका हेतु द्वारा निराकरण होता है । भावार्थ—साध्यका निर्णय हो जानेसे प्रतिपाद्यके समस्त संशय, विपर्यय, और अज्ञानोंका निवारण हो जाता है ।

संशयो ह्यनुमानेन यथा विच्छिद्यते तथा ।
अव्युत्पत्तिविपर्यासावन्यथा निर्णयः कथं ॥ ३५५ ॥

कारण कि जिस प्रकार अनुमान ज्ञानकरके संशयका विच्छेद करा दिया जाता है, तिस ही प्रकार अव्युत्पत्ति (अनध्यवसाय अज्ञान) और विपर्ययका भी विच्छेद करा दिया जाता है । अन्यथा यानी संशयके दूर हो जानेपर भी विपर्यय और अज्ञानोंके टिके रहनेसे भला निर्णय हो गया कैसे कहा जा सकता है ? अतः प्रमाणज्ञानसे तीनों समारोपोंकी निवृत्ति होना मानना चाहिये ।

अव्युत्पन्नविपर्यस्तौ नाचार्यमुपसर्पतः ।
कौचेदेव यथा तद्वत्संशयात्मापि कश्चन ॥ ३५६ ॥
नावश्यं निर्णयाकांक्षा संदिग्धस्याप्यनर्थिनः ।
संदेहमात्रकास्थानात्स्वार्थसिद्धौ प्रवर्तनात् ॥ ३५७ ॥

यदि कोई यों कहे कि कोई कोई अज्ञानी और विपर्ययज्ञानी पुरुष तो यों ही प्रमाद या कोरी ऐंठमें बैठे रहते हैं । निर्णय करानेके लिये बहुज्ञानी आचार्य महाराजके पास उत्साहसहित होकर नहीं जाते हैं । किन्तु संशय रखनेवाला पुरुष निर्णय करानेके लिये विशेष ज्ञानीके निकट चावसे दौडता है । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जैसे कोई कोई अज्ञानी, विपर्ययज्ञानी वस्तुका यथार्थ निर्णय करानेके लिये विद्वान् आचार्यके निकट नहीं जाते हैं, उन्हींके समान कोई संदेहवाला पुरुष भी तो प्रमादवश होता हुआ निर्णय करानेके लिये गुरुके निकट जाकर नहीं पूछता है । प्रत्येक असर्वज्ञको असंख्य पदार्थोंमें संशय बना रहता है । हां, अपनी इच्छा होने पर और संशय निवृत्त हो जानेकी योग्यता होनेपर किसी अभिलाषुक जीवकी प्रवृत्ति हो जाती है । संदिग्ध भी पुरुषको यदि प्रयोजन न होनेके कारण उस वस्तुकी अभिलाषा नहीं है, तो निर्णय करानेके लिये आवश्यकरूपसे आकांक्षा नहीं होती है । संदेहमात्रमें ही वह असंख्यकालतक बैठा रहता है । हां, यदि अपने किसी अर्थकी सिद्धि होती होय तब तो निर्णय करानेके लिये प्रवृत्ति करता है । मार्गमें जाते हुये या गम्भीर शास्त्रका अन्वेषण करते हुये अपरिमित संशय उपज बैठते हैं । किसका किससे निर्णय करे । कतिपय संशयोंका साधन मिलनेपर निवारण करालिया जाता है । शेष यों ही पडे सडते रहते हैं ।

यथाऽप्रवर्तमानस्य संदिग्धस्य प्रवर्त्तनम् ।
विधीयतेनुमानेन तथा किं न निषिध्यते ॥ ३५८ ॥
अव्युत्पन्नविपर्यस्तमनसोप्यप्रवर्तनम् ।
परानुग्रहवृत्तीनामुपेक्षानुपपत्तितः ॥ ३५९ ॥

उत्साहसे नहीं प्रवर्त रहे संदिग्ध पुरुषकी अनुमानद्वारा निर्णीत साध्यमें प्रवृत्ति करा दी जाती है । और उदास (सुस्त) पनेकी अप्रवृत्तिका निषेध कर दिया जाता है । उसी प्रकार अव्युत्पन्न और विपर्यस्त मनवाले जीवोंकी भी अप्रवृत्तिका निषेध अनुमानद्वारा क्यों न करा दिया जाय ? दूसरे जीवोंके अनुग्रह करनेमें सर्वदा प्रवृत्त हो रहे आचार्योंकी अज्ञानी और विपर्यय ज्ञानी जीवोंके लिये उपेक्षा [लापरवाही] नहीं हो सकती है । अर्थात् आचार्य महाराज जैसे संदिग्ध जीवको यथार्थ निर्णीत विषयमें प्रवर्ता देते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी और मिथ्याज्ञानीको भी यथार्थ वस्तुमें लगा देते हैं । अतः अनुमानप्रमाणद्वारा तीनों समारोपोंका व्यवच्छेद होना मानना चाहिये ।

अविनेयिषु माध्यस्थ्यं न चैवं प्रतिहन्यते ।
रागद्वेषविहीनत्वं निर्गुणेषु हि तेषु नः ॥ ३६० ॥
स्वयं माध्यस्थ्यमालंब्य गुणदोषोपदेशना ।
कार्या तेभ्योपि धीमद्भिस्तद्विनेयत्वसिद्धये ॥ ३६१ ॥

यहां कोई यों शंका करे कि अविनीत, मिथ्याज्ञानियोंको भी आचार्य महाराज यदि समझाकर सुमार्गमें प्रवर्त्ताते हैं, तब तो अविनीतोंमें माध्यस्थ भावना रखनेका उपदेश यों बिगडता है । तत्त्वार्थसूत्रकारने " मैत्रीप्रमोद " आदि सूत्रकरके आग्रही, विपरीतज्ञानियोंके प्रति उपेक्षा (माध्यस्थता) भावनेका निर्देश किया है । इसपर हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार अविनीतोंमें (मध्यस्थता) मध्यस्थपना रखनेका प्रतिघात नहीं होता है । उपेक्षाका अर्थ गुणरहित उन दोषी, विपर्ययज्ञानियोंमें हमारे द्वारा रागद्वेष नहीं करना है । हमको - स्वयं माध्यस्थभावनाका अवलम्ब लेकर उनके लिये भी बुद्धिमानोंकरके गुण और दोषोंका उपदेश कर देना चाहिये । तभी तो उन अविनीतोंको विनीतपना सिखाये जानेकी सिद्धि हो सकेगी । परोपकारियोंका कर्तव्य मूर्खको पंडित बनाना है । कुचारित्रवालोंको सच्चारित्रपर लाना है । अविनीतोंको विनय संपत्तिपर झुकाना है । जितने भी जीवोंने मोक्षलाभ किया है, वे पूर्वजन्मोंमें बडे अज्ञानी, कुचारित्री, विपरीत ज्ञानी थे । तभी तो आप्तवचनोंद्वारा उनका सुधारा हो सका है । पले पलायेको पाल देना उतना कठिन नहीं है, जितना कि अरक्षितका संरक्षण करना कठिन होता हुआ वीरोचित कार्य है ।

अव्युत्पन्नविपर्यस्ताप्रतिपाद्यत्वनिश्चये ।
प्रतिपाद्यः कथं नाम दुष्टोज्ञः स्वसुतो जनैः ॥ ३६२ ॥

यदि व्युत्पत्तिरहित मूर्ख और मिथ्यादृष्टी, विपरीत ज्ञानी जीवोंको नहीं प्रतिपादन करने योग्यपनेका निर्णय कर दिया जायगा तो बताओ प्रचंड, दुष्ट, और वज्रमूर्ख अपना कोई लडका भला हितैषी गुरुजनोंकरके समझाने योग्य कैसे होगा ? अर्थात् अज्ञानी और आग्रही जीवोंके लिये उपदेश देना यदि नहीं माना जायगा तो मातापिताओंकरके खिलाडी मूर्ख अपने लडकेको भी सीख नहीं देनी चाहिये । किन्तु सभी हितैषीजन अपने मूर्ख, हठी, बालक, बालिकाओंको उपदेश देकर हितमार्गपर लगाते हैं । तीर्थंकर महाराजके समान सभी लडके पेटमेंसे ही सीखे सिखाये नहीं जन्मते हैं ।

लौकिकस्याप्रबोध्यत्वे कथमस्तु परीक्षकः ।
प्रबोध्यस्तस्य यत्नेन क्रमतस्तत्त्वसंभवात् ॥ ३६३ ॥
प्रतिपाद्यस्ततस्त्रेधा पक्षस्तत्प्रतिपत्तये ।
संदिग्धादिः प्रयोक्तव्योऽप्रसिद्ध इति कीर्तनात् ॥ ३६४ ॥

संदिग्ध पुरुषको ही विद्वानों द्वारा समझाया जाना माननेवाले यदि यों कहें कि लौकिक विपर्ययज्ञानी तो समझाने योग्य नहीं है । अर्थात् लोकमें ऐसा ही देखा गया है कि संदेह करनेवाले विनीतोंकी शंकाका समाधान तो कर दिया जाता है । मूर्ख और विपरीतज्ञानीको तो अनेक भद्र विद्वान् नहीं समझाते हैं । टाल देते हैं । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि यों तो परीक्षा करनेवाला तर्की कैसे समझाया जा सकेगा । तत्त्वोंकी अन्तःप्रविष्ट होकर परीक्षा करनेवाला तो कभी किसी विषयमें मूर्ख बन जाता है । किसी विषयमें विपरीत ज्ञानी हो रहा है,उस परीक्षकको तो क्रमसे ही यत्न करके तत्त्वोंकी इति कराना संभवती है । जो ठोस वक्ता विद्वान् हैं, वे तो परोपकारिणी बुद्धिसे सभी प्रकारके मिथ्याज्ञानी जीवोंको सहर्ष उत्साहसहित समझा देते हैं । सभी हितैषी प्रतिपादकोंको संसारमें अज्ञानी और विपरीतज्ञानी जीवोंके समझानेके अधिक प्रकरण प्राप्त हुये हैं । श्री अर्हंत महाराज तथा उनके अनुसार चलनेवाले श्री आचार्य महाराज अथवा अनेक विद्वान पुरुष सर्वदासे अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियोंको जितनी संख्यामें समझाते चले आ रहे हैं, सम्भवतः उतनी संख्या संदिग्ध जीवोंके समझानेकी नहीं है । तिस कारण यह फल बलात् सिद्ध हो जाता है कि संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न ये तीनों ही प्रकारके जीव विद्वानों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य हैं । अन्यथा वे परीक्षक कैसे हो सकेंगे ? केवल संदिग्ध भोले जीवोंको समझा देनेसे ही परीक्षकपनका प्रमाणपत्र नहीं मिल जाता है । अतः उन तीनोंको प्रतिपत्ति करानेके लिये संदिग्ध, विपर्यस्त, और अज्ञात हो

रहा अप्रसिद्ध पक्ष वादीके द्वारा प्रयुक्त करना चाहिये। इस प्रकार साध्यके विशेषणोंका सफलता प्रतिपादक कीर्तन करते हुये व्याख्यान किया है।

सुप्रसिद्धश्च विक्षिप्तः पक्षोऽकिंचित्करत्वतः।
तत्र प्रवर्तमानस्य साधनस्य स्वरूपवत् ॥ ३६५ ॥
समारोपे तु पक्षत्वं साध्येपि न निवार्यते।
स्वरूपेणैव निर्दिश्यस्तथा सति भवत्यसौ ॥ ३६६ ॥

वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति, या बालक स्त्रियोंतकमें भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहे पक्ष (प्रतिज्ञा) को साध्यकोटिमें रखना तो निरस्त कर दिया गया है। क्योंकि वह अकिंचित्कर है। अर्थात् अग्नि उष्ण है, जल प्यासको बुझाता है, पत्थर भारी है, इत्यादि प्रसिद्ध हो रहे विषय साध्य नहीं बनाये जाते हैं। उन प्रसिद्ध साध्योंके साधनेमें प्रवर्त रहे हेतुको कुछ भी कार्य नहीं करनेपनका दोष आता है। जैसे कि कोई हेतु अपने स्वयं स्वरूप [डील] को साधनेमें अकिंचित्कर है। हां, यदि उस साध्यमें कोई संशय, विपर्यय, अज्ञाननामका समारोप उपस्थित हो जाय, तब तो उस साध्यका पक्षपना नहीं निवारण किया जाता है। हेतुके शरीरमें भी यदि समारोप हो जाय तो उस हेतुको साध्यकोटिपर लाकर अन्य हेतुओंसे पक्ष बना लिया जाता है। कई अनुमान मालाओंमें ऐसा देखा गया है, जैसे कि अर्हंत भगवान् सर्वज्ञ हैं [प्रतिज्ञा] निर्दोष होनेसे [हेतु] अर्हंत निर्दोष हैं [प्रतिज्ञा दूसरी] युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी बोलनेवाले होनेसे [हेतु] अर्हंत युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्धभाषी हैं [प्रतिज्ञा तीसरी] क्योंकि उनके द्वारा कहे गये मोक्ष, मोक्षकारण, संसार, संसारकारण, तत्त्वोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध नहीं आता है [हेतु] ये शास्त्रीय अनुमान हैं। लौकिक अनुमान यों समझना कि यहां उष्णता है, अग्नि होनेसे १ यहां अग्नि है, धूम होनेसे २ यहां धूम है, कंठ नेत्र आदिमें विक्षेप करनेवाला होनेसे ३ मेरे कंठ और आंखोंमें खांसी आंसू आदि विकार हैं, क्योंकि उनसे उत्पन्न हुई पीडाका अनुभव हो रहा है, ४। अतः तिस प्रकार संदिग्ध, विपर्यस्त, अज्ञात, होता संता ही वह साध्य अपने स्वकीय रूपकरके ही निर्देश करने योग्य होता है।

जिज्ञासितविशेषस्तु धर्मी यैः पक्ष इष्यते।
तेषां सन्ति प्रमाणानि स्वेष्टसाधनतः कथं ॥ ३६७ ॥
धर्मिण्यसिद्धरूपेपि हेतुर्गमक इष्यते।
अन्यथानुपपन्नत्वं सिद्धं सद्भिरसंशयं ॥ ३६८ ॥

पक्ष तो प्रसिद्ध ही होना चाहिये। किन्तु जिस पक्षके जाननेकी इच्छा विशेषरूपसे उत्पन्न हो रही है, वह धर्मी पक्ष बना लिया जाता है। यह जिन प्रवादियों करके माना जा रहा है। उन नैयायिक या बौद्धोंके यहां तो "प्रमाणानि सन्ति स्वेष्टसाधनात्" प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण (पक्ष) हैं (साध्य) अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि होना देखा जाता है (हेतु), यह पक्ष कैसे बन सकेगा? यहां धर्मी प्रमाणोंके सर्वथा अप्रसिद्धरूप होनेपर भी भला हेतु गमक कैसे मान लिया गया है। बताओ। किन्तु सज्जन विद्वानोंने यहां संशयरहित होकर अन्यथानुपपत्ति सिद्ध हो रही मानी है। अतः यह समीचीन हेतु है। बौद्धोंका यह अभिप्राय था कि संदिग्धपुरुषको ही जिज्ञासा होती है। विपर्ययी और अज्ञानी तो जानने, समझनेकी इच्छा नहीं रखते हैं। इसपर आचार्योंने कहा है कि इष्टसाधनकी व्यवस्था होनेसे प्रमाणतत्त्व हैं। यह तो विपरीत ज्ञानी या अज्ञानियोंके प्रति ही विशेषरूपसे साधा जाता है। जो शून्यवादी या उपप्लववादी प्रमाणको कथमपि जानना नहीं चाहते हैं, उनके प्रति उक्त प्रमाण साधक अनुमान बोला गया है, तब तो प्रसिद्ध हो रहे किन्तु जिज्ञासित विशेषको पक्ष नहीं कहना चाहिये। क्षणिक सिद्धान्ती बौद्धोंके यहां प्रतिज्ञा बोल चुकनेपर हेतुकथन, व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान आदि करते समय वह प्रतिज्ञा तो नष्ट हो जाती है। इस ढंगसे भी पक्ष प्रसिद्ध न हो सका। फिर प्रसिद्धको पक्ष बनानेका आग्रह क्यो किया जा रहा है?

धर्मिसंतानसाध्याश्चेत् सर्वे भावाः क्षणक्षयाः।
इति पक्षो न युज्येत हेतोस्तद्धर्मतापि च॥ ३६९॥
प्रत्यक्षेणाप्रसिद्धत्वाद्धर्मिणामिह कात्स्न्र्यतः।
अनुमानेन तत्सिद्धौ धर्मिसत्ताप्रसाधनं॥ ३७०॥

यदि बौद्ध यों कहे कि चली आरही धर्मीकी संतानको साध्य बनालिया जायगा वह संतान तो देरतक टिकती है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, यह पक्ष तुम्हारे यहां युक्त नहीं हो सकेगा तथा हेतुको उस पक्षका धर्मपना भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि इस प्रकरणमें संपूर्णरूपसे धर्मी पदार्थोंकी प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्धि नहीं हो रही है। अर्थात् पक्षकोटिमें पडे हुये संपूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान प्रतिपाद्य और प्रतिपादकोंको नहीं हो रहा है। यदि अन्य अनुमानसे उन संपूर्ण पदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धि करोगे तब तो यहां धर्मियोंकी सत्ताको प्रसिद्ध करना आवश्यक कार्य हो गया। क्षणिकत्वको साधनेवाला अनुमान गौण पड गया, जो कि माना नहीं गया है। अथवा अनुमानसे भी धर्मिओंकी सत्ताका प्रसिद्धरूपसे साधन नहीं हो सकता है।

परप्रसिद्धितस्तेषां धर्मित्वं हेतुधर्मवत् ।
ध्रुवं तेषां स्वतंत्रस्य साधनस्य निषेधकम् ॥ ३७१ ॥
प्रसंगसाधनं वेच्छेत्तत्र धर्मिग्रहः कुतः ।
इति धर्मिण्यसिद्धेपि साधनं मतमेव च ॥ ३७२ ॥

पक्षके धर्म हो रहे हेतुके समान उन धर्मियों (सम्पूर्ण पदार्थ) की अन्यवादियोंके यहां प्रसिद्ध होनेके कारण प्रसिद्धि हो जानेसे उनको धर्मीपना दृढरूपसे निश्चित है । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले उन बौद्धोंके यहां स्वतंत्र नामके साधनका निषेध करनेवाला यह प्रसंग साधन इष्ट किया जावेगा ? किन्तु वहां भी धर्मीका ग्रहण कैसे होगा, बताओ ? भावार्थ—बाधा देनेवाले अनुमानोंके सिवाय प्रकृत साध्यको साधनेवाले हेतु दो प्रकारके होते हैं । एक स्वतंत्रसाधन है । दूसरा प्रसंगसाधन है । पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, जहां विद्यमान रहते हैं, वहांपर व्याप्तिस्मरण कराकर साध्यको साधनेवाला हेतु स्वतंत्रसाधन कहा जाता है । और परकी दृष्टिसे ही उसपर वादीको अनिष्टका आपादन करा देनेवाला हेतु प्रसंगसाधन कहलाता है । पर्वत वह्नियुक्त है, धूम होनेसे, या शब्द परिणामी है, कृतक होनेसे, इत्यादि हेतु अपने अपने साध्यको साधनेमें स्वतंत्र हैं । प्रसंग साधन हेतुसे कोई परोक्षपदार्थ नहीं साधा जाता है । केवल थोडीसी अज्ञाननिवृत्ति करा दी जाती है । न्यारे न्यारे सौ रुपयोंकी सत्ताको माननेवाला गँवार यदि पचास रुपयोंकी उनमें सत्ता नहीं मानता है, किन्तु सौ रुपयोंका व्याप्यपना और पचास रुपयोंका व्यापकपना स्वीकार किये हुये है । उस ग्रामीणके प्रति प्रसंगसाधन द्वारा यह समझाया जाता है कि फुटकर सौ रुपयोंका सद्भाव मानना पचास रुपये हुये विना असिद्ध है । इसी प्रकार तीन बीसीको नहीं माननेवाला यदि साठको मान रहा है, तो उसके लिये तीन बीसीका भी ज्ञान प्रसंगद्वारा करा दिया जाता है । कभी कभी विद्वान् पुरुषोंको भी विप्रलम्भ हो जाता है कि सौ रुपये तो हैं किन्तु पचास हैं या नहीं, तब दूसरा ज्ञान उठाकर पचासका ज्ञान किया जाता है । एक वस्तुका निर्णय करनेके लिये न जाने पूर्वमें कितने ज्ञान शीघ्रतासे हो जाते हैं । तब कहीं पीछेसे एक पक्का ज्ञान होता है । " साध्य साधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको व्यापकाभावो वा व्याप्याभावाविनाभावीत्येतत्प्रदर्श्यते येन तत्प्रसंगसाधनं " इस प्रकार धर्मीका ग्रहण करना कठिन है । तभी तो सिद्धान्तमें धर्मीके अप्रसिद्ध होनेपर भी सद्धेतु मान लिया ही गया है । अतः साध्य (पक्ष) के प्रसिद्ध होनेका आग्रह करना प्रशस्त नहीं है ।

व्याप्यव्यापकभावे हि सिद्धे साधनसाध्ययोः ।
प्रसंगसाधनं प्रोक्तं तत्प्रदर्शनमात्रकं ॥ ३७३ ॥

साधन और साध्यके व्याप्य व्यापकभावके सिद्ध हो जानेपर व्याप्यका स्वीकार करना व्यापकके स्वीकार करनेसे अविनाभाव रखता है। इस प्रकार व्यापकका प्रदर्शन करा देना केवल इतना ही फल उस प्रसंगहेतुका अच्छा कहा गया है। कोई परोक्ष नये पदार्थकी ज्ञप्ति नहीं कराई जाती है। अर्थात् जो भोला जीव शीशोंपनसे वृक्षपनको अधिक देशवर्ती व्यापक मानता है, किंतु सन्मुख देशमें शीशोंको खडा हुआ देख रहा है, फिर भी उसमें वृक्षपनेका व्यवहार नहीं कर रहा है, उस भद्र जीवको वृक्षपनका व्यवहार करादेना ही प्रसंगसाधन हेतुका फल है।

अथ निःशेषशून्यत्ववादिनं प्रति तार्किकैः।
विरोधोद्भावनं स्वेष्टे विधीयेतेति संमतं ॥ ३७४ ॥
तदप्रमाणकं तावदकिंचित्करमीक्ष्यते।
सप्रमाणकता तस्य क्व प्रमाणाप्रसाधने ॥ ३७५ ॥

अब आचार्य इस बातको कहते हैं कि संपूर्ण पदार्थोंका शून्यपना कहनेकी टेववाले वादीके प्रति नैयायिकोंद्वारा जो अपने इष्ट विषयमें विरोधका उत्थापन किया जाता है, यह तो हमको भले प्रकार सम्मत है। सबसे प्रथम वह शून्यवाद प्रमाणोंसे नहीं सिद्ध होता हुआ अकिंचित्कर दीख रहा है। जब कि "सर्वं शून्यं शून्यं" इस मंतव्यकी प्रमाणसे प्रकृष्टसिद्धि नहीं होगी तबतक उस शून्यवादको प्रामाणिकता कहां ठहर सकती है? भावार्थ—शून्यवादीके यहां पहिले ही व्यवहारिकरूपसे प्रमाणोंकी सिद्धि हो चुकनेपर नैयायिकोंने इष्टसाधनहेतु द्वारा परमार्थरूपसे प्रमाणोंको सधाया है। यदि शून्यवादी प्रथमसे कथमपि प्रमाणोंको न मानते होते तो अपने अभीष्ट शून्यतत्त्वकी सिद्धि कैसे करलेते? अतः नैयायिकोंका यह विरोध उठाना उपयुक्त है कि शून्यकी सिद्धि कर रहे हो और उपायतत्त्व प्रमाणोंको वास्तविक नहीं मान रहे हो, यह बडी पोल है।

नन्विष्टसाधनात् संति प्रमाणानीति भाषणे।
समः पर्यनुयोगोयं प्रमा शून्यत्ववादिनः ॥ ३७६ ॥
तदिष्टसाधनं तावदप्रमाणमसाधनम्।
स्वसाध्येन प्रमाणं तु न प्रसिद्धं द्वयोरपि ॥ ३७७ ॥

यहां शून्यवादीकी ओरसे शंका है कि इष्टकी सिद्धि की जा रही है। इससे सिद्ध होता है कि उसके उपाय प्रमाणपदार्थ जगत्में है, इस प्रकार कथन करनेपर नैयायिकोंके ऊपर भी प्रमाणका शून्यपना माननेवाले वादीकी ओरसे यही सकटाक्ष प्रश्न उठानारूप पर्यनुयोग समानरूपसे लागू होगा। क्योंकि शून्यवादियोंको तो इष्टका साधन प्रमाणशून्यपना है। अतः इष्टसाधनद्वारा वस्तु-

भूत प्रमाणोंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। नैयायिक, शून्यवादी, इन दोनोंके यहां भी अपने अपने साध्यके साथ प्रमाणपना तो प्रसिद्ध नहीं हुआ है अर्थात् तिस इष्टसाधनके द्वारा नैयायिक प्रमाणोंकी सिद्धि कर लेते हैं। उसी इष्ट साधनसे शून्यवादी अपने प्रमाणशून्यपनकी सिद्धि कर लेते हैं। प्रत्युत प्रमाणको बनानेकी अपेक्षा प्रमाणका मिटा देना सरल कार्य है।

तदसंगतमिष्टस्य संविन्मात्रस्य साधनं ।
स्वयं प्रकाशनं ध्वस्तव्यभिचारं हि सुस्थितं ॥ ३७८ ॥
स्वसंवेदनमध्यक्षं वादिनो मानमंजसा ।
ततोन्येषां प्रमाणानामस्तित्वस्य व्यवस्थितिः ॥ ३७९ ॥

आचार्य कहते हैं कि वह शून्यवादी बौद्धोंका कहना तो पूर्वापरसंगतिसे रहित है। क्योंकि उनको इष्ट हो रहे अकेले शुद्धसंवेदनका ही साधन करना उन्हें अभिप्रेत है, जो कि स्वयं प्रकाशित हो रहा और व्यभिचार दोषोंसे विनिर्मुक्त हो रहा ही भले प्रकार स्थित माना गया है। तब तो स्वसंवेदनामका प्रत्यक्ष ही वादीके यहां प्रमाण शीघ्र सिद्ध हो गया। तिस कारण अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंके अस्तित्वकी भी व्यवस्था हो जाती है। कुछ भी प्रमाण, प्रमेय, स्व, पर, वादी, प्रतिवादी, स्वपक्षसाधन, परपक्षदूषण, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, आदिको जो नहीं मानता है, वह तो स्वयं भी नहीं है। अतः इष्टतत्त्वके साधनेसे प्रमाणोंकी सिद्धिका आपादन करना समुचित ही है।

नन्विष्टसाधनं धर्मि प्रमाणैरपरैर्युतम् ।
तदिष्टसाधनत्वस्येतरथानुपपत्तितः ॥ ३८० ॥
एवं प्रयोगतः सिद्धिः प्रमाणानामनाकुलम् ।
तत्सत्ता नैव साध्या स्यात्सर्वत्रेति परे विदुः ॥ ३८१ ॥

यहां पुनः प्रतिवादीका अनुनय है कि जिन शून्यवादियोंके यहां इष्टसाधन हेतुकी प्रसिद्धि नहीं है, उनके प्रति इष्टसाधनको धर्मी बनाकर फिर दूसरे प्रमाणोंसे युक्त होना साधोगे, अन्यथा उस इष्टसाधनपनकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि इस प्रकारके अनुमान प्रयोग करनेसे ही प्रमाणोंकी आकुलतारहित होकर सिद्धि मानली जायगी तब तो सभी स्थानोंपर उन प्रमाणोंकी सत्ताको नहीं साध्य करना चाहिये। इस प्रकार दूसरे विद्वान् जान रहे हैं।

यतोभयं तदेवेषां स्वयमग्रे व्यवस्थितम् ।
हेतोरनन्वयत्वस्य प्रसंजनमसंशयं ॥ ३८२ ॥

सत्तायां हि प्रसाध्यायां विशेषस्यैव साधनात् ।
यथानन्वयता दोषस्तथात्राप्यनिदर्शनात् ॥ ३८३ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि जिस बातसे इनको भय लगता था वही बात इनके सन्मुख आकर स्वयं उपस्थित होगई, अर्थात् शून्यवादी प्रमाणोंकी सिद्धिको नहीं मानना चाहते थे। इष्टसाधन हेतुका अन्वयदृष्टान्त नहीं मिलनेका उनको बल था कि अन्वयदृष्टांतके विना इष्ट साधनहेतु प्रमाणोंको सिद्ध नहीं कर सकता है। हम शून्यवादियोंने अन्वयदृष्टान्त बन जानेके लिये कोई वस्तुभूत पदार्थ माना ही नहीं है। अतः हेतुके अन्वयदृष्टान्तसे रहितपनका प्रसंग देना निःसंशय हो जाता है, किन्तु उन शून्यवादियोंको विचारना चाहिये कि चाहे शून्यवादी होय या तत्त्वोपप्लववादी होय अथवा वल्लभसंप्रदायके अनुसार सर्वत्र प्रेमी भगवान्‌की उपासना करनेवाले होंय, उनको सम्वृत्तिसे या व्यवहारसे अथवा कल्पनासे सामान्य करके प्रमाण मानना ही पडेगा। सामान्यरूपसे प्रमाणकी सत्ताको अच्छा साध्य करते सन्ते, ऐसी दशामें सामान्यप्रमाणकी सत्ता सिद्ध हो चुकनेपर विशेष प्रमाणकी ही सत्ताको साध्य बनानेमें इष्टसाधन हेतुका प्रयोग करना सफल हो जाता है। जिस प्रकार अन्वयरहितपना दोष हमारे ऊपर लगता है, उसी प्रकार दृष्टांतके न होनेसे तुम शून्यवादियोंके यहां भी अपने इष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यथार्थ बात यह है कि दृष्टान्त कोई साध्यसिद्धिका मुख्य अंग नहीं है। बालकोंको व्युत्पन्न करनेके लिए कचित् उपयोगी मान लिया गया है।

हेतोरनन्वयस्यापि गमकत्वोपवर्णने ।
सत्ता साध्यास्तु मानानामिति धर्मी न संगरः ॥ ३८४ ॥

भगवान् तुमको सम्यग्ज्ञान करावें यदि अन्वय दृष्टान्तसे रहित हेतुको भी साध्यका ज्ञापकपना अभीष्ट करलोगे, तब तो प्रमाणोंकी सत्ता भी साध्य हो जाओ। इस प्रकार धर्मी प्रसिद्ध ही होना चाहिये, यह प्रतिज्ञा नहीं सधसकी।

धर्मिधर्मसमूहोत्र पक्ष इत्यपसारितम् ।
एतेनेति स्थितः साध्यः पक्षो विध्वस्तबाधकः ॥ ३८५ ॥

इस प्रकरणमें धर्मी (आधार) और धर्म (साध्य) का समुदाय पक्ष है, यह भी इस उक्त कथनकरके निवारण कर दिया गया है। अतः इससे यह स्थित हुआ कि जिसके बाधकज्ञान विध्वस्त हो गये हैं वह साध्य पक्ष माना गया है।

व्याप्तिकाले मतः साध्य पक्षो येषां निराकुलः ।
सोन्यथैव कथं तेषां लक्षणव्यवहारयोः ॥ ३८६ ॥
व्याप्तिः साध्येन निर्णीता हेतोः सार्धं प्रसाध्यते ।
तदेवं व्यवहारेपीत्यनवद्यं न चान्यथा ॥ ३८७ ॥

जिन विद्वानोंके यहां व्याप्तिग्रहण करते समय निराकुल होकर साध्य ही पक्ष माना गया है, उनके यहां वह साध्य व्याप्तिस्वरूप ग्रहण करनेके कालमें और अनुमान प्रयोग करनेपर व्यवहारकालमें दूसरे दूसरे प्रकारका कैसे हो सकता है ? साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति निर्णीत हो रही भले प्रकार जब व्याप्तिकालमें साधी जा रही है, तब तो उसी प्रकार व्यवहारकालमें भी साध्य उतना ही पकडा जायगा । दूसरे ढंगसे व्यवस्था करना ठीक नहीं है । जो विचारशील विद्वान् पंच पुरुषोंमें निर्णीत हुआ है, उसको व्यवहारमें लाओ यह निर्दोषमार्ग है ।

धर्मिणोप्यप्रसिद्धस्य साध्यत्वाप्रतिघातितः ।
अस्ति धर्मिणि धर्मस्य चेति नोभयपक्षता ॥ ३८८ ॥

अतः अप्रसिद्ध हो रहे भी धर्मीको साध्यपना प्रतिहत नहीं हो पाता है । अर्थात् अप्रसिद्ध धर्मीका भी साध्यपना सुरक्षित है । और धर्मीके होनेपर धर्मका अस्तित्व है । इस कारण धर्मी और धर्म दोनोंके समुदायको पक्ष कहना ठीक नहीं है, व्यर्थ पडता है ।

तद्यत्र साधनाद्बोधो नियमादभिजायते ।
स तस्य विषयः साध्यो नान्यः पक्षोस्तु जातुचित् ॥ ३८९ ॥

तिस कारण जहां अविनाभाव नियमके अनुसार साधनसे साध्यका बोध प्रकृष्ट उत्पन्न हो जाता है, वह साध्य उस अविनाभावी हेतुका ज्ञेय विषय है । उससे न्यारा पक्ष कदाचित् भी नहीं होवेगा, यह समझे रहो ।

तदेवं शक्यत्वादिविशेषणसाध्यसाधनाय कालापेक्षत्वेन व्यवस्थापिते अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणे साधने च प्रकृतमभिनिबोधलक्षणं व्यवस्थितं भवति ।

तिस कारण यहांतक हेतु, साध्य, और पक्षका इस प्रकार विशेष विचार कर दिया गया है । शक्यपन आदि विशेषणोंसे युक्त हो रहे साध्यको साधनेके लिये प्रयोगकालकी अपेक्षा करके अन्यथानुपपत्ति ही एक लक्षणवाले हेतुकी व्यवस्था करा चुकनेपर यह प्रकरणप्राप्त अनुमानस्वरूप अभिनिबोधका लक्षण करना व्यवस्थित हो जाता है । अर्थात् इस प्रकरणमें सामान्य मतिज्ञानको

अभिनिबोध नहीं माना है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले हेतुसे शक्य, अभिप्रेत, असिद्ध, साध्यका ज्ञान करलेना अभिनिबोध है।

यः साध्याभिमुखो बोधः साधनेनानिंद्रियसहकारिणा नियमितः सोभिनिबोधः स्वार्थानुमानमिति।

मनकी सहकारिताको प्राप्त हो रहे ज्ञापकहेतुकरके साध्यके अभिमुख होकर नियम प्राप्त हो रहा जो ज्ञान है, वह अभिनिबोध है। " अभि " यानी अभिमुख " नि " यानी अविनाभावरूप नियम प्राप्त बोध यानी ज्ञान है। वह अभिनिबोध स्वार्थानुमान है। यह प्रकरणके अनुसार अभिनिबोधका सिद्धान्त लक्षण है।

कश्चिदाहः—

कोई जैनका एकदेशीय पण्डित यहां कह रहा है—

इंद्रियार्तींद्रियार्थाभिमुखो बोधो ननु स्मृतः।
नियतोक्षमनोभ्यां यः केवलो न तु लिंगजः॥ ३९०॥

यहां विचार करना चाहिये कि इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य अर्थ और बहिरंग इन्द्रियोंसे नहीं भी ग्रहण करने योग्य अतीन्द्रिय अर्थकी ओर अभिमुख हो रहा नियमित ज्ञान करना तो अभिनिबोध माना गया है किन्तु इन्द्रिय और मनकरके सहकृत हो रहे केवल ज्ञापक लिंगकरके ही जो ज्ञान उपज रहा है, वही तो अभिनिबोध नहीं माना जाता है। अर्थात् " मतिः स्मृतिः " आदि सूत्रमें पडे हुये अभिनिबोधका अर्थ स्वार्थानुमान और कचित् अभेदवृत्तिसे आपने पकडा परार्थानुमान है, किन्तु सामान्य अभिनिबोधका अर्थ सभी मतिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, ये सभी ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनसे उत्पन्न हुये होनेके कारण मतिज्ञान माने गये चले आ रहे हैं, फिर अकेले अनुमानको ही अभिनिबोध क्यों कहा जा रहा है? बताओ।

इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां नियमितः कृतः स्वविषयाभिमुखो बोधोभिनिबोधः प्रसिद्धो न पुनरनिन्द्रियसहकारिणा लिंगेन लिंगिनियमितः केवल एव चिन्तापर्यन्तस्याभिनिबोधत्वाभावप्रसंगात्। तथा च सिद्धान्तविरोधोऽशक्यः परिहर्तुमित्यत्रोच्यते।

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) से नियमित कर दिया गया तथा अपने विषयकी ओर अभिमुख हो रहा ज्ञान अभिनिबोधपनसे प्रसिद्ध हो रहा है। किन्तु फिर मनको ही सहकारी कारण मानकर ज्ञापक हेतुकरके साध्यके साथ नियमित हो रहा केवल अनुमान ही तो अभिनिबोध नहीं है। यों तो अवग्रह, आदिक तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्कपर्यन्त ज्ञानोंको अभिनिबोधपनके अभावका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर आप्तोपज्ञ सिद्धान्तके साथ आये हुये विरोधका परिहार

नहीं किया जा सकता है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्तीने गोम्मटसारमें लिखा है " अहिमु-हणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदइंदियजं । अवग्गहईहावाया धारणगा होन्ति पत्तेयं " इस प्रकार हमको हमारे ही सिद्धान्तसे विरोध आगया, दिखलाने पर तो हमें समाधान कहनेके लिये बाध्य होना पडता है।

सत्यं स्वार्थानुमानं तु विना यच्छब्दयोजनात ।
तन्मानांतरतां मागादिति व्याख्यायते तथा ॥ ३९१ ॥

किसी एकदेशीयका यह कहना सत्य है। हमको आधे ढंगसे स्वीकृत है। शब्दकी योजनाके विना जो हेतुजन्य-स्वार्थानुमान हो रहा है, वह मतिज्ञानके सिवाय दूसरे श्रुत, अवधि, आदि प्रमाणपनको प्राप्त न हो जावे, इस कारण तिस प्रकार व्याख्यान करदिया गया है। अर्थात् शब्दकी योजनासे सहित हो रहा परार्थानुमान भले ही श्रुतज्ञान बन जाय, किन्तु अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान नहीं बन रहा स्वार्थानुमान तो अभिनिबोध (मतिज्ञान) ही है।

न हि लिंगज एव बोधोभिनिबोध इति व्याचक्ष्महे । किं तर्हि, लिंगजो बोधः शब्द-योजनरहितोभिनिबोध एवेति तस्य प्रमाणान्तरत्वनिवृत्तिः कृता भवति सिद्धांतश्च संगृहीतः स्यात् । न हीन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेव स्वविषयेभिमुखो नियमितो बोधोभिनिबोध इति सिद्धान्तोस्ति स्मृत्यादेस्तद्भावविरोधात् । किं तर्हि । सोनिन्द्रियेणापि वाक्यभेदात् । कथं अनिन्द्रियजन्याभिनिबोधिकमनिंद्रियजाभिमुखनियमितबोधनमिति व्याख्यानात् ।

ज्ञापक हेतुसे ही उत्पन्न हुआ ज्ञान अभिनिबोध होता है। इस प्रकार एवकार लगाकर हम नहीं बखान रहे हैं। तो क्या कह रहे हैं ? सो सुनो, वाचक शब्दोंकी जोडकलासे रहित हो रहा जो लिङ्गजन्य ज्ञान (स्वार्थानुमान) है, वह अभिनिबोध ही है। इस प्रकार उद्देश्यदलमें एवकार नहीं लगाकर विधेयदलमें एवकार द्वारा अवधारण किया है। इस कारण उस लिंगजन्य ज्ञानको मतिज्ञानपना ही स्थापनकर श्रुतज्ञान आदि अन्य प्रमाणपन हो जानेकी निवृत्ति कर दी गई है। और यों कहनेसे हमारे जैन सिद्धान्तका संग्रह भी कर लिया गया समझ लो। केवल इन्द्रियों और अनिन्द्रियोंकरके ही अपने विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और सुख, ज्ञान, वेदना, आदि विषयोंमें अभिमुख हो रहा नियम प्राप्त बोध ही अभिनिबोध है, यह जैन सिद्धान्त नहीं है। यों माननेपर तो स्मृति, तर्क, संज्ञा, इन ज्ञानोंको उस अभिनिबोधपनके सद्भावका विरोध हो जावेगा अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे नियमित हो रहे अभिमुख आये हुये विषयोंमें एक देश विशद जाननेको ही अभिनिबोध यदि माना जावेगा तो स्मृति, संज्ञा, चिंता, ज्ञानोंको अभिनिबोधपना विरुद्ध हो जायगा, तो वह अभिनिबोध क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर हमारा यह उत्तर है कि वह अभिनिबोध अनिन्द्रियकरके भी अपने विषयमें अभिमुख होकर नियमित अर्थको जान रहा है। इस

प्रकार " इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं " अथवा " अणिंदइन्दियजं " इन वाक्योंके योगविभागकर वाक्य-भेद कर देनेसे उक्त अर्थ निकल आता है। कैसे निकलता है ? इसपर यह कहना है कि मनरूप अनिन्द्रियसे उत्पन्न हुआ आभिनिबोधिक तो अनिन्द्रियसे सहकृत लिंगसे उत्पन्न हुआ और नियमयुक्त साध्यके अभिमुख हो रहा ज्ञान है, इस प्रकार व्याख्यान किया गया है। भावार्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इस पहिले वाक्यकरके अवग्रह आदिक गृहीत हो जाते हैं और अनिन्द्रियसे मतिज्ञान होता है। इस दूसरे वाक्यमें लिंगसे सहकृतपना डालकर अभिनिबोध करके स्वार्थानुमानका संग्रह हो जाता है।

नन्वेवमप्यर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमप्रत्यक्षत्वात् परोक्षभेदेषूक्तेष्वनंतर्भावात् । प्रमाण-षट्कविज्ञातस्यार्थस्यान्यथाभवनयुक्तस्य सामर्थ्याददृष्टान्यवस्तुकल्पने अर्थापत्तिव्यवहारात् । तदुक्तं । "प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोन्यथाभवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥"

यहां मीमांसकोंकी शंका है कि इस प्रकार अर्थापत्ति नामका भी एक न्यारा प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि वह अविशद होनेके कारण प्रत्यक्षप्रमाणरूप तो नहीं है। और परोक्ष प्रमाणके कहे हुये मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध, आगम इन भेदोंमें उस अर्थापत्तिका अंतर्भाव नहीं होता है। लौकिक जनोंका भी इस लक्षणमें अर्थापत्तिप्रमाणरूपसे व्यवहार हो रहा है। उसका यह लक्षण है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति, अभाव, इन छह प्रमाणोंसे अच्छा जान लिया गया जो अर्थ उस अदृष्टके विना नहीं होनेपनसे युक्त है, उस अर्थ द्वारा जिस प्रमाणकी सामर्थ्यसे अदृष्ट हो रही दूसरी वस्तुकी कल्पना की जाती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण है। वही हमारे ग्रन्थोंमें कहा गया है कि प्रत्यक्ष आदि छैऊ प्रमाणोंमेंसे चाहे जिस प्रमाणके द्वारा भले प्रकार जान लिया गया अर्थ जहां अनन्यथाभूत हो रहा है, उस दूसरे अदृष्ट अर्थकी जिस प्रमाणसे कल्पना कराई जाती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण समझा गया है।

प्रत्यक्षपूर्विका ह्यर्थापत्तिः प्रत्यक्षविज्ञातादर्थादन्यत्रादृष्टेर्थे प्रतिपत्तिर्यथारात्रिभोजी देवदत्तोयं दिवाभोजनरहितत्वे चिरंजीवित्वे च सति स्तनपीनांगत्वान्यथानुपपत्तेरिति ।

मीमांसक विद्वान् अपनी छह प्रमाणोंसे हुई अर्थापत्तियोंके उदाहरण स्वयं दिखला रहे हैं। तिनमें प्रत्यक्षप्रमाणको परम्परा कारण मानकर हुई अर्थापत्तिका लक्षण यह है कि प्रत्यक्षसे जान लिये गये और अविनाभूत हो रहे अर्थके द्वारा जो अदृष्ट अर्थमें प्रत्तिपत्ति होना है, वह प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति है। अच्छे घरकी विधवावधूकी गर्भयोग्य उदरवृद्धिको देखकर उसके व्यभिचारदोषका ज्ञान कर लिया जाता है। प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि भोजन करनेवाला और भोजन नहीं करनेवाला इस प्रकार विवादमें पडा हुआ यह देवदत्त अवश्य रातमें खाता होगा, क्योंकि दिनमें भोजन करनेसे रहित होता हुआ और अधिक कालतक जीवित होता संता यह देवदत्त

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्थूलस्तनसे सहित शरीरवाला है। अर्थात् देवदत्तके शरीरमें और विशेषकर छातीपर स्तनोंमें मोटापन है जो कि स्थूलता बीमारीकी सूजन ततैया, बर्र, आदिके काटेकी नहीं है। जो जीव बहुत दिनोंसे दिनमें नहीं खा रहा है, और बहुत दिनतक जीवित रहता है, उसके वक्षःस्थलकी स्थूलता रातको खाये विना नहीं स्थिर रह सकती है। रातको खाते हुये देवदत्तको यद्यपि नहीं देखा है, फिर भी उक्त प्रकारके मोटे पुष्ट शरीरधारीपनसे रात्रिमें भोजन करना अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है। जैनसिद्धान्त अनुसार तीर्थंकर महाराज, कामदेव, बलभद्र, आदि महान् पुरुषोंके यद्यपि तपश्चरण करते समय दिनरात उपवास करनेपर भी वक्षःस्थलकी सुन्दरस्थूलतामें कोई अन्तर नहीं पडता है। भगवान् श्रीआदीश्वर महाराज या बाहुबलीस्वामीने एक वर्षपर्यन्त निराहार रहकर तपश्चर्या की थी। फिर भी उनके शरीरमें कोई शिथिलता, लटजाना, दुर्बलता आदिके चिन्ह नहीं प्रगट हुये थे। भोगभूमियां लम्बे चौडे शरीरवाले होकर भी एक दो, तीन, दिन पीछे अति अल्प आहार करते हुए पुष्ट, बलिष्ट, स्थूल, सुन्दर शरीरवाले होकर अधिक कालतक जीवित रहते हैं। देवता तो कभी कवल आहार नहीं करते हैं। उनके तो वर्षों पीछे कंठसे झरे हुये अमृतका मानस आहार है। फिर भी मीमांसकोंने वर्त्तमानकालके अन्नकीट पुरुषोंकी अपेक्षा यह उदाहरण दिया है। चलो अच्छा है।

अनुमानपूर्व्विका वानुमानविज्ञातादर्थाद्यथागमनशक्तिमानादित्यादिर्गत्यन्यथानुपपत्तेरिति।

मीमांसक ही कहे जा रहे हैं कि अनुमानपूर्वक अर्थापत्ति तो इस प्रकार है कि अनुमानप्रमाणोंद्वारा जान लिये गये अर्थसे अदृष्ट अर्थको जानलेना जैसे कि सूर्य, चन्द्रमा, रक्त, आदिकपदार्थ (पक्ष) गमनशक्तिसे युक्त हो रहे हैं (साध्य) क्योंकि देशसे देशांतर जानारूप गति होना उनमें गमनशक्तिके विना नहीं बन सकता है। सूर्यका विमान अत्यधिक चमकीला है। हम लोग आंखें खोलकर बहुत देरतक सूर्यकी गतिको देखनेके लिये तो नहीं बैठ सकते हैं। और चन्द्रमाकी गतिको प्रत्यक्ष करनेके लिये भी कोई ठलुआ नहीं बैठा है। हां, कोई इस चन्द्रमाकी गतिको जाननेके लिये ही कमर कसकर बहुत देरतक बैठा रहे तो उसको चन्द्रमाकी गतिका प्रत्यक्ष हो सकता है। काले कांच, वस्त्र आदिकी परम्परासे सूर्यकी गतिका भी प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु जिस विद्वान् ने पहिला अनुमान उठाकर देशसे देशान्तर होनारूप–हेतुसे सूर्यकी गतिका अनुमान किया है, और पीछे गतिकी अन्यथानुपपत्तिसे अर्थापत्ति द्वारा सूर्यमें गमन करनेकी अतीन्द्रियशक्तिको जाना है। वह अनुमानपूर्वक अर्थापत्तिका उदाहरण यहां मीमांसकोंने दिया है।

तथोपमानपूर्विकोपमानविज्ञातादर्थाद्गाहादिशक्तिरयं गवयो गवयत्वान्यथानुपपत्तेरिति।

तथा उपमानप्रमाणपूर्वक अर्थापत्ति यों मानी गई है कि उपमान प्रमाणसे जानलिये गये अनन्यथाभूत अर्थसे अदृष्ट अर्थकी जो कल्पना की जाती है। जैसे कि यह रोझ पशु (पक्ष) कादना, दौडना, आदि शक्तियोंसे युक्त है (साध्य) अन्यथा यानी दौडना आदि शक्तियोंसे

सहितपनके विना गवयपना नहीं बनता है। यहां गौके सदृश गवय होता है। ऐसे वृद्धवाक्यको सुनकर वनमें जाकर ढांट और गलकम्बलसे रहित हो रहे बैल सरीखे पशुको देखकर " यह गवय है " ऐसा उपमान प्रमाण (सादृश्य प्रत्यभिज्ञान) द्वारा जान लिया जाता है। पुनः गवयपनेसे वाह आदि अतीन्द्रिय शक्तियोंका अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है।

तथागमपूर्विका आगमविज्ञातादर्थादर्थप्रतिपादनशक्तिः शद्धो नित्यार्थसंबंधित्वान्यथानुपपत्तेरिति।

तिसी प्रकार आगमप्रमाणद्वारा जान लिये गये अर्थसे अविनाभावी अदृष्ट अर्थका ज्ञान कर लेना आगमपूर्वक अर्थापत्ति है। जैसे कि यह शद्ध (पक्ष) अमुक अर्थको प्रतिपादन करनेकी शक्तिसे तदात्मक हो रहा है (साध्य)। नित्य ही अर्थके साथ संबंध सहितपना अन्यथा यानी अर्थ प्रतिपादनशक्तिके साथ तदात्मक हुये विना बन नहीं सकता है (हेतु)। यहां स्वाभाविकी योग्यता और संकेतके वश शद्ध और अर्थके नित्य रहनेवाले संबंध सहितपनको आगम प्रमाणद्वारा निर्णीत कर पुनः नित्य ही अर्थके संबंधीपनसे शद्धकी अर्थ प्रतिपादनशक्तिका अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है।

तथार्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरर्थापत्तिप्रमाणविज्ञातादर्थाद्यथा रात्रिभोजनशक्तिः विवादापन्नो देवदत्तोयं रात्रिभोजित्वान्यथानुपपत्तेरिति।

मीमांसक ही कहते चले आ रहे हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिको कारण मानकर पहिली अर्थापत्ति बना ली जाय, पुनः उस अर्थापत्ति प्रमाणसे जान लिये गये अर्थसे अविनाभावी हो रहे अदृष्ट अर्थकी दूसरी इति करना अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति कही जाती है। जैसे कि भोजन कर सकनेवाला और भोजन नहीं कर सकनेवाला, इस प्रकार विवादमें पडा हुआ यह देवदत्त (पक्ष) रातको खानेकी शक्तिसे युक्त है (साध्य), क्योंकि अर्थापत्तिसे जान लिया गया रात्रिभोजीपना अन्यथा यानी भोजन करनेकी शक्तिके विना अनुपपन्न है (हेतु)। यहां प्रत्यक्षप्रमाणसे देवदत्तके अविकृत मोटेपनको देखकर दिनमें नहीं खानेवाले, चिरजीवी, देवदत्तका रात्रिमें डटकर भोजन करना पहिली अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है। पुनः रात्रिभोजीपनकी अन्यथानुपपत्तिसे रातमें भोजन करनेकी शक्तिका ज्ञान दूसरी अर्थापत्तिसे किया जाता है। इससे भी आगे तीसरी अर्थापत्तिको उठाकर देवदत्तका द्रव्यपना या अव्रतीपना जाना जा सकता है। इसके उपरांत भी चौथी अर्थापत्तिसे तिर्यञ्च आयुके बंधकी योग्यता जानी जा सकती है। किन्तु इतनी ऊंची कोटीतक चलना विद्वानोंका उद्देश्य रहता है। साधारण लौकिक जनोंकी तो एक, दो, अर्थापत्ति या अनुमानको उठाकर ही जिज्ञासा शान्त हो जाती है। हां, विशेष जिज्ञासा बढनेपर लौकिक जन भी किसी जटिल विषयमें ग्रन्थियोंको सुलझानेके लिये अनेक प्रमाण उठाकर विवादोंको सिद्धान्तमार्गपर ले आते हैं।

तथैवाभावपूर्विकार्थापत्तिरभावप्रमाणविज्ञातादर्थाद्यथास्माद्गृहाद्बहिस्तिष्ठति देवदत्तो जीवित्वे सत्यत्राभावान्यथानुपपत्तेरिति ।

मार्गदर्शक [illegible] ठीक जान लिये गये अविनाभूत अर्थसे अदृष्ट हो रहे अन्य अर्थमें कल्पना उठाना अभावपूर्वक अर्थापत्ति है । जैसे कि इस घरसे बाहर प्रदेशमें देवदत्त ठहरा हुआ है । क्योंकि जीवित होते संते देवदत्तका यहां घरमें नहीं रहना अन्यथा यानी बाहर ठहरनेके विना असम्भव है । यदि देवदत्त जीवित न होता तब तो यहां घरमें भी नहीं पाया जाता और घरसे बाहर चौपारि, बाग, ग्रामान्तर, आदिमें भी नहीं पाया जाता, किन्तु देवदत्त जीवित है । और यहां नहीं है । अतः आसपास बाहर गया हुआ है । यह अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है । यहां जीवित देवदत्तका घरमें नहीं ठहरना तो अभाव प्रमाणसे जान लिया, पुनः अनन्यथाभूत बाहर ठहरना अभावप्रमाणपूर्वक अर्थापत्तिसे जाना गया है । इस प्रकार छह प्रमाणोंसे उत्पन्न हुई अर्थापत्तियोंको परोक्षप्रमाणके भेदोंमें परिगणित करना जैनोंको आवश्यक है । नहीं कहनेसे अव्याप्ति दोष आता है ।

एतेनाभावस्य प्रमाणांतरत्वमुक्तमुपमानस्य वा वस्तुनो सतः सदुपलंभकप्रमाणाप्रवृत्तेरभावप्रमाणस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । सादृश्यविशिष्टाद्वस्तुनो वस्तुविशिष्टाद्वा सादृशात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिरभ्युपगमनीयत्वाच्चेति केचित् ।

इस उक्त कथनसे अभावप्रमाणको भी स्मृति आदिकोंसे न्यारा प्रमाणपना कह दिया गया समझ लेना चाहिये तथा सादृश्यको विषय करनेवाला उपमान भी न्यारा प्रमाण है । वस्तुके सद्भावोंको ही जाननेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणोंकी वस्तुके असद्भाव (अभाव) को जाननेमें प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः अभावको जाननेके लिये अभाव प्रमाणका आश्रय करना भी अत्यावश्यक है । जैसे अभावको जाननेवाले प्रमाणकी भावोंको जाननेमें गति नहीं है । उसी प्रकार अभावको जाननेमें भाव उपलम्भक प्रमाणोंको भी आज्ञा प्राप्त नहीं है । विषयोंके अनुसार प्रमाण भी न्यारे न्यारे होने चाहिये तथा उपमानका भी न्यारा प्रमाणमना यों आवश्यक है कि सादृश्यविशिष्ट वस्तुसे अथवा वस्तुविशिष्ट सादृश्यसे परोक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति करना सभी वादियोंको स्वीकार करने योग्य है, इस प्रकार कोई मीमांसक विद्वान् बडी देरसे कह रहे हैं ।

संभवः प्रमाणान्तरमाढकं दृष्ट्वा संभवत्यर्द्धाढकमिति प्रतिपत्तेरन्यथा विरोधात् । प्रातिभं च प्रमाणान्तरमत्यंताभ्यासादन्यजनावेद्यस्य रत्नादिप्रभावस्य झटिति प्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यन्ये ।

किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि सम्भव भी न्यारा प्रमाण है । आढकको देखकर इसमें अर्द्ध आढक (अढैया) सम्भव रहा है । तौलने या नापनेका एक विशेष परिमाण आढक है । उसके

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आधा नाप अर्ध आढक है। सौमें पचास हैं। इस प्रकारकी प्रतिपत्तियां होनेका अन्यथा यानी सम्भवको न्यारा प्रमाण मानेविना विरोध है। एक न्यारा प्रमाण प्रातिभ भी है। अत्यन्त अभ्यासके वशसे अन्य जनोंकरके नहीं जाने गये रत्न, सुवर्ण, आदिके प्रभावकी झट प्रतिपत्ति होना देखा जाता है। नवीन नवीन उन्मेषोंको धारनेवाली प्रतिभा बुद्धिसे ऐसे ज्ञान हो जाते हैं कि मेरा भाई कल आवेगा, अन्न महार्घ्य (महंगा) होगा, सुवर्ण मन्दा जायगा इत्यादि ज्ञान अनुभववेद्य हो रहे हैं। सम्यग्दर्शनका या आत्मानुभवका संवेदन भी विलक्षणज्ञान है। इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् सात, आठ, नौ, आदि प्रमाण माननेवाले कह रहे हैं।

तान्प्रतीदमुच्यते;—

उन मीमांसक आदि विद्वानोंके प्रति आचार्य महाराज द्वारा यह समाधान कहना पडता है कि—

सिद्धः साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावकः।
संभवादेश्च यो हेतुः सोपि लिंगान्न भिद्यते ॥ ३९२ ॥

साध्यके साथ अविनाभाव रखना ही अर्थापत्ति प्रमाणको उत्पन्न करानेवाला सिद्ध किया गया है। तथा सम्भव, प्रातिभ, आदि प्रमाणोंका उत्थापक जो हेतु माना गया है, वह भी अविनाभावी हेतुसे भिन्न नहीं है। अर्थात् अविनाभावी उत्थापक हेतुओंसे उत्पन्न हुये सम्भव आदिक भी अनुमान प्रमाणमें गर्भित हो जाते हैं। अविनाभावसे रीते उत्थापक अर्थसे उपजे तो सम्भव-प्रातिभ, आदि ज्ञान अप्रमाण हैं। उपमान प्रमाण तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानरूप हमने कंठोक्त स्वीकार ही किया है। अतः उक्त प्रमाणोंसे अतिरिक्त अन्य प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

दृष्टांतनिरपेक्षत्वं लिंगस्यापि निवेदितम्।
तन्न मानांतरं लिंगादर्थापत्त्यादिवेदनम् ॥ ३९३ ॥

मीमांसकोंने अर्थापत्ति और अनुमानका जो यह भेदक माना है कि जहां दृष्टान्तमें व्याप्ति ग्रहण होकर न्यारे पक्षमें हेतु द्वारा साध्यको जाना जाता है, वह अनुमान प्रमाण है और वहां ही व्याप्तिग्रहण कर उसी स्थलपर अन्यथानुपपन्न पदार्थसे अदृष्टपदार्थको जाना जाता है। वह अर्थापत्ति है। आचार्य कहते हैं कि यह भेद करना ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञापक हेतुका दृष्टान्तकी नहीं अपेक्षा रखनापन भी हमने निवेदन कर दिया है। यानी अन्वय दृष्टान्तके विना भी हेतुओंसे साध्यका ज्ञान अनुमान द्वारा हो जाता है। तिस कारण लिंगसे उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाणसे अतिरिक्त अर्थापत्ति, सम्भव, प्रातिभ आदिक न्यारे प्रमाण नहीं हैं। जैसे प्रत्यक्षके कारण चक्षुः, कर्म क्षय, क्षयोपशम, आदि भिन्नजातिके होते हुये भी उनका कार्य प्रत्यक्ष एकसा माना गया है। एक

इन्द्रिय जीवका स्पर्शन इन्द्रियजन्य एकदेश प्रत्यक्ष कहां ? या जघन्य देशावधिवालेका आवलीके असंख्यातवें भाग कालतककी और अङ्गुलके असंख्यातवें भाग आकाशमें रखी हुई द्रव्यको जानने वाला अवधिज्ञान कहां ? और अनंतानंत प्रमेयोंका जाननेवाला सर्वज्ञका प्रत्यक्ष कहां ? इन दोनें प्रत्यक्षोंमें महान् अन्तर है। अथवा जघन्य निगोदिया जीवका स्पर्शज्ञानजन्य छोटासा श्रुतज्ञान कहां ? और द्वादशांगरूप सम्पूर्ण वेदोंका आगमज्ञान कहां ? फिर भी ये सभी ज्ञान समानजातिके होनेसे प्रत्यक्ष या आगम कहे जाते हैं। उसी प्रकार अनेक प्रकारके अविनाभावी लिङ्गोंसे लिंगीके सभी ज्ञान अनुमानप्रमाण माने जाते हैं। भलें ही लिंग कहा गया न होय या दृष्टान्तमें व्याप्ति-ग्रहणका उल्लेख नहीं किया गया होय अथवा हेतुपक्षमें वृत्ति न होय तथा भले ही पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, कोई न होय, फिर भी अन्यथानुपपत्तिरूप प्राणको लेकर हेतु जीवित रहता हुआ अनुमानको उत्पन्न करा ही देता है।

मतिज्ञानविशेषाणामुपलक्षणता स्थितं।
तेन सर्वं मतिज्ञानं सिद्धमाभिनिबोधिकम् ॥ ३९४ ॥

इस " मतिःस्मृतिः " आदि सूत्रमें मतिज्ञानके विशेष भेदोंका उपलक्षणरूपसे स्थित होना कहा है। जैसे कि "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" कौओंसे दहीकी रक्षा करना, यहां कौआ पदसे दहीको बिगाडनेवाले बिल्ली कुत्ता, मूसटा, चील, गिलगिलिया आदि सबका ग्रहण है। ऐसे ही स्मृति आदिकसे सभी प्रतिभ, स्वानुभूति, स्फूर्ति, प्रेक्षा, प्रज्ञा आदिका संग्रह कर लिया जाता है। तिस कारण इन्द्रिय अनिन्द्रियजन्य सर्व ही मतिज्ञान आभिनिबोधिक सिद्ध हो जाते हैं। अवान्तर भेद प्रभेदोंमें पडे हुये सूक्ष्म अन्तर ग्राह्य नहीं हैं। स्थूलरूपसे भेद करनेवाले सभी गम्भीर विद्वानोंको इस बातका ध्यान रखना पडता है। यहांतक मतिज्ञानके सम्पूर्ण अनर्थान्तर विशेषोंका वर्णन कर दिया गया है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है। प्रथम ही मति आदि पांचों ज्ञानोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिके संग्रह नहीं होनेकी आशंका उपस्थित होनेपर मतिज्ञानमें ही इन सबका समावेश कर दिया गया बताया है। कारण कि ये स्मृति आदिकज्ञान मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं। प्रकार अर्थवाले इति शब्दसे दूसरे वादियोंद्वारा माने गये बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, सम्भव, उपमान, आदि प्रमाणोंका भी मतिज्ञानमें ही संग्रह करा दिया है। विशिष्ट स्मृति, विलक्षण प्रतिभा, आदि ज्ञानोंको धारनेवाले मनुष्य लोकमें मेधावी, प्रज्ञाशाली तार्किक आदिक उपाधियों द्वारा उद्घोषित होते हैं। ये सब मतिज्ञानी हैं। इति शब्दका समाप्ति अर्थकर संपूर्ण

मतिज्ञानोंको स्मृति आदिकमें ही अंतर्भाव कर पूर्ण किया है। ऐसा करनेसे उपलक्षण मानकर असंख्य भेदोंकी गुरुतर कल्पना नहीं करनी पडती है। बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक आदि सभी प्रतिवादी स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते हैं। किन्तु हम स्याद्वादी कहते हैं कि स्मृतिको प्रमाण न माननेपर प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं बन सकता है। तब तो किसी भी प्रमेयकी सिद्धि न हो सकेगी। महामारीके फैलने समान शून्यवाद छा जायगा। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान, आगम, देशप्रत्यक्ष, सकलप्रत्यक्ष, ये सर्व ही प्रमाण परस्पर अपनी सिद्धिमें सव्यभाव रखते हैं। गृहीतका ग्रहण करनेसे स्मृतिको प्रमाण नहीं माननेवाला अनुमानको भी प्रमाण नहीं मान सकेगा। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जैसे अज्ञाननिवृत्ति होती है, उसी प्रकार स्मृतिसे भी प्रमिति, हान, उपादान होते हैं। केवल शरीरका काला रंग हो जानेसे किसी व्यक्तिमें अस्पृश्यता, निर्बलता, मूर्खता, पराजितपन आदि दोष लगा देना विचारशीलोंको समुचित नहीं है। संपूर्ण प्रत्यक्षोंकी प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये और अनुमानोंके लिये स्मृतिको प्रमाण मानना अत्यावश्यक है। यहां स्मृतिके पृथक् प्रमाणपनका बहुत अच्छा विचार किया है। अनन्तर प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताको साधते हुये अनेक पर्यायोंमें व्यापनेवाले द्रव्य विषयमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति मानी है। स्मरण और प्रत्यक्षसे न्यारा प्रत्यभिज्ञान है। कर्मोंके विलक्षण जातिके क्षयोपशमोंसे अनेक प्रकारके स्मरण प्रत्यभिज्ञान हो जाते हैं। कोई विद्यार्थी परीक्षा पर्यंत ही पाठका स्मरण रखता है। कोई छात्र दश वर्षतक नहीं भूलता है। तीसरा विनीत शिष्य जन्मपर्यन्त कठिन प्रमेयोंका अवधान रखता है। देवदत्तने अपने अधिकारीको लेन देन समझा दिया, बस, पीछे घंटे दो घंटे बाद ही वह भूल जाता है। किसी प्रमेयका स्मरण रखनेकी अभिलाषा रखते हुये भी हम आवरणवश भूल जाते हैं। किसी दुःखकर प्रकरण या ग्लानियुक्त पदार्थोंका विस्मरण होना चाहते हुये भी अच्छी स्मृति होती रहती है। यही प्रत्यभिज्ञानोंमें समझलेना। उक्त संपूर्ण व्यवस्थाका कारण अंतरंगमें ज्ञानावरणका क्षयोपशमविशेष है। दूसरे हेतुओंका तो व्यभिचार देखा जाता है। यहां बौद्धोंके मतका निरास कर एकत्व, सादृश्य, प्रत्यभिज्ञानों और उनके विषयोंको सिद्ध किया है। अनुमानप्रमाणमें लिंगके प्रत्यभिज्ञानकी अत्यावश्यकता है। अर्थक्रिया, स्थिति, परितोष, समारोपव्यवच्छेदरूप सम्वाद प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताको व्यवस्थापित करते हैं। कोई बाधक नहीं है। वस्तुका कथंचित् नित्यपना माननेपर ही क्रम, अक्रमसे, अर्थक्रियायें सधती हैं। क्षणिकपक्षका अनेक बार खण्डन कर दिया गया है। प्रमाणप्रसिद्ध विप्रकृष्ट अर्थोंमें शंका नहीं करनी चाहिये। परिणामी और द्रव्यपर्यायस्वरूप हो रही नित्यवस्तुमें सादृश्य परिणाम बन जाता है। अभ्यासदशामें स्वतः प्रमाणपना सिद्ध हो कर अनभ्यास दशाके ज्ञानोंमें उससे प्रमाणपना जान लिया जाता है। एकत्वके समान सादृश्य भी वस्तुभूत है। अनेक सदृश वस्तुओंमें न्यारा न्यारा रहनेवाला सादृश्य उनके साथ तदात्मक हो रहा है। अनेक सादृश्योंको उपचारसे एक कह देते हैं। इसमें नैयायिकोंके कुतर्कोंको अवकाश नहीं मिलपाता है। संशय,

विरोध, आदि दोष तो प्रतीयमान वस्तुके निकट नहीं फटकते हैं । बौद्धोंने वैसादृश्यका जैसे निर्वाह किया है, वैसे ही सादृश्यकी सिद्धि कर दी जाती है । अनेक पदार्थोंमें समानपनेका स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहा है । सम्पूर्ण पदार्थ समान और विसमान परिणामोंसे तदात्मक हो रहे हैं । बौद्धोंके माने हुये सर्वथा विलक्षण स्वलक्षणकी कभी किसी जीवको प्रतीति नहीं होती है । यहां और भी विचार चलाकर सादृश्यको परमार्थभूत साध दिया है । एकत्व या सादृश्यको जाननेवाले ज्ञान अविद्यारूप नहीं हैं । प्रत्यभिज्ञानकी निर्दोषसिद्धि कराकर तर्कज्ञानको साधनेका प्रकरण चलाया है । अनुमानके लिये उपयोगी व्याप्तिरूप-संबंधका ग्रहण तर्कसे ही संभव है । बौद्ध लोग संबंधको वास्तविक नहीं मानते हैं । उनके प्रति संबंधकी सिद्धि कराई है । अनेक अर्थक्रियायें संबंध द्वारा बन रहीं हैं । पुद्गलपुद्गलके संबंधसे अथवा जीव पुद्गलके सम्बन्धसे ही अनेकानेक कार्य हो रहे देखे जाते हैं । संबंधसे परितोष प्राप्त होता है । शून्यवादी, तत्त्वोपप्लववादी, ब्रह्माद्वैतवादी विद्वानोंको भी संबंध स्वीकार करना अनिवार्य हो जायगा । संबंधको जाननेवाले तर्कज्ञान द्वारा ही निःसंशय अनुमान हो सकेंगे । अतः अनुमानप्रमाणको माननेवाले या संपूर्ण भूत, भविष्य या माता पिता गुरुओंके प्रत्यक्षोंका प्रमाणपना बखाननेवालेको तर्कज्ञानका आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक है । कथंचित् गृहीत अर्थका ग्राही होनेपर भी प्रमाणता अक्षुण्ण रहती है । जैसे पाराभस्मके योगसे सभी रसायनें निर्दोष हो जाती हैं, उसी प्रकार कथंचिद् लगा देनेसे दोष भी गुण हो जाते हैं । ठोस विद्वान् वस्तुओंकी परिणतिकी भित्तिपर ही कथंचित्के अपेक्षणीयोंका सन्निवेश करता है । तर्कज्ञानसे समारोपका व्यवच्छेद होता है । ऊह प्रमाणद्वारा संबंधग्रहण करनेपर पुनः ऊहकी आवश्यकता नहीं है । जिससे कि अनवस्था हो जाय । ऊहज्ञानकी स्वयं योग्यता ही उन कार्योंको संभाल लेती है । यदि यहां कोई यों कहें कि अनुमान भी तर्कके विना ही अपनी योग्यतासे साध्यज्ञानको कर लेगा, इसपर स्याद्वादियोंका बडा अच्छा उत्तर यह है कि वस्तुतः तुम्हारा कहना ठीक है । अनुमान अपने विषयकी ज्ञप्तिको स्वतंत्रतासे ही संभालता है, किन्तु उसकी उत्पत्ति तो निरपेक्ष नहीं है । अतः ऊहज्ञान अनुमानका उत्पादक कारण है, जैसे कि केवलज्ञानके उत्पादक महाव्रत, क्षपकश्रेणी, द्वितीयशुक्लध्यान आदिक हैं । किन्तु केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर स्वतंत्रतापूर्वक वह त्रिलोक-त्रिकालवर्त्ती समस्त पदार्थोंको सर्वदा जानता रहता है । अतः प्रत्यक्षके समान तर्क भी स्वतंत्र प्रमाण है । तर्कज्ञानसे समारोपका व्यवच्छेद और हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धियां होती हैं । इस प्रकार विस्तारके साथ तर्कज्ञानका साधन कर अनुमान प्रमाणकी परिशुद्धि की है । अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षणवाले हेतुसे शक्य, अभिप्रेत, असिद्ध, साध्यके अभिमुख बोध करना अनुमान है । यहां अभिनिबोधका अर्थ स्वार्थानुमान पकडना सामान्य मतिज्ञान नहीं । बौद्धोंने हेतुके तीन रूप माने हैं । उनका विस्तारके साथ खण्डन किया है । त्रैरूप्यके विना भी अविनाभावकी शक्तिसे सद्धेतुपना व्यवस्थित हो रहा है । कृत्तिकोदयको शकटोदय साधनेमें सद्धेतुपना है । संयोगी, समवायी, आदि

हेतुओंका विस्तार करना व्यर्थ है। यह प्रतिवादियोंके साथ हुआ जैनोंका शास्त्रार्थ सुनने योग्य है। जैनोंने अन्य हेतुभेदोंकी अपेक्षा अस्तित्व, आदि सात भंगोंको हेतुभेद माननेके लिये प्रतिवादियोंको बाध्य किया है। बौद्धोंकी वासनाका निर्वासन कर सबको स्वभाव हेतुमें ही अन्तः प्रविष्ट हो जानेका आपादन करते हुये प्रातीतिक मार्गपर बौद्धोंको लाना यह जैनोंका ही अनुपम कार्य है। दृष्टान्त हेतुका अविनाभावकी पुष्टि की है। अनन्तर पक्षका विचार चलाया गया है। प्रतिज्ञा वाक्यके साध्यको ही पक्ष मानकर बौद्धोंके पक्षधर्मत्वरूपका खण्डन कर चुकनेपर सपक्षसत्व रूपका विचार चलाया है। सपक्षसत्त्व यानी अन्वयदृष्टान्तके विना भी प्राणादिमत्त्वको सद्धेतु माना गया है। भस्म, कोयला, सूखे तृण, कपडा शङ्ख, अन्धकार आदिमें चैतन्य नहीं है। ब्रह्माद्वैतवादियोंका सर्वत्र चैतन्य मानना अप्रासंगिक है। जडपदार्थोंका ज्ञानद्वारा प्रतिभास होता है। स्वयं नहीं। बौद्धोंका विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो पाता है। परिणामी सांश आत्मामें ही प्राण आदिक क्रियायें सम्भवती हैं। सबको अनेकान्तात्मकपना साधनेपर अन्वयके विना भी अविनाभावकी शक्तिसे सत्त्वहेतु समीचीन माना है। बौद्धोंने भी सबको क्षणिकपना सिद्ध करनेपर सत्त्वको सद्धेतु माना है। अतः अन्वय यानी सपक्षमें वर्तना हेतुका लक्षण नहीं है। तीसरा विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक भी हेतुलक्षण नहीं है। व्यतिरेकका अन्तिमसिद्धान्त अविनाभाव ही निकलता है। अतः वे तीनों रूप अकिंचित्कर हैं। अकेले अविनाभावसे ही असिद्ध आदि हेत्वाभासोंकी व्यावृत्ति होती है। एक अत्यावश्यकरूपसे ही सम्पूर्ण प्रयोजन सध जांय तो परदेशमें व्यर्थ तीन रूपोंका लादे फिरना उपहासास्पदके अतिरिक्त श्रमवर्धक भी है। नैयायिकोंके द्वारा पांचरूपोंका बोझ लादना तो और भी अधिक क्षोभवर्धक है। असाधारण धर्मको लक्षण पुकारनेवाले ऐसी मोटी भूलकर बैठते हैं, इसपर खेद होता है। उनके माने हुये केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें पंचरूपत्व लक्षण घटित नहीं होता है। मित्रातनयत्व और लोहलेख्यत्व आदि हेत्वाभासोंमें रह जाता है। अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्तिग्रस्त लक्षण समीचीन नहीं है। अविनाभावकी शक्तिसे ही प्रतिपक्षी अनुमान नहीं उठ सकेंगे तथा प्रत्यक्ष आदिसे बाधा भी नहीं आवेगी। यहां और भी विचार है। त्रैरूप्यका खण्डन कर देनेसे ही पांचरूप्यका निरास हो जाता है। जिसके पास तीन रुपया भी नहीं हैं, उसके पास पांच रुपये तो कैसे भी नहीं हैं। इसके पीछे नैयायिकों द्वारा माने गये पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट, हेतुओंके न्यारे न्यारे व्याख्यानोंका निरास किया है। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकीरूप इनका व्याख्यान करना भी नहींघ टित होता है। गुण, गुणी, आदिके सर्वथा भेदको साधनेवाला अनुमान ठीक नहीं, यहां व्यतिरेक साधनेपर अच्छा विचार चलाया है। अवयवअवयवी, गुणगुणी, आदिका कथंचित् अभेद है। इस प्रकार "पूर्ववत् शेषवत्" तो केवलान्वयी नहीं है। और "पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट" केवलव्यतिरेकी नहीं है। तथा तीसरा "पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट" भी अन्वयव्यतिरेकी नहीं है। यह

नैयायिकोंके ग्रन्थोंका प्रमाण देकर कतिपय व्याख्यानोंका प्रत्याख्यान किया है। कार्य आदिक, वीत आदिक, रूप व्याख्यान भी फीके हैं। अन्यथानुपपत्तिके सत्त्व और असत्त्वसे हेतुका गमकपना या अगमकपना व्यवस्थित है। इसके आगे कारण या कार्य और अकार्यकारण इन तीनोंसे भी कोई प्रयोजन नहीं सधता, साधा है। कार्यकारण दोनोंके उभयरूप पदार्थका भी सद्भाव है। अंकुरकी संतान बीजकीसंतान एक दूसरेके कार्य और कारण हैं। सामान्य श्रुतज्ञान और सामान्य केवलज्ञान परस्परमें एक दूसरेके कार्य या कारण हैं। सन्तानियोंसे सन्तान कथंचित् भिन्न है। वह द्रव्य या गुणरूप नहीं है। वैशेषिकों द्वारा माने गये अभूताभूत आदि हेतु भी अन्यथानुपपत्तिके विना सफल नहीं हैं। अतः संक्षेपसे उपलम्भ और अनुपलम्भमें ही सम्पूर्णहेतुओंका अन्तर्भाव हो जाता है। कार्य आदि भेद करना निरर्थक है। उपलम्भ हेतु भी निषेधको साधते हैं। और अनुपलम्भ हेतु भी विधिको साधते हैं। अतः उपलम्भ और अनुपलम्भके लिये विधि और निषेधको ही साधनेका अवधारण करना उचित नहीं है। कार्य, कारण, स्वभाव, पूर्वचर आदि भेदोंसे उपलब्धि अनेक प्रकारकी है। अथवा अकार्यकारण नामक भेदके स्वभाव, व्यापक, आदि अनेक प्रभेद हो जाते हैं। प्रतिषेधको साधनेमें अर्थकी विरुद्ध उपलब्धिके भेद दिखाकर विद्वत्ताके अनेक ढंगोंसे अनेक प्रकारकी विरुद्ध उपलब्धियां दिखलाई हैं। मध्यमें अनेक विषयोंको स्पष्ट किया है। कारणको ज्ञापकहेतु माननेमें अन्त्यक्षण प्राप्तिको हटाते हुये अन्य कारणोंकी समग्रता और सामर्थ्यका नहीं रोका जाना बीज बताया है। कथंचित् नित्य अनित्य द्रव्यमें ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बनते हुये अर्थक्रिया हो सकती है। आत्मा उपात्त शरीरके अनुसार परिमाणवाला है। व्यापक नहीं है। अनेक शास्त्रीयदृष्टान्तों द्वारा विरुद्ध उपलब्धिके भेदोंके प्रातीतिक उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणोंको उपलक्षण मानकर ज्ञापक हेतुओंके अन्य भी उदाहरण परीक्षकों द्वारा स्वयं लोकप्रसिद्धिके अनुसार प्रदर्शन कर लेना चाहिये, ऐसी हित शिक्षा दी है। आगे चल कर कार्यकारणसे भिन्न हो रहे यानी अकार्यकारण हेतुके भेदोंका उदाहरण दिख लाया है। चिरपूर्व और उत्तरकालके अर्थोंको कारण माननेवाले बौद्धोंके मन्तव्यका निरास कर एक द्रव्य तादात्म्य ही रूप आदि गुणोंकी द्रव्यके साथ प्रत्यासत्ति बताई है। बौद्धोंके द्वारा कहे गये सम्पूर्ण हेतु तो अविनाभावसे विकल होनेके कारण हेत्वाभास हो जाते हैं। अनन्तर निषेध साधनेमें उपलब्धि, अनुपलब्धियोंके अनेक उदाहरण साधे हैं। इनका विशेष लम्बा व्याख्यान है। सभी हेतु उपलब्धि, अनुपलब्धियोंमें संग्रहीत हो जाते हैं। संयोगी, वीत, केवलान्वयी, कार्य, पूर्ववत् आदि आदि भेद करना अव्यवहार्य है। आगे चलकर साध्यके लक्षणमें पडे हुये शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध, विशेषणोंकी कीर्त्ति करते हुये वार्त्तिकोंद्वारा बहुत अच्छा विवेचन किया है। पक्षका भी विचार किया है। संशय या जिज्ञासाको धरनेवाले ही प्रतिपाद्य नहीं होते हैं। किन्तु विपर्ययज्ञानी और अज्ञानी भी उसी प्रकार प्रतिपाद्य हैं। अन्वयरहित भी ज्ञापक हेतु होते हैं। पक्षके भीतर व्याप्ति बनाकर अन्तर्व्याप्तिके

बलसे भी सद्धेतु बन जाते हैं। अभिनिबोधका अर्थ यहां स्वार्थानुमान है। अर्थापत्ति प्रमाण, अभावप्रमाण, सम्भव, प्रतिभा, ये सब इनमें ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा स्मृति आदिकको उपलक्षण मानकर अर्थापत्ति, प्रतिभा आदि सभी भेद मतिज्ञानके कह दिये गये समझ लेने चाहिये। इस सूत्र द्वारा मतिज्ञानके प्रकारोंका प्ररूपण किया गया है।

यस्माद्भृत्कमले जिनस्य चरणौ स्मृत्वा निजात्मार्थदृक्।
सिद्धं स्वात्मसमानतैक्यविधिना संज्ञाय तं चिंतयन्॥
मत्युत्थश्रुतशुक्लजामनुमितां प्राप्नोति सिद्धिं नरः।
तच्छ्रीमुक्तिपितामहोपममतिज्ञानं सभेदं जयेत्॥ १॥

—×—

अब मतिज्ञानके निमित्तकारणोंका निरूपण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रका अवतार करते हैं।

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम्॥ १४॥

वह मतिज्ञान इन्द्रिय स्पर्शन आदि पांच तथा अनिन्द्रिय मनरूप निमित्तोंसे उत्पन्न होता है।

मतिविज्ञानस्याभ्यंतरत्वात्तन्निमित्तं मतिज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमलक्षणं प्रसिद्धमेव वामुनानुमानादेस्तद्भावायोगादतः किमर्थमिदमुच्यते सूत्रमित्याशंकायामाह।

मतिनामके विज्ञानका अभ्यन्तर होनेसे मतिज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम स्वरूप वह निमित्तकारण जब प्रसिद्ध ही हो रहा है, तो फिर यह सूत्र किस प्रयोजनके लिये कहा जाता है। अथवा उस सूत्रके कहनेपर भी अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, आदि मतिज्ञानोंको जब इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तपनेका सम्बन्ध नहीं होने पाता है, यानी अनुमानके कारण हेतुज्ञान, व्याप्तिस्मरण, तर्कज्ञान हैं। प्रत्यभिज्ञानके कारण दर्शन और स्मरण हैं। स्मृतिका कारण धारणा ज्ञान है। तर्कके कारण उपलम्भ और अनुपलम्भ हैं। इन्द्रिय और अनिन्द्रिय तो अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क इन मतिज्ञानोंके कारण नहीं हैं। धारणाका भी अव्यवहित कारण अवायज्ञान है। अवायका अव्यवहित कारण ईहा मतिज्ञान है। ईहाका निमित्त या उपादान अवग्रह ज्ञान है। अवग्रहका अव्यवहित पूर्ववर्त्ती दर्शन उपयोग है। हां, दर्शनके निमित्त कारण इन्द्रिय और मन हो सकते हैं। अन्तरंग कारण तो मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम सभी मतिज्ञानोंमें उपयोगी हो रहा है। ऐसी दशामें इन्द्रिय और अनिन्द्रियको मतिज्ञानका निमित्तकारण कहनेवाले इस सूत्रकी क्या आवश्यकता है? व्यर्थ अव्याप्ति दोषोंका खटका रखना ठीक नहीं, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट समाधान कहते हैं।

तस्य बाह्यनिमित्तोपदर्शनायेदमुच्यते ।
तदित्यादिवचः सूत्रकारेणान्यमतच्छिदे ॥ २ ॥

उस मतिज्ञानके बहिरंग निमित्तोंका प्रदर्शन करानेके लिये यह सूत्र कहा जाता है अर्थात्–अन्यवादियोंकरके ज्ञानके जो निमित्तकारण मन और इन्द्रियां मानी हैं, वे बहिरंग निमित्त हैं, ऐसा हम अभीष्ट करते हैं। तथा अन्यमतोंके व्यवच्छेद करनेके लिये सूत्रकार द्वारा तत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय आदि वचन कहे गये हैं। अर्थात्–अन्यमती विद्वानोंने कदाचित् योगीका प्रत्यक्ष भी इन्द्रियजन्य माना है। घट आदिके मतिज्ञानोंमें आलोक, सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, आदिको भी निमित्त कारण इष्ट किया है। किन्तु इस सूत्रमें अवधारण कर उन मतोंका निराकरण हो जाता है।

कस्य पुनस्तच्छब्देन परामर्शो यस्य बाह्यनिमित्तोपदर्शनार्थं तदित्यादि सूत्रमभिधीयत इति तावदाह ।

तत् यह सर्वनाम पद पूर्वमें जाने गये विषयका परामर्श करनेवाला माना गया है। तो फिर बताओ, यहां तत् शब्दकरके किस परोक्षपदार्थका परामर्श किया जाता है, जिसके कि बहिरंग निमित्त कारणोंको दिखलानेके लिये " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " यह सूत्र उमास्वामी महाराज करके कहा जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर तो श्रीविद्यानन्द स्वामी उत्तर कहते हैं।

तच्छब्देन परामर्शोनर्थांतरमिति ध्वनेः ।
वाच्यस्यैकस्य मत्यादिप्रकारस्याविशेषतः ॥ २ ॥

पूर्वसूत्रमें कहे हुये अनर्थान्तर इस शब्दका तत् शब्दकरके परामर्श होता है। पूर्वसूत्रमें इतिका अर्थ प्रकार कहा गया है। अतः मतिः स्मृतिः आदि प्रकार स्वरूप एक ही वाच्य अर्थका सामान्यरूपसे परामर्श कर लिया गया है।

मतिज्ञानस्य सामर्थ्याल्लभ्यमानस्य वाक्यतः ।
तदेव तच्च विज्ञानं नान्यथानुपपत्तितः ॥ ३ ॥

किसीका कटाक्ष है कि ऊपरके सूत्रवाक्यकी सामर्थ्यसे प्राप्त करने योग्य मतिज्ञानका तत् शब्द करके परामर्श होना चाहिये। अर्थात्–मतिः स्मृतिः इस सूत्रमें मतिज्ञानके प्रकारोंका ही कण्ठोक्त कथन किया है। मतिज्ञानका नामनिर्देश नहीं है। फिर भी वाक्यकी सामर्थ्यसे मतिज्ञान ही प्रधान होकर तत् शब्दसे पकडा जा सकता है। अतः वही मतिज्ञानविशेष तत् है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अव्यवहित पूर्वमें उपात्त हो रहा अनर्थान्तर शब्द ही अन्यथानुपपत्ति होनेसे ग्राह्य है।

प्रत्यासन्नत्वादभिनिबोधस्य तच्छब्देन परामर्शः प्रसक्तश्चिंतायास्तस्य च प्रत्यासत्तेरिति न मन्तव्यमनर्थान्तरमिति शब्देन वाच्यस्य मत्यादिप्रकारस्यैकस्याविशेषतः सामर्थ्यालभ्यमानस्य प्रत्यासन्नतरस्य सुखसंभवाच्छब्देन परामर्शोपपत्तेः स्वेष्टसिद्धेश्च तस्यास्य बाह्यनिमित्तमुपदर्शयितुमिदमुच्यते ।

पूर्वसूत्रद्वारा कहे गये मतिज्ञानके पांच भेदोंमें अन्तमें कहे गये अभिनिबोधका निकटवर्त्ती होनेसे तत् शब्द द्वारा परामर्श होना प्रसंग प्राप्त होता है । और उस अभिनिबोधके निकटवर्त्ती होनेसे चिंताके परामर्श होनेका भी प्रसंग आता है । यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि अनर्थान्तरं इस शब्दकरके कहे जा रहे मति स्मृति आदिक प्रकारोंसे युक्त हो रहे एकका या मति आदि प्रकाररूप एकका सामान्यरूपसे परामर्श होना बन जाता है । वह एक प्रकार ही वाक्यकी सामर्थ्यसे लभ्यमान है । अनर्थान्तरका वाच्य वह अत्यन्त निकट भी है । अतः सुखपूर्वक उपस्थिति हो जानेके कारण उसका तत् शब्दकरके परामर्श होना बन सकता है । तथा उसीसे हमारे अभीष्टकी सिद्धि भी होती है । इस कारण उस मति स्मृति आदिसे अनर्थान्तर हो रहे इस मतिज्ञानके बहिरंग निमित्त कारणोंको दिखलानेके लिये यह सूत्र कहा जाता है । अथवा निकटतम सुखका आत्मामें जैसे झट प्रतिभास हो जाता है, वैसे ही अनर्थान्तरका शीघ्र परामर्श हो जाता है ।

किं पुनस्तदित्याह ।

बहिरंग कारण फिर वे कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं ।

वक्ष्यमाणं च विज्ञेयमत्रेंद्रियमनिंद्रियम् ।
तद्द्वैविध्यं विधातव्यं निमित्तं द्रव्यभावतः ॥ ४ ॥

इस सूत्रमें कहे गये इन्द्रिय और अनिन्द्रिय उस मतिज्ञानके निमित्त कारण जान लेने चाहिये । द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रियके भेदसे वे इन्द्रिय अनिन्द्रिय दो प्रकारके कर लेने चाहिये । जो कि प्रकार भविष्य दूसरे अध्यायमें कह दिये जायंगे ।

वक्ष्यते हि स्पर्शनादींद्रियं पंच द्रव्यभावतो द्वैविध्यमास्तिघ्नुवानं तथानिंद्रियं चानियतमिंद्रियेष्टेभ्योन्यत्वमात्मसात्कुर्वदिति नेहोच्यते । तद्बाह्यनिमित्तं प्रतिपत्तव्यं ।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, ये पांचों बहिरंग इन्द्रियां द्रव्य और भावसे दो प्रकारपनको प्राप्त हो रहीं कह दी ही जावेंगी तथा मन भी द्रव्य, भाव, रूपसे दो प्रकारका समझा दिया जायगा । जैसे चक्षु, रसना आदिके लिये स्थान नियत हो रहे हैं, विषय नियत हो रहे हैं, वैसे मनका स्थान और विषय नियत नहीं है । हृदयमें बने हुये आठ पांखुरीके विकसित कमल समान

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उपकरणमें अङ्गुलके असंख्यातवें भाग अवगाहनावाला द्रव्य मन कभी किसी पांखुरीपर चला जाता है। कभी कर्णिकामें आ बैठता है। अतः विचलित हो रहा मन नियत स्थितपनेसे इष्ट की गयी पांच इन्द्रियोंसे भिन्नपनेको अपने अधीन करता संता दोषनेको प्राप्त हो रहा है। आत्माकी मन इन्द्रियावरणके क्षयोपशम अनुसार विचाररूप परिणति भावमन है। और हृदयस्थ कमलमें मनोवर्गणासे बन गया पौद्गलिक पदार्थ द्रव्यमन है। आठ पत्तेवाले कमलसे अतिरिक्त स्थानोंपर मनकी गतिको हम जैन इष्ट नहीं करते हैं। जैसे कि नैयायिक एक ही समयमें लाखों योजन तक मनका चला जाना आ जाना अभीष्ट करते हैं। सर्वव्यापक आत्मामें चाहे जहां मन घूमता रहता है। परमाणुके बराबर मन है, ऐसा हम स्याद्वादी नहीं मानते हैं। जब कि इन्द्रियों और मनको भेदसहित द्वितीय अध्यायमें कह देवेंगे ही, इस कारण यहां उनका व्याख्यान नहीं करते हैं। मतिज्ञानके बहिरंग कारण उनको समझ लेना चाहिये।

किमिदं ज्ञापकं कारकं वा तस्येष्टं कुतः स्वेष्टसंग्रह इत्याह।

क्या ये इन्द्रिय, अनिन्द्रियें उस मतिज्ञानके ज्ञापक हेतु हैं ? अथवा कारक हेतु इष्ट किये हैं ? बताओ। किस ढंगसे इनको हेतु मानकर अपने इष्ट सभी भेदोंका संग्रह हो सकता है ? ऐसी प्रतिपाद्यकी आकांक्षा होनेपर विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट कथन करते हैं।

निमित्तं कारकं यस्य तत्तथोक्तं विभागतः।
वाक्यस्यास्य विशेषाद्वा पारंपर्यस्य चाश्रितौ ॥ ५ ॥

जिसका निमित्त कारण जो कहा जाता है, वह उसका तिस प्रकार कारक हेतु समझना चाहिये। इस सूत्रके वाक्यका विशेषकरके योग-विभाग करनेसे सभी इष्टभेदोंमें इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तपना बन जाता है। अथवा परम्पराका आश्रय करनेपर तो योगविभाग न करते हुये भी स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, स्मृति, चिंता आदिमें इन्द्रिय और मनका निमित्तपना घटित हो जाता है।

तद्धि निमित्तमिह न ज्ञापकं तत्प्रकरणाभावात्। किं तर्हि। कारकं। तथा च सति प्रकृतमिंद्रियमनिंद्रियं च निमित्तं यस्य तत्तथोक्तमेकं मतिज्ञानमिति ज्ञायते इष्टसंग्रहः। पुनरस्य वाक्यस्य विभजनात्तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं धारणापर्यंतं तदनिंद्रियनिमित्तं स्मृत्यादीनां सर्वसंग्रहात्।

वह निमित्तपना यहां ज्ञप्तिके निमित्त कारण ज्ञापकपनेसे गृहीत नहीं किया है। क्योंकि यहां उन ज्ञापक हेतुओंका प्रकरण नहीं है। ज्ञापकज्ञान स्वयं कारकोंसे बनाया जा रहा है, तो क्या है ? इसका उत्तर वे कारक हेतु हैं, यह है और तैसा होनेपर बहुव्रीहि समासकी सामर्थ्यसे वे इन्द्रिय, अनिन्द्रिय, जिसके निमित्त हैं, वह तिस प्रकारका एक मतिज्ञान कहा गया है। इस प्रकार मतिज्ञानके इष्ट किये गये सभी भेदप्रभेदोंका संग्रह कर लिया गया समझ लेना चाहिये। इस

सूत्रवाक्यका एकबार इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थ कर लेना चाहिये। पुनः इस वाक्यका विभाग कर अकेले अनीन्द्रिय अर्थको ही पकडना चाहिये। वह मतिज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रियनिमित्तोंसे उत्पन्न होता है। ऐसा अर्थ करनेसे तो अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, तकके मतिज्ञान इस लक्षणसे युक्त हो जाते हैं। और वह अनिन्द्रियनिमित्तसे उत्पन्न होता है। ऐसा विभाग करनेसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, इन सबका ग्रहण हो जाता है। भावार्थ—धारणापर्यन्तज्ञान तो इन्द्रिय अनिन्द्रिय चाहे जिनसे न्यारे न्यारे उत्पन्न हो जाते हैं। अतः पूरा वाक्य तो धारणापर्यन्त मतिज्ञानोंमें घटित होता है। किन्तु स्मृति आदिक मतिज्ञान तो मनके निमित्तसे ही उत्पन्न होते हैं। अतः उस सूत्रका योगविभाग कर अनिन्द्रिय पदको ही खेंचकर अर्थ संघटित होता है।

पारंपर्यस्य चाश्रयणे वाक्यस्याविशेषतो वाभिप्रेतसिद्धिः। यथा हि धारणापर्यंतं तदिंद्रियनिमित्तं तथा स्मृत्यादिकमपि तस्य परंपरयेंद्रियानिंद्रियनिमित्तत्वोपपत्तेः।

हां, यदि परम्परासे भी पडनेवाले निमित्त कारणोंका आश्रय किया जाय तब तो विशेषरूपसे विभाग नहीं करते हुये भी अभिप्रेतकी सिद्धि हो जाती है। जिस कारण कि जैसे अवग्रहसे प्रारम्भ कर धारणापर्यन्त उन मतिज्ञानोंके निमित्तकारण इन्द्रिय अनिन्द्रिय हो रहे हैं, तिसी प्रकार स्मृति आदिक भी स्वकीय निमित्तकारण इन्द्रिय, अनिन्द्रियोंसे बन रहे हैं। यह बात दूसरी है कि उन स्मृति आदिकोंमें इन्द्रियां परम्परासे निमित्तकारण हैं। किन्तु सामान्यरूपसे निमित्तकारणोंका विचार करनेपर सम्पूर्ण मतिज्ञानोंके कारण इन्द्रिय अनिन्द्रिय पड जाते हैं। ऐसी परम्परा दशामें योग विभाग कर अनिन्द्रियपदको अकेला न्यारा खींचनेकी आवश्यकता नहीं है।

किं पुनरत्र तदेवेंद्रियानिंद्रियनिमित्तमित्यवधारणमाहोस्वित्तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तमेवेति कथंचिदुभयमिष्टमित्याह।

यहां फिर किसीका प्रश्न है कि क्या वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्त कारणसे होता है। इस प्रकार पहिले उद्देश्य दलमें एवकार लगाकर अवधारण करना अभीष्ट है? अथवा क्या वह मतिज्ञान इन्द्रिय, अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे ही उत्पन्न होता है। यह विधेय दलमें एवकार लगाकर नियम करना इष्ट है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज कथंचित् दोनों ही अवधारणोंको इष्ट करते हुये इस वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

वाक्यभेदाश्रये युक्तमवधारणमुत्तरं।
तदभेदे पुनः पूर्वमन्यथा व्यभिचारिता ॥ ६ ॥

" तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं " इस सूत्रका योगविभागकर वाक्यभेदका आश्रय करनेपर तो पिछला अवधारण करना युक्त है। अर्थात्—इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तोंसे ही वह मतिज्ञान होता है। धारणापर्यन्त मतिज्ञान तो इन्द्रिय, मन, दोनोंसे ही उपजते हैं। और स्मृति आदिक मतिज्ञान

मनसे ही बनते हैं। हां, यदि वाक्यभेद इष्ट नहीं है, तब तो पिछला अवधारण करना अयुक्त है। क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानरूप वह मतिज्ञान तो स्वातंत्र्यसे इन्द्रिय मन दोनों करके नहीं उत्पन्न होता है। हां, उस वाक्यभेदका आश्रय नहीं करनेपर तो फिर पहिला अवधारण करना उपयुक्त है। अन्यथा सूत्रवाक्यके अर्थमें व्यभिचारीपन दोष उपस्थित हो जायगा। भावार्थ—मन, इन्द्रिय दोनों ही स्वतंत्र कारणोंसे मतिज्ञान ही उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञान तो अकेले मनसे ही बन जाता है। पूर्व अवधारण नहीं माननेपर तो मतिज्ञानके सिवाय अन्यज्ञानोंको भी इन्द्रियजन्यपनेका प्रसंग प्राप्त होगा। ऐसी दशामें मतिज्ञानके लक्षणका या मतिज्ञानपनको साध्य बनाकर इन्द्रियमनसे जन्यपना हेतु करनेसे व्यभिचार दोष होना संभवता है। पहिला अवधारण कर देनेसे व्यभिचारकी सम्भावना नहीं है। मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रिय उभयसे जन्य है। अन्य ज्ञान नहीं।

कुतः पुनरवधारणादन्यमतच्छित्कुतो वा मत्यज्ञानं श्रुतादीनि च व्यवच्छिन्नानीत्याह।

शंकाकार फिर कहता है कि पहिली वार्त्तिकमें आपने कहा था कि इस सूत्रके करनेसे अन्य मतोंका फिर निरास हो जाता है? सो बताओ, कौनसे अवधारणसे अन्य मतोंका छेद हुआ है? तथा किस अवधारणके करनेसे मति अज्ञान और श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुश्रुत, विभंग, मनःपर्यय आदि ज्ञानोंका व्यवच्छेद हुआ है? बताओ। इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य महाराज समाधान करते हैं।

ध्वस्तं तत्रार्थजन्यत्वमुत्तरादवधारणात्।
मत्यज्ञानश्रुतादीनि निरस्तानि तु पूर्वतः ॥ ७ ॥

पिछले विधेय दलमें अवधारण करनेसे बौद्धों द्वारा माना गया उस ज्ञानमें अर्थजन्यपना नष्ट कर दिया जाता है। अर्थात्—मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे ही उत्पन्न हुआ है। अन्य विषयरूप अर्थसे जन्य नहीं। तथा प्रथम अवधारणसे तो पहिले, दूसरे, तीसरे, गुणस्थानोंमें सम्भवनेवाला मति अज्ञान, और चौथे आदि गुणस्थानोंमें सम्भव रहा श्रुतज्ञान या अवधिज्ञान तथा छट्ठे आदिमें सम्भव रहा मनःपर्ययज्ञान एवं तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों या सिद्धपरमेष्ठियोंके केवलज्ञानका अथवा पहिले दूसरे गुणस्थानके कुश्रुत, विभंगज्ञानोंका निवारण कर दिया जाता है। यानी इन्द्रिय अनिन्द्रय दोनोंसे उत्पन्न होने वाला एक मतिज्ञान ही है। दूसरे ज्ञान ऐसे नहीं हैं। तिनमें कुश्रुत और श्रुतज्ञानमें तो बहिरंग कारण मन ही पड सकता है। अन्य प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें मन और इन्द्रियोंको निमित्त कारण बननेकी आवश्यकता नहीं पडती है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तावप्राप्त समीचीन पांच ज्ञानोंमें अकेला मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रिय उभयसे जन्य है।

अत्रार्थजन्यमेव विज्ञानमनुमानात्सिद्धं नार्थाजन्यं यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्तरावधारणं स्यादिति मन्यमानस्यानुमानमुपन्यस्य दूषयन्नाह ।

यहां बौद्ध कहते हैं कि लोकमें प्रसिद्ध हो रहा प्रत्यक्षस्वरूप विज्ञान तो विकल्परहित स्वलक्षणरूप अर्थसे जन्य हो ही रहा है । इस बातको हम अनुमानसे सिद्ध कर चुके हैं । अतः कोई भी यथार्थज्ञान अर्थसे अजन्य नहीं है, जिससे कि उस अर्थजन्यपनका निषेध करनेके लिये पिछला अवधारण किया जाय, इस प्रकार मान रहे बौद्धोंके अनुमानका उपकथन कर उसको दूषित करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट निरूपण करते हैं ।

स्वजन्यज्ञानसंवेद्योर्थः प्रमेयत्वतो ननु ।
यथानिंद्रियमित्येके तदसद्व्यभिचारतः ॥ ८ ॥
निःशेषवर्तमानार्थो न स्वजन्येन सर्ववित् ।
संवेदनेन संवेद्यः समानक्षणवर्त्तिना ॥ ९ ॥

बौद्धोंकी अनुज्ञा है कि अर्थ (पक्ष) अपनेसे उत्पन्न हुये ज्ञान करके भले प्रकार जानने योग्य है (साध्य), प्रमेयपना होनेसे (हेतु), जैसे कि मन (दृष्टान्त), अर्थात्—मन इन्द्रियको मन इन्द्रियजन्य अनुमान द्वारा ही जाना जाता है । अथवा जैन लोग क्षयोपशमको क्षयोपशमजन्य ज्ञान द्वारा जान लेते हैं । इस प्रकार मनको बडा अच्छा दृष्टांत पाकर कोई एक बौद्ध कह रहे हैं । वह उनका कहना प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि व्यभिचार दोष हो रहा है । देखिये, वर्तमान कालके सम्पूर्ण अर्थ तो स्वयं अपनेसे उत्पन्न हुये ज्ञानद्वारा नहीं जाने जा रहे हैं । जानने योग्य अर्थके समानक्षणमें वर्त रहे सम्वेदनकरके वह अर्थ नहीं जाना जा सकता है । अर्थात्— बौद्ध, नैयायिक, जैन, मीमांसक, सभीके यहां यह निर्णीत हो चुका है कि अव्यवहित पूर्वक्षणमें वर्तनेवाले कारण द्वितीय क्षणवर्त्ती कार्योंका सम्पादन करते हैं । बैलके डेरे सीधे सींगों समान एक ही क्षणमें रहनेवाले पदार्थोंमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं माना गया है । अतः ज्ञानके भी कारण उसके पूर्व समयमें रहनेवाले पदार्थ हो सकते हैं । किन्तु क्षणिकवादियोंके मत अनुसार ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर वे कारण अर्थ नष्ट हो जाते हैं । ऐसी दशामें बौद्धोंके यहां कोई भी विद्यमान पदार्थ स्वजन्यज्ञान द्वारा वेद्य नहीं हो सकेगा । अर्थके कालमें स्वजन्यज्ञान नहीं और ज्ञानकालमें अर्थ नहीं रहा तथा बौद्धोंके यहां स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी नहीं बन सकेगा । किन्तु बौद्धोंने ज्ञानजन्य न होते हुये भी ज्ञानका सम्वेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान होना माना है । अर्थजन्यपनेका ज्ञानमें आग्रह करनेपर सर्वज्ञता नहीं बन सकती है । क्योंकि चिरतर, भूत, और भविष्यकालों तथा वर्तमानकालके अर्थोंको सर्वज्ञज्ञानमें कारणपना नहीं बन सकनेसे बुद्धकी सर्वज्ञता क्षीण हो जायगी । केवलज्ञानके अव्यवहित पूर्ववर्त्ती

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समयके पदार्थ ही कारण बन सकते हैं। उतने ही अर्थोंको अधिकसे अधिक सर्वज्ञ जान सकेगा तथा अर्थके विना भी द्विचन्द्रज्ञान या शुक्तिमें रजतज्ञान हो जाते हैं। वर्तमानमें नहीं उग रहे रोहिणी नक्षत्रकी कृत्तिकोदयहेतुसे अनुमान द्वारा ज्ञप्ति हो जाती है। कहांतक कहा जाय, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमद्वारा भूत, भविष्य, दूरवर्त्ती, उन प्रमेयोंकी ज्ञप्ति हो जाती है, जो कि उक्त ज्ञानोंमें कैसे भी कारण नहीं बन सके हैं। विशेष जातिके खिच्चरको उत्पन्न कर जैसे अश्वतरी मर जाती है, पुत्र अपनी जननीको नहीं देख पाता है, वैसे ही बौद्धोंका ज्ञान अपनी जननी—वस्तुको नहीं जान सकेगा।

स्वार्थजन्यमिदं ज्ञानं सत्यज्ञानत्वतोन्यथा।
विपर्यासादिवत्तस्य सत्यत्वानुपपत्तितः ॥ १० ॥
इत्यप्यशेषविद्बोधैरनैकांतिकमीरितं।
साधनं न ततो ज्ञानमर्थजन्यमिति स्थितम् ॥ ११ ॥

सीपमें हुये चांदीके ज्ञानके या चन्द्रद्वयज्ञानके व्यभिचारको हटाते हुये यदि बौद्ध यह दूसरा अनुमान करें कि यह प्रत्यक्षज्ञान (पक्ष) अपने विषयभूत आलम्बन अर्थसे जन्य है (साध्य), सत्यज्ञानपना होनेसे (हेतु), अन्यथा यानी प्रत्यक्षज्ञानको अर्थजन्य न माननेपर विपर्यय, संशय आदि कुज्ञानोंके समान उस प्रत्यक्षका सत्यपना नहीं बन सकेगा। अब आचार्य कहते हैं कि इस दूसरे अनुमानका हेतु भी सर्वज्ञज्ञानोंसे व्यभिचार दोष युक्त हो रहा कह दिया गया समझ लो। अर्थात्—त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञके ज्ञान अपने आलम्बन अखिल विषयोंसे जन्य नहीं होते हुये भी सत्यज्ञान हैं। जो कार्यके आत्मलाभमें कुछ व्यापार करता है, वह कारण होता है। भूत, भविष्यकी पर्यायें जब ज्ञानकालमें विद्यमान ही नहीं हैं, तो वे कार्यकी उत्पत्तिमें कथमपि सहायता नहीं कर सकती हैं। पहिले तुलचुका या आगे तुलनेवाला घृत कृपण बनियेकी तखरीमें बोझ नहीं बढा सकता है। चिरभूत या चिरभविष्यकालमें रहनेवाले पदार्थोंको भी कारण मान लेना तो बुद्धपनका लालबुझक्कड न्याय किसीको भी मान्य नहीं हो सकता है। देखो अन्वय और व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव साधा जाता है। ज्ञानको अर्थजन्य माननेमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं, ये हम कह चुके हैं। तिस कारण विषयभूत अर्थसे जन्यज्ञान नहीं है, यह सिद्धान्त स्थित हो चुका है। अतः उत्तर अवधारण करना चाहिये, जिससे कि बौद्धमन्तव्यका व्यवच्छेद हो जाता है।

नन्वेवमालोकजन्यत्वमपि ज्ञानस्य चाक्षुषस्य न स्यादिष्टं च तदन्यथानुपपत्तेः। परप्रत्ययः पुनरालोकलिंगादिरिति वचनात्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तस्य तज्जन्यत्वेऽर्थजन्यत्वमपि सत्यस्यास्मदादिज्ञानस्यास्तु विशेषाभावात्।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब नैयायिकोंको सहायक बनाते हुये बल पाकर बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार अर्थजन्यपनके खण्डनार्थ उठाये गये झपेटेमें तो चाक्षुषप्रत्यक्षका आलोकसे जन्यपना भी नहीं रक्षित रह सकेगा। नैयायिकों और वैशेषिकोंने अन्यथानुपपत्तिसे ज्ञानको उस आलोकसे जन्य अभीष्ट किया है। यानी ज्ञेय अर्थके साथ तैजस आलोकका सम्बन्ध हुये बिना चक्षुइन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षकी उपपत्ति नहीं बनती है। तथा इस प्रकार ग्रन्थोंमें भी कहा है कि ज्ञानोंके न्यारे दूसरे कारण फिर आलोक, लिङ्ग, शब्द, आदिक हैं। यदि आलोकके साथ उस ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक अनुविधान हो रहा है, अतः उस चाक्षुषप्रत्यक्षका उस आलोकसे जन्यपना मानोगे तब तो अर्थजन्यपना भी हम आदि जीवोंके सत्यज्ञानोंको हो जाओ। ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेकके अनुविधानकी अपेक्षा आलोक और अर्थमें कोई अन्तर नहीं है।

न चैवं संशयादिज्ञानमंतरेण विरुध्यते तस्य सत्यज्ञानत्वाभावात्। नापि सर्व विद्भोधैरनैकांतिकत्वमस्मदादिसत्यज्ञानत्वस्य हेतुत्वात्। अस्मदादिविलक्षणानां तु सर्वविदां ज्ञानं चार्थाजन्यं निश्चित्यास्मदादिज्ञानेऽर्थाजन्यत्वशंकायां नक्तंचराणां मार्जारादीनामंजनादिसंस्कृतचक्षुषां वास्मद्विजातीयानामालोकाजन्यत्वमुपलभ्यास्मदादीनामपि नार्थवेदनस्यालोकाजन्यत्वं शंकनीयमिति कश्चित् तं प्रत्याह।

अभी बौद्ध ही कह रहा है कि इस प्रकार अर्थके विना भी हो रहे संशय, विपर्यय आदि ज्ञान देखे जाते हैं, यह तो विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंकि उन संशय आदिकोंको सत्यज्ञानपन नहीं है। तथा हम बौद्धोंके हेतुका सर्वज्ञज्ञानोंकरके भी व्यभिचार दोष नहीं आता है। क्योंकि हम, तुम, आदि लौकिक जीवोंके सम्यग्ज्ञानका सत्यज्ञानपना हमने हेतु माना है। जो हम सारिखे व्यवहारीजनोंसे विलक्षण हैं। उन सर्वज्ञोंका ज्ञान तो अर्थजन्य नहीं है। यदि उन महान् पुरुषोंके ज्ञानोंमें अर्थसे अजन्यपनेका निश्चय कर हम आदि लोगोंके ज्ञानोंमें भी अर्थसे नहीं उत्पन्न हुये पनकी शंका रक्खी जावेगी तब तो रातमें यथेच्छ विचरनेवाले बिल्ली, सिंह, उल्लूक, चिमगादर, आदि पशु, पक्षियों या अंजन, मंत्र, पिशाच, आदि कारणोंसे संस्कारयुक्त हो रहे चक्षुओंवाले मनुष्यों जो कि हम लोगोंसे भिन्न जातिवाले हैं, उन जीवोंके चाक्षुषप्रत्यक्षको आलोकसे अजन्यपना देख कर अस्मत् आदिकोंके भी अर्थप्रत्यक्षको आलोकसे अजन्यपना सम्भव जायगा जो कि कथमपि नहीं शंकित करना चाहिये। क्योंकि वह सर्वज्ञ हम लोगोंसे अतिशययुक्त ज्ञानका धारी है। घोडीके पैरमें नाल जडते हुये देख कर भैडकीका उन नालोंके लिये पांव पसारना अनुचित है। इस प्रकार कोई बौद्धवादी कह रहा है। उसके प्रति आचार्य महाराज समाधान वचन कहते हैं।

आलोकेनापि जन्यत्वे नालंबनतया विदः।
किं त्विंद्रियबलाधानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥ १२ ॥

तथार्थजन्यतापीष्टा कालाकाशादितत्त्ववत् ।
सालंबनतया त्वर्थो जनकः प्रतिषिध्यते ॥ १३ ॥

आलोकके द्वारा भी ज्ञानका जन्यपना माननेपर आलम्बनरूपसे आलोकको ज्ञानके प्रति कारणता नहीं है । किन्तु कतिपय चक्षुइन्द्रियोंको बल (अतिशय) प्राप्त करा देना केवल इतना ही सहारा दे देनेसे काल, आकाश, आदि तत्त्वोंके समान आलोकको भी निमित्त माना जा सकता है । और तिसी प्रकार बलाधायकरूपसे ज्ञानमें अर्थजन्यपना भी इष्ट कर लिया जाता है । प्रमेयत्वगुणका भोग होनेसे अर्थोंका अपने अपने कालमें सद्भाव रहना मात्र ज्ञानका बलाधायक बन सकता है । किन्तु सालम्बनरूप करके तो अर्थका जनकपना निषेधा जा रहा है । अर्थात्—बूढे पुरुषको लठिया पद पदपर जैसे आलम्बन हो रही है, वैसे ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें ज्ञेय अर्थ सहायता नहीं दे रहे हैं । ज्ञानका ज्ञेयके साथ विषयविषयीभावके अतिरिक्त कोई कार्यकारण आधार आधेय-भाव सम्बन्ध नहीं माना गया है ।

इदमिह संप्रधार्यं किमस्मदादिसत्यज्ञानत्वेनालोको निमित्तमात्रं चाक्षुषज्ञानस्येति प्रतिपाद्यते कालाकाशादिवत् आहोस्विदालंबनत्वेनेति ? प्रथमकल्पनायां न किंचिदनिष्टं द्वितीयकल्पना तु न युक्ता प्रतीतिविरोधात् । रूपज्ञानोत्पत्तौ हि चक्षुर्बलाधानरूपेणालोकः कारणं प्रतीयते तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यान्यथानुपपत्तेः तद्वदर्थोपि यद्याद्यक्षणज्ञानस्य जनकः स्यान्न किंचिद्विरुध्यते तस्यालंबनत्वेन जनकत्वोपगमे व्याघातात् । आलंबनं ह्यालंबनत्वं ग्राह्यत्वं प्रकाश्यत्वमुच्यते तच्चार्थस्य प्रकाशकसमानकालस्य दृष्टं यथा प्रदीपः स्वप्रकाशस्य । न हि प्रकाश्योर्थः स्वप्रकाशकं प्रदीपमुजनयति स्वकारणकलापादेव तस्योपजननात् ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां यह विचार चलाकर निर्णय कर लेना चाहिये कि हम आदि लौकिक जीवोंके सत्यज्ञानपने करके आलोक चाक्षुष प्रत्यक्षका काल, आकाश, आदिके समान केवल निमित्तकारण है । ऐसा समझा रहे हो ? अथवा क्या आलोकको चक्षु—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका आलम्बनपनेकरके कारणता आप वैशेषिक बखान रहे हो ? इसका उत्तर वैशेषिक स्पष्ट कहें । पहिले पक्षकी कल्पना करनेपर तो हम जैनोंको कोई अनिष्ट नहीं है । अर्थात्—सम्पूर्ण कार्योंमें जैसे काल, आकाश, आदि पदार्थ अप्रेरक होकर निमित्तकारण हो रहे हैं । वैसे ही मनुष्य आदिके चाक्षुषज्ञानका आलोक भी सामान्य निमित्त हो जाता है । हां, द्वितीयपक्षकी कल्पना करना तो युक्तिपूर्ण नहीं है । क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा । देखिये, मार्जार, व्याघ्र, आदि जीवोंके चाक्षुषप्रत्यक्षमें तो आलोक कारण कथमपि नहीं है । हां, मन्दतेजको धारनेवाली चक्षुओंसे युक्त हो रहे मनुष्य, कबूतर, तोता आदिकोंको रूपके ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें चक्षुका बलाधानरूप

करके आलोक कारण होकर प्रतीत हो रहा है अर्थात् हम सारिखे कुछ जीवोंकी चक्षु इन्द्रियां रूपके ज्ञानको तब उत्पन्न करती हैं, जब कि उन चक्षुओंके आलोकद्वारा बल प्राप्त हो जाय। कुत्ताके भोंकनेमें या कुत्ताद्वारा मनुष्यको काटलेनेमें वह कुत्ता ही कारण है। फिर कुत्ताके प्रेमियोंकी लैलैकर प्रेरित करनेसे कुत्तेको बल प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कतिपय दिवाचरोंकी आंखोंको बलका आधायक आलोक जाना जा रहा है। अन्यथा यानी अस्मदादिकोंके रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें बलाधायक रूपकरके यदि आलोकको कारण नहीं माना जायगा तो चाक्षुषज्ञानका उस आलोकके साथ अन्वय, व्यतिरेकका यह अनुविधान करना नहीं बन सकेगा कि आलोकके होनेपर चक्षुद्वारा हम दिवाचरोंको रूपज्ञान होता है। और आलोकके नहीं होनेपर मन्दतेजोधारी चक्षुसे रूपज्ञान नहीं हो पाता है। अतः रूपज्ञानका कारण बलाधायकपनेसे आलोक हो सकता है। अर्थात्—रूपज्ञानके मुख्यकारण चक्षुओंमेंसे कुछ चक्षुओंकी सहायता कर देता है। उस आलोकके समान ही यदि अर्थको भी आद्य-समयके ज्ञानका जनक कहोगे तब तो कोई विरोध नहीं है। हां, उस अर्थको ज्ञानका आलम्बनपने करके जनकपना माननेपर तो व्याघात दोष आता है। अर्थात्—ज्ञानका विषयभूत अर्थ अपना ज्ञान उत्पन्न करानेमें प्रधान होकर अवलम्ब नहीं दे रहा है। चक्षुको जिस प्रासाद, रेलगाडी, आदि पदार्थोंकी ओर उन्मुख उपयुक्त कर देते हैं, वे पदार्थ चक्षुसे दीख जाते हैं। किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें वे पदार्थ कारण नहीं हैं। आलम्बनका अर्थ आलम्बनपना, जानने योग्यपना, प्रकाशित होने योग्यपना, कहा जाता है। ऐसा वह आलम्बनपना तो प्रकाशक ज्ञान या प्रदीप, सूर्य, आदिके समानकालमें हो रहे अर्थका देखा जाता है। जैसे कि अपने प्रकाशका आलम्बन कारण प्रदीप है। जो प्रकाशित होने योग्य अर्थ है। वह अपने प्रकाश करनेवाले प्रदीपको उत्पन्न नहीं कराता है। किन्तु अपने बत्ती, तेल, पात्र, गैस, विद्युत् शक्ति, आदि, कारण समुदायसे ही उस दीपककी उत्पत्ति हो जाती है। अतः अर्थ या आलोकको ज्ञानका कारण—कारण भले ही कह दो किन्तु ज्ञानका आलम्बनकारण अर्थ नहीं है। चक्कू या वसूला आदि अस्त्र कतरने योग्य पदार्थ पर उपयुक्त अवश्य हो रहे हैं। किन्तु पत्ता, काठ, आदि पदार्थ उन चक्कू, वसूलाके उत्पादक कारण नहीं है। एक बात यह भी है कि अनेक कार्योंमेंसे अल्पकार्योंका परम्पराकारण हो जानेसे आलोक या अर्थ यावत् चाक्षुषप्रत्यक्षोंका मुख्यकारण कथमपि नहीं समझा जा सकता है।

प्रकाश्यस्याभावे प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वायोगात् स तस्य जनक इति चेत्, प्रकाशकस्याभावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात् स तस्य जनकोस्तु। तथा चान्योन्याश्रयणं प्रकाश्यानुपपत्तौ प्रकाशकानुपपत्तेस्तदनुत्पत्तौ च प्रकाश्यानुत्पत्तिरिति।

प्रकाशने योग्य अर्थके नहीं होनेपर प्रकाशककी प्रकाशकताका योग नहीं है। अतः वह अर्थ उस प्रकाशकका उत्पादक कारण माना जाता है। इस प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, बनाकर कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि प्रकाशकके न होनेपर प्रकाश्य अर्थकी भी प्रकाश्यता नहीं

घटित होती है। अतः वह प्रकाशक भी उस प्रकाश्यका जनक हो जाओ। भावार्थ—प्रकाशक दीपकका कारण यदि प्रकाश्य अर्थ माना जाता है, तो प्रकाश्य अर्थका भी कारण प्रकाशक दीपक हो जाओ। बडे बडे धनवान् पुरुष सगर्व होकर निर्धनोंके सहायक हो रहे हैं। इसके उत्तरमें यों ही क्यों न कह दिया जावे कि छोटे छोटे निर्धन पुरुषोंके रक्तसमान धनको छल, छिद्रोंसे हडपकर या व्यापारकी तेजी मन्दी द्वारा निर्धनोंके प्राण समान धनको चूसकर ही वे धनी पुरुष अपनी ऐंठमें इठ रहे हैं। न्यायपूर्वक पावनद्रव्य उत्पन्न करना या पुण्योदयसे परिशुद्ध द्रव्यकी प्राप्ति हो जाना सभी धनवानोंके पुरुषार्थ या भाग्यमें नहीं बदा है। फिर भी अनेक धनिकोंकी कमाईमें दयनीय दीन, विधवा और ऋणी किसानोंकी कमाईका परम्परासे सहयोग है। जो समुद्र दिनरात अपने बहु जलपनकी तरङ्गरूप बाहें उछालकर गम्भीर शब्दद्वारा प्रशंसा (शेखी) को पुकारता रहता है, वह समुद्र भी अनेक जलबिंदुओंका समुदाय है। प्रकरणमें प्रकाश्य और प्रकाशकके कार्यकारणभावकी विनिगमना नहीं रही और तैसा होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। प्रकाश्यके न होनेपर प्रकाशक नहीं बनता है और उस प्रकाशकके नहीं होनेपर अर्थका प्रकाश्यपना असिद्ध हो जाता है। क्रेताओंके विना विक्रेताओंकी गति नहीं और विक्रेताओंके विना क्रेताओंका निर्वाह नहीं होता है।

यदि पुनः स्वकारणकलापादुत्पन्नयोः प्रदीपघटयोः स्वरूपतोभ्युपगमादन्योन्यापेक्षौ प्रकाशकत्वप्रकाश्यत्वधर्मौ परस्परविनाभाविनौ भविष्येते तथान्योन्याश्रयणात्तदभावाज्ज्ञानार्थयोरपि स्वसामग्रीबलादुपजातयोः स्वरूपेण परस्परापेक्षया ग्राह्यग्राहकभावधर्मव्यवस्था स्थीयतां तथा प्रतीतेरविशेषात्। तदुक्तं। " धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्कारकज्ञापकादिति " ततो ज्ञानस्यालंबनं चेदर्थो न जनकः जनकश्चेन्नालंबनं विरोधात्।

यदि फिर आप बौद्ध यों कहें कि प्रदीप और घट अपने अपने कारणोंके समुदायसे स्वरूप करके उत्पन्न हो रहे स्वीकार किये हैं, किंतु प्रदीपमें प्रकाशपना और घटमें प्रकाश्यपना धर्म तो परस्परमें अविनाभाव रखते हुए इतर इतरकी अपेक्षावाले हो जायेंगे, तिस प्रकार अन्योन्याश्रय होने पर भी उस अन्योन्याश्रय दोषका अभाव माना गया है, उसी प्रकार अपनी अपनी सामग्रीके बलके उत्पन्न हो चुके ज्ञान और ज्ञेय अर्थोंका भी स्वरूपकरके परस्परकी अपेक्षाद्वारा ग्राह्य ग्राहकपन धर्मकी व्यवस्थाका श्रद्धान कर लेना चाहिये, क्योंकि तिस प्रकार प्रतीति होनेका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् पिता और पुत्रके शरीरोंकी उत्पत्ति परस्परापेक्ष नहीं है। हां, पितापन और पुत्रपन यह व्यवहार ही एक दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला है। इसी प्रकार दीप, घट, ज्ञान, ज्ञेय, इन पदार्थोंकी उत्पत्ति तो स्वकीय नियत कारणोंसे ही होती है। किन्तु आपेक्षिक धर्म एक दूसरेकी सहायतासे व्यवहृत हो जाते हैं। अतः कारकपक्षका अन्योन्याश्रय दोष तो यहां नहीं आता है।

और ज्ञापकपक्षका भी परस्पर आश्रय दोष लागू नहीं होता है। केवल व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे कर लिया जाता है। एक नदीके दो किनारे अपने अपने कारणोंसे स्वयं सिद्ध हो चुके हैं। फिर भी इस पारवाले मनुष्य परभागको परलीपार कहते हैं। और परलीपारवाले इस पारको परलीपार कहते हैं। व्यवहारमें इस प्रकारका अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना गया है। किन्तु गुण ही है। उसीको गुरुवर्य और भविष्य चौवीसीमें तीर्थंकर होनेवाले श्री समन्तभद्र आचार्य भगवान्ने स्वनिर्मित देवागम स्तोत्रमें कहा है कि धर्म और धर्मियोंका अविनाभाव तो परस्परकी अपेक्षाकरके ही सिद्ध हो रहा है। किन्तु उनका स्वरूपलाभ तो अन्योन्यापेक्ष नहीं है। क्योंकि धर्म और धर्मी पदार्थोंका यह डील तो पहिलेसे ही स्वकीय न्यारे न्यारे कारणों द्वारा बन चुका है। जैसे कि कारकके अवयव कर्त्ता, कर्म, करण, आदिक पहिलेसे ही निष्पन्न हैं। फिर भी किसी विवक्षित क्रियाकी अपेक्षासे उनमें कर्त्तापन, कर्मपनका व्यवहार साध दिया जाता है। देवदत्त कर्त्ता और भात कर्म तथा हाथ करण ये पहिलेसे ही स्वरूपलाभ कर चुके हैं। फिर भी खानेरूप क्रियाकी अपेक्षासे देवदत्तमें कर्त्तापन भातमें कर्मपन और हाथमें करणपनका व्यवहार एक दूसरेकी अपेक्षासे प्रसिद्ध हो जाता है। अन्नके लिये (सम्प्रदान) ग्रामसे (अपादान) नगरमें (अधिकरण) देवदत्त आता है। ऐसे परस्पर अपेक्षा रखनेवाले व्यवहार हो रहे हैं। कर्त्तापन कर्मके निश्चय हो चुकनेपर व्यवहृत होता है और कर्मपनेका व्यवहार भी कर्त्ताकी प्रतिपत्ति हो चुकनेपर जानने योग्य है। इसी प्रकार ज्ञापकके अवयव प्रमाण, प्रमेयोंका स्वरूप तो स्वतःसिद्ध है। हां, ज्ञाप्यज्ञापक व्यवहार ही परस्परकी अपेक्षा रखनेवाला है। ऐसे ही वाच्य अर्थ और वाचक शब्दका स्वरूपलाभ अपने अपने कारणों द्वारा पूर्वमें ही हो चुका है। केवल ऐसा व्यवहार अन्योन्याश्रित है। गुरुशिष्य भावमें भी यही मार्ग आलम्बनीय है। कुलीन गृहिणीका स्वामी उसका पति है। साथमें सच्चरित्र स्वामीकी पत्नी वह गृहिणी है। यह पतिपत्नी सम्बन्धका व्यवहार परस्परापेक्ष है। उन दोनोंका शरीर तो पूर्वसे ही बन चुका था। पति शब्दका ही स्त्रीलिङ्गकी विवक्षा करनेपर पत्नी बन जाता है। पतिकी स्त्रीका नाम ही पत्नी नहीं है। किन्तु पतिकी स्वामिनी पत्नी कही जाती है। स्त्रीस्वरूप पति ही पत्नी है। यहांतक पूर्व महर्षियोंके आगमका प्रमाण दिया है। तिस कारण सिद्ध होता है कि यदि ज्ञानका विषयभूत आलम्बन अर्थ माना जायगा तो वह अर्थ अपने ज्ञानका उत्पादक नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञानका आलम्बन तो ज्ञानके समानकालमें रहना चाहिये और कारण पूर्वक्षणमें रहना चाहिये क्षणिकवादियोंके यहां कार्यक्षणमें कारण नहीं आ सकता है। तथा अर्थको यदि ज्ञानका जनक कहोगे तो वह अर्थ ज्ञानका आलम्बन नहीं हो सकेगा। क्योंकि विरोध है। इन्द्रिय, अदृष्ट, आदिक पदार्थ घटज्ञानके कारण हैं। किन्तु घटज्ञानके विषय नहीं हैं। और चिरभूत कालके पदार्थ स्मरणमें आलम्बन हैं, किन्तु स्मरणके अव्यवहित पूर्वसमयवर्त्ती होकर उत्पादक कारण नहीं हैं।

पूर्वकालभाव्यर्थो ज्ञानस्य कारणं समानकालः स एवालंबनं तस्य क्षणिकत्वादिति चेत् न हि, यदा जनकस्तदालंबनमिति कथमालंबनत्वेन जनकोर्थः संविदः स्यात् ।

पूर्वकालमें हो रहा अर्थ तो ज्ञानका कारण है । और वही अर्थ वर्तमान समानकालमें वर्त रहा उस ज्ञानका आलम्बन हो जाता है । क्योंकि वह अर्थ क्षणिक है । अतः दूसरे क्षणमें आ नहीं सकता है । हां, वह मर गया अर्थ दूसरे क्षणमें उत्पन्न हुये ज्ञानका आलम्बन विषय हो जाता है । इस प्रकार बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि जिस समय वह क्षणिक अर्थ ज्ञानका जनक हो रहा है, तब तो आलम्बन नहीं है । और जब नष्ट हो चुका अर्थ आलम्बन बन रहा माना है । उस समय वह जनक नहीं है । ऐसी दशामें आलम्बनपनेकरके वह अर्थ भला कैसे ज्ञानका जनक हो सकेगा ? अर्थात्—तुम बौद्धोंके कथन अनुसार ही ज्ञानका जनक पदार्थ ही तो ज्ञानका आलम्बन कारण नहीं हो सका ।

पूर्वकाल एवार्थो जनको ज्ञानस्यालंबनं च स्वाकारार्पणक्षमत्वादिति वचनमयुक्तं समानार्थसमनंतरज्ञानेन व्यभिचारात् ।

अव्यवहित पूर्वक्षणमें ही रहनेवाला अर्थ ज्ञानका जनक है । और ज्ञानके लिये अपने आकारको अर्पण करनेमें समर्थ होनेके कारण आलम्बन भी है । इस प्रकार तदुत्पत्ति और ताद्रूप्य दोनोंका कथन करना तो युक्तिरहित है । क्योंकि समान अर्थके अव्यवहित उत्तर (पूर्व) वर्त्ती ज्ञानकरके व्यभिचार हो जाता है । अर्थात्—घटका या कपडेके थानका ज्ञान हो जानेपर उस घट या थानके सदृश आकारवाले दूसरे घट पटोंका ज्ञान क्यों न हो जाय, जब कि एक अर्थका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें पड चुका है, तो समानपदार्थोंका प्रतिबिम्ब भी आ ही चुका है । फिर ताद्रूप्य होनेसे एक घटके जाननेपर उसके सदृश देशान्तर, कालान्तरवर्ती अनेक घटोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो जाता है ? अतः अपने आकारको अर्पण करनेसे आलम्बनका नियम करना ठीक नहीं है । यद्यपि तदुत्पत्ति कह देनेसे उक्त व्यभिचार टल जाता है । फिर भी समान अर्थके उत्तरवर्त्ती ज्ञानमें तदुत्पत्ति भी घट जाती है । अतः तज्जन्य कह कर भी बचना कठिन है । पंक्तिका अर्थ यह है कि प्रथमक्षणमें " नील है " ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसने अगले समयमें द्वितीयज्ञानको उपजाया, इस दूसरे ज्ञानमें ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति दोनों हैं । द्वितीयज्ञान ज्ञानपनेसे प्रथमके समान है । अव्यवहितपनेसे अनन्तर है । यदि बौद्ध ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति होनेसे ज्ञानको अर्थका नियामक मानेंगे तब तो प्रथमज्ञानकरके व्यभिचार हो जायगा अर्थात् द्वितीयज्ञान जैसे अर्थको जानता है, उसी प्रकार प्रथमज्ञानका नियामक बन बैठे, किन्तु ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति होते हुए भी द्वितीयज्ञान द्वारा प्रथमज्ञानका नियम किया जाना इष्ट नहीं किया गया है । ज्ञान अर्थका नियामक है । ज्ञान ज्ञानका व्यवस्थापक नहीं है । दीपकसे प्रदीपान्तरकी व्यवस्था नहीं कराई जाती है । सभी ज्ञान अपने स्वतंत्र नियामक हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नन्वालंबनत्वेन यो जनकः स्वाकारार्पणक्षमश्च स ग्राह्यो ज्ञानस्य न पुनः समनंतरत्वेनाधिपतित्वेन वा यतो व्यभिचार इति चेदितराश्रयप्रसंगात् । सत्यालंबनत्वेन जनकत्वेऽर्थस्य ज्ञानालंबनत्वं सति च तस्मिन्नालंबनत्वेन जनकत्वमिति ।

बौद्धोंका स्वमतस्थापनके लिये अवधारण है कि जो आलम्बन (विषय) पने करके ज्ञानका जनक है, और अपने आकारको अर्पण करनेमें दक्ष है, वह पदार्थ ज्ञानका ग्राह्य होता है । किन्तु फिर अव्यवहितपूर्वपने करके यानी ज्ञानके अव्यवहित पूर्वक्षणमें वर्त रहे स्वरूपसे किसी पदार्थको ज्ञानकी ग्राह्यता प्राप्त नहीं है । तथा ज्ञानके अधिपतिपनेकरके भी ग्राह्यता नहीं है । यानी जो ज्ञानका सर्वतंत्र स्वतंत्र अधिष्ठाता है, वह भी ज्ञानका विषय नहीं है । जिससे कि समान अर्थ या चक्षु आदिकसे व्यभिचार हो जाय । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो अन्योन्याश्रय दोष होनेका प्रसंग आता है । आलम्बनपने करके अर्थका जनकपना सिद्ध हो चुकनेपर तो अर्थको ज्ञानका आलम्बनपना बनें और अर्थको ज्ञानका आलम्बनपना बन चुकनेपर आलम्बनपनेकरके जनकपना सिद्ध होय इस प्रकार अन्योन्याश्रय हुआ ।

स्वाकारार्पणक्षमत्वविशेषणं चैवमनर्थकं स्यादालम्बनत्वेन जनकस्य ग्राह्यत्वाव्यभिचारात् । परमाणुना व्यभिचार इत्यपि न श्रेयः परमाणोरेकस्यालंबनत्वेन ज्ञानजनकत्वासंभवात् । संचितालंबनाः पंचविज्ञानकाया इति वचनात् । प्रत्येकं परमाणूनामालंबनत्वे न ते बुद्धिगोचरा इति ग्रन्थविरोधात् ।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार ज्ञानके विषयभूत अर्थको ही यदि ज्ञानका जनकपना माना जायगा तब तो अपने आकार (प्रतिबिम्ब) को ज्ञानके लिये अर्पण करनेमें सन्नद्ध (तयार) रहनापन यह विशेषण लगाना व्यर्थ पडेगा । क्योंकि ज्ञानके आलम्बन होकर जो पदार्थ जनक होंगे वे ग्राह्यपनका व्यभिचार नहीं करेंगे । अर्थात्—ज्ञानका आलम्बन होता हुआ जो जनक होगा वह ज्ञानद्वारा ग्राह्य अवश्य हो जावेगा । फिर ज्ञानकी विषयताका नियम करनेके लिये अपने आकारको ज्ञानके लिये समर्पण करनेकी शक्ति रखना यह ग्राह्य विषयका विशेषण क्यों व्यर्थ लगाया जाय ? यदि बौद्ध यों कहें कि विशेषण लगाना व्यर्थ नहीं है । अन्यथा परमाणुसे व्यभिचार हो जायगा । देखिये, हम बौद्धोंके यहां क्षणिक, असाधारण, परमाणुऐं वस्तुभूत मानी गयी हैं, वे ज्ञानकी उत्पत्तिमें आलम्बन होती हुयीं जनक हैं । किन्तु ज्ञानके द्वारा विषय नहीं हो रही हैं । कारण कि वे परमाणुऐं ज्ञानके लिये अपने आकारोंका समर्पण नहीं कर सकती हैं । अतः स्वाकारार्पणक्षम विशेषण देना सफल है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कथन भी श्रेष्ठ नहीं है । क्योंकि आलम्बनपने करके ज्ञानका जनकपना एक परमाणुके असम्भव है । अनेक परमाणु एकत्रित होकर जब रूप स्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, ये विज्ञानके पांच काय बन जाते हैं, तब ज्ञानके आलम्बन होते हैं, इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा गया है । तथा बौद्ध अनेक परमाणु-

ओंमेंसे एक एक न्यारी परमाणुको यदि ज्ञानका आलम्बन कारण मानेंगे तो " वे न्यारे न्यारे परमाणु बुद्धिके विषय नहीं हैं " इस ग्रन्थसे स्वयं बौद्धोंको विरोध ठन जायगा । अतः स्वाकारको अर्पण करनेके लिये समर्थ रहना यह विशेषण लगाना व्यर्थ ही रहा ।

तर्हि योधिपतिसमनंतरालंबनत्वेनाजनको निमित्तमात्रत्वेन जनकः स्वाकारार्पणक्षमः स संवेदनस्य ग्राह्योस्त्वव्यभिचारादिति चेन्न, तस्यासंभवात् । न हि संवेदनस्याधिपत्यादिव्यतिरिक्तोन्यः प्रत्ययोस्ति । तत्सामान्यमस्तीति चेत् न, तस्यावस्तुत्वेनोपगमाज्जनकत्वविरोधात् । वस्तुत्वे तस्य ततोर्थांतरत्वे तदेव ग्राह्यं स्यान्न पुनरर्थो नीलादिर्हेतुत्वसामान्यजनकनीलाद्यर्थो ग्राह्यः संवेदनस्येति ब्रुवाणः कथं जनक एव ग्राह्य इति व्यवस्थापयेत् । ततो न पूर्वकालोर्थः संविदो ग्राह्यः । किं तर्हि समानसमय एवेति प्रतिपत्तव्यं ।

बौद्ध कहते हैं कि तब तो यों कह देना अच्छा है कि जो पदार्थ ज्ञानके अधिपतिपनेकरके और अव्यवहित पूर्ववर्तीपनेकरके तथा विषयभूत आलम्बनपनकरके जो ज्ञानका जनक नहीं है, किन्तु ज्ञानका केवल निमित्तकारण बन जानेसे जनक हो रहा है और अपने आकारको ज्ञानके प्रति अर्पण करनेके लिये शक्त (तैयार) है, वह पदार्थ संवेदनका ग्राह्य बन जाओ । ऐसा नियम करनेमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्ध नहीं कहें । क्योंकि उसका असम्भव है । अधिपति या समनन्तर अथवा आलम्बनपनके अतिरिक्त कोई अन्य कारण (उपाय) सम्वेदनको उत्पन्न करानेमें नहीं सम्भवता है । जो पदार्थ उन तीन रूपोंसे जनक नहीं हैं, वह पदार्थ ज्ञानका कैसे भी उत्पादक नहीं हो सकता है । फिर भी बौद्ध यों कहें कि ज्ञानके अधिपति कारण आत्मा, इन्द्रिय, आदिक हैं । और ज्ञानका समनन्तर कारण तो अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती ज्ञानपर्याय है, जो कि उपादान कारण मानी गयी हैं । तथा ज्ञानका आलम्बनकारण तो ज्ञेयविषय है । इन तीनके अतिरिक्त भी उन तीनोंमें रहनेवाला एक सामान्य पदार्थ है । वह ज्ञानका जनक बन जायगा । ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि बौद्धोंने सामान्यको अवस्तुरूपसे स्वीकार किया है । जो वस्तुभूत नहीं है उसको उत्पत्ति रूप क्रियाका जनकपना विरुद्ध है । जैसे कि कच्छपके रोमोंसे ऊनी वस्त्रोंको नहीं बुना जा सकता है । यदि उस सामान्यको वस्तुभूत मानते हुये उन तीन कारणोंसे भिन्न मानोगे तब तो कारणरूप वह सामान्य ही ज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य हुआ । फिर नील आदि स्वलक्षणरूप अर्थ तो ज्ञानका ग्राह्य नहीं हो सका । इसपर भी बौद्ध यदि यों कहता फिरे कि ज्ञानका जनक सामान्य है, और हेतुत्वरूप सामान्यका जनक नीलादिक अर्थ है, जो कि सम्वेदनका ग्राह्य हो जाता है । पितासे उत्पन्न हुआ पुत्र पितामहकी सेवा कर देता है । इस प्रकार कह रहा बौद्ध ज्ञानका जनक पदार्थ ही ग्राह्य होता है, इस बातकी कैसे व्यवस्था करा सकेगा ? अर्थात्—ज्ञानका जनक सामान्य हुआ और ज्ञानका जनक ही पदार्थग्राह्य नहीं बन सका । तिस कारण पूर्वकालमें वर्त रहा अर्थ

सम्वित्तिका ग्राह्य नहीं हो सकता है, तो कौनसे समयका पदार्थ ज्ञानका ग्राह्य है। इसमें हमारा यह उत्तर है कि ज्ञानके समानकालमें रहनेवाला ही पदार्थ ग्राह्य होता है, यह समझ लेना चाहिये। ज्ञानके उत्पादक कारण तो पूर्वक्षणवर्त्ती ही पदार्थ हो सकते हैं। किन्तु ज्ञानके विषयभूत पदार्थ ज्ञानके समानकालवर्त्ती भी हैं।

नन्वेवं योगिविज्ञानं श्रुतज्ञानं स्मृतिप्रत्यभिज्ञादि वा कथमसमानकालार्थपरिच्छिदि सिध्येदिति चेत्, समानसमयमेव ग्राह्यं संवेदनस्येति नियमाभावात्। अक्षज्ञानं हि स्वसमयवर्तिनमर्थं परिच्छिनत्ति स्वयोग्यताविशेषनियमाद्यथा स्मृतिरनुभूतमात्रं पूर्वमेव प्रत्यभिज्ञातीतवर्तमानपर्यायवृत्त्येकं पदं चिंता त्रिकालसाध्यसाधनव्याप्तिं स्वार्थानुमानं त्रिकालमनुमेयं श्रुतज्ञानं त्रिकालगोचरानंतव्यंजनपर्यायात्मकान् भावान् अवधिरतीतवर्तमानानागतं च रूपिद्रव्यं मनःपर्ययोऽतीतानागतान् वर्तमानांश्चार्थान् परमनोगतान्, केवलं सर्वद्रव्यपर्यायानिति वक्ष्यतेग्रतः।

यहां बौद्धकी या किसी तटस्थ विद्वान्‌की बहुत अच्छी शंका है कि समानसमयवाले पदार्थोंको ही यदि ज्ञानका विषय माना जायगा तो योगी सर्वज्ञके विज्ञान भला वर्तमान ज्ञानके असमान कालीन भूत, भविष्य, पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले कैसे सिद्ध होंगे ? अथवा भूत, भविष्य, वर्तमान, त्रिकालवर्त्ती पदार्थोंको परोक्ष जाननेवाला आगमजन्य ज्ञान कैसे सध सकेगा ? तथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, आदिक भला भूत, भविष्यकालीन पदार्थोंको जाननेवाले कैसे माने जावेंगे ? इस प्रकार शंका करनेपर तो हम उत्तर देते हैं कि समानसमयवर्त्ती ही पदार्थ सम्वेदनके ग्राह्य होते हैं, ऐसा नियम हम नहीं करते हैं। बौद्धोंके विचार अनुसार वर्तमानकालके अर्थज्ञानके विषय नहीं हो पाते हैं। अतः बल देकर हमने कह दिया है (था)। एवका अर्थ अपि है, यानी ही का अर्थ भी समझना। देखिये, ज्ञानोंमेंसे इन्द्रियजन्यज्ञान तो नियमसे अपने समयमें ही वर्त रहे अर्थको जानता है। क्योंकि अपने आवरण कर्मोंकी क्षयोपशमरूप योग्यताके विशेषनियमसे ऐसा ही व्यवस्थित हो रहा है। इन्द्रियजन्य ज्ञान भूत, भविष्यकालके अर्थोंको नहीं जान सकते हैं। अतः चक्षुः रसना आदिसे वर्तमानकालमें वर्त रहे रूप, रस, रूपवान्, रसवान्, आदि पदार्थ ही जाने जाते हैं। जिस प्रकार कि स्मरणज्ञान अपनी क्षयोपशमरूप योग्यताके अनुसार पूर्वमें अनुभूत हो चुके ही केवल भूतकालके अर्थोंको जानता है। तथा प्रत्यभिज्ञान तो भूत और वर्तमान कालकी पर्यायोंमें वर्त रहे एक पदार्थको जानता है, अथवा वर्तमानकालके सादृश्य, दूरपन, स्थूलपन आदि अर्थोंको भी जानता है। तथा चिंताज्ञान तीनों कालके साध्य और साधनोंका उपसंहार कर अविनाभावसम्बन्धको जान लेता है। एवं स्वार्थानुमान कालत्रयवर्त्ती अनुमेय पदार्थोंको परोक्षरूपसे जान लेता है। इसी प्रकार आप्त वाक्यजन्य श्रुतज्ञान या अनक्षरात्मक अवाच्य श्रुतज्ञान तो अत्यन्तपरोक्ष भी तीन कालमें वर्त रहे संख्यात असंख्यात अनन्त व्यंजनपर्यायस्वरूप भावोंको अविशद जान लेता है। अवधिज्ञान अपने

योग्य भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालके रूपीद्रव्योंको प्रत्यक्षरूपसे विषय कर लेता है। और मनःपर्यय ज्ञान तो अपने और पराये मनमें स्थित हो रहे अतीत, अनागत, वर्तमान, कालके अर्थोंको विशद जान रहा है। तथा सर्वोत्तम केवलज्ञान तो त्रिकालवर्त्ती सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको अतिविशद रूपसे जान रहा है। इस प्रकरणको श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिम ग्रन्थद्वारा स्पष्ट निरूपण कर देवेंगे।

ततो नाकारणं वित्तेर्विषयोस्तीति दुर्घटम्।
स्वं रूपस्याप्रवेद्यत्वापत्तेः कारणतां विना ॥ १४ ॥

तिस कारण सिद्ध हुआ कि ज्ञानका विषय ज्ञानका कारण नहीं है। बौद्धोंका यह कहना कि " नाकारणं विषयः " ज्ञानका जो कारण नहीं है, वह ज्ञानका विषय नहीं है। यह मन्तव्य कैसे भी परिश्रमसे घटित नहीं हो सका है। देखो, कारणपनके विना भी ज्ञानका स्वकीयरूप भले प्रकार वेद्य हो रहा है। यदि ज्ञानके कारणको ही ज्ञानका विषय माना जायगा तो ज्ञानके स्व-शरीरको नहीं वेद्यपना होनेका प्रसंग आवेगा जो कि बौद्धोंको इष्ट नहीं है। बौद्धोंने ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है। और स्वयं ही स्वका कारण हो नहीं सकता है। " नैकं स्वस्मात् प्रजायते "।

संवेदनस्य नाकारणं विषय इति नियमे स्वरूपस्याप्रवेद्यत्वमकारणत्वात् तद्वद्वर्तमानानागतानामतीतानां चाऽकारणानां योगिज्ञानाविषयत्वं प्रसज्यते।

सम्वेदनका जो उत्पादक कारण नहीं है, वह सम्वेदनका विषय नहीं है। इस प्रकार बौद्धों द्वारा नियम कर चुकनेपर तो ज्ञानके स्वरूपको असम्वेद्यपना प्राप्त होगा। क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञान तो स्वयं कारण नहीं बना है। यदि कारण नहीं हुये विना भी ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा विषय होना मान लोगे तो उसीके समान वर्तमान, भविष्य, और अतीतकालके अर्थ जो कि योगी-ज्ञानके कारण नहीं बने हैं, वे सर्वज्ञज्ञानके विषय हो जायेंगे, कोई क्षति नहीं पड सकती है। अन्यथा उसीके समान वर्तमान, भविष्य और चिर अतीत पदार्थोंको योगीज्ञानके विषय नहीं होनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि वे त्रिकालवर्ती पदार्थ योगीज्ञानके उत्पादक कारण नहीं हो सके हैं। जो कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होकर अर्थक्रियाको कर रहे हैं वे अव्यवहित पूर्वक्षणके पदार्थ तो कारण माने जाते हैं। किन्तु जो बहुत देर पहिले मर चुके हैं, या भविष्य कालकी गोदमें पडे हुये हैं, वे पदार्थ क्या राख कार्य करेंगे ? स्वयं आत्मलाभ रखते हुये पदार्थ ही कार्यकी उत्पत्तिको करा सकते हैं। दो वर्ष पूर्वमें मर चुका पति या दो वर्ष पीछे विवाहित होनेवाला पति पतिव्रता स्त्रीके अधुना संतानको उत्पन्न नहीं करा सकता है। किन्तु बौद्धोंने योगीज्ञानद्वारा त्रिकालवर्त्ती पदार्थोंका जानना अभीष्ट किया है।

अस्वसंवेद्यविज्ञानवादी पूर्वं निराकृतः ।
परोक्षज्ञानवादी चेत्यलं संकथयानया ॥ १५ ॥

जो नैयायिक, वैशेषिक आदि वादी विद्वान् ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना नहीं कहते हैं, उनका हमने पूर्व प्रकरणोंमें निराकरण कर दिया है। तथा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसक वादीके मन्तव्यका भी हम विशदरूपसे खण्डन कर चुके हैं। अतः ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होनेके सिद्धान्तमें व्यर्थ विघ्न डालनेवाले इस लम्बे चौडे विवाद कथन करनेसे पूरा पडो, अर्थात्—व्यर्थ झगडा नया खडा करनेसे नैयायिक, मीमांसकोंको कुछ हस्तगत नहीं हो सकता है।

ततः सूक्तमिदमुत्तरावधारणं परमतालंबनजन्यत्वव्यवच्छेदार्थं सूत्रे पूर्वं तु मत्यज्ञानादिनिवृत्त्यर्थं संज्ञिपंचेंद्रियजमेवेति तदेवेंद्रियानिंद्रियनिमित्तमुच्यते । संज्ञिपंचेंद्रियाणां मिथ्यादृशां मत्यज्ञानमपींद्रियानिंद्रियनिमित्तमस्ति तस्य कुतो व्यवच्छेदः सम्यगधिकारात् ।

तिस कारण श्री विद्यानन्द आचार्यने यह बहुत अच्छा कहा था कि " तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम् " इस सूत्रमें अनुवृत्त भी दोनों एवकार उद्देश्य विधेय दलोंमें उमास्वामी महाराजको अभिप्रेत हैं। तिनमें वह मतिज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रियोंसे ही उत्पन्न होता है। यह विधेय दलका उत्तर अवधारण तो अन्य मति बौद्धोंके मन्तव्यानुसार ज्ञानका आलम्बन विषयसे उत्पन्न होनेपनको व्यवच्छेद करनेके लिये दिया गया है। और वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे उत्पन्न होता है। यह पहिला अवधारण तो मतिअज्ञान, श्रुतज्ञान, आदिकी निवृत्ति करनेके लिये है। वह मतिज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके ही उत्पन्न होता है। इस कारण वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तोंसे बना हुआ कहा जाता है। अन्य एकेन्द्रियको आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवोंके उत्पन्न हुये मति अज्ञानमें तो बहिरंग इन्द्रियां ही निमित्त हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी तो मति अज्ञान उत्पन्न होनेमें इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्त बन जाते हैं, तो फिर उस मति अज्ञानका पहिले अवधारणसे व्यवच्छेद कैसे हुआ ? बताओ। इसपर हम जैन कहते हैं कि पूर्व सूत्रोंसे यहां सम्यक् शब्दका अधिकार चला आ रहा है। मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान समीचीन नहीं है। तथा मिथ्यादृष्टियोंके इन्द्रिय, अनिन्द्रिय, भी सम्यक् नहीं हैं।

तत एवासंज्ञिपंचेंद्रियांतानां मत्यज्ञानस्य व्यवच्छेदोस्तु तर्हि श्रुतव्यवच्छेदार्थं पूर्वावधारणं तस्यानिंद्रियमात्रनिमित्तत्वात् । तथा मिथ्यादृशां दर्शनमोहोपहतमनिंद्रियं सदप्यसत्कल्पमिति विवक्षायां तद्भेदनमिंद्रियजमेवेति मत्यज्ञानं सर्वं नोभयनिमित्तं ततस्तव्यवच्छेदार्थं च युक्तं पूर्वावधारणम् ।

इसपर यदि कोई यों कहे कि तिस ही कारण यानी सम्यक्का अधिकार चले आनेसे ही एकेन्द्रियको आदि लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंके मति अज्ञानका व्यवच्छेद हो जावेगा,

सम्यग्दर्शन नहीं होनेसे असंज्ञीपर्यंत जीवोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। फिर पहिला एवकार व्यर्थ क्यों लगाया जा रहा है ? तिसपर हमारा यह कहना है कि अच्छा, तब तो श्रुतज्ञानके व्यवच्छेदके लिये पहिला अवधारण रहो, क्योंकि वह श्रुतज्ञान केवल मनरूप निमित्तसे ही उत्पन्न होता है। अतः सूत्रवाक्यका भेद नहीं कर पहिला अवधारण करना समुचित है। तथा दूसरी बात यह है कि मिथ्यादृष्टि जीवोंका दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे नष्ट भ्रष्ट हो रहा मन विद्यमान भी हो रहा अविद्यमान सदृश है। इस प्रकार विवक्षा करनेपर तो वह मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान इन्द्रियजन्य ही हुआ इस कारण सभी संज्ञी असंज्ञी जीवोंके मति अज्ञानोंमेंसे कोई भी मति अज्ञान दोनों इन्द्रिय अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे उत्पन्न नहीं हुआ है। तिस कारण उस मति अज्ञानका व्यवच्छेद करनेके लिये पहिला अवधारण करना युक्तिपूर्ण है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रका लघुसूचन यों है कि मतिज्ञानके बहिरंग और अन्यवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे निमित्त कारणोंके दिखलानेके लिये यह सूत्र अवतीर्ण हुआ है। तत् शब्द करके अनर्थान्तर शब्दका परामर्श किया है। यहां ज्ञानके उत्पादक कारकोंका वर्णन है। ज्ञापक हेतुओंका निरूपण नहीं है। सूत्रका योगविभाग कर धारणापर्यन्त ज्ञान तो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय दोनोंसे उत्पन्न हो जाते निर्णीत हैं। तथा स्मृति आदिकोंमें केवल मन ही निमित्त पडता है। हां, परम्परासे इन्द्रियां भी स्मृति आदिकोंका निमित्त हो जाती हैं। ऐसी दशामें योगविभाग करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस सूत्रमें उद्देश्य, विधेय, दोनों ओरसे एवकार लगाना अभीष्ट है। वाक्यभेद करनेपर उत्तर अवधारणसे बौद्धोंके अर्थजन्यत्वका खण्डन हो जाता है। और एक ही वाक्य होनेपर पहिले अवधारणसे मति अज्ञान, श्रुतज्ञान आदिमें अतिव्याप्ति नहीं हो पाती है। अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं हैं। अनेक दोष आते हैं। आलोकके समान अर्थ भी ज्ञानका आलम्बन कारण नहीं है। ज्ञान और ज्ञेयका यद्यपि विषयिता सम्बन्ध है। यानी स्वनिष्ठ–विषयिता–निरूपित–विषयता सम्बन्धसे ज्ञान ज्ञेयमें ठहरता है। किन्तु यह सम्बन्धवृत्तिताका नियामक नहीं है। ऐसी दशामें कार्यकारणभावकी कथा तो दूर ही समझो, हां, ज्ञानपना और ज्ञेयपना परस्पर आश्रित है। किन्तु ज्ञान और ज्ञेयकी उत्पत्ति तो अपने अपने न्यारे कारणोंसे अपने नियत कालमें होती है। इसका अच्छा विचार चलाया है। अनेक ज्ञान समानकालके पदार्थोंको जानते हैं। और कोई ज्ञान आगे पीछेके अर्थोंको जानते हैं। ज्ञाप्य ज्ञापकके अतिरिक्त और कोई भी सम्बन्ध (ताल्लुक) ज्ञान, ज्ञेयोंमें नहीं है। अतः ज्ञानका कारण ही ज्ञान द्वारा जाना जायगा, यह बौद्ध मत दुर्घट हुआ। सम्पूर्ण ही ज्ञान स्वशरीरको स्वके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे सम्वेदन करते हैं। अतः पिछला अवधारण अन्य मतियोंके मन्तव्यका व्यवच्छेद करनेके लिये है। और पहिला अवधारण तो मति

अज्ञान, श्रुत, अवधि, आदिमें अतिव्याप्तिके निवारणार्थ है। अधिकारसे चले आरहे सम्यक् शब्द करके पूर्व अवधारणकी पुष्टि प्राप्त होती है। सभी मतिअज्ञान दोनों निमित्तोंसे जन्य नहीं है। अतः सूत्रके प्रमेयरूप धनकी रक्षाके लिये दोनों ओरसे अवधारणरूप ताले लगा दिये गये हैं। स्वांश-ग्रहण और परांशत्याग करते हुये प्रायः सभी वाक्य उक्त चाहे अनुक्त अवधारणोंसे रक्षित रहते हैं।

प्रकृष्टपुण्याप्तिनिदानभूता मनोहृषीकावधृतात्मलाभा।
विपर्ययानध्यवसायशंकीत्यज्ञान (त्रविरि) नाशाय मेऽस्तदिर्नः ॥ १ ॥

—×—

अब श्री उमास्वामी मतिज्ञानके भेदोंका निरूपण करनेके लिये गम्भीर सूत्रको कहते हैं।

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा ये चार मतिज्ञानके भेद हैं। अर्थात् पूर्वसूत्रके अनुसार इन्द्रिय और मनसे ये चारों मतिज्ञान होते हैं।

किमर्थमिदमुच्यते न तावत्तन्मतिभेदानां कथनार्थं मतिः स्मृत्यादिसूत्रेण कथनात्। नापि मतेरज्ञातभेदकथनार्थं प्रमाणांतरत्वप्रसंगादिति मन्यमानं प्रत्युच्यते।

कोई तर्की सूत्रके अवतार करनेमें आपत्ति उठाता है कि यह "अवग्रहेहावायधारणाः" सूत्र किस प्रयोजनके लिये कहा जा रहा है? यदि सबसे पहिले तुम जैन यों कहो कि उस मतिज्ञानके भेदोंको कहनेके लिये यह सूत्र है, सो तो नहीं कहना। क्योंकि मतिज्ञानके भेद तो "मतिःस्मृतिः-संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्रकरके कहे जा चुके हैं। तथा इस सूत्रका यह प्रयोजन भी नहीं है कि मतिज्ञानके अबतक नहीं जाने जा चुके भेदोंको कह दिया जाय। अर्थात्—मतिज्ञानके अज्ञातभेदोंका कथन करनेके लिये भी यह सूत्र नहीं आरम्भा गया है। क्योंकि यों तो इन अवग्रह आदिकोंको मतिज्ञानसे न्यारे अन्य प्रमाणपनका प्रसंग आता है। मतिके कह दिये जा चुके मति, स्मृति, आदिक प्रकारोंमें तो इन अज्ञात भेदोंका अन्तर्भाव हो नहीं सकता है। अतः प्रत्यक्ष, परोक्षसे या मति, श्रुत, आदिसे अतिरिक्त ये अवग्रह आदिक चार ज्ञान न्यारे प्रमाण बन बैठेंगे। इस प्रकार अपने मनमें मान रहे आपादक प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराजद्वारा समाधान कहा जाता है।

मतिज्ञानस्य निर्णीतप्रकारस्यैकशो विदे।
भिदामवग्रहेत्यादिसूत्रमाहाविपर्ययम् ॥ १ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्णीत कर दिये गये हैं, मति स्मृति आदिक प्रकार जिसके, ऐसे मतिज्ञानके एक एक भेदोंको समझानेके लिये उमास्वामी महाराज श्रोताओंकी विपरीतबुद्धिका अभाव करते हुये " अवग्रहेहावायधारणाः " इस सूत्रको निर्भ्रान्त कहते हैं।

मतिज्ञानस्य निर्णीताः प्रकारा मतिस्मृत्यादयस्तेषां प्रत्येकं भेदानां विन्यैव सूत्रमिदमारभ्यते। यथैव हींद्रियमनोमतेः स्मृत्यादिभ्यः पूर्वमवग्रहादयो भेदास्तथानिंद्रियनिमित्ताया अपीति प्रसिद्धं सिद्धांते।

मतिज्ञानके मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, स्वार्थानुमान, प्रतिभा, अर्थापत्ति आदि प्रकारोंका प्रपूर्वसूत्रमें निर्णय किया जा चुका है। उन प्रकारोंके प्रत्येकके भेदोंकी सम्वित्ति करानेके लिये ही यह सूत्र आरम्भा जाता है। अथवा एक मतिः स्मृति आदि सूत्रका यह परिवार बनाया जाता है। जिस ही प्रकार इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुई मतिके स्मृति आदिक प्रकारोंसे पहिले अवग्रह, ईहा, अवाय, आदिक भेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार केवल मनरूप निमित्तसे ही उत्पन्न हुई मतिके भी पूर्वमें अवग्रह आदिक भेद बन रहे हैं। इस प्रकार जैनसिद्धान्तके उच्च कोटिके धवल, सिद्धान्त, आदि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात्—जिस प्रकार अनुमानके पहिले व्याप्तिज्ञान, व्याप्तिज्ञानके पहिले प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानके पहिले स्मृतिज्ञान होता है, स्मृतिके पहिले धारणा, धारणाके पहिले अवाय, अवायके पहिले ईहा, ईहाके पूर्वमें अवग्रह, ये सम्यग्ज्ञान होते हैं। यद्यपि अवग्रहके पहिले कदाचित् निर्विकल्पक ज्ञान और सर्वत्र आलोचनात्मक दर्शन होता है। फिर भी सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेसे उनको गिनाया नहीं है। उसी प्रकार सुख, वेदना, इच्छा, क्रोध पश्चात्ताप सम्यग्दर्शन आदिके मनइन्द्रियजन्य मतिज्ञानके भी पहिले इन सुख आदि प्रमेयोंके अवग्रह आदिक ज्ञान हो जाते हैं। अत्यन्त शीघ्र उत्पन्न हो जानेसे भले ही उन अवग्रह आदिकोंका अन्तराल दीखता हुआ सम्वेदन न होय, फिर भी कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं होते हुये उन अवग्रह आदिकोंकी क्रमसे उत्पत्ति होना अभीष्ट किया गया है। कारणस्वरूप पूर्वपर्यायके हुये विना उत्तरसमयमें कार्यपर्याय नहीं बन सकती है। जैसे कि पुष्पका उदय होनेके पश्चात् ही फल लगता है।

किंलक्षणाः पुनरवग्रहादय इत्याह।

फिर उन अवग्रह, ईहा, आदिकोंका निर्दोष लक्षण क्या हो सकता है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्रीउमास्वामी महाराजके अभिप्राय अनुसार श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात्।
जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः॥ २॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, ये छह इन्द्रियां तथा जानने योग्य पुद्गलपर्याय आत्मीय पर्याय, रूप, रूपवान्, सुख, दुःख, जीव, आदिक अर्थोंकी योग यानी दूर, नातिदूर, अव्यवहित, संयुक्त, बद्ध, आदि स्वरूपकरके यथायोग्य देशमें अवस्थिति हो जानेपर उससे वस्तुकी सामान्य-महासत्ताका आलोचन करना स्वरूप दर्शन उपयोग उत्पन्न होता है। पीछे अवान्तर सत्तावाली वस्तुके विशेषभेदको ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अवग्रह नामका मतिज्ञान है। सम्पूर्ण वस्तुओंमें न्यारी न्यारी होकर रहनेवाली और उपचारसे एकत्रित कर ली गयी महासत्ताका निर्विकल्पक दर्शन उपयोग द्वारा आलोचन हो जाता है। तदनन्तर स्वकीय अवान्तरसत्तावाली विशेषवस्तुका सविकल्पकज्ञान अवग्रह कहा जाता है। जैसे कि "यह मनुष्य है"॥

तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्षणम्।
निश्चयाभिमुखं सेहा संशीतेर्भिन्नलक्षणा॥ ३॥

उस अवग्रहसे ग्रहण किये जा चुके विशेष जातिवाले सामान्यअर्थमें जो विशेष अंशोंके निश्चय करनेके लिये अभिमुख हो रहा आकांक्षारूप ज्ञान है, उसको ईहा कहते हैं। वह ईहा ज्ञान संशय आत्मकज्ञानसे भिन्नलक्षणवाला है। संशयमें तो विरुद्ध दो तीन आदि कोटियोंका स्पर्श होता रहता है। किन्तु ईहाज्ञानमें एक कोटिका ही निश्चय करनेके लिये उन्मुखता पायी जाती है। जगत्के प्रायः सभी होनेवाले कार्य पहिले अपने कारणोंद्वारा उन्मुख धर लिये जाते हैं, तब कहीं पश्चात् बनाये जाते हैं। मारणान्तिक समुद्घात करनेवाला जीव मरनेके अन्तर्मुहूर्त्त पहिले उस स्थानका स्पर्शकर पीछे वहां जाकर जन्म लेता है। अतः अवायज्ञानके पूर्वमें वस्तु स्वभावके अनुसार भवितव्यतारूप आकांक्षाज्ञान ईहा उत्पन्न हो जाती है। जैसे कि "यह मनुष्य दक्षिणदेशवासी होना चाहिये"।

तस्यैव निर्णयोऽवायः स्मृतिहेतुः सा धारणा।
इति पूर्वोदितं सर्वं मतिज्ञानं चतुर्विधम्॥ ४॥

आकांक्षाज्ञान द्वारा जाने गये उस ही अर्थका दृढ निर्णय कर लेना अवायज्ञान है। यदि वही निर्णय पीछे कालान्तरतक स्मरण बनाये रखनेका हेतु होता हुआ दृढतर संस्काररूप बन जाय तो वह धारणामतिज्ञान समझा जाता है। इस सम्पूर्ण विषयको हम पहिले कह चुके हैं। इस प्रकार मतिज्ञान चार प्रकारके सिद्ध कर दिये गये हैं।

समानाधिकरण्यं तु तदेवावग्रहादयः।
तदिति प्राक्सूत्रतच्छब्दसंबंधादिह युज्यते॥ ५॥

यहां अधिकार प्राप्त हो रहे मतिज्ञानका सूत्रोक्त अवग्रह आदिकके साथ समान अधिकरणपना तो यों कर लेना कि वह मतिज्ञान ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणास्वरूप है। पहिलेके " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " इस सूत्रके तत् शब्दका सम्बन्ध हो जानेसे यहां भी तत् यानी वह मतिज्ञान अवग्रह आदि भेदस्वरूप है। इस प्रकार उद्देश्य विधेय दल बनाकर अवग्रह आदिकके साथ सामानाधिकरण्य बना लेना युक्तिपूर्ण साध लिया जाता है। उद्देश्यदलमें एवकार लगाना उचित है।

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तमित्यत्र पूर्वसूत्रे यत्तद्ग्रहणं तस्येह संबंधात्सामानाधिकरण्यं युक्तं तदेवावग्रहादय इति। भावतद्वतोर्भेदात्तस्यावग्रहादयोभिहितलक्षणा इति वैयधिकरण्यमेवेति नाशंकनीयं तयोः कथंचिदभेदात्सामानाधिकरण्यघटनात्। भेदैकांते तदनुपपत्तेः सह्यविंध्यवदित्युक्तप्रायम्।

" तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " ऐसे इस पहिलेके सूत्रमें तत् शब्दका जो कण्ठोक्त उपादान किया है, उस तत्शब्दका इस " अवग्रहेहावायधारणाः " सूत्रमें अनुवृत्ति कर सम्बन्ध कर देनेसे वह मतिज्ञान ही अवग्रह आदि स्वरूप है। इस प्रकार समान अधिकरणपना बना लेना युक्त हो जाता है। यदि यहां कोई यों शंका करे कि भाव यानी परिणाम और उस भावसे सहित यानी परिणामी पदार्थोंका भेद हो जानेके कारण उस मतिज्ञानरूप परिणामीके अवग्रह आदिक परिणाम हैं, जिनके कि लक्षण कहे जा चुके हैं। इस प्रकार प्रकरण अनुसार अर्थके वशसे तत्शब्दकी प्रथमा विभक्तिका षष्ठीविभक्तिरूप विपरिणाम कर षष्ठ्यन्त मतिज्ञानका प्रथमान्त अवग्रह आदिके साथ व्यधिकरणपना ही सुबोध कारक दीखता है। गेहूं चून है, इस समानाधिकरणकी अपेक्षा गेहूं का चून है, यह व्यधिकरण समुचित प्रतीत होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उन परिणामी और परिणाम हो रहे मतिज्ञान और अवग्रह आदिकका कथंचित् अभेद हो जानेसे समान अधिकरणपना घटित हो जाता है। सर्वथा भेदका एकान्त माननेपर तो भाव और भाववान्में वह समान अधिकरणपना नहीं बन पाता है। जैसे कि सर्वथा भिन्न हो रहे सह्य पर्वत और विंध्यपर्वतका सह्य ही विंध्य है, अथवा विंध्य ही सह्य है, यह सामानाधिकरण्य नहीं बनता है। इस बातको हम पहिले कई वार कह चुके हैं। लोकमें भी देवदत्त स्वामीके गेहूं है, इस प्रकार भेदमें वैयधिकरण्य करना ठीक पडता है। किन्तु कथंचित् अभेद हो जानेपर गेहूं पिसकर चून बन गया है, यह समानाधिकरणपना सत्य जचता है। गहरा विचार करो।

तत्र यद्वस्तुमात्रस्य ग्रहणं पारमार्थिकम्।
द्विधा त्रेधा क्वचिज्ज्ञानं तदित्येकं न चापरम्॥ ६॥

तन्न साध्वक्षजस्यार्थभेदज्ञानस्य तत्त्वतः ।
स्पष्टस्यानुभवाद्बाधा विनिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥ ७ ॥

तिस प्रकरणमें ब्रह्माद्वैतवादीका कहना है कि जो शुद्ध सत्तामात्र वस्तुको ग्रहण करता है, वह ज्ञान ही पारमार्थिक है । अवान्तर भेदवाली सत्ताको जाननेवाला भेदज्ञान तो यथार्थ नहीं है । कहीं भी इन्द्रिय, अनिन्द्रियसे उत्पन्न हुआ दो प्रकारका ज्ञान या भेद, अभेद, भेदाभेदके अनुसार सामानाधिकरणपना व्यधिकरणपना बनाकर तीन प्रकारके कल्पित किये गये ज्ञान वे सब एक ही हैं, न्यारे न्यारे नहीं हैं । चिदाकार, शुद्ध, चिन्मात्रकी विधिको निरूपनेवाला एक ही ज्ञान वास्तविक है । क्योंकि सर्वत्र प्रतिभासमात्र प्रकाश रहा है । प्रत्यक्ष परोक्ष, अथवा अत्यन्तपरोक्ष, मिलाकर ये दो तीन ज्ञान नहीं हो सकते हैं । देशप्रत्यक्ष सकलप्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करना भी ठीक नहीं पडता है । अब आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म अद्वैतवादियोंका कहना तो अच्छा नहीं है । क्योंकि अर्थोंके इन्द्रियोंसे उत्पन्न हो रहे भेदज्ञानकी यथार्थरूपसे प्रतीति हो रही है । प्रत्युत केवल अभेदको ही ग्रहण करनेवाले चिन्मात्रका अनुभव नहीं हो रहा है । किन्तु विशेष वस्तुओंको ग्रहण करनेवाले और बाधाओंसे विशेषतया सब ओरसे रहित हो रहे विशदस्वरूप भेद ज्ञानका सदा अनुभव हो रहा है ।

प्रतिभासमात्रस्य परमब्रह्मणोपि हि सत्यत्वं सर्वदा बाधविनिर्मुक्तत्वमिष्टमन्यथा तदव्यवस्थानात् तच्चार्थभेदज्ञानस्यापि स्पष्टस्यानुभूयते प्रतिनियतकालसंवेदनेन । कथमस्मदादेस्तत्र सर्वदा बाधरहितत्वं सिध्येदिति चेत् प्रतिभासमात्रे कथं । सकृदपि बाधानुपलंभनात्सर्वदा बाधासंभवनानुपपत्तेरिति चेत् भेदप्रतिभासेपि तत एव ।

ब्रह्माद्वैतवादियोंके यहां माने गये केवल प्रतिभासरूप परमब्रह्मका भी तो सत्यपना सदा बाधाओंसे विरहितपना ही उन अद्वैतवादियोंको इष्ट करना पडेगा । अन्यथा यानी निर्बाधस्वरूप सत्य हुये विना उस प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्मकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी । किन्तु वह सत्यपनका प्राण बाधारहितपना तो पदार्थोंके स्पष्ट हो रहे भेदज्ञानके भी अनुभूत हो रहे हैं । प्रत्येक ज्ञानके लिये नियत हो रहे कालमें उत्पन्न हुये विशेषज्ञानों करके घट पट आदिकोंके विशेषज्ञानोंका स्पष्ट अनुभव हो रहा है । इन सत्यज्ञानोंमें कभी बाधा नहीं आती है । यहां अद्वैतवादी पूछता है कि उन भेदज्ञानोंमें सदा बाधारहितपना है, यह हम लोगोंके द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? इन भेदज्ञानोंमें कभी बाधायें न हुयीं, न हैं, और न होंगी, इस बातको अल्पज्ञ जीव जान नहीं सकता है । इस प्रकार अद्वैतवादियोंके पूछनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि तुम्हारे शुद्ध प्रतिभासमात्र या उसके ज्ञानमें सदा बाधारहितपना कैसे तुम अल्पज्ञों (एकज्ञों) के द्वारा जाना जा सकेगा ? बताओ । यदि इसका उत्तर अद्वैतवादी यों कहें कि शुद्ध चिन्मात्रमें एकबार

भी हो रही बाधा नहीं दीखती है। इस कारण सदा ही बाधाओंकी संभावना नहीं बन रही है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी उत्तर देते हैं कि तिस ही कारण यानी एक बार भी बाधाओंकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः बाधाओंके असम्भवकी सिद्धि भेदप्रतिभासोंमें भी समझ लेना। इस विषयमें हमारा, तुम्हारा, प्रश्नोत्तर उठाना, देना, एकसा पडेगा।

चंद्रद्वयादिवेदने भेदप्रतिभासस्य बाधोपलंभादन्यत्रापि बाधसंभवनान्न भेदप्रतिभासे सदा बाधवैधुर्यं सिध्यतीति चेत्तर्हि वकुलतिलकादिवेदने दूरादभेदप्रतिभासस्य बाधसहितस्योपलंभनादभेदप्रतिभासेपि सदा बाधशून्यत्वं मासिधत्। तत्रापि प्रतिभासमात्रस्य बाधानुपलंभ इति चेत् चंद्रद्वयादिवेदनेपि विशेषमात्रप्रतिभासे, बाधानुपलंभ एवेत्युपालंभसमाधानानां समानत्वादलमतिनिर्बंधनेन।

ब्रह्मअद्वैतवादी कहते हैं कि एक चन्द्रमामें विशेषरूपसे दो चन्द्रमाका ज्ञान हो जाता है। या पैलदार हिलव्वी कांचसे देखनेपर एक घटके अनेक घट दीखते हैं। इत्यादि झूठे ज्ञानोंमें भेदके प्रतिभासोंकी बाधाऐं उपस्थित हो रहीं देखी जाती हैं। अतः अन्य घट, पट, आदिके भेदप्रतिभासोंमें भी बाधाओंकी सम्भावना है। एक चावलको देख कर कसेंडीके पके, अधपके, सभी चावलोंका अनुमान लगा लिया जाता है। अतः जैनोंके भेदप्रतिभासमें सदा बाधारहितपना नहीं सिद्ध होता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि मौलश्री, तिलक, आम्र, चम्पा, अशोक आदि वृक्षोंके ज्ञानमें दूरसे हुये अभेदप्रतिभासके बाधासहितपनकी उपलब्धि हो रही है। अतः तुम्हारे प्रतिभासमात्ररूप अभेद प्रतिभासमें (के) भी सर्वदा बाधारहितपना नहीं सिद्ध होगा। भला विचारनेकी बात है कि झूठे विशेषज्ञानोंका अपराध सच्चे विशेष ज्ञानोंपर क्यों लादा जाता है? अद्वैतवादियोंके यहां गधे घोडे, सज्जन दुर्जन, मूर्ख पण्डित, चोर साहूकार, सब एक कर दिये गये हैं। ऐसी दशामें अन्योंसे न्यारे अपने अद्वैत मतकी वे सिद्धि नहीं कर सकेंगे। यदि वेदान्ती यों कहें कि दूरसे बगीचेमें वकुल, तिलक आदि अनेक वृक्ष समुदित होकर एक दीख रहे हैं। किन्तु निकट जानेपर भिन्न भिन्न होकर विशद दीख जाते हैं। फिर भी वहां सामान्य प्रतिभास होनेकी कोई बाधा नहीं दीख रही है। चाहे भिन्न दीखें या अभिन्न दीखें सामान्यप्रतिभास होनेमें तो कोई बाधा नहीं है। ऐसा स्थूलबुद्धिका उत्तर देनेपर तो हम भी कह देंगे कि दो चन्द्रमा आदिके ज्ञानोंमें भी केवल विशेष अंश यानी विशेष्यदलके प्रतिभासनेमें तो कोई बाधा नहीं दीखती ही है। केवल विशेषणभूत संख्याका अतिक्रमण हो गया है। इस प्रकार हमारे तुम्हारे दोनोंके यहां उलाहने और समाधान समान हैं। इस विषयमें आपको अधिक आग्रह करनेसे कुछ हाथ नहीं लगेगा। अतः भेदप्रतिभास या अभेद प्रतिभासके प्रकरणको अधिक बढाना नहीं चाहिये। बात यह है कि सभी ज्ञान भेदात्मक अभेदात्मक वस्तुओंके हुये भले प्रकार स्पष्ट अनुभूत हो रहे हैं। एककी काणी आंख हो जानेसे जगत्भरको काणा मत कह दो।

ननु च विषयस्य सत्यत्वे संवेदनस्य सत्यत्वमिति न्याये प्रतिभासमात्रमेव परमब्रह्म सत्यं तद्विषयस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वान्न भेदज्ञानं तद्गोचरस्यासत्यत्वादिति मतमनूद्य दूषयन्नाह।

यहां अद्वैतवादियोंकी शंका है कि विषयके सत्य होनेपर उसको जाननेवाले ज्ञानकी सत्यता मानी जाती है। इस प्रकार न्याय हो जानेपर प्रतिभास मात्र ही परमब्रह्म जब सत्य है, तो उसको विषय करनेवाला केवल शुद्ध सत्का अभेदज्ञान ही सत्य होगा। भेदज्ञान तो सत्य नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका विषय हो रहा भेदपदार्थ असत्य है, अपरमार्थ है। इस प्रकारके अद्वैत मतका अनुवाद कर उसको दूषित कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं।

ननु सन्मात्रकं वस्तु व्यभिचारविमुक्तितः।
न भेदो व्यभिचारित्वात्तत्र ज्ञानं न तात्त्विकम् ॥ ८ ॥
इत्ययुक्तं सदाशेषविशेषविधुरात्मनः।
सत्त्वस्यानुभवाभावाद्भेदमात्रकवस्तुवत् ॥ ९ ॥
दृष्टेरभेदभेदात्मवस्तुन्यव्यभिचारतः।
पारमार्थिकता युक्ता नान्यथा तदसंभवात् ॥ १० ॥

यहां अद्वैतवादी अपने मन्तव्यकी स्थापनाके लिये पुनः आमंत्रण करते हैं कि चित्, आनन्दस्वरूप, केवल शुद्ध सत् ही परमार्थ वस्तु है। क्योंकि उस केवल सत्में कहीं भी व्यभिचार नहीं देखा जाता है। सीपमें चांदीको जाननेपर भी सत्पनेका ज्ञान तो निर्दोष है। चांदी हो या सीप होय, कुछ है तो सही। द्विचन्द्रज्ञानका विषय सन्मात्र तो निर्दोष है। दीन, निर्धन, चिर–असाध्य रोगी, वन्ध्या, विधवा, इन जीवोंके पास भले ही आत्मगौरव, धन, स्वास्थ्य, पुत्र, पति, नहीं हैं। किन्तु इनकी अक्षुण्ण सत्ता तो जगत् में है ही। अतः सर्वत्र, सर्वदा, सर्वसुलभ, सत्मात्र ही वास्तविक है। विशेषरूपसे देखे जारहे भेद तो यथार्थ नहीं हैं। क्योंकि भेदका ज्ञान होना व्यभिचारदोषसे युक्त है। प्रायःकरके सभी भेदप्रतिभासोंमें दोष देखे जाते हैं। रूप, रस, स्पर्शके आपेक्षिक ज्ञान ठीक ठीक नहीं उतरते हैं। वृक्षका एक ही प्रकारका रूप दूर, दूरतर, समीप, समीपतरसे देखनेपर कई प्रकारका दीखता है। शुक्ल वस्त्र पहिननेसे मनुष्य कुछ लम्बासा दीख पडता है। किन्तु काले वस्त्र पहिननेसे वही मनुष्य कुछ नाटा दीखने लग जाता है। तीव्र रसवाले पदार्थका भक्षण करनेपर मन्द रसवाला पदार्थ सर्वथा नीरस जाना जाता है। अस्वच्छ नगरमें रहनेवाले संपन्न पुरुषोंकी भी नासिका इन्द्रियें थोडीसी दुर्गन्धका तो प्रतिभास नहीं कर पाती हैं। जब कि स्वच्छग्रामका रहनेवाला किसान नाक भौंह सिकोडकर वहांसे भगनेको उद्यत हो जाता है। निग्रहशक्तिशाली प्रतिष्ठित पुरुषके सन्मुख सामान्य प्रसिद्ध बातको कोई भी कह देता है। किन्तु

विशेषबातोंको कहनेके लिये असत्य हो जानेकी शंका बनी रहती है। अतः उस विशेषमें ज्ञान होना पारमार्थिक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित हो रहे सत्त्वस्वरूपका सर्वदा अनुभव नहीं होता है। जैसे कि सामान्यसे सर्वथा रहित हो रहे केवल विशेषस्वरूप वस्तुकी कभी भी प्रतीति नहीं होती है। किन्तु अभेद और भेदस्वरूप वस्तुमें व्यभिचारसे रहित हो रही प्रतीतिको ही पारमार्थिकपना युक्त है। दूसरे प्रकारोंसे यानी बौद्धोंके केवल विशेष अंशको जाननेवाले निर्विकल्पक दर्शनको और अद्वैत वादियोंके शुद्ध सामान्यसत्ताको प्रकाशनेवाले दर्शनको तात्त्विकपना नहीं है। क्योंकि सामान्यके विना केवल उस विशेषका और विशेषके विना केवल उस सामान्यका ठहरना असम्भव है " निर्विशेषं हि समान्यं भवेत् खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि "।

न हि सकलविशेषविकलं सन्मात्रमुपलभामहे निःसामान्यविशेषवत् सत्सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो दर्शनात्। न च तद्व्यभिचारोस्ति केनचित्सद्विशेषेण रहितस्य सन्मात्रस्योपलंभेपि सद्विशेषांतररहितस्यानुपलंभनात्। ततस्तस्यैव सत्सामान्यविशेषात्मनोर्थस्याव्यभिचारित्वलक्षणं पारमार्थिकत्वं युक्तमिति तद्विधातृप्रत्यक्षं सिद्धम्।

सम्पूर्ण विशेषोंसे सर्वथा रहित हो रहे शुद्ध सन्मात्रको हम कभी भी नहीं देख रहे हैं। जैसे कि सामान्यसे सर्वथा रीते विशेष कभी देखा नहीं जाता है। किन्तु सबको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-वाले सामान्य विशेषात्मक सत् वस्तुका दर्शन होता है। उस सामान्य विशेष-आत्मक वस्तुमें कोई व्यभिचार नहीं देखा जाता है। किसी एक विशेषसत्से रहित हो रहे केवल सत्का उपलम्भ होनेपर भी सत्के अन्य विशेषोंसे रहित हो रहे सत्मात्रका तो किसीको आजतक उपलम्भ नहीं हुआ है। द्विचन्द्र ज्ञानमें एकत्व नामके विशेषका उपलम्भ नहीं है। फिर भी द्वित्व नामका विशेष प्रविष्ट हो रहा है। भले ही वह झूंठा पड जाय तथा द्विचन्द्र ज्ञानमें चन्द्रपना, प्रकाशकपना, गगनतलमें स्थितपना, गोलपना, आदि विशेष धर्म तो दीख ही रहे हैं। दर्शनावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले दर्शन उपयोगके समान कोई अद्वैतवादीका निर्विकल्पक दर्शन यदि वस्तुविशेषोंको नहीं देख सके तो इसमें वस्तुका दोष नहीं है। उन दर्शनोंकी त्रुटिको वस्तुका स्वरूप नहीं सम्भाल सकता है। चिमगादरको यदि दिनमें नहीं दीखे तो यह दोष सूर्यके ऊपर मढना ठीक नहीं है। इसी प्रकार किसीको यदि सामान्य नहीं दीखे तो इससे वस्तु सामान्यरहित नहीं कही जा सकती है। तलवारका आघात स्वयं अपने ऊपर करनेवाला पुरुष तलवारपर दोष नहीं लगा सकता है। प्रयोक्ताका दोष प्रयोज्यपर लगाना अन्याय है या बालकपन है। तिस कारण उस सामान्य-विशेष-आत्मक सत् पदार्थको ही अव्यभिचारीपनका लक्षण पारमार्थिक कहना युक्तिपूर्ण है। अतः उस सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका विधान करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है। अर्थात्—'आहुर्विधातृ-प्रत्यक्षं न निषेद्दृ विपश्चितः' विद्वान् लोक प्रत्यक्षको विधान करनेवाला ही कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण

निषेध करनेवाला नहीं है। इस कारिकासे अद्वैतवादियोंने प्रत्यक्ष द्वारा एकत्वकी विधि की है। किन्तु सच पूछो तो सब जीवोंके प्राचीन आर्वाचीन सभी प्रत्यक्ष सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका विधान कर रहे हैं। सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका निषेध नहीं करते हैं। हां, विशेषकी ओर लक्ष्य जानेपर अन्यके निषेधोंको भी साध देते हैं। प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था मानलेनी चाहिये। अन्यथा घपला मच जायगा।

जात्यादिकल्पनोन्मुक्तं वस्तुमात्रं स्वलक्षणम्।
तज्ज्ञानमक्षजं नान्यदित्यप्येतेन दूषितम्॥ ११॥

इस उक्त कथनसे बौद्धोंका यह मन्तव्य भी दूषित कर दिया गया समझ लेना चाहिये कि जाति, नामयोजना, संसर्ग, द्रव्यपन, स्थूलता, साधारणता, स्थिरता, प्रत्यभिज्ञानविषयता, दूरत्व, परत्व, ममतवभाव, आदि कल्पनाओंसे सर्वथा रहित हो रहा क्षणिक स्वलक्षणमात्र ही वस्तुभूत है, ऐसे निर्विकल्पक स्वलक्षणका ज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य हुआ यथार्थ है। अन्य कोई ज्ञेय या ज्ञान समीचीन नहीं है। इस प्रकारके बौद्धसिद्धान्तमें प्रमाणोंसे विरोध होनेके कारण अनेक दूषण आते हैं। उनको हम पहिले कह चुके हैं।

किं पुनरेवं स्याद्वादिनो दर्शनमवग्रहपूर्वकालभावि भवेदित्यत्रोच्यते।

यहां अब दूसरे प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि स्याद्वादियोंके यहां माना गया सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन उपयोग क्या फिर इस प्रकार सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको जाननेवाले अवग्रह ज्ञानसे पूर्वकालमें होनेवाला होगा? या कैसा होगा? इस प्रकार सच्छिष्यकी आकांक्षा होनेपर यहां आचार्य महाराज द्वारा सप्रमोद उत्तर कहा जाता है।

किंचिदित्यवभास्यत्र वस्तुमात्रमपोद्धृतं।
तद्ग्राहि दर्शनं ज्ञेयमवग्रहनिबंधनम्॥ १२॥

"कुछ है" इस प्रकार प्रतिभास करनेवाला और पृथक्कृत (नहीं) हुई उस सामान्य वस्तुको ग्रहण करनेवाला दर्शन उपयोग जानना चाहिये। आंखोंको मीचकर पुनः खोलनेपर सन्मुख स्थित पदार्थके विशेषोंको नहीं ग्रहण कर केवल उसकी महासत्ताका आलोचन करनेवाला दर्शन है। पीछे झटिति विशेषोंको जाननेवाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस सामान्यग्राही दर्शनके पीछे हुये ज्ञानका कालव्यवधान सब जीवोंको नहीं प्रतीत होता है। फिर भी जिनकी विशुद्ध प्रतिभा है, उनको दर्शन और ज्ञानका अन्तरकाल प्रतीत हो जाता है। यद्यपि "कुछ कुछ है" सत् सामान्य है, ये भी एक प्रकारके अनध्यवसायरूप ज्ञान हैं। किन्तु शिष्योंको दर्शन उपयोगकी

विशेष प्रतिपत्ति करानेके लिये कुछ शब्दों द्वारा उल्लेख करना ही पडता है। चुप रहनेसे कार्य नहीं चलता है। वह आलोचन करनेवाला दर्शन उपयोग अवग्रह मतिज्ञानका कारण है।

अनेकांतात्मके भावे प्रसिद्धेपि हि भावतः।
पुंसः स्वयोग्यतापेक्षं ग्रहणं क्वचिदंशतः॥ १३॥

यद्यपि सम्पूर्ण पदार्थ भावदृष्टिसे सामान्य विशेष आधार आधेय, जन्य जनक, सत्ता अवान्तर सत्ता, धर्म धर्मी, विकल्प्य अविकल्प्य, नित्य अनित्य, एक अनेक, तत् अतत्, आदि अनेक धर्म स्वरूप प्रसिद्ध हो रहे हैं। फिर भी आत्माके अपनी ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमरूप योग्यताकी अपेक्षा रखता हुआ किसी किसी धर्ममें अंशरूपसे ग्रहण होना बन जाता है।

तेनार्थमात्रनिर्भासाद्दर्शनाद्भिन्नमिष्यते।
ज्ञानमर्थविशेषात्माभासि चित्त्वेन तत्समम्॥ १४॥

तिस कारण सत्तामात्र सामान्य अर्थको प्रकाशनेवाले दर्शनसे यह विशेषस्वरूप अर्थोंको ग्रहण करनेवाला अवग्रह ज्ञान भिन्न माना गया है। भले ही चैतन्यपन करके वे दर्शन और अवग्रह समान हैं। बात यह है कि सत्ताका आलोचन करनेवाला दर्शन न्यारा है। बौद्धोंके निर्विकल्पक समान कुछको जाननेवाला अनध्यवसाय न्यारा है। और सामान्य विशेष वस्तुको जाननेवाला अवग्रह प्रमाण भिन्न है। पहिला दर्शन तो प्रमाण अप्रमाण कुछ भी नहीं है। दूसरा अनध्यवसाय अप्रमाण है। तीसरा अवग्रह प्रमाण है।

कृतो भेदो नयात्सत्तामात्रज्ञात्संग्रहात्परम्।
नरमात्राच्च नेत्रादिदर्शनं वक्ष्यतेग्रतः॥ १५॥

त्रिलोक, त्रिकालकी वस्तुओंके सत्त्वमात्रको समस्त ग्रहण कर जाननेवाले संग्रह नयसे यह आलोचन आत्मक दर्शन उपयोग निराला है। अतः संग्रहनयसे दर्शनका भेद कर दिया गया है। क्योंकि संग्रहनय द्वारा स्वजातिके अविरोध करके भेदोंका समस्त ग्रहण होता है। और अद्वैतवादियोंके ब्रह्मदर्शन समान केवल आत्माका मन इन्द्रिय द्वारा अचक्षु दर्शन हो जाना ही सम्पूर्ण दर्शन उपयोग नहीं है। क्योंकि अग्रिम ग्रन्थमें आत्मज्ञानके पूर्वभावी आत्मदर्शनके अतिरिक्त, चक्षु, अवधि, केवल, दर्शनोंको भी दर्शन उपयोगमें परिगणित कर कह देवेंगे।

न हि सन्मात्रग्राही संग्रहो नयो दर्शनं स्यादित्यतिव्याप्तिः शंकनीया तस्य श्रुतभेदत्वादस्पष्टावभासितया नयत्वोपपत्तेः श्रुतभेदा नया इति वचनात्। नाप्यात्ममात्रग्रहणं दर्शनं चक्षुरवधिकेवलदर्शनानामभावप्रसंगात्। चक्षुराद्यपेक्षस्यात्मनस्तदावरणक्षयोपशम-

विशिष्टस्य चक्षुर्दर्शनादिविभागभाक्के तु नात्ममात्रग्रहणे दर्शनव्यपदेशः श्रेयानित्यग्रे सपंचतो विचारयिष्यते ।

सम्पूर्ण वस्तुओंकी संग्रहीत केवल सत्ताको ग्रहण करनेवाला परसंग्रहनय यों तो दर्शन उपयोग हो जावेगा । इस प्रकार दर्शनके लक्षणकी अतिव्याप्ति दोष हो जानेकी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वह संग्रहनय तो श्रुतज्ञानका भेद है । अविशद प्रतिभासनेवाला ज्ञान होनेसे उस संग्रहको नयपना बन रहा है । श्रुतज्ञानके भेद नयज्ञान होते हैं । ऐसा ग्रन्थोंमे कहा गया है । तथा केवल आत्माका ही ग्रहण करना भी दर्शन उपयोग नहीं है । क्योंकि यों तो अचक्षुर्दर्शनके सिवाय चक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शनोंके अभावका प्रसंग हो जावेगा । यदि चक्षु या स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र, मन, रूप अचक्षु आदिकी अपेक्षा रखनेवाले और चक्षुः आवरण कर्मके क्षयोपशम आदिसे विशिष्ट हो रहे आत्माको ही चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शनरूप विशेषोंको धारण करलेनेवालापन माना जायगा, तब तो केवल आत्माके ग्रहण करनेमें ही दर्शन उपयोगका व्यवहार करना श्रेष्ठ नहीं है । इस बातको आगेके ग्रन्थमें विस्तारसे विचरवा देंगे । " दृष्टव्योयमात्मा " केवल इतनेसे ही उपयोग पर्याप्त नहीं हो जाते हैं ।

नन्ववग्रहविज्ञानं दर्शनाज्जायते यदि ।
तस्येंद्रियमनोजत्वं तदा किं न विरुध्यते ॥ १६ ॥
पारंपर्येण तज्जत्वात्तस्येहादिविदामिव ।
को विरोधः क्रमाद्वाक्षमनोजन्यत्वनिश्चयात् ॥ १७ ॥
इंद्रियानिंद्रियाभ्यां हि यत्स्वालोचनमात्मनः ।
स्वयं प्रतीयते यद्वत्तथैवावग्रहादयः ॥ १८ ॥

यहां शंका होती है कि अवग्रहरूप मतिज्ञान यदि दर्शनसे उत्पन्न होता है, तब तो उस मतिज्ञानका पूर्व सूत्र अनुसार इन्द्रिय और मनसे जन्यपना क्यों नहीं विरुद्ध पडेगा ? इसपर आचार्य उत्तर कहते हैं कि ईहा, अवाय, आदि ज्ञानोंके समान वह अवग्रह भी परम्परा करके इन्द्रिय और मनसे जन्य है । अथवा क्रमसे अक्ष और मन द्वारा जन्यपनेका निश्चय हो जानेके कारण कौन विरोध आता है ? अर्थात्—साक्षात् रूपसे अवग्रह दर्शन करके जन्य है । और परम्परा करके इन्द्रियमनोंसे जन्य है । यह क्रम चालू है, कारण कि जिस प्रकार अनिन्द्रियसे जो आत्माका आलोचन होना स्वयं प्रतीत हो रहा है । तिस ही प्रकार अवग्रह, ईहा, आदिक भी तो इन्द्रिय और मनसे होते हुये स्वयं प्रतीत हो रहे हैं । फिर शंका उठाना व्यर्थ है । कार्यकी उत्पत्तिमें असाधारण होकर व्यापार करनेवाले परम्परा कारण भी प्रेरक कारणोंमें गिनाये जाते हैं ।

य एवाहं किंचिदिति वस्तुमात्रमिंद्रियानिंद्रियाभ्यामद्राक्षं स एव तद्वर्णसंस्थानादि सामान्यभेदेनावगृह्णामि तद्विशेषात्मनाकांक्षामि तदेव तथावैमि तदेव धारयामीति क्रमशः स्वयं दर्शनावग्रहादीनामिंद्रियानिन्द्रियोत्पाद्यत्वं प्रतीयते प्रमाणभूतात्प्रत्यभिज्ञानात् क्रमभाव्यनेकपर्यायव्यापिनो द्रव्यस्य निश्चयादित्युक्तप्रायम् ।

जो ही मैं " कुछ है ", इस प्रकार महासत्तास्वरूप केवल सामान्य वस्तुको इन्द्रिय अनिन्द्रियोंके द्वारा देख चुका हूं (दर्शन उपयोग) सो ही मैं रूप आकृति रचना आदि सामान्य भेदोंकरके उस वस्तुका अवग्रह कर रहा हूं (अवग्रह) तथा वही मैं अन्य विशेष अंश स्वरूपकरके उस वस्तुका आकांक्षारूप ज्ञान कर रहा हूं (ईहा) तथा वही मैं तिस प्रकार ही है, इस ढंगसे उसी वस्तुका निश्चय कर रहा हूं (अवाय) एवं वही मैं उसी वस्तुकी कालान्तरतक स्मरण करने योग्यपनसे धारणा कर रहा हूं (धारणा) । इस प्रकार क्रमसे दर्शन, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, ज्ञानोंका इन्द्रिय अनिन्द्रियोंके द्वारा उत्पत्ति योग्यपना स्वयं प्रतीत हो रहा है । वही एक आत्मा क्रमसे दर्शन और अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न करता है । प्रमाणभूत सिद्ध हो रहे प्रत्यभिज्ञानसे क्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंमें व्यापनेवाले द्रव्यका निश्चय हो रहा है । इसको हम पहिले कई बार कह चुके हैं ।

वर्णसंस्थादिसामान्यं यत्र ज्ञानेवभासते ।
तन्नो विशेषणज्ञानमवग्रहपराभिधम् ॥ १९ ॥
विशेषनिश्चयोवाय इत्येतदुपपद्यते ।
ज्ञानं नेहाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा ॥ २० ॥
इति केचित्प्रभाषंते तच्च न व्यवतिष्ठते ।
विशेषवेदनस्येह दृष्टस्येहात्वसूचनात् ॥ २१ ॥
ततो दृढतरावायज्ञानाद् दृढतमस्य च ।
धारणत्वप्रतिज्ञानात् स्मृतिहेतोर्विशेषतः ॥ २२ ॥
अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह तस्य वा ।
ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥ २३ ॥

कोई अपना राग अलाप रहे हैं कि जिस ज्ञानमें वर्ण, रचना, आकृति आदिका सामान्यरूपसे प्रतिभास होता है वह ज्ञान तो हमारे यहां विशेषणज्ञान माना गया है । आप जैनोंने उसका दूसरा नाम अवग्रह धर दिया है । तथा जिस ज्ञानकरके वस्तुके विशेष अंशोंका निश्चय कराया जाता है,

वह अवाय है। इस प्रकार यह हमारे यहां भी बन जाता है। किन्तु अभिलाषारूप माना गया ईहा ज्ञान और संस्कारस्वरूप धारणा ज्ञान नहीं सिद्ध हो पाते हैं। क्योंकि अभिलाषा तो इच्छा है। वह आत्माका ज्ञानसे न्यारा स्वतंत्र गुण है। तथा भावनारूप संस्कार भी ज्ञानसे न्यारा स्वतंत्र गुण है। इच्छा और संस्कार तो ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कोई विद्वान् स्वमत को प्रकृष्ट मानकर भाषण कर रहे हैं। किन्तु उनका वह मन्तव्य व्यवस्थित नहीं हो पाता है। इस प्रकरणमें वस्तुके अंशोंकी आकांक्षारूप दृढ विशेष ज्ञान को ईहापना सूचित किया है। उस दृढ ईहा ज्ञानसे अधिक दृढ अवाय ज्ञान है। और अवायज्ञानसे भी बहुत अधिक दृढ धारणा ज्ञान है। स्मृतिके विशेषरूपसे कारण हो रहे धारणाज्ञानको दृढतमपनेकी प्रतिज्ञा है। हम जैनोंके यहां भी मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माके चारित्र गुणकी विभाव पर्याय को इच्छा माना है। और आत्माके चैतन्यगुणका परिणाम ज्ञान है। अतः इच्छासे ज्ञान न्यारा है। किन्तु पूर्व समयवर्तिनी आकांक्षाका विकल्प करता हुआ ईहा ज्ञान उपजता है। अतः उसको आकांक्षापनसे व्यवहार कर देते हैं। जैसे कि क्षपकश्रेणीमें मोक्षकी इच्छा नहीं रहते हुये भी पूर्व इच्छा अनुसार कर्मोंका क्षय चाहनेकी अपेक्षासे मुमुक्षुपना कह दिया जाता है। चौथा धारणाज्ञान तो संस्काररूप है। ज्ञानमें विशिष्ट क्षयोपशम अनुसार अतिशयोंका उत्पन्न हो जाना ही ज्ञानस्वरूप संस्कार है। इससे न्यारा कोई भावना नामका संस्कार हमें अभीष्ट नहीं है। यदि इस प्रकरणमें संस्कारको अज्ञान स्वरूप माना जायगा, तब तो वह संस्कार स्मरणज्ञानका उपादान कारण न हो सकेगा। जैसे कि रूप, रस आदिक गुण ज्ञानके उपादान कारण नहीं हैं, किन्तु संस्काररूप धारणाको स्मृति ज्ञानकी वह उपादानता प्राप्त है। अतः वह संस्कार धारणा नामक ज्ञान ही पड़ता है। ज्ञानभिन्न कोई गुण भावना नामका संस्कार नहीं सिद्ध हो पाता है। इसका विवरण प्रमेयकमलमार्तण्डमें किया गया है।

सुखादिना न चात्रास्ति व्यभिचारः कथंचन।
तस्य ज्ञानात्मकत्वेन स्वसंवेदनसिद्धितः ॥ २४ ॥
सर्वेषां जीवभावानां जीवात्मत्वार्पणान्नयात्।
संवेदनात्मतासिद्धेर्नापसिद्धान्तसंभवः ॥ २५ ॥

यहां कोई दोष देता है कि यदि जैन लोग ज्ञानभिन्न किसी भी गुणको ज्ञानका उपादान कारण न मानेंगे तो सुख, दुःख, आदि परिणामोंकरके व्यभिचार होता है। अर्थात्—सुख, दुःख आदिक भी ज्ञानके उपादान कारण बन रहे प्रतीत हो रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि हमारे यहां यह व्यभिचार कैसे भी नहीं आता है। क्योंकि उन सुख आदिकोंकी ज्ञानस्वरूपपनेकरके स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि हो रही है। चेतन आत्माके सुख, इच्छा, भावना आदि रूप सभी

परिणामोंपर चैतन्यभाव अन्वित हो रहा है। जैसे कि करहियासे अति उष्ण निकाली हुई इमर्तीको चाशनीमें डाल देनेपर चारो ओरसे खांड उसके ऊपर लद बैठती है। उसी प्रकार आत्माके स्वसम्वेद्य गुणोंपर ज्ञानआत्मकपना लद जाता है। जीवके सम्पूर्ण परिणामोंको चेतन जीवस्वरूपपनेकी अर्पणा करनेवाली नयसे सम्वेदनस्वरूपपना सिद्ध है। जैनसिद्धान्त इस बातको स्वीकार करता है। इस कारण हम स्याद्वादियोंके यहां अपसिद्धान्त हो जानेकी सम्भावना नहीं है। अर्थात्—संस्कार, सुख, इच्छा, आदिको ज्ञानपना माननेपर जैन लोग हम वैशेषिकोंके प्रभावमें आकर अपने सिद्धान्तसे स्खलित हो गये, यह जीतकी बाजी मारनेके लिये हृदयमें सम्भावना नहीं करना। क्योंकि हम जैन कालत्रयमें अपने स्याद्वादसिद्धान्तसे च्युत होनेवाले नहीं हैं। सुमेरुके समान स्वसिद्धान्तपर आरूढ हैं। जो कुछ हमने कहा है, जैनसिद्धान्त अनुसार ही कहा है।

औपशमिकादयो हि पंच जीवस्य भावाः संवेदनात्मका एवोपयोगस्वभावजीवद्रव्यार्थादेव। तत्र केषांचिदसंवेदनात्मत्वोपदेशादन्यथा तद्व्यवस्थितिविरोधादिति वक्ष्यते।

जीवके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारणामिक पांच भाव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, लब्धि, क्रोध, भव्यत्व आदि त्रेपन भेदोंमें विभक्त हो रहे हैं। ये सब सम्वेदनस्वरूप ही हैं। क्योंकि चैतन्य उपयोगस्वरूप जीव पदार्थको विषय करनेवाली द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे ही वे चेतनस्वरूप हो रहे हैं। तभी तो प्रमाणदृष्टि या पर्यायार्थिक नयसे तिनमें कोई कोई भावोंका असम्वेदनस्वरूपना उपदेश किया गया है। अन्यथा यानी ज्ञानात्मक हुये विना उन भावोंकी ठीक ठीक व्यवस्था होनेका विरोध पडेगा, यह बात आगे ग्रन्थमें स्पष्ट कह दी जावेगी। पर्यायदृष्टिसे यद्यपि उपशमचारित्र, इच्छा, आदिक पर्यायें ज्ञानपर्यायसे भिन्न हैं। अतः वे कथंचित् असम्वेदनस्वरूप हो सकती हैं। फिर भी चैतन्यद्रव्यका अन्वितपना अपरिहार्य है। अनुकूलवेदन प्रतिकूलवेदनरूप सुखदुःखोंका अनुभव हो रहा है। इच्छा, संयम, असंयम, क्रोध, जीवपना, आदि भाव चेतन आत्मक अनुभवे जा रहे हैं। प्रधानगुणकी छाप अन्य गुणोंपर पडती है, गन्धद्रव्यवत्।

तत एव प्रधानस्य धर्मा नावग्रहादयः।
आलोचनादिनामानः स्वसंवित्तिविरोधतः॥ २६॥

तिस ही कारण यानी चेतन जीवद्रव्यके तदात्मक परिणाम होनेसे ही अवग्रह आदिक ज्ञान सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्य अवस्थारूप प्रकृतिके भी धर्म (स्वभाव) नहीं हैं। जो कि सांख्योंने आलोचन, संकल्प, अभिमान, आदि नामोंसे संकेतित किये हैं। अवग्रह आदिको जड प्रकृतिका धर्म माननेपर उनके स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होनेका विरोध पडेगा। ज्ञानस्वरूप या चेतन जीवस्वरूप पदार्थोंका ही स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना सम्भवता है। जड धर्मोंका स्वसम्वेदन कालत्रयमें नहीं हो पाता है।

आलोचनसंकल्पनाभिमननाध्यवसाननामानोऽवग्रहादयः प्रधानस्य विवर्ताश्चेतना पुंसः स्वभाव इति येप्याहुस्तेपि न युक्तवादिनः, स्वसंवेदनात्मकत्वादेव तेषामात्मस्वभावत्वप्रसिद्धेरन्यथोपगमे स्वसंवित्तिविरोधात् । न हीदं स्वसंवेदनं भ्रांतं बाधकाभावादित्युक्तं पुरस्तात् ।

कपिल मतानुयायी मानते हैं कि पदार्थोंका सामान्यरूपसे आलोचन करना अवग्रह है। यह इन्द्रियोंद्वारा हुआ प्रकृतिका विवर्त है। " संकल्प करना " ईहा है। यह भी मनद्वारा हुआ प्रकृतिका परिणाम है। " यह ऐसा ही है " इस प्रकार अभिमान करना अवाय है, जो कि प्रकृतिकी अहंकाररूप पर्याय है। तथा दृढ निर्णय करलेना धारणा है। यह तो प्रकृतिका बुद्धिरूप पहिला परिणमन है। अतः हमारे यहां आलोचन, संकल्पन, अभिमान, अध्यवसाय, नामोंको धारनेवाले अवग्रह आदिक ज्ञान प्रकृतिके ही परिणाम हैं। हां, चेतना तो पुरुषका स्वभाव है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो भी सांख्य कह रहे हैं, वे भी युक्तिपूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले नहीं हैं। क्योंकि उन आलोचन आदिक रूप अवग्रह आदि ज्ञानोंको स्वसम्वेदनस्वरूप होनेके कारण ही आत्मस्वभावपना प्रसिद्ध हो रहा है। दूसरे ढंगसे यानी जडप्रकृतिका धर्म माननेपर तो उनका स्वसम्वेदन होना विरुद्ध पडेगा। जैसे कि घट, पट आदिका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना नहीं बनता है। इन अवग्रह आदिकोंका हो रहा यह स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं है। क्योंकि इस प्रत्यक्षका बाधक प्रमाण कोई उपस्थित नहीं होता है। इस बातको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अतः अवग्रह आदिक ज्ञान चेतन आत्माके परिणाम हैं। बुद्धि और चेतनामें कोई विशेष अन्तर नहीं है। बुद्धिको प्रकृतिका धर्म माननेपर आत्मतत्त्वकी कल्पना व्यर्थ पडती है। अथवा जैसे किसी मनोनुकूल खाद्य पदार्थ या रमणीय स्पृश्य पदार्थका प्रसङ्ग प्राप्त होनेपर क्रमसे उसमें आलोचन, संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय होते हैं। यदि ये आत्मासे सर्वथा भिन्न प्रकृतिके विवर्त हैं, तब तो वस्तुतः जड हैं। स्वसम्वेद्य नहीं हो सकते हैं। किन्तु इनका स्वसम्वेदन हो रहा है।

ननु दूरे यथैतेषां क्रमशोर्थे प्रवर्तनं ।
संवेद्यते तथासन्ने किन्न संविदितात्मनाम् ॥ २७ ॥
विशेषणविशेष्यादिज्ञानानां सममीदृशं ।
वेद्यं तत्र समाधानं यत्तदत्रापि युज्यते ॥ २८ ॥

अब यहां अवग्रह आदिक मतिज्ञानोंकी क्रमसे प्रवृत्ति होनेमें शंका की जाती है कि जिस प्रकार दूरवर्ती पदार्थमें इन अवग्रह आदि ज्ञानोंका क्रम क्रमसे प्रवर्तना अच्छा जाना जा रहा है,

पहिले इन्द्रिय और अर्थकी योग्यदेशमें अवस्थिति हो जानेपर दर्शन होता है, पीछे अवग्रह हो जाता है, अनन्तर आकांक्षारूप ईहा ज्ञान होता है, पुनः अवाय, उसके पीछे धारणाज्ञान होते हैं, उसी प्रकार निकटदेशवर्ती पदार्थमें सम्विदितस्वरूप माने जा रहे अवग्रह आदिकोंकी क्रमसे होती हुई प्रवृत्ति क्यों नहीं जानी जाती है ? समीपदेशके पदार्थमें तो युगपत् ये ज्ञान होजाते हैं। इसपर आचार्य उत्तर कहते हैं कि नैयायिक या वैशेषिकोंके यहां भी विशेषणविशेष्यका या सामान्य-विशेष आदि ज्ञानोंका क्रमसे होना नहीं अनुभूत हो रहा है। किन्तु इसी प्रकार अवग्रह आदिकके समान उन ज्ञानोंका क्रमसे प्रवर्तना समानरूपसे तुमने माना है। उसमें यदि नैयायिक जो यह समाधान करें कि हम क्या करें, तिस प्रकारका उन विशेषणविशेष्य आदि ज्ञानोंका क्रमसे प्रवर्तना कचित् प्रत्यक्षसे कहीं अनुमानसे जाना जा रहा है। पहिले दण्ड आदि विशेषणोंका ज्ञान होता है। उसके अव्यवहित उत्तरकालमें पुरुष (दण्डी) आदि विशेष्योंका ज्ञान जन्मता है। किन्तु युगपत् हो रहा सरीखा दीखता है। वह समाधान तो यहां अवग्रह आदिमें भी उपयोगी हो जाता है। सौ पत्तोंकी गड्डी बनाकर सूईसे छेदनेपर क्रमसे ही उनमें सूई जाती है। झटिति संचार हो जानेसे अक्रम सरीखा दीखता है। बात यह है कि जब एक पुद्गल परमाणु एक समयमें चौदह राजू चला जाता है, तो सूई भी भले ही एक समयमें लाखों पत्तोंको छेद डाले। स्थूलदृष्टिसे परप्रसिद्धि अनुसार दृष्टान्त दे दिया गया है। किन्तु क्रमवर्ती अवग्रह आदिक ज्ञानोंकी उत्पत्ति तो एक समयमें कथमपि नहीं हो सकती है। आत्माके उपयोग आत्मक ज्ञानपरिणाम एक समयमें एक एक ही होकर उपजते हैं। एक समयमें दो उपयोग नहीं हो पाते हैं। अवग्रहके पहिले दर्शन अवश्य रहना चाहिये। ईहाके पूर्वमें अवग्रह पर्याय अवश्य उपज लेनी चाहिये। अवायके प्रथम भी ईहाज्ञानका रहना आवश्यक है। तथा अवायज्ञानके पूर्वसमयवर्ती होनेपर ही पहिला धारणाज्ञान धारण किया जाता है। हां, पिछले अवाय भले ही अवायपूर्वक होते रहें या पिछली धारणाओंकी धारा विशेषांशोंको जानती हुई भले ही धारणापूर्वक चलती रहे, फिर भी स्थास, कोश, कुशूल, घट या बाल्य, कौमार, युवत्व, वृद्धत्वके समान अवग्रह आदिकोंका क्रम अनिवार्य है।

तथैवालोचनादीनां दृगादीनां च बुध्यते ।
संबंधस्मरणादीनामनुमानोपकारिणाम् ॥ २९ ॥
अत्यंताभ्यासतो ह्याशु वृत्तेरनुपलक्षणम् ।
क्रमशो वेदनानां स्यात्सर्वेषामविगानतः ॥ ३० ॥

तिस ही प्रकार कापिलोंने आलोचन, संकल्प, अभिमान, अध्यवसायको क्रमसे होना समझा है। तथा अद्वैतवादियोंके यहां दर्शन, श्रवण, मनन, निदध्यासनकी क्रमप्रवृत्ति जानी गयी है। अनुमानका उपकार करनेवाले सम्बन्धस्मरण आदिका क्रमसे प्रवर्तना जाना जा रहा है। पहिले

हेतुका दर्शन होता है। पीछे व्याप्तिका स्मरण किया जाता है। पुनः पक्षवृत्तित्व ज्ञानकरके अनुमान कर लिया जाता है। आगमज्ञानमें भी क्रम देखा जाता है। शद्वका श्रोत्र इन्द्रियसे श्रावण प्रत्यक्ष कर संकेतका स्मरण करते हुये और इस शद्वमें वैसे ही पूर्वसांकेतिक शद्वका सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान करते हुये आगम ज्ञान उपजता है। अत्यन्त अधिक अभ्यास हो जानेसे उक्त ज्ञानोंकी झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। अतः स्थूलदृष्टिजीवोंको उनका अन्तराल नहीं दीख पाता है। वस्तुतः आत्माके सम्पूर्ण ज्ञानोंकी निर्दोष रूपसे क्रम करके ही प्रवृत्ति होती है। आंखका पलक मीचनेमें लगे असंख्यात समयोंमें ज्ञानकी असंख्यातपर्यायें हो जाती हैं। अत्यधिक अभ्यास हो जानेसे आशुवृत्तिका दीखना नहीं होता है। जैसे शीघ्र पुस्तकको बाचनेवाला जन अक्षरोंपर क्रमसे जानेवाली दृष्टिकी शीघ्र क्रमप्रवृत्तिको नहीं निरखपाता है। ऊपर कहे हुये घट आदिक दृष्टान्त वे ही पकडना जो क्रमसे हो रहे सम्भवते हैं। यदि किसीने जुडे हुये दो घटोंकी या चार घडोंकी इटली बनाई यहां प्रथम तो शिवक, छत्र, स्थास, आदिके क्रमसे दो या चार घट उपजे हैं। किन्तु वर्षदिनों पीछे दो घडे या चार घडेके अवयवोंमेंसे काट देने पर जो एक घट कार्य उत्पन्न हो गया है, " भेद संघातेभ्य उत्पद्यन्ते " वह तो शिवक, छत्र आदि अवयवोंके क्रमसे उत्पन्न हुआ नहीं है। पाषाणमें उकेरी गयी प्रतिमा भी अवयवक्रमसे नहीं बनाई है। तथा किसीको हेतुदर्शन करते ही अभेददृष्टिसे स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञान युगपत् हो जाता है। अतः तिस प्रकार क्रमसे हो रहे दृष्टान्तोंको हमारी ओरसे दार्ष्टान्तोंमें लागू करना। दृष्टान्तोंपर किसीको कुचोद्य नहीं उठाना चाहिये। वादीको व्यक्तिरूप दृष्टान्त देनेका अधिकार है। अतः किसी अन्य विशेष दृष्टान्तको पकड कर दार्ष्टान्तके रहस्यको निर्बल करना अन्याय है। रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, शुक्र, की उत्पत्ति या शद्वोंकी क्रमप्रवृत्ति अथवा क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, व्युपरत क्रियानिवृत्ति इनकी क्रमसे उत्पत्ति होनेके समान अवग्रह आदिक ज्ञान क्रमसे ही होते हैं। भले ही उनका क्षयोपशम युगपत् हो जाय, फिर भी क्षयोपशममें विशिष्ट चमत्कार तो क्रमसे ही उपजेगा।

ततः क्रमभुवोवग्रहादयो अनभ्यस्तदेशादाविवाभ्यस्तदेशादौ सिद्धाः स्वावरणक्षयोपशमविशेषाणां क्रमभावित्वात्।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि अभ्यास नहीं किये गये देश, स्थानवर्त्ती आदि पदार्थोंमें जैसे अवग्रह आदिक ज्ञान क्रमसे हो रहे सिद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यास प्राप्त हो रहे देश, काल, पदार्थ, आदिमें भी क्रमसे ही हुये सिद्ध समझने चाहिये। क्योंकि अपने अपने आवरण कर्मोंके क्षयोपशमकी विशेषताऐं क्रमसे ही होनेवाली हैं। एक नयका सिद्धान्त है कि उदय कालमें ही बन्ध हुआ कहना चाहिये। यद्यपि कर्मोंका बन्ध पहिले ही हो जाता है। किन्तु बन्धे हुये दोनों पदार्थोंकी गुणच्युति जब होय तभी बन्ध कहना शोभा देता है। पहिले तो विस्रसोपचयके समान व्यर्थ पडा रहता है। अनेकक्षणस्थायी कारणोंमें अतिशय नहीं पैदा होनेके कारण ही वे कार्यकी

उत्पत्ति करनेमें विलम्ब करते रहते हैं। और कार्यकी उत्पत्तिके अवसरको उसी प्रकार टाल देते हैं। जैसे कि कोई कृपण धनाढ्य या जिसका पेटा खाली है, वह योग्य अर्थियोंको बातोंमें उडा देता है। भले ही सामान्य क्षयोपशम हो गये हों, किन्तु उनके अतिशयोंकी पूर्णता ज्ञानके पूर्वक्षणमें ही होती है। इस विषयको श्रीविद्यानन्द आचार्यने स्वोपज्ञ अष्टसहस्री ग्रन्थमें विशेष स्पष्ट किया है। " उपज्ञाज्ञानमार्द्यं स्यात् " देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) की टीका अष्टशती है। और अष्टशतीके प्रतीकोंपर अष्टसहस्री रची गयी है।

अत्रापरः प्राह। नाक्षजोवग्रहस्तस्य विकल्पात्मकत्वात्तत एव न प्रमाणमवस्तुविषयत्वादिति तं प्रत्याह।

यहां कोई दूसरा बौद्ध विद्वान् सगर्व कह रहा है कि अवग्रहज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ नहीं है। वह अवग्रह तो विकल्पस्वरूप ज्ञान है। इन्द्रियां तो संकल्प, विकल्परूप ज्ञानोंको नहीं उत्पन्न करा सकती हैं। विकल्प करना तो मिथ्यावासनाओंका कार्य है। इन्द्रियां तो निर्विकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करती हैं। जब कि अवग्रह ज्ञान विकल्पस्वरूप है। तिस ही कारण वह अवस्तुको विषय करनेवाला होनेसे प्रमाणज्ञान नहीं माना गया है। इस प्रकार जो वादी कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

द्रव्यपर्यायसामान्यविषयोवग्रहोक्षजः।
तस्यापरविकल्पेनानिषेध्यत्वात् स्फुटत्वतः ॥ ३१ ॥

सामान्यरूपसे द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला अवग्रहज्ञान अवश्य ही इन्द्रियोंसे जन्य सम्भव जाता है। क्योंकि वह अवग्रहज्ञान अन्य विकल्पज्ञानोंसे निषेध करने योग्य नहीं है। यदि वह अवग्रहज्ञान मिथ्या माने गये विकल्पज्ञानस्वरूप होता तो अन्य विकल्पोंसे बाधने योग्य हो जाता। जैसे कि सीपमें हुये चांदीके विकल्पज्ञानको " यह चांदी नहीं है " इस प्रकारका उत्तर समयवर्त्ती विकल्पज्ञान बाध लेता है। तथा यह अवग्रहज्ञान स्पष्ट भी है। इन्द्रियजन्यज्ञान स्पष्ट हो रहे माने गये हैं। किन्तु बौद्धोंने विकल्पज्ञानोंको स्पष्ट नहीं माना है। अतः एकदेश—वैशद्य होनेसे अवग्रहज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य साधलिया जाता है।

संवादकत्वतो मानं स्वार्थव्यवसितिः फलं।
साक्षाद्व्यवहितं तु स्यादीहा हानादिधीरपि ॥ ३२ ॥

यह अवग्रहज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य), सम्वादकपना होनेसे (हेतु), जो ज्ञान सफलप्रवृत्तिजनक या बाधारहितरूप सम्वादक होते हैं, वे प्रमाण होते हैं। इस अवग्रहज्ञानका साक्षात् फल तो अपना और अर्थका निर्णय करना है। तथा परम्पराप्राप्त—फल तो ईहा ज्ञानको

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उत्पन्न कराना अथवा अपने विषयमें हान, उपादान, उपेक्षा, बुद्धियां उत्पन्न करा देना भी है। जब इन्द्रियोंसे उपज रहा अवग्रह इतना बढिया होकर इतने उत्तम प्रमाण योग्य कार्योंको कर रहा है, तब तो उसे इन्द्रियजन्य नहीं मानना और इसी कारण प्रमाण नहीं मानना दिन दहाडे अन्याय करना है।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषयोवग्रहोक्षजो युक्तः प्रतिसंख्यानेनाविरोध्यत्वाद्विशदत्वाच्च तस्यानक्षजत्वे तदयोगात्। शक्यंते हि कल्पनाः प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं नेंद्रियबुद्धय इति स्वमिष्टेः। मनोविकल्पस्य वैशद्यानिषेधः।

" यह मनुष्य है " " यह शुक्ल वस्तु है " " यह पुस्तक है " इस प्रकार सामान्य रूपसे द्रव्य और विशेषस्वरूपसे पर्यायोंको विषय करनेवाले अवग्रह ज्ञानको इन्द्रियोंसे जन्य कहना युक्त ही है। क्योंकि अवग्रह ज्ञान प्रतिकूल साधक प्रमाणों करके विरोध करने योग्य नहीं है, तथा अवग्रहज्ञान स्पष्ट है। यदि उस अवग्रहको इन्द्रियोंसे जन्य नहीं माना जायगा तो प्रतिकूल प्रमाणोंसे विरोध करने योग्य हो जायगा और उस विशदज्ञानपनेका अयोग हो जावेगा। जैसे कि मिथ्यावासनाओंसे उत्पन्न हुए मनोराज्य आदिके विकल्पज्ञान प्रमाणोंसे विरोध्य हैं और स्पष्ट नहीं हैं, " कल्पना ज्ञान तो प्रतिकूल प्रमाणोंकरके निवारण किये जा सकते हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अन्य ज्ञानोंसे बाध्य नहीं हैं " इस प्रकार आप बौद्धोंने स्वयं अपने ग्रंथोंमें अभीष्ट किया है। मन इन्द्रिय जन्य सच्चे विकल्पज्ञानके विशदपनका निषेध नहीं किया गया है।

प्रमाणं चायं संवादकत्वात्साधकतमत्वादनिश्चितार्थनिश्चायकत्वात् प्रतिपत्त्रपेक्षणीयत्वाच्च। न पुनर्निर्विकल्पकं दर्शनं तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत्। फलं पुनरवग्रहस्य प्रमाणत्वे स्वार्थव्यवसितिः साक्षात्परंपरयात्वीहा हानादिबुद्धिर्वा।

तथा विकल्पस्वरूप होनेसे अवग्रह ज्ञानको अप्रमाण कहना ठीक नहीं है। यथार्थरूपसे देखा जाय तो यह विकल्पज्ञान ही (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) निर्बाधरूप सम्वादकपना होनेसे (हेतु १) प्रमितिका साधकतम होनेसे (हेतु दूसरा) अनिश्चित अर्थोंका निश्चित करानेवाला होनेसे (हेतु तीसरा) और अर्थोंकी प्रतिपत्ति करनेवाले आत्माओंको अपेक्षा करने योग्य होनेसे (हेतु चौथा) किन्तु फिर बौद्धोंद्वारा माना गया वस्तु, वस्तु अंश, संसर्ग, विशेष्य, विशेषण, अर्थविकल्प आदि कल्पनाओंसे रहित हो रहा निर्विकल्पक दर्शन तो (पक्ष) प्रमाण नहीं है (साध्य) उस प्रमाणत्वके साधक हेतुओंसे विपरीत प्रकारके हेतुओंका प्रकरण (हेतु) अर्थात् विसम्वादकत्व यानी सबाधपना या निरर्थक प्रवृत्तिजनकपना होनेसे (हेतु पहिला) प्रमितिका करण नहीं होनेसे (हेतु दूसरा) अनिश्चित अर्थका निश्चय करानेवाला नहीं होनेसे (हेतु तीसरा) जिज्ञासु पुरुषोंको अपेक्षणीय नहीं होनेसे (हेतु चौथा) जैसे कि वैशेषिकोंद्वारा माने गये सन्निकर्ष या कापिलोंद्वारा मानी गयी इन्द्रियवृत्ति आदिक प्रमाण नहीं हैं (अन्वयदृष्टान्त)। प्रकरणमें

अवग्रह नामका मतिज्ञान प्रमाणसिद्ध हो जाता है। प्रमाणज्ञानोंका फल अवश्य होना चाहिये। क्योंकि क्रियाके विना करणपना विफल है। अतः अवग्रहज्ञानको प्रमाणपना सिद्ध हो चुकनेपर उसका साक्षात् यानी अव्यवहित उत्तरकाल या समानकालमें ही होनेवाला फल तो स्व और अर्थका व्यवसाय करा देना है। तथा अवग्रहका परम्परासे होनेवाला फल तो ईहाज्ञान अथवा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धियां करा देना है। जैनसिद्धान्त अनुसार दीप और प्रकाश (अन्धकारनिवृत्ति) के समान समकाल पदार्थोंमें भी कार्यकारणभाव मान लिया है। हां, कार्यमें व्यापार करनेवाले कारण कार्यसे पूर्वक्षणमें रहने चाहिये। किन्तु कारणके साथ कथंचित् अभेद सम्बन्ध रखनेवाले निवृत्ति, व्यवहारप्रयोजकत्व, आदि कार्य तो कारणके समानकालमें ठहर जाते हैं। नानापर्यायरूप कार्य और कारणोंका एक समयमें ठहरना नहीं होता है। क्योंकि किसी भी पर्यायी पदार्थकी एक समयमें अनुजीवी दो पर्यायें नहीं हो सकती हैं। कोई कोई कार्य जैसे कारणके कालमें रह जाता है, उसी प्रकार जगत्के सम्पूर्ण कार्योंका केवलान्वयी होकर कारण बन रहा प्रतिबन्धकोंका अवाय-रूप कारण तो कार्यके समानकालमें ठहरना चाहिये। दीपकलिकाकी उत्पत्ति करानेमें बत्ती, तेल, पात्र, दीपशलाका, ये पूर्वसमयमें वर्त रहे हैं। किन्तु प्रतिबन्धक तीव्रवायुका अभावरूप कारण तो प्रदीप उत्पत्ति क्षणमें भी विद्यमान रहना चाहिये। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान अथवा पितापन और पुत्रपनके व्यपदेश करनेपर भी समानकालीन पदार्थोंमें कार्यकारणभाव मान लिया गया है। चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य समयमें तो संसार है। असिद्धपना है। बारह या तेरह प्रकृतियां आत्मासे लगी हुई हैं। हां, उस अन्त्यके पिछले समयमें कर्मोंका नाश, ऊर्ध्वगमन, सिद्धलोकमें स्थिरता, ये तीनों कार्य हो जाते हैं। इनमेंसे पहिला पहिला उत्तरका एक अपेक्षाकरके कारण भी है। अतः क्वचित् कोई किसीका समकालीन पदार्थ भी कार्य या कारण बन जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं आता है।

ननु च प्रमाणात्फलस्याभेदे कथं प्रमाणफलव्यवस्था विरोधादिति चेत् न, एकस्यानेकात्मनो ज्ञानस्य साधकतमत्वेन प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। क्रियात्वेन फलत्वव्यवस्थानाद्विरोधानवतारात्।

यहां नैयायिक शंका उठाते हैं कि प्रमाणसे फलका अभेद माननेपर जैनोंके यहां प्रमाण और फलपनेकी व्यवस्था कैसे होगी ? विरोध दोष आता है। प्रमाणपन और फलपन धर्मोंका एक ही समय एक पदार्थमें साथ ठहरना नहीं बनता है। भला कहीं वह वृक्ष ही स्वयं अपना फल बन सकता है ? अर्थात्—नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि अनेकधर्मस्वरूप हो रहे एक ज्ञानको भी प्रमितिके साधकतमपनकी अपेक्षा करके प्रमाण-पना व्यवस्थित हो रहा है। और उसी ज्ञानको स्वकीय शरीर ज्ञानक्रियापनकी अपेक्षासे फलपना व्यवस्थित कर दिया है। विरोध दोषका अवतार नहीं है। दीप ही प्रकाशका कारण है। और

प्रदीप ही प्रकाश करनारूप क्रिया है। देवदत्त मल्ल अपने शरीरके व्यायामसे अपने शरीरको ही दृढ कर रहा है।

कथमेकं ज्ञानं करणं क्रिया च युगपदिति चेत् तच्छक्तिद्वययोगात् पावकादिवत्! पावको दहत्यौष्ण्येनेत्यत्र हि दहनक्रिया तत्कारणं चौष्ण्यं युगपत्पावके दृष्टं तच्छक्तिद्वय संबंधादिति निर्णीतप्रायं।

एक ज्ञान एक ही समयमें करण और क्रिया भी कैसे हो सकता है? ऐसा आक्षेप करनेपर तो हम जैन समाधान करते हैं कि उन दो कार्योंको करानेवाली दो शक्तियोंके योगसे दो कार्योंको ज्ञान सम्भाल लेता है। जैसे कि अग्नि, पाषाण, लड्डा, आदिक पदार्थ अपनी अनेक शक्तियोंके बलसे एक समयमें अनेक कार्योंको कर देते हैं। अग्नि अपनी उष्णतासे जल रही है। या जला रही है। इस प्रकार यहां जलनारूप क्रिया और उसका कारण उष्णपना एक ही समय अग्निमें उन दो दाह्यत्व दाहकत्व शक्तियोंके सम्बन्धसे हो रहे देखे गये हैं। इस बातको हम बहुत अंशोंमें निर्णीत कर चुके हैं। एक पदार्थमें दो तीन क्या अनेकानेक शक्तियां विद्यमान हैं। और उनके कार्य भी सतत होते रहते हैं। अल्पज्ञ जीवोंको उनके कतिपय कार्य ज्ञात हो जाते हैं। बहुतसे नहीं, क्या करें बहुभाग कार्योंको जाननेके लिये उनके पास उपाय नहीं है। अनेक शक्तियां तो द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त मिलनेपर अपना चमत्कार (जौहार) दिखला सकती हैं। निमित्त नहीं मिलनेपर तो तृणरहित दशामें पडी हुई आगके समान स्वयं शान्त हो रहती हैं। हमको संसारमें ऐसा कोई पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, जो कि एक समयमें व्यक्त, अव्यक्त अनेक कार्योंको नहीं कर रहा होय, एक वक्ता या अध्यापक पढा रहा है, उसी समय स्वशरीरमें रक्त आदि बना रहा है। चटाई या गद्दीको भी फाड रहा है। कोनेमें पडा हुआ, थोडासा कूडा भी भूमिको बोझ दे रहा है, वायुको दूषित कर रहा है, दरिद्रता बढा रहा है, स्वच्छ आत्मामें आलस्य पैदा कर रहा है। कुअरपना प्रगट करा रहा है रोग कीटोंका योनिस्थान बन रहा है, इत्यादि उस कूडेके अनेक कार्य कहांतक गिनाये जांय। यही दशा छोटेसे छोटे टुकडेकी समझ लेना। सर्वत्र अनेकान्तका साम्राज्य फैल रहा है।

नन्वर्थोपि वैशद्यस्य प्रतिसंख्यानानिरोध्यत्वस्य चासंभवान्न ततोवग्रहस्याक्षजत्व-सिद्धिरिति पराकूतमुपदर्श्य निराकुरुते।

शंकाकार कहता है कि आप जैनोंने अर्थावग्रहके इन्द्रियजन्यत्वकी जिन हेतुओंसे सिद्धि की थी सो तो ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि अवग्रह ज्ञानके विशदपने और प्रतिकूल प्रमाणसे अविरोध्यपनेका असम्भव है। अतः उन हेतुओंसे अवग्रहके अर्थजन्यत्व या इन्द्रियजन्यत्वकी सिद्धि नहीं हो सकी। इस प्रकार दूसरे प्रतिवादियोंकी अनधिकारचेष्टा को दिखलाकर आचार्य महाराज उसका निराकरण करते हैं।

निर्विकल्पकया दृष्ट्या गृहीतेर्थे स्वलक्षणे ।
तदान्यापोहसामान्यगोचरोऽवग्रहो स्फुटः ॥ ३३ ॥

बौद्ध निवेदन करते हैं कि परमार्थभूत निर्विकल्पक दर्शनकरके वस्तुभूत अर्थ स्वलक्षणका ग्रहण जब किया जा चुका है, तब कहीं पीछेसे अवस्तुभूत अन्यापोह सामान्यको विषय करनेवाला अवग्रह ज्ञान होता है। यह विद्यार्थी है, यह बल है, इस प्रकार झूंठे सामान्यको जान रहा अवग्रह सब जीवोंके प्रकट होकर अनुभूत हो रहा है। अथवा " अहग्रहोस्फुटः " ऐसा अच्छा पाठ होनेपर तो सामान्यग्राही अवग्रह अस्पष्ट [अविशद] ज्ञान है। अतः अवग्रह विशद नहीं हो सका।

सहभावी विकल्पोपि निर्विकल्पकया दृशा ।
परिकल्पनया वातो निषेध्य इति केचन ॥ ३४ ॥

बौद्ध ही कह रहे हैं कि निर्विकल्पक दर्शनके पीछे हुआ नहीं मान कर उसके साथ समान समयमें हुआ भी अवग्रहरूप विकल्पज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शन करके अथवा दूसरी प्रतिकल्पना करके निषेध्य हो जाता है। अतः अवग्रह ज्ञान प्रतिसंख्यानसे अविरोध्य नहीं हो सका, इस प्रकार कोई बौद्धपण्डित कह रहे हैं। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि—

तदसत्स्वार्थसंवित्तेरविकल्पत्वदूषणात् ।
सदा सव्यवसायाक्षज्ञानस्यानुभवात्स्वयं ॥ ३५ ॥

यह बौद्धोंका निवेदन करना समीचीन नहीं है। क्योंकि सम्यग्ज्ञानोंके द्वारा हुई स्व और अर्थकी सम्वित्तिको निर्विकल्पकपनेका दूषण है। सर्वदा ही निश्चय आत्मक सहित हो रहे इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका स्वयं अनुभव हो रहा है। निर्विकल्पक ज्ञानोंसे स्वार्थोंकी सम्वित्ति नहीं हो पाती है। सविकल्प ज्ञानोंका आदर करना सीखो।

मनसोर्युगपद्वृत्तिः सविकल्पाविकल्पयोः ।
मोहादैक्यं व्यवस्यंतीत्यसत्पृथगपीक्षणात् ॥ ३६ ॥

बौद्धोंके यहां ज्ञान परणतियोंके दो प्रकार माने हैं। एक तो एक ही ज्ञानधारामें क्रमसे शीघ्र शीघ्र निर्विकल्पकज्ञान और सविकल्पकज्ञान उपजते रहते हैं। शीघ्र घुमाये गये पहियेमें एकके ऊपर दूसरा अरा आजानेसे एकपनेकी परिच्छित्ति हो जाती है। झट चक्कर लग जानेसे अराओंका मध्यवर्त्ती अन्तराल छिप जाता है। कचित् अरोंकी ठोसाई छिप कर खाली पोल ही दीखती रहती है। उसीके सदृश एक ज्ञानधारामें आगे पीछे अतिशीघ्र हुये निर्विकल्पक सविकल्पक ज्ञानोंका ऐक्य

प्रतीत हो जाता है। दूसरा प्रकार उन्होंने यों माना है कि दो ज्ञानधाराओंकी साथ साथ प्रवृत्ति हो रही है। अतः मनरूप दो ज्ञानोंकी युगपत् प्रवृत्ति होनेके कारण व्यवहारी जन मोहसे सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंकी एकताका निर्णय कर लेते हैं, अथवा दो ज्ञानधाराओंमें सदा बह रही सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंकी प्रवृत्तियां ही मोहसे दोनोंके ऐक्यका निश्चय करा देती हैं। अतः व्यवहारी पुरुष सविकल्पकके व्यवसायधर्मका निर्विकल्पक ज्ञानमें अध्यारोप कर लेता है और निर्विकल्पकके स्पष्टत्व धर्मका सविकल्पक मिथ्याज्ञानमें अध्यवसाय कर लेता है। ग्रन्थकारका निरूपण है कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि पृथक् पृथक् भी स्वार्थव्यवसाय हो रहा देखा जाता है। किसी पदार्थमें प्रकृतधर्मकी बाधा उपस्थित होनेपर फिर कदाचित् उस धर्मके दीख जानेसे वहां उसका आरोप कर लिया जाता है। जैसे जपाकुसुमके सन्निधानसे स्फटिकमें रक्तिमाका आरोप किया जाता है, किन्तु सर्वदा सम्यग्ज्ञानोंके स्वार्थव्यवसायका जब सम्वेदन हो रहा है तो ऐसी दशामें अध्यारोप करनेका अवकाश नहीं रहता है। अन्यथा कोई भी धर्म किसीके आत्मभूत नहीं बन सकेंगे। आत्माके ज्ञानको, घटके रूपको, शब्दके क्षणिकपनेको, भी यहां वहांसे आरोपित कर लिये गये कहनेवालेका मुख टेढा नहीं हो जायगा। व्यवहारमें स्त्री, पुत्र, धन, गृह, पदार्थ, किसीके धरू नहीं बन सकेंगे। झूंठे आरोपे गये या चुराये गये ही मान लिये जावेंगे।

लैंगिकादिविकल्पस्यास्पष्टात्मत्वोपलंभनात्।
युक्ता नाक्षविकल्पानामस्पष्टात्मकतोदिता ॥ ३७ ॥
अन्यथा तैमिरस्याक्षज्ञानस्य भ्रांततेक्षणात्।
सर्वाक्षसंविदो भ्रांत्या किन्नोह्यंते विकल्पकैः ॥ ३८ ॥

लिंगजन्य अनुमानज्ञान या श्रुतज्ञान आदि विकल्पज्ञानोंका अविशदपना देखनेसे इन्द्रिजन्य विकल्पज्ञानोंको भी अविशदस्वरूपना कहना युक्त नहीं है, इसपर हम कह चुके हैं। अर्थात्— समीचीनज्ञानका स्वभाव स्वपरनिर्णय करना है। चाहे वह सर्वज्ञका ज्ञान होय और भले ही अल्पज्ञानीका सबसे छोटा ज्ञान व्यंजनावग्रह ही क्यों न होय। टिमटिमाते हुये लघुदीपकका और महाप्रकाशक सूर्यका स्वपरप्रकाशपना धर्म एकसा है। निश्चयनयसे सब जीवोंकी आत्मायें एकसी हैं। तथा कुछ ज्ञानोंको अस्पष्ट देखकर सभी ज्ञानोंको अविशद नहीं कहो। अन्यथा यानी अनुमानके समान प्रत्यक्षज्ञानको भी यदि अस्पष्ट कह दिया जावेगा तब तो तमारा रोगवाले तैमिरिक पुरुषके चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानका भ्रान्तपना देखनेसे निर्दोष आंखोंवाले अन्य सम्पूर्ण जीवोंके इन्द्रिय-प्रत्यक्षोंको भी भ्रान्तिरूपसे तर्कणा क्यों नहीं कर ली जाय! क्योंकि विकल्प करनेवाले बौद्ध सदृश

भ्रमी जीवोंको एकको देखकर सबको वैसा जाननेकी टेव पड गयी है। भाई विचारो तो सही, भ्रान्त-ज्ञानोंका भला समीचीनज्ञानोंके साथ मेल मिलाते रहनेसे कोई लाभ नहीं निकलता है।

सहभावोपि गोदृष्टितुरंगमविकल्पयोः ।
किन्नैकत्वं व्यवस्यंति स्वेष्टदृष्टिविकल्पवत् ॥ ३९ ॥
प्रत्यासत्तिविशेषस्याभावाच्चेत्सोत्र कोपरः ।
तादात्म्यादेकसामग्र्यधीनत्वस्याविशेषतः ॥ ४० ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि नील स्वलक्षणके निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानोंका सहभाव यानी साथ साथ उत्पत्ति होना हो रहा है। अतः दोनोंके धर्मोंका परस्परमें बटजाना होकर एकपनेका आरोप हो जाता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार अपने अभीष्ट हो रहे नीलदर्शन और नीलविकल्पोंके समान वह सहभाव भी गोदर्शन और अश्वविकल्पोंमें एकपनेका व्यवसाय क्यों नहीं करा देता है ? अर्थात्—निर्विकल्पकज्ञान धारामें हुये प्रत्यक्ष गोदर्शनमें सविकल्पकज्ञान धाराके अविशद अश्वविकल्पका परस्पर धर्म बंटना हो जाना चाहिये। यदि बौद्ध यों कहें कि गोदर्शन और अश्वविकल्पमें इष्ट की गयी विशेष प्रत्यासत्ति नहीं है। अतः एकके धर्मका दूसरेमें आरोप नहीं होता है। किन्तु नील स्वलक्षणके दर्शन और नील विकल्पमें वह विशेष प्रत्यासत्ति एकविषयत्व विद्यमान है। अतः निर्विकल्पक और सविकल्पका एकत्व अध्यवसाय हो जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि वह विशेषप्रत्यासत्ति भला तादात्म्य-सम्बन्धके सिवाय और न्यारी क्या हो सकती है। एक ही सामग्रीके अधीनपनारूप सम्बन्ध तो दोनों यानी नीलदर्शन नीलविकल्प और गोदर्शन अश्वविकल्पमें विशेषतारहित होकर विद्यमान है। अतः एक सामग्रीके वश रहनापन तो नियामक नहीं हो सका। हां, तादात्म्य सम्बन्धसे सब निर्वाह हो जाता है।

तादृशी वासना काचिदेकत्वव्यवसायकृत् ।
सहभावाविशेषेपि कयोश्चिद्दृग्विकल्पयोः ॥ ४१ ॥
साभीष्टा योग्यतास्माकं क्षयोपशमलक्षणा ।
स्पष्टत्वेक्षविकल्पस्य हेतुर्नान्यस्य जातुचित् ॥ ४२ ॥

फिर भी बौद्ध यदि अपनी रक्षाकी गलीको झांक कर यों कहें कि तिस प्रकारकी कोई आत्मामें लगी हुई विशेषवासना है, जो कि किन्हीं किन्हीं विशेष दर्शन विकल्पोंमें ही एकत्वके अध्यवसायको करती है। किन्तु गोदर्शन, अश्वविकल्प, आदि सभी दर्शनविकल्पोंमें सहभावके

समानरूप होनेपर भी एकपनेका निर्णय नहीं कराती है। तब तो हम जैन कहेंगे कि यह उपाय अच्छा है। हमारे यहां भी वह क्षयोपशमस्वरूप योग्यता मानी गयी है। इन्द्रियजन्य विकल्प-ज्ञानोंके स्पष्टपनमें वह स्पष्टज्ञानावरण क्षयोपशमरूप योग्यता ही कारण है। अन्य अनुमान, आगम ज्ञान, या भ्रान्तज्ञानोंके स्पष्टता नहीं करा सकती है। क्योंकि अनुमान आदि ज्ञानोंमें आपकी मानी हुई वासना और हमारी मानी हुई विशदपनेका हेतु योग्यता विद्यमान नहीं है।

तन्निर्णयात्मकः सिद्धोवग्रहो वस्तुगोचरः।
स्पष्टाभोक्षबलोद्भूतोऽस्पष्टो व्यंजनगोचरः॥ ४३॥

तिस कारण सिद्ध हुआ कि सामान्य, विशेषात्मक वस्तुको विषय करनेवाला व्यवसाय आत्मक अवग्रह ज्ञान है, इन्द्रियोंकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ द्रव्यरूप व्यक्त अर्थको प्रकाशनेवाला अर्थावग्रह स्पष्ट है और अव्यक्त हो रहे शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वरूप व्यंजनको जाननेवाला व्यंजन अवग्रह अस्पष्ट है। स्पष्टता और अस्पष्टताका संबंध विषयसे नहीं है। किन्तु विषयी ज्ञानके कारण ज्ञानावरण क्षयोपशम विशेषसे है।

स्पष्टाक्षावग्रहज्ञानावरणक्षयोपशमयोग्यता हि स्पष्टाक्षावग्रहस्य हेतुरस्पष्टाक्षावग्रहज्ञानावरणक्षयोपशमलक्षणा पुनरस्पष्टाक्षावग्रहस्येति तत एवोभयोरप्यवग्रहः सिद्धः परोपगमस्य वासनादेस्तद्धेतुत्वासंभवात्।

स्पष्ट इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमरूप योग्यता तो नियमसे इन्द्रिजन्य स्पष्ट अवग्रहका कारण है और अस्पष्टइन्द्रिय अवग्रहज्ञानके आवरण कर्मोंका क्षयोपशम स्वरूप योग्यता तो फिर अस्पष्ट इन्द्रिय अवग्रहका हेतु है। इस प्रकार तिस ही कारण अर्थ, व्यंजन दोनोंका भी अवग्रह सिद्ध हो जाता है। दूसरे बौद्ध, अद्वैतवादी, आदि विद्वानों द्वारा मानी गयी वासना, युगपद्वृत्ति, इन्द्रिय, अविद्या, आदिको स्पष्टपन या अस्पष्टपनको लिये हुये हो रहे इन्द्रिय-जन्य उस अवग्रह मतिज्ञानकी हेतुताका असम्भव है। यहांतक अवग्रहका विचार हो चुका है।

संप्रतीहां विचारयितुमुपक्रम्यते। किमनिंद्रियजैवाहोस्विदक्षजैवोभयजैव वेति। तत्र-

अब प्रकरणप्राप्त ईहाका इस समय विचार करनेके लिये उपक्रम रचा जाता है। क्या मन इन्द्रियसे ही उत्पन्न होनेवाली ईहा है? अथवा क्या बहिरंग इन्द्रियोंसे ही उत्पन्न हो रहा ईहाज्ञान है? या इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनोंसे उत्पन्न हो रहा ही ईहा ज्ञान है? इस प्रकार प्रश्न होनेपर उनमेंसे एक एक विकल्पका विचार करते हैं।

नेहानिंद्रियजैवाक्षव्यापारापेक्षणा स्फुटा।
स्वाक्षव्यापृत्यभावेस्याः प्रभवाभावनिर्णयात्॥ ४४॥

पहिले विकल्प अनुसार केवल मनसे ही उत्पन्न हुई ईहा नहीं है। क्योंकि सभी इन्द्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाली ईहा स्पष्ट प्रतीत हो रही है। आत्मा और इन्द्रियके व्यापार नहीं होनेपर उस ईहाकी उत्पत्तिके अभावका निर्णय हो रहा है। अर्थात्—केवल मनसे ही ईहा उत्पन्न नहीं हो जाती है। किन्तु आत्मा और बहिरंग इन्द्रियां भी ईहाकी उत्पत्तिमें व्यापार करती हैं। अतः उभयजन्या ईहा है।

न हि मानसं प्रत्यक्षमीहास्तु स्पष्टत्वादक्षज्ञानसमनंतरप्रत्ययत्वाच्च निश्चयात्मकमपि जात्यादिकल्पनारहितमभ्रांतं चेति कश्चित्। तदनिश्चयात्मकमेव निर्विकल्पस्याभ्रांतस्य च निश्चयात्मविरोधादित्यपरः। तन्मतमपाकुर्वन्नाह।

केवल मन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही ईहा ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह ईहाज्ञान स्पष्टपना होनेके कारण और इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके अव्यवहित उत्तरवर्त्तीज्ञान होनेके कारण निश्चय आत्मक भी है। अर्थात्—मानस प्रत्यक्षके अतिरिक्त भी सविकल्पक, निश्चय आत्मक, अन्य ईहाज्ञान सम्भवते हैं। यहां कोई कह रहा है कि वह ईहाज्ञान जाति, सम्बन्ध, शब्दयोजना, आदि कल्पनाओंसे रहित है और भ्रान्तिरहित है " कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं " इस प्रकार कोई तथागत विद्वान् कह रहा है। तथा वह ईहाज्ञान अनिश्चयस्वरूप ही है, निश्चय आत्मक नहीं है। क्योंकि भ्रान्तिरहित निर्विकल्पक ज्ञानको निश्चयस्वरूप होनेका विरोध है। इस प्रकार कोई दूसरा बौद्ध कह रहा है। उनके मतका निवारण करते हुये आचार्यमहाराज समाधान कहते हैं।

नापीयं मानसं ज्ञानमक्षवित्समनंतरं।
निश्चयात्मकमन्यद्वा स्पष्टभं तत एव नः॥ ४५॥

यह ईहाज्ञान मन इन्द्रिय जन्य मानस प्रत्यक्ष ही नहीं है। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानके अव्यवहित उत्तरकालमें ईहाज्ञान उत्पन्न होता है और तिस ही कारण ईहाज्ञान निश्चय आत्मक अथवा अन्य भी अगृहीतग्राहक, प्रतिपत्ताको अपेक्षणीय, समारोप निषेधक आदि विशेषणोंसे युक्त है। हम स्याद्वादियोंके यहां तभी तो ईहाज्ञान स्पष्ट प्रकाशनेवाला इष्ट किया गया है। अतः यह झूंठी कल्पनारूप नहीं है।

तस्य प्रत्यक्षरूपस्य प्रमाणेन प्रसिद्धितः।
स्वसंवेदनतोन्यस्य कल्पनं किमु निष्फलम्॥ ४६॥

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षस्वरूप हो रहे उस ईहाज्ञानकी प्रमाणकरके प्रसिद्धि हो रही है। इस कारण और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे भी ईहाज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप हो रहा है। अतः इस प्रकरणमें अन्य कल्पनारूप ज्ञान क्यों व्यर्थ माना जाता है? ईहाज्ञान ही पर्याप्त है।

मानसस्मरणस्याक्षज्ञानादुत्पत्त्यसंभवात् ।
विजातीयात्प्रकल्प्येत यदि तत्तस्य जन्म ते ॥ ४७ ॥
तदाक्षवेदनं च स्यात्समनंतरकारणम् ।
मनोध्यक्षस्य तस्येव वैलक्षण्याविशेषतः ॥ ४८ ॥

यदि ईहाको मन इन्द्रियजन्य स्मरणज्ञान माना जायगा तो ईहाकी बहिरंग इन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे उत्पत्ति होना असम्भव हो जायगा। क्योंकि इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानसे मानसस्मरणकी जाति न्यारी है। तैसा होनेपर यदि विजातीय इन्द्रियज्ञानसे भी उस मानसस्मरणकी उत्पत्तिको तुम बौद्धोंके यहां हर्ष-पूर्वक कल्पित कर लिया जावेगा तब तो मानसप्रत्यक्षका अव्यवहित पूर्ववर्त्ती कारण इन्द्रियज्ञान हो सकेगा। क्योंकि तिस ही के समान विलक्षणपना विशेषतारहितरूपसे रह जाता है। अर्थात्—बौद्धोंने विजातीयज्ञानसे भिन्न जातिवाले ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानी थी। किन्तु अब तो इन्द्रियज्ञानसे मानसस्मरणरूप ईहाकी उत्पत्ति स्वीकार कर ली। ऐसी दशामें मानस प्रत्यक्षका कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष भी हो सकेगा, भले ही वह भिन्न जातिवाला होय।

प्रत्यक्षत्वेन वैशद्यवस्तुगोचरतात्मना ।
सजातीयं मनोध्यक्षमक्षज्ञानेन चेन्मतम् ॥ ४९ ॥
स्मरणं संविदात्मत्वसंतानैक्येन वस्तथा ।
किन्न सिध्येद्यतस्तस्य तत्रोपादानकारकम् ॥ ५० ॥

यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि परमार्थवस्तुको विशदरूपसे विषय करलेनापन धर्मकी अपेक्षासे मानसप्रत्यक्ष भी इन्द्रियजन्यज्ञानके समानजातिवाला है, तब तो हम जैन कहेंगे कि तुमने जैसे इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षको प्रत्यक्षपनेसे सजातीय मान लिया है, उसी प्रकार तुम बौद्धोंके यहां ज्ञानस्वरूपपन और संतानके एकत्वकी अपेक्षासे स्मरण भी इन्द्रियज्ञानके साथ समानलक्षणवाला सजातीय क्यों नहीं सिद्ध हो जाय, जिससे कि उस इन्द्रियज्ञानको उस स्मरणमें या ईहा ज्ञानमें उपादानकारणपना बन जायगा, अर्थात्—स्मरण या ईहाका उपादान कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान हो सकता है। ज्ञानपनेसे सजातीयता है। सजातीयात् सजातीयमुत्पद्यते न तु विजातीयात् ॥

अन्यथा न मनोध्यक्षं स्मरणेन सलक्षणं ।
अस्योपादानतापायादित्यनर्थककल्पनम् ॥ ५१ ॥

अन्यथा यानी उक्त प्रकारसे सजातीयपनका यदि निर्वाह नहीं किया जायगा तो स्मरणके साथ सजातीय मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें इस मानसप्रत्यक्षको स्मरणकी उपादान

कारणताका अभाव हो जायगा। अतः इन्द्रियज्ञान और स्मरणके बीचमें मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ पडा। इन्द्रियज्ञानसे अव्यवहितकालमें उपादेयभूत स्मरण उपज जावेगा।

स्मरणाक्षविदोर्भिन्नौ संतानौ चेदनर्थकम्।
मनोध्यक्षं विनाप्यस्मात्स्मरणोत्पत्तिसंभवात् ॥ ५२ ॥
अक्षज्ञानं हि पूर्वस्मादक्षज्ञानाद्यथोदियात्।
स्मृतिः स्मृतेस्तथानादिकार्यकारणतेदृशी ॥ ५३ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि स्मरणज्ञान और इन्द्रियज्ञानकी दो सन्तान भिन्न भिन्न चल रही हैं। अतः स्मरणका उपादान कारण इन्द्रियज्ञान नहीं होता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि तुम्हारे यहां मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ रहा। क्योंकि इस मानसप्रत्यक्षके विना भी स्मरण ज्ञानकी सन्तान धारा अनुसार स्मरणकी उत्पत्ति होना सुलभतासे सम्भव जाता है। जिस प्रकार अपनी सन्तानरूप लडीके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान अपने पहिले इन्द्रियज्ञानरूप उपादानसे उत्पन्न हो जावेगा, उसी प्रकार स्मृतिज्ञान भी अपनी सन्तानमें पडे हुये पहिलेके स्मरणरूप उपादानसे उपज जायगा। इस प्रकारकी कार्यकारणता तुम्हारी मान्यता अनुसार अनादि कालसे चली आ रही है।

संतानैक्ये तयोरक्षज्ञानात्स्मृतिसमुद्भवः।
पूर्वं तद्वासनायुक्तादक्षज्ञानं च केवलात् ॥ ५४ ॥

यदि बौद्ध महाशय उन इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञानकी एकसन्तान स्वीकार कर लेंगे तब तो इन्द्रियज्ञान स्वरूप उपादानसे स्मृतिकी उत्पत्ति भले प्रकार हो सकती है। वासनारहित केवल पूर्वके अक्षज्ञानसे इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होगा और पूर्वकालकी उसकी वासनासे सहित हो रहे विशिष्ट अक्षज्ञानसे स्मरणज्ञान उत्पन्न हो जायगा, यह उपाय अच्छा है।

सह स्मृत्यक्षविज्ञाने ततः स्यातां कदाचन।
सौगतानामिति व्यर्थं मनोध्यक्षप्रकल्पनं ॥ ५५ ॥

पूर्वविचार अनुसार बौद्ध यदि स्मरण और इन्द्रियज्ञानकी सन्तानधारायें दो मानेंगे तब तो बौद्धोंके यहां तिन दो सन्तानोंसे कभी कभी स्मरण और अक्षज्ञान साथ साथ हो जावेंगे। इस प्रकार मध्यमें मानसप्रत्यक्षकी सौकर्यके लिये कल्पना करना व्यर्थ पडा।

स्याद्वादिनां पुनर्ज्ञानावृत्तिच्छेदविशेषतः।
समानेतरविज्ञानसंतानो न विरुध्यते ॥ ५६ ॥

हम स्याद्वादियोंके यहां तो फिर कोई विरोध नहीं आता है। कारण कि ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम विशेषसे सजातीय और विजातीय ज्ञानोंकी सन्तान बन जाती है। इन्द्रियज्ञानके उत्तर कालमें स्मरण आवरणका क्षयोपशम होनेपर उससे स्मरणज्ञान हो जाता है। और इन्द्रिय आवरणका क्षयोपशम होनेपर इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियज्ञान उपज बैठता है। एक चैतन्यकी धारापर प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशम या क्षय अनुसार अनेक सजातीय विजातीयज्ञान व्यक्त होते रहते हैं। अवधिज्ञान, श्रुतज्ञानका उपादान हो जाय और श्रुतज्ञान मनःपर्ययका उपादान हो जाय तथा श्रुतज्ञानसे केवलज्ञान उपादेय हो जाय, कोई विरोध नहीं आता है। सहोदर भाईयोंमें विरोध होना गर्हणीय, लज्जाजनक और अनुचित है।

नन्वेवं परस्यापि समानेतरज्ञानसंतानैकत्वमदृष्टविशेषादेवाविरुद्धमतोक्षज्ञानसमनंतरप्रत्ययं निश्चयात्मकं मानसप्रत्यक्षं सिध्यतीत्यभ्युपगमेपि दूषणमाह।

कोई मध्यवर्ती तटस्थ विद्वान् बौद्धोंका पक्षपातकर अवधारण करता है कि इस प्रकार स्याद्वादियोंके अनुसार तो दूसरे बौद्धोंके यहां भी पुण्यपापरूप अदृष्ट विशेषसे ही सजातीय विजातीय ज्ञानोंकी संतानका एकपना अविरुद्ध हो जाओ अर्थात् एकसन्तानमें ही अदृष्ट अनुसार क्रमसे सजातीय विजातीय ज्ञान उत्पन्न हो जावेंगे। इससे इन्द्रियजन्य ज्ञानको अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण मानकर निश्चयस्वरूप मानसप्रत्यक्षकी उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार स्वीकार करनेपर भी दूषण आता है। उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं।

प्रत्यक्षं मानसं स्वार्थनिश्चयात्मकमस्ति चेत्।
स्पष्टाभमक्षविज्ञानं किमर्थक्यादुपेयते ॥ ५७ ॥

यदि बौद्धोंके यहां अपना और अर्थका निश्चय करानेवाला मानसप्रत्यक्ष अभीष्ट कर लिया है तो स्पष्ट प्रकाश रहा इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकज्ञान भला किस प्रयोजनकी अपेक्षासे स्वीकार किया जा रहा है ? बताओ। स्वपरका निर्णय करनेवाले मानस प्रत्यक्षके मान चुकनेपर उसके पूर्वमें इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक ज्ञान मानना छिरियाके गलेके थनसमान व्यर्थ है।

अक्षसंवेदनाभावे तस्योत्पत्तौ विरोधतः।
सर्वेषामंधतादीनां कृतं तत्कल्पनं यदि ॥ ५८ ॥
तदाक्षानिंद्रियोत्पाद्यं स्वार्थनिश्चयनात्मकं।
रूपादिवेदनं युक्तमेकं ख्यापयितुं सताम् ॥ ५९ ॥

बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानना व्यर्थ नहीं है। इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक ज्ञानके नहीं होनेपर उस मानसप्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें विरोध पड जायगा। इन्द्रियप्रत्यक्षके विना सभी अन्धे बहिरे, आदि इन्द्रियविकल जीवोंके भी मानसप्रत्यक्ष हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अतः उस इन्द्रियप्रत्यक्षकी कल्पना करना सफल है। अन्धे, बहिरोंको इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं होनेके कारण मानस प्रत्यक्ष भी नहीं हो पाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध यों कहेंगे तब तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे उत्पत्ति करने योग्य और स्वार्थोंका निश्चय करनास्वरूप ऐसा एक ज्ञानरूप, रस, सुख, आदिको विषय करनेवाला मान लेना युक्त है। सज्जन पुरुषोंको उक्त प्रकारका ज्ञान निःशंक होकर प्रसिद्ध कर देना चाहिये। अर्थात्—इन्द्रिय अनिन्द्रियोंसे उत्पन्न हो रहे और स्वार्थोंका निश्चय करानेवाले तथा रूप आदिको विषय करनेवाले एक मतिज्ञानकी डोंडी पीट देनी चाहिये।

यथैव ह्यक्षव्यापाराभावे मानसप्रत्यक्षस्य निश्चयात्मकस्योत्पत्तौ जात्यंधादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसंगादंधबधिरतादिविरोधस्तथा मनोव्यापारापायेप्यक्षज्ञानस्योत्पत्तिर्विगुणमनस्क-स्यापि तदुत्पत्तिप्रसंगात् मनस्कारापेक्षत्वविरोध इत्यक्षमनोपेक्षमक्षज्ञानमक्षमनोपेक्षत्वादेव च निश्चयात्मकमस्तु किमन्येन मानसप्रत्यक्षेण।

इन्द्रिय व्यापारके नहीं होनेपर निश्चय आत्मक मानसप्रत्यक्षकी उत्पत्ति माननेमें जन्मान्ध, जन्मबधिर, उन्मत्त आदि जीवोंको भी रूप, शब्द, सुख, आदिके ज्ञानजन्य उन, मानसप्रत्यक्षोंकी उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग आवेगा। अतः अन्धपन, बहिरपन, पागलपन, आदि व्यवहारका विरोध होगा। यह जिस ही प्रकार बौद्धोंद्वारा विरोध उठाया जाता है, उसी प्रकार हम स्याद्वादी भी विरोध दे सकते हैं कि मनके व्यापार विना भी यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जायगी तो अमनस्क या अन्यगतमनस्क अथवा विभ्रान्तमनस्क जीवके भी उस इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग होगा, तब तो जगत् में प्रसिद्ध हो रहे मनकी ज्ञान सुखादिकमें तत्परताकी अपेक्षा रखनेका विरोध होगा। इस कारण अक्ष और मनकी अपेक्षा रखनेवाला है (साध्य), इन्द्रियज्ञान (पक्ष) लोकप्रसिद्ध अक्ष और मनकी अपेक्षा रखनेवाला ही होनेसे (हेतु) तथा इस ही कारण वह एक मतिज्ञान निश्चय आत्मक भी हो जाओ। इस प्रकार सध जानेपर फिर अन्य निर्विकल्पक मानस प्रत्यक्षके माननेसे क्या लाभ है? अतः इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे उत्पन्न हुआ ईहाज्ञान मानना चाहिये।

ननु यद्येकमेवेदमिंद्रियानिन्द्रियनिमित्तरूपादिज्ञानं तदा कथं क्रमतोवग्रहेहास्वभावौ परस्परं भिन्नौ स्यातां नोचेत्कथमेकं तद्विरोधादित्यत्रोच्यते।

कोई विद्वान् शंका करता है कि जैनसिद्धान्तमें यह इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे उत्पन्न हुआ रूप, सुख आदिका ज्ञान यदि एक ही माना गया है, तब तो क्रमसे होते हुये माने गये अवग्रह और ईहास्वरूप ज्ञान परस्परमें भिन्न कैसे हो सकेंगे? बताओ, यों तो वे अवग्रह, ईहा,

भिन्न नहीं होकर अभिन्न हो जायंगे और यदि आप जैन उनको अभिन्न न मानोगे यानी स्वसिद्धान्त अनुसार भिन्न भिन्न मानते रहोगे तो फिर उन ज्ञानोंके एक मतिज्ञान कैसे कह सकोगे ? क्योंकि भेद और एकत्वका विरोध है, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर यहां आचार्य महाराजद्वारा समाधान कहा जाता है ।

क्रमादवग्रहेहात्मद्रव्यपर्यायगोचरं ।
जीवस्यावृतिविच्छेदविशेषक्रमहेतुकम् ॥ ६० ॥
तत्समक्षेतरव्यक्तिशक्त्येकार्थवदेकदा ।
न विरुद्धं विचित्राभज्ञानवद्वा प्रतीतितः ॥ ६१ ॥

ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके क्रमको हेतु मानकर उत्पन्न हुये तथा द्रव्य और पर्यायको विषय करनेवाले अवग्रह, ईहास्वरूप ज्ञान जीवके (में) क्रमसे उत्पन्न हो जाते हैं । उन अवग्रह आदि ज्ञानोंमें एक ही समय स्वग्रहणकी अपेक्षासे प्रत्यक्षपना और विषय अंशकी अपेक्षासे परोक्षपना विरुद्ध नहीं है । तथा उपयोगरूप व्यक्ति और योग्यतारूप शक्तियुक्त एक अर्थसहितपना भी विरुद्ध नहीं है । क्योंकि नील, पीत, आदि विचित्र प्रतिभासनेवाले चित्रज्ञानके समान अवग्रह, ईहा, आदिकी तैसी प्रतीति हो रही है । सौत्रान्तिक अथवा ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके मत अनुसार ये तीन दृष्टान्त समझना चाहिये । बौद्धोंने शुद्धज्ञान अंशको प्रत्यक्ष माना है । और वेद्य, वेदक, सम्वित्ति, अंशोंको इतर यानी परोक्ष माना है । तथा शुद्धज्ञान अद्वैतवादियोंने ज्ञान अंशकी व्यक्ति मानी है । और वेद्य, वेदक, सम्वित्ति, अंशोंके विवेक यानी पृथक्भाव (अभाव) की ज्ञानमें शक्ति मानी है । सांख्योंने भी प्रकृतिरूप एक अर्थको एक ही समय शक्ति और व्यक्तिरूप माना है । एवं अनेक आकाररूप प्रतिभासोंसे युक्त हो रहा ज्ञान भी बौद्धोंने इष्ट किया है । इन दृष्टान्तोंसे अवग्रह, ईहा आदिको द्रव्यपर्यायस्वरूप अर्थको ग्रहण करनेवाला एक मतिज्ञानपना अविरुद्ध साध दिया है ।

प्रत्यक्षपरोक्षव्यक्तिशक्तिरूपमेकमर्थं विचित्राभासं ज्ञानं वा स्वयमविरुद्धं युगपदभ्युपगच्छन् क्रमतो द्रव्यपर्यायात्मकमर्थं परिच्छिंददवग्रहेहास्वभावभिन्नमेकं मतिज्ञानं विरुद्धमुद्भावयतीति कथं विशुद्धात्मा ? तदशक्यविवेचनस्याविशेषात् । न ह्येकस्यात्मनो वर्णसंस्थानादिविशेषणद्रव्यतद्विशेष्यग्राहिणावग्रहेहाप्रत्ययौ स्वहेतुक्रमात्क्रमशो भवन्नात्मांतरं नेतुं शक्यौ संतौ शक्यविवेचनौ न स्यातां चित्रज्ञानवत् तथा प्रतीतेरविशेषात् ।

घट नामके एक ही पदार्थको व्यक्तिकी अपेक्षासे प्रत्यक्षस्वरूप और उसी समय उसकी अतीन्द्रिय शक्तियोंकी अपेक्षासे परोक्षस्वरूप एक ही समयमें जो मीमांसक स्वीकार कर रहा है, अथवा युगपत् नील, पीत, आदिक विचित्र प्रतिभासवाले एक चित्रज्ञानको जो बौद्ध अविरुद्ध स्वयं स्वीकार कर रहा है, किन्तु द्रव्य और पर्यायस्वरूप अर्थको क्रमसे जान रहे और अवग्रह, ईहा

रूप स्वभावोंसे भेदभावको प्राप्त हो रहे एक मतिज्ञानके ऊपर विरोध दोषका उद्भाव करा रहा है। इस प्रकार पक्षपातग्रस्त प्रतिवादी कैसे विशुद्ध आत्मावाला कहा जा सकता है ? उस एक ही प्रकारकी घी, चावल, खांड आदि वस्तुओंमेंसे अपनी दूकानकी सौदाको बढिया और दूसरेके मालको घटिया बतानेवाले हीन वणिक्की आत्मा जैसे दूषित है। विशुद्ध नहीं है। उसी प्रकार अनेक धर्म आत्मक एक वस्तुको अनेक प्रतिवादी अपने घरमें स्वीकार कर रहे हैं। मीमांसक या सांख्य विद्वान् शक्ति व्यक्तिरूप हो रहे एक पदार्थको मानते हैं। नैयायिक पण्डित समूहालम्बन एक ज्ञानको स्वीकार करते हैं। वैशेषिक धीमान् सामान्यका विशेषस्वरूप हो रहे पृथिवीत्व या घटत्व पदार्थको एक मानते हैं। बौद्ध वृद्ध भी चित्रज्ञानकी स्वीकृति चाहते हैं। ज्ञान अद्वैतवादी महा-पण्डित तो एक ज्ञानको युगपत् प्रत्यक्ष परोक्षपनेसे गा रहे हैं। किन्तु द्रव्य, पर्यायस्वरूप एक अर्थको जाननेवाले अवग्रह, ईहास्वरूप एक मतिज्ञानमें विरोध दोष उठा रहे हैं। भला यह भी कोई न्यायसंगत व्यवहार कहा जा सकता है ? जिस प्रकार भिन्न भिन्न पृथक् करनेकी अशक्यता चित्रज्ञान आदि पदार्थोंमें है, वैसे ही अशक्यविवेचना अवग्रह, ईहा स्वभाववाले मतिज्ञानमें भी है। एक देवदत्त आत्माके अपने अपने हेतुओंके क्रम अनुसार क्रम क्रमसे हो रहे और वर्ण, संस्थान, रचना, ऊंचापन, आदि विशेषणरूप पर्याय और उन पर्यायोंसे सहित हो रहे विशेष्यद्रव्यको ग्रहण करनेकी टेववाले ये अवग्रह ईहा स्वरूप दो ज्ञान (कर्त्ता) अन्य जिनदत्त, पार्श्वदत्त, आदि आत्माओंमें प्राप्त करानेके लिये शक्य हो रहे नहीं हैं। एक आत्माके एक मतिज्ञानस्वरूप अवग्रह, ईहा, ज्ञान चित्रज्ञानके समान पृथक् करने योग्य नहीं हो सकेंगे। अवग्रह, ईहाज्ञान और चित्रज्ञानमें तिस प्रकारकी प्रतीति होनेका कोई विशेष (भेद) नहीं है। एक पदार्थ अनेक धर्म आत्मक हो रहा है। इस सिद्धान्तको हम कई बार निर्णीत कर चुके हैं। किन्तु पुनः पुनः प्रतिवादियोंके शंकापिशाचिनी ग्रस्त हो जानेसे उनकी बार बार चिकित्सा करनी पडती है। स्याद्वाद सिद्धान्तका रहस्य प्रतीत हो जानेपर तो अखिल सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

कथं पुनरवायः स्यादित्याह।

एक मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, भेदोंको हम समझ चुके हैं। अब आप बताईये कि फिर तीसरा अवाय मतिज्ञान किस प्रकारका होगा ? इस प्रकार प्रतिपाद्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी अवायका लक्षण कहते हैं।

अवग्रहगृहीतार्थभेदमाकांक्षतोक्षजः।
स्पष्टोवायस्तदावारक्षयोपशमतोत्र तु ॥ ६२ ॥
संशयो वा विपर्यासस्तदभावे कुतश्चन।
तेनेहातो विभिन्नोसौ संशीतिभ्रांतिहेतुतः ॥ ६३ ॥

अवग्रहज्ञानसे गृहीत हो चुके अर्थके विशेष अंशोंकी आकांक्षा करनेवाले ईहाज्ञानसे उत्पन्न हो रहा निर्णय आत्मक स्पष्ट अवायज्ञान है । वह अवायज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य है और इस प्रकरणमें ग्रहण किया गया अवायज्ञान तो उस अवायको आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमसे होनेवाला लिया गया है । उस अवायज्ञानके नहीं होनेपर ईहाज्ञानसे जान लिये गये उस ईहित विषयमें किसी कारणसे संशय या विपर्ययज्ञान हो सकते हैं । तिस कारण संशय और विपर्ययके निमित्तकारण हो रहे ईहाज्ञानसे वह अवायज्ञान सर्वथा भिन्न है । अर्थात्—मनुष्यका अवग्रह हो चुकनेपर दक्षिण देशीय या उत्तरदेशीयकी शंका उपस्थित हो जानेपर यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिये ऐसा ईहाज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु ईहाज्ञानसे वह संशय सर्वथा दूर नहीं हो सका है । उत्तरीको दक्षिणी कह दिया गया होय ऐसा विपर्यय हो जाना भी सम्भव रहा है । इस विपर्ययज्ञानका निरास भी ईहासे नहीं हो सका है । किन्तु अवायज्ञानसे संशय और विपर्यय दोनोंका निरास कर दिया जाता है । यों अपने अपने नियत विषयोंमें तो अवग्रह, ईहा ज्ञान भी व्यवसाय आत्मक हैं । विशेष अंशोंके भी निर्णय करादेनेका ठेका उन्होंने नहीं ले रखा है । पदार्थोंमें अनेक विशेष अंश तो ऐसे पडे हुए हैं कि जिन अर्थ पर्यायोंको अवाय, धारणा, महाधारणा तो क्या, केवलज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञान नहीं जान सकता है ।

विपरीतस्वभावत्वात्संशयाद्यनिबंधनं ।
अवायं हि प्रभाषंते केचिद् दृढतरत्वतः ॥ ६४ ॥

संशय, विपर्यय, ज्ञानोंके विपरीत स्वभाववालापन होनेसे अवायज्ञान संशय आदिक ज्ञानोंका कारण नहीं है । क्योंकि वह अवायज्ञान अत्यन्त अधिक दृढस्वरूप है । दृढ अवाय हो जानेपर पोले संशय आदिकी उत्पत्ति होना असम्भव है । इस प्रकार कोई विद्वान् प्रकृष्ट भाषण करते हैं । हमको भी वह इष्ट है । अतः उन समानधर्मा सज्जनोंके प्रति हमारा सप्रमोद सादर व्यवहार है ।

अक्षज्ञानतया त्वैक्यमीहयावग्रहेण च ।
यात्यवायः क्रमात्पुंसस्तथात्वेन विवर्तनात् ॥ ६५ ॥

इन्द्रियजन्यज्ञानपनः—स्वरूपकरके अवग्रह और ईहाके साथ अवायज्ञान एकताको प्राप्त हो जाता है । कारण कि चेतन आत्माका क्रम क्रमसे तिस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवायपनेकरके परिणमन होता रहता है ।

विच्छेदाभावतः स्पष्टप्रतिभासस्य धारणा ।
पर्यंतस्योपयुक्ताक्षनरस्यानुभवात्स्वयम् ॥ ६६ ॥

अवग्रह आदि ज्ञानोंका विच्छेद करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमरूप अभाव हो जानेसे अवग्रह आदिक धारणापर्यन्त स्पष्ट प्रतिभासनेवाले ज्ञानोंका स्वयं तैसा अनुभव हो रहा है। अतः अक्षरूप आत्मा या इन्द्रिय और आत्माको कारण मानकर अवग्रह आदिकका आत्मलाभ करना उपयोगी है। अर्थात्—इन्द्रिय और आत्माकी सहायतासे तथा क्रमकरके हुये क्षयोपशम अनुसार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन ज्ञानोंका उत्पाद होते हुये स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है।

ननु च यत्रैवावग्रहगृहीतार्थस्य विशेषप्रवर्तनमीहायास्तत्रैवावायस्य धारणायाश्च ततो नावायधारणयोः प्रमाणत्वं गृहीतग्रहणादिति पराकूतमनूद्य प्रतिक्षिपन्नाह।

यहां किसी प्रतिवादीका स्वमन्तव्य अनुसार आमंत्रण है कि जिसी अर्थको अवग्रहने गृहीत किया है, उसी गृहीत हो चुके अर्थके विशेष अंशोंमें ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति है। यहांतक तो प्रमाणपनेका निर्वाह है। किन्तु जहां ही ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति है, वहा ही अवायज्ञान प्रवर्त रहा है। और जिसी गृहीत अर्थमें अवायज्ञानकी प्रवृत्ति रही है, उसीमें धारणाका विशेष प्रवर्तन मान लिया है। तिस कारण अवाय और धारणाको प्रमाणपना नहीं हो सकता है। क्योंकि इन दोनों ज्ञानोंने गृहीत विषयको ही ग्रहण किया है। इस प्रकार दूसरे प्रतिवादियोंके सचेष्ट कथनका अनुवाद कर उसका खण्डन करते हुये श्रीविद्यानन्द आचार्य प्ररूपण करते हैं।

अवायस्य प्रमाणत्वं धारणायाश्च नेष्यते।
समीहयेहिते स्वार्थे गृहीतग्रहणादिति ॥ ६७ ॥
तदानुमाप्रमाणत्वं व्याप्रियात्तत एव ते।
इत्युक्तं स्मरणादीनां प्रामाण्यप्रतिपादने ॥ ६८ ॥

समीचीन ईहाज्ञानके द्वारा विचार लिये गये स्वकीय अर्थमें अवाय और धारणाज्ञानोंकी प्रवृत्ति हो रही है। इस कारण गृहीतका ग्रहण करनेसे अवाय और धारणाको यदि प्रमाणपना नहीं इष्ट किया जायगा, तब तो तुम्हारे यहां अनुमानप्रमाण भी तिस ही कारण अप्रमाणपनका व्यापार कर बैठेगा, यानी अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा। क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्तिज्ञानसे गृहीत हो चुके विषयमें व्यापार करता है। इस बातको हम स्मरण तर्क आदि ज्ञानोंको प्रमाणपना प्रतिपादन करते समय कह चुके हैं। अर्थात्—सामान्यरूपसे पूर्वप्रमाण द्वारा गृहीत हो चुके भी विषयोंके विशेष देश, काल, अवस्था, व्यक्तिपना, आदि धर्मोंकी विशिष्टतासे गृहीत नहीं हुये अर्थको जाननेवाले स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानज्ञान हैं। अतः प्रमाण हैं। पण्डितका पठन, चर्वितका चर्वण, भुक्तका भोजन, गृहीतका ग्रहण, तभीतक दोष है, जबतक कि वह साक्षात् अव्यवहित रूपसे होय। परम्परासे या कुछ नवीन विशेषताओंका वेश (पोशाक) पहिन-

नेसे तो नूतन वस्तु हो जानेके कारण वह दोष नहीं गिना जाता है। चाण्डालसे साक्षात् स्पर्श हो जाना दोष है। किन्तु भूमि, क्षेत्र, गृहका व्यवधान हो जानेपर परम्परासे क्रूरकर्मा चाण्डालका स्पर्श उतना दोष नहीं गिना जाता है। भंगीका पैसा या नाजके छूजानेपर भी कोई कोई स्नान नहीं करते हैं। दृष्टपदार्थ भी समारोप हो जानेसे अदृष्टके समान हो जाता है। इसी प्रकार गृहीत हो चुके अर्थमें भी विशेष विशेषांशोंको ग्रहण करनेवाले अवाय, धारणा, ज्ञान प्रमाण हैं। सर्वथा नवीनता तो विस्मयकरी और भयावह है।

सत्यपि गृहीतग्राहित्वेवायधारणयोः स्वस्मिन्नर्थे च प्रमाणत्वं युक्तमुपयोगविशेषात्। न हि यथेहागृह्णाति विशेषं कदाचित्संशयादिहेतुत्वेन तथा चावायः तस्य दृढतरत्वेन सर्वदा संशयाद्यहेतुत्वेन व्यापारात्। नापि यथावायः कदाचिद्विस्मरणहेतुत्वेनापि तत्र व्याप्रियते तथा धारणा तस्याः कालांतरावेस्मरणहेतुत्वेनोपयोगादीहावायाभ्यां दृढतमस्वात्। प्रपंचतो निश्चितं चैतत्स्मरणादिप्रमाणत्वप्ररूपणायामिति नेह प्रतन्यते।

गृहीतका ग्राहकपना होते हुये भी अवाय और धारणा ज्ञानोंका स्व और अर्थ विषयको जाननेमें प्रमाणपना मानना युक्त है। क्योंकि विशेष उपयोग उत्पन्न हो रहा है। जिन अंशोंको अवग्रह, ईहा ज्ञानोंने छुआ भी नहीं था, उनमें अवाय और धारणाज्ञान विशेष उपयोग करा रहे हैं। जिस प्रकार ईहाज्ञान अर्थके विशेषको कभी कभी संशय, विपर्यय आदिके कारणपने करके जान रहा है, तिस प्रकार अवाय नहीं जानता है। क्योंकि वह अवायज्ञान अपने विषयको जाननेमें अतिदृढ है। इस कारण सभी कालोंमें संशय आदिका हेतु नहीं हो करके अवाय अपने विषयको जाननेमें व्यापार कर रहा है। अर्थात्—ईहाज्ञान हो करके भी उस विषयमें संशय, विपर्यय उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु अवाय हो जानेपर उस विषयमें कदाचित् भी (सर्वदा) संशय विपर्यय नहीं हो पाते हैं। क्या यह विशेषता कम है ? तथा धारणामें भी यों ही लगाना कि जिस प्रकार अवायज्ञान कभी कभी विस्मरणका कारण होनेपनसे भी उस अर्थको जाननेमें व्यापार कर रहा है, उस प्रकार धारणाज्ञान व्यापार नहीं कर रहा है। क्योंकि वह धारणाज्ञान तो कालान्तरोंमें नहीं विस्मरण होने देनेका हेतु है। इस कारण अवायज्ञानसे धारणाज्ञानद्वारा विशेष उपयोग ज्ञान हुआ। अतः यह धारणाज्ञान अवग्रह, ईहाज्ञानोंसे वज्रकीलके समान ठुका हुआ अत्यधिक दृढ हो रहा है। यह विशेषता तो बडी पुष्ट है। इस विषयको हम स्मरण आदि ज्ञानोंके प्रमाणपनका प्रकृष्ट कथन करनेके अवसरमें विस्तारसे निश्चित करा चुके हैं। इस कारण यहां अधिक विस्तार नहीं किया जाता है। जितना कुछ नवीन प्रमेय कहा था, उसको यहां प्रकरणमें कहकर तुमको अगृहीत ज्ञेयका ग्रहण करा दिया गया है। जैसे कि विषयोंको जाननेमें रह गई त्रुटिको अगृहीतका ग्रहण कर अवाय और धारणाज्ञान पूर्ण करा देते हैं।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रभाष्यके प्रकरणोंका स्थूलरूपसे परिचय यों है कि सबसे प्रथम मतिज्ञानके निर्णीत हो चुके प्रकारोंका भेद निर्णयार्थ सूत्रका अवतार हुआ बताया है । पश्चात् अवग्रह आदिका निर्दोष लक्षण कहकर मतिज्ञानके साथ समानाधिकरणपना साधा गया है। अद्वैतवादियोंका निराकरण कर भेदज्ञानद्वारा स्पष्ट प्रतिभास होना बताया है। सभी ज्ञान सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करते हैं। अकेले सत् सामान्यका ही निर्बाध ज्ञान नहीं होता है। बौद्धोंका स्वलक्षण को जाननेवाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी पारमार्थिक नहीं है। जब कि पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप हैं, तो आत्मा क्षयोपशमके अनुसार अवग्रह आदि द्वारा अंशी, अंश, उपाशंको यथायोग्य जानता रहता है। दर्शन उपयोगसे अवग्रह ज्ञान न्यारा है। ये अवग्रह आदिक ज्ञान सदा क्रमसे ही होते हैं। आकांक्षासे कुछ मिला हुआ ईहाज्ञान और संस्काररूप धारणाज्ञान स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे प्रमाणरूप जाने जा रहे हैं। आत्माका चैतन्य आत्माके अन्य गुणोंपर छाप मारता रहता है। सांख्योंका अवग्रह आदिको प्रकृतिका परिणाम मानना ठीक नहीं है। दूर पदार्थमें क्रमसे होते हुये जाने जा रहे अवग्रह आदिके समान निकट देशमें अवग्रह आदिकोंका क्रमसे होना सूक्ष्म ज्ञानियोंको अनुभूत हो रहा है। सविकल्पक अवग्रह ज्ञान प्रमाण है। उसके साक्षात् फल स्वार्थनिर्णय और परम्परासे ईहाज्ञान, हान आदि बुद्धियां हैं। प्रमाण और फलका कथंचित् भेद, अभेद, इष्ट किया है। निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानोंका या स्वलक्षण और विकल्प्य विषयोंका एकत्वाध्यवसाय होना अशक्य है। यहां विशेष विचार किया गया है। विशिष्ट क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें स्पष्टता, अस्पष्टता, आ जाती हैं। इस कारण अवग्रह आदिक स्पष्ट ज्ञान हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हो सकते हैं। हां, व्यंजनावग्रह अस्पष्ट होनेसे परोक्ष है। मन इन्द्रियसे ही ईहा नहीं होती है किंतु अन्य इन्द्रियोंसे भी ईहाज्ञान होता है। इस अवसरपर बौद्धोंके साथ अच्छी चर्चा की गई है। इंद्रिय और मनसे उत्पन्न हुये अवग्रह, ईहाज्ञान, आत्माकी क्रमसे उत्पन्न हुई भिन्न भिन्न पर्यायें हैं। किन्तु ये सब पर्यायें एक मतिज्ञानस्वरूप हैं। तभी तो तत् ऐसे उद्देश्यदलके एकवचन मतिज्ञानके साथ " अवग्रहेहावाय-धारणाः " इस विधेयदलके बहुवचनका सामानाधिकरण्य बन जाता है। सभी प्रतिवादियोंने भिन्न भिन्न ढंगोंसे अनेकान्तकी शरण पकडी है। संशय और विपर्ययज्ञानोंका निराकरण करता हुआ स्पष्ट अवायज्ञान है। ईहासे इतना कार्य नहीं हो सकता है। आवरणोंका विशेष अपगम हो जानेसे दृढतरज्ञान होता है। अवाय और धारणा कथंचित् अगृहीतग्राही हैं। श्वेताम्बर लोगोंने प्रमाणके लक्षणमें अपूर्वार्थ विशेषण नहीं डाला है। उनका अनुभव है कि सम्पूर्णपदार्थ भविष्यमें एक एक समय पीछे नवीन नवीन पर्यायोंको धारते रहते हैं। अतः सभी अपूर्वार्थ हैं। दहीको जमा हुआ कह देनेसे कोई प्रयोजन नहीं साधता है। इसपर हम दिगम्बर सम्प्रदायवालोंका कहना है कि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पदार्थ तो नवीन उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु ज्ञान द्वारा उस नवीनताका ग्रहण नहीं होनेपर धारावाहिक हो जानेसे वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है। विषयके अनुसार विषयीको हो जानेकी व्यवस्था नहीं है। अतः प्रमाणके लक्षणमें अपूर्व विशेषणका प्रयोग करना व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिये सफल है। किसी विषयमें ईहाज्ञान हो चुकनेपर भी संशय आदिक उठ सकते हैं किन्तु अवायज्ञान हो जानेपर संशय, विपर्ययको अवसर नहीं मिलता है। तथा किसी विषयका अवाय हो जानेपर भी कालान्तरमें वह विषय भूला जा सकता है। किन्तु धारणाज्ञान हो जानेपर कालान्तरोंमें विस्मरण नहीं होने पाता है। क्षयोपशम अनुसार तारतम्यको लिये हुये जैसी जैसी धारणा होगी तदनुसार एक मिनट, एक घण्टा, एक दिन, एक मास, वर्षभर, जन्मतक, जन्मान्तरोंतक भी उद्बोधक कारण मिलनेपर पीछे स्मरण हो जाता है। इस प्रकार सामान्य विशेष आत्मक वस्तुमें क्रमसे हो रहे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाज्ञान हैं। ये सब मतिज्ञान हैं। एकदेशविशद होनेसे न्याय ग्रन्थोंमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माने गये हैं। वस्तुतः ये सभी ज्ञान परोक्ष हैं।

सदा लोचनादर्शनात्स्युः क्रमेणाऽऽत्मनोवग्रहेहादि संवेदनानि।
मतिज्ञानहर्म्यस्थसुस्थम्भतुल्यान्युपादानहानानपेक्षाफलाप्त्यै ॥ १ ॥

—×—

मतिज्ञानके विशेष प्रभेदोंका निरूपण करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज भव्यजीवोंको तत्त्वज्ञानार्थ सोलहवां सूत्ररूप प्रसाद बांटते हैं।

बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

बहुत अधिक वस्तु या बहुत संख्यावाली वस्तु और बहुत प्रकारकी वस्तुयें तथा शीघ्र अथवा सम्पूर्ण नहीं निकले हुये, नहीं कहे गये और निश्चल तथा इनसे इतर अर्थात् थोडे या एक एवं एक प्रकार या अल्पप्रकार तथा चिरकाल, पूरा निकला हुआ, कण्ठोक्त कहा गया, अस्थिर, इन पदार्थोंके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, आदिक ज्ञान होते हैं। पूर्व सूत्रमें कहे गये ज्ञानोंके ये बहु आदिक बारह पदार्थ विषय हैं।

किमर्थमिदं सूत्रं ब्रवीति। यद्यवग्रहादिविषयविशेषनिर्ज्ञानार्थं तदा न वक्तव्यमुत्तरत्र सर्वज्ञानानां विषयप्ररूपणात् प्रयोजनांतराभावादिति मन्यमानं प्रत्याह।

कोई विद्वान् शब्दकृत लाघवको ही विद्वत्ताका प्राण मानता हुआ आक्षेप करता है कि इस बहु आदि सूत्रको उमास्वामी महाराज किसलिये कह रहे हैं ? बताओ। यदि अवग्रह आदि ज्ञानोंके विशेष विषयोंका निर्णयज्ञान करानेके लिये यह सूत्र कहा जाता है, तब तो यह सूत्र नहीं कहना चाहिये। क्योंकि कुछ आगे चलकर उत्तरवर्त्ती प्रकरणमें संपूर्ण ज्ञानोंके विषयका सूत्रकार द्वारा स्पष्टकथन किया ही जावेगा। " मतिश्रुतयोर्निबन्धो " यहांसे लेकर चार सूत्रोंमें ज्ञानके विषयोंका

निरूपण है। इस विषयनिरूपणके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन दीखता नहीं है। फिर इस लम्बे सूत्रद्वारा बन्धन बढाकर गम्भीरग्रन्थका शरीर क्यों बोझिल किया जा रहा है? इस प्रकार मनमें मान रहे मनमौजी विद्वान्के प्रति श्री विद्यानंद आचार्य समाधान कहते हैं।

केषां पुनरिमेवग्रहादयः कर्मणामिति।
प्राह संप्रतिपत्त्यर्थं बह्वित्यादिप्रभेदतः ॥ १ ॥

जिस प्रकार अन्नरूप कर्मकी पाकक्रिया होती है, शास्त्ररूप कर्मकी अध्ययनक्रिया होती है, उसी प्रकार ये अवग्रह आदिक क्रियाविशेष फिर किन कर्मोंके होते हैं? इसको भेद प्रभेदसे भले प्रकार समझानेके लिये ग्रन्थकार उमास्वामी महाराज बहु, बहुविध, इत्यादि सूत्रको अच्छा कहते हैं अथवा ज्ञानके विषयभूत अर्थको बहु आदि प्रभेदोंसे समझानेके लिये यह सूत्र कहा है।

नावग्रहादीनां विषयविशेषनिर्ज्ञानार्थमिदमुच्यते प्राधान्येन। किं तर्हि। बहादिकर्मद्वारेण तेषां प्रभेदनिश्चयार्थं कर्मणि षष्ठीविधानात्।

अवग्रह आदि ज्ञानोंके विशेष विषयोंका निर्णय करानेके लिये यह सूत्र प्रधानतासे नहीं कहा जाता है, तो "किसलिये कहा जाता है?" ऐसी जिज्ञासा होनेपर यह उत्तर है कि बहु, बहुविध आदिक ज्ञेयकर्मोंके द्वारा उन अवग्रह आदिकोंके प्रभेदोंका निश्चय करानेके लिये यह सूत्र कहा है। "कर्तृकर्मणोः कृति षष्ठी" इस सूत्रद्वारा यहां कर्ममें षष्ठी विभक्तिका विधान किया है। अवग्रह्णाति, ईहते, अवैति, धारयति, इस प्रकार गणके रूपोंका प्रयोग होनेपर तो कर्ममें द्वितीया हो जाती है। किन्तु कृदन्त प्रत्ययान्त अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, इस प्रकार क्रियाओंका प्रयोग होनेपर तो कर्ममें षष्ठी विभक्ति हो जाती है। अतः अवग्रह आदि ज्ञानोंके व्याप्यभेदोंको विषयमुद्रासे समझानेके लिये यह सूत्र कहा गया है। सर्वत्र लाघव गुण दिखलानेकी ठेव अच्छी नहीं है। आततायी पुरुषका लाघव दिखलाना तुच्छता दोषमें परिणत हो जाता है। किम्वदन्ती है कि एक लोभिन सासुने अपने जामाताका सुसज्जित वस्त्र नहीं देकर एक बनोरेसे सत्कार किया और तर्क उठानेपर व्याख्यात्री श्वश्रूने दामादको समझा दिया कि सम्पूर्ण अनेक प्रकारके वस्त्रोंका आदि बीज यह बिनौरा ही है। अधिक गौरव बढानेकी अपेक्षा यह लाघव अच्छा है। इस प्रकरणके कुछ समय पीछे सासका लडका जब अपनी बहिनको लिवानेके लिये अपने जीजाके ग्रामको गया तो उसके काव खारहे जीजाने अपने सालेको भोजनकी थालीमें पोंडेकी एक अंगुल गांठ परोस दी और समझा दिया कि सम्पूर्ण मिठाईयोंका मूल कारण यह गांठ है। श्री गोम्मटसारमें खांड बनानेवाले पोंडाको पर्वबीज माना है। अभिप्राय यह है कि ऐसे जघन्य लाघवोंसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। महती हानि उठानी पडती है। शीतबाधाका दूर करना, शरीरकी

लज्जाका निवारण करना, ठाठ प्रगट करना, ये कार्य एक बनौलेसे नहीं सधते हैं। तथा क्षुधा निवृत्ति होकर तृप्ति होना, रसना इन्द्रिय द्वारा सुमधुर स्वाद प्राप्त होना ये कार्य फीकी छोटी गन्नेकी गांठसे नहीं पूर्ण हो पाते हैं। पर्यायोंसे निभनेवाले कार्योंको शक्तियां नहीं कर पाती हैं। अतः अधिक प्रतिपत्ति करानेवाले परोपकारी ग्रन्थकारोंसे ऐसे निरर्थक लाघवकी अभिलाषा रखना ही बढी हुई लघुता है।

कथं तर्हि बह्वादीनां कर्मणामवग्रहादीनां च क्रियाविशेषाणां परस्परमभिसंबंध इत्याह।

तो फिर यह बताओ कि बहु, बहुविध, आदिक विषयभूत कर्मोका और अवग्रह आदिक विषयी क्रियाविशेषोंका परस्परमें सब ओरसे कौनसा सम्बन्ध हो रहा है ? इस प्रकार शुश्रूषु प्रतिपाद्योंकी महती जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज वार्तिक श्लोकोंद्वारा समाधान कहते हैं।

बह्वाद्यवग्रहादीनां परस्परमसंशयम्।
प्रत्येकमभिसंबंधः कार्यो न समुदायतः ॥ २ ॥
बहोः संख्याविशेषस्यावग्रहो विपुलस्य वा।
क्षयोपशमतो नुः स्यादीहावायोथ धारणा ॥ ३ ॥
इतरस्यावहोरेकद्वित्वाख्यस्याल्पकस्य वा।
सेतरग्रहणादेवं प्रत्येतव्यमशेषतः ॥ ४ ॥

बहु आदिक कर्मोका और अवग्रह आदि क्रियाओंका परस्परमें प्रत्येकके साथ संशयरहित होकर पर्याप्तरूपसे सम्बन्ध कर देना चाहिये। समुदायरूपसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। आत्माके क्षयोपशम होनेसे संख्याविशेष बहुतका अथवा अधिक परिमाणवाले विपुल पदार्थका अवग्रह हो जाता है। तथा बहुत संख्या या विपुलपदार्थके ईहा, अवाय, और धारणाज्ञान क्षयोपशम अनुसार हो जाते हैं। इसी प्रकार इतर सहितके ग्रहणसे इतर अर्थात् अबहु यानी एक, दो, नामक संख्या विशेष अथवा अल्पपदार्थके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा हो जाते हैं। इसी ढंगसे सम्पूर्ण बहुविध आदिक और अबहुविध आदि विषयोंके अवग्रह, ईहा आदिक पूर्णरूपसे समझलेने चाहिये।

बहुविधस्य त्र्यादिप्रकारस्य विपुलप्रकारस्य वा तदितरस्यैकद्विप्रकारस्याल्पप्रकारस्य वा, क्षिप्रस्याचिरकालप्रवृत्तेरितरस्य चिरकालप्रवृत्तेः, अनिःसृतस्यासकलपुद्गलोद्गतिमत इतरस्य सकलपुद्गलोद्गतिमतः, अनुक्तस्याभिप्रायेण विज्ञेयस्येतरस्य सर्वात्मना प्रकाशितस्य, ध्रुवस्याविचलितस्येतरस्य विचलितस्यावग्रह इत्यशेषतोवग्रहः संबंधनीयः, तथेहा तथावायस्तथा धारणेति समुदायतोभिसंबंधोनिष्टप्रतिपत्तिहेतुः प्रतिक्षिप्तो भवति।

उक्त कारिकाओंमें बहु और अबहुके अवग्रह आदिक जैसे कह दिये हैं, उसी प्रकार बहुविध यानी तीन, चार, आदि बहुत प्रकारोंके अथवा विस्तीर्ण प्रकारोंके तथा उस बहुविधसे इतर यानी एक दो प्रकारके अथवा अल्प प्रकारके विषयोंका अवग्रह होता है। क्षिप्र यानी शीघ्र कालमें हो रही प्रवृत्तिका अथवा उससे इतर यानी अधिक कालकी प्रवृत्तिका अवग्रह होता है। अनिसृत यानी जिसके सम्पूर्ण पुद्गल ऊपरको नहीं निकल रहे हैं, उसका और तदितर यानी जिसके सम्पूर्ण पुद्गल ऊपर प्रकट हो रहे हैं, उस पदार्थका अवग्रह हो जाता है। जो विना कहे ही अभिप्राय करके ठीक जान लिया गया है, उसका अवग्रह होता है। और उससे इतर जो सम्पूर्णरूपसे शब्दोंद्वारा प्रकाशित कर दिया गया है, उस पदार्थका अवग्रह हो जाता है। तथा ध्रुव यानी चलित नहीं हो रहेका और इतर यानी विचलित हो रहे का अवग्रह होता है। इस प्रकार पूर्णरूपसे बहु आदिक बारहके साथ अवग्रह ज्ञानका सम्बन्ध कर लेना चाहिये। तिस ही प्रकार ईहा तथा अवाय और तिसी ढंगसे धारणा यह भी सम्बन्ध कर लेना चाहिये। यों अडतालीस भेद हो जाते हैं। समुदायसे अभिसम्बन्ध करना अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अनिष्ट की प्रतिपत्तिका कारण है। अतः वह खण्डित कर दिया गया है। अर्थात्—बहुत प्रकारके बहुत नहीं कहे गये निकले हुये पदार्थोंका स्थिरतासे शीघ्र अवग्रह ज्ञान हो जाता है। इस प्रकारका समुदित अर्थ अनिष्टबोधका कारण होनेसे निराकृत कर दिया गया है। अतः बारहोंमेंसे न्यारे न्यारे विषयके अवग्रह आदिक ज्ञान होते हुये माने हैं।

कथं बहुबहुविधयोस्तदितरयोश्च भेद इत्याह।

बहु और बहुविध तथा उनसे इतर एक और एकविध इनमें क्या भेद है?। ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

व्यक्तिजात्याश्रितत्वेन बहोर्बहुविधस्य च।
भेदः परस्परं तद्वद्बोध्यस्तदितरस्य च ॥ ५ ॥

बहु और एक, दो, अबहु ये धर्म तो व्यक्तिविशेषोंके आश्रित हैं। तथा बहुविधपना और एकविधपना ये जातिके आश्रित विषय हैं। अतः बहुका व्यक्तिके आश्रितपना होनेसे तथा बहुविधको जातिके आश्रित होनेसे उनमें परस्परमें भेद है। उसीके समान उनसे इतर यानी एक और एक विधका व्यक्ति और जातिके आश्रित होनेसे परस्परमें भेद समझना चाहिये।

व्यक्तिविशेषौ बहुत्वतदितरत्वधर्मौ जातिविषयौ तु बहुविधत्वतदितरत्वधर्माविति बहुबहुविधयोस्तदितरयोश्च भेदः सिद्धः।

बहुत्व और उससे भिन्न अल्पत्व धर्म तो पृथक् पृथक् विशेष व्यक्तिरूप हैं। तथा बहुविधपना और उससे भिन्न अल्पविधपना धर्म तो अनेकोंमें प्रवर्तनेवाले जातिविशेष हैं। इस प्रकार बहु और

बहुविध तथा उनसे इतर अल्प और अल्पविध इनमें परस्पर भेद सिद्ध है। भेद, प्रभेदसहित अनेक प्रकार कैई जातिके घोडोंका जो ग्रहण है, वह बहुविधका ग्रहण है। एक प्रकारके अनेक घोडोंका ग्रहण एकविधका अवग्रह है। एक दो घोडेका ज्ञान अबहुका अवग्रह है। कैई घोडे, अनेक बैल, कतिपयमहिष आदिका समूहालम्बनज्ञान भी बहुविधका अवग्रह समझा जायगा।

एवं बहेकविधयोरभेद इत्यपास्तं बहूनामप्यनेकानामेकप्रकारत्वं ह्येकविधं न पुनर्बहुत्वमेवेत्युदाहृतं द्रष्टव्यम्।

इस प्रकार बहुत और एकविधका अभेद है, यह शंका भी दूर कर दी गयी समझ लेना चाहिये। क्योंकि भिन्न भिन्न जातिके एक एक पदार्थोंको एकत्रित कर बहुतपना हो सकता है। किन्तु एकविधपना तो एक जातिके अनेक पदार्थोंका ही होगा। अतः बहुत भी एक जातिके अनेकोंका एक प्रकारपना एकविध कहा जाता है। किन्तु वहां फिर बहुतपनेका व्यवहार नहीं करना चाहिये। इस प्रकार उदाहरण दिया जा चुका देख लेना चाहिये।

क्षिप्रस्याचिरकालस्याध्रुवस्य चलितात्मनः।
स्वभावैक्यं न पंचत्वं तथा तदितरस्य च ॥ ६ ॥

शीघ्रकालके क्षिप्रका और चलितस्वरूप हो रहे अध्रुवका स्वभाव एकपना नहीं मानना चाहिये तथा उनसे इतर अक्षिप्र और ध्रुवका भी स्वभाव एक नहीं है, इनमें मोटा अन्तर विद्यमान है।

अचिरकालत्वं ह्याशुप्रतिपत्तिविषयत्वं चलितत्वं पुनरनियतप्रतिपत्तिगोचरत्वमिति स्वभावभेदात् क्षिप्राध्रुवयोर्नैक्यमवसेयं। तथा तदितरयोरक्षिप्रध्रुवयोस्तत एव।

अचिरकालपना तो शीघ्र ही प्रतिपत्तिका विषय हो जानापन है। और चलितपना तो फिर नहीं नियत (स्थिर) हो रहे पदार्थकी प्रतिपत्तिका विषयपना है। इस प्रकार स्वभावके भेद होनेसे क्षिप्र और अध्रुवका एकपना नहीं निर्णीत कर लेना चाहिये। अर्थात्—क्षिप्र ही अध्रुव नहीं है। तथा उनसे विपरीत अक्षिप्र और ध्रुवका भी तिस ही कारण यानी देरसे प्रतीति कराना और स्थिर प्रतिपत्ति कराना, इन स्वभावभेदोंके होनेसे उनका एकपना नहीं जान लेना चाहिये।

निःशेषपुद्गलोद्गत्यभावाद्ध्रुवति निःसृतः।
स्तोकपुद्गलनिष्क्रांतेरनुक्तस्त्वाभिसंहितः ॥ ७ ॥
निष्क्रांतो निःसृतः कात्स्न्र्यादुक्तः संदर्शितो मतः।
इति तद्भेदनिर्णीतेरयुक्तैकत्वचोदना ॥ ८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्पूर्ण पुद्गलोंका प्रकटरूप बाहिर उद्गमपना होनेसे निःसृत हो जाता है। और थोडेसे कतिपय पुद्गलोंके निकलनेसे हुआ ज्ञान अनिसृत है। और अभिप्रायोंसे जान लिया गया तो अनुक्त है। जब कि पूर्णरूपसे निकाला गया पदार्थ निसृत है। और पूर्णरूपसे कह दिया गया पदार्थ उक्त माना गया है। इस प्रकार उनके भेदका निर्णय हो जानेसे उनमें एकपनेका कुबोध उठाना युक्त नहीं है। अर्थात्—यदि कोई यों कहे कि उक्त और निःसृतमें कोई अन्तर नहीं है। कारण कि सम्पूर्णशब्दोंके मुखद्वारा निकलनेसे श्रवण इन्द्रियजन्य निःसृतज्ञान होगा और उक्तज्ञान भी ऐसा ही है। इसपर आचार्योंका यह कहना अकलंक है कि अन्यके उपदेशपूर्वक जो शब्दजन्य वाच्यका ग्रहण है, वह उक्त है, और स्वतः जो ग्रहण हो गया है, वह निःसृत है। जलनिमग्न हाथीकी ऊपर निकली हुई सूंडको देखकर हाथीका ज्ञान अनिःसृत मतिज्ञान है। और बाहर खडे हुये हाथीका ज्ञान निःसृत है। कहीं कहीं एकविध और बहुत या निःसृत और उक्त तथा क्षिप्र और अध्रुवका सांकर्य भी हो जाय तो हमे अनिष्ट नहीं है। किन्तु इन प्रत्येकके भी न्यारे न्यारे उदाहरण लोकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं।

अनिःसृतानुक्तयोर्निःसृतोक्तयोश्च नैकत्वचोदना युक्ता लक्षणभेदात्।

अनिःसृत और अनुक्त तथा निःसृत और उक्तमें एकपनका कुतर्क उठाना युक्त नहीं है। क्योंकि इनके लक्षण न्यारे न्यारे भिन्न हैं।

कुतो बह्वादीनां प्राधान्येन तदितरेषां गुणभावेन प्रतिपादनं न पुनर्विपर्ययेणेत्यत्रोच्यते।

यहां किसीका प्रश्न है कि श्री उमास्वामी महाराजने बहु, बहुविध आदिका प्रधानताकरके क्यों प्रतिपादन किया है? और गौणरूपसे क्यों अल्प, अल्पविध, आदि इतरोंका प्रतिपादन किया है! फिर विपरीतपनेसे ही प्रतिपादन क्यों नहीं किया! अर्थात—अल्प, अल्पविध, आदिको कण्ठोक्त कहकर बहु बहुविध, आदिको इतर पदसे ग्रहण करना चाहिये, जब कि अल्प, अल्पविध आदिके कथनमें अर्थकृत, उपस्थितिकृत, गुणकृत, और प्रमाणकृत, लाघव विद्यमान है। देखिये, बहु आदिकका प्रथमसे ही न्यारे न्यारे अनेक भावोंका ज्ञान करना गुरुतर कार्य है। किन्तु अल्प पदार्थोंको पहिले समझकर शेषोंमें बहुत पदार्थोंको जानलेना सुलभ है। इसी प्रकार शनैः शनैः अधिककालमें व्युत्पत्ति करनेकी अपेक्षा अतिशीघ्र व्युत्पत्ति करना कठिन है। निर्बल पुरुषपर होकर धीरे धीरे विलम्बसे रेलगाडी निकालना सुलभसाध्य है। किन्तु रेलगाडीको वेगपूर्वक शीघ्र चलाना अधिक भयंकर है। इसी प्रकार निःसृतोंको समझकर परिशिष्टमें अनिःसृतोंका समझ लेना सुलभ पडता है। यही युक्ति उक्तोंसे इतर अनुक्तोंके समझनेमें सुकर है। ध्रुवका व्यवसाय कर इतर अध्रुवके निर्णय करनेकी अपेक्षा अध्रुवका निर्णय कर परिशिष्ट रह गये ध्रुवोंका समझना अतिसुलभ है। किसी नौकर द्वारा जिनचन्द्रको आम, अमरूद, अनार, नारङ्गी चार फल मगाने हैं। ऐसी दशामें अल्प चार फलोंका नाम लेकर निषेध करने योग्य शेषफल, अन्न, पुष्प, वस्त्र, आदि इतर बहुत पदार्थोंका

ज्ञान करा देना अधिक सुलभ है। किन्तु निषेध करने योग्य असंख्य फल, वस्त्र, आदिकोंका कण्ठोक्त एक एकका निरूपण कर शेष बचे हुये अभीष्ट चार फलोंका ज्ञान कराना अतिकठिन है। फिर आचार्य महाराजने शिष्योंके समझानेके लिये क्लिष्ट उपाय अवलम्ब क्यों लिया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्यद्वारा उत्तर कहा जाता है।

तत्र प्रधानभावेन बह्वादीनां निवेदनं ।
प्रकृष्टावृतिविश्लेषविशेषात् नुः समुद्भवात् ॥ ९ ॥
तद्विशेषणभावेन कथं चात्राल्पयोग्यतां ।
समासृत्य समुद्भूतेरिति[illegible] ॥ १० ॥

तिस सूत्रमें प्रधानरूपसे बहु, बहुविध, आदिका श्री उमास्वामी आचार्यने जो निवेदन किया है, उसका कारण यह है कि ज्ञानावरणके अधिक प्रकर्षताको लिये हुये क्षयोपशविशेषसे जीवके बहु आदि ज्ञानोंकी समीचीन उत्पत्ति होती है। और उन बहु आदिके विशेषण होकरके इतर अल्प, अल्पविध, आदिके ज्ञान आत्मामें अच्छे उत्पन्न हो जाते हैं, यह समाधान किया गया है। भावार्थ—बहु, बहुविध, शीघ्र, अनिसृत, नहीं कहा गया, अविचलित, इन पदार्थोंकी झटिति करनेके लिये बढिया क्षयोपशम होना चाहिये। अन्य शेषोंके लिये मन्द क्षयोपशमसे भी निर्वाह हो सकता है। विशेष बुद्धिमान् पुरुष बहु आदिको समझकर कालाणुओंके निमित्तसे जराग्रस्त हो गई बुद्धिसे अल्प आदि पदार्थोंको भी लगे हाथ समझ लेता है। किन्तु अल्प आदिको जाननेवाली बुद्धि द्वारा शेष बचे हुये बहुतोंका ज्ञान तो नहीं हो सकेगा। महाव्रतोंका कण्ठोक्त उपदेश देकर ही अणुव्रतोंका परिशेषमें उपदेश देना न्याय्य है। बडी विपत्तिमें आक्रान्त हो चुकनेपर मनुष्य छोटी विपत्तिको सुलभतासे सहलेता है, किन्तु छोटीको सहनेवाला बडी विपत्तिके प्राप्त होनेपर घबडा जाता या मर जाता है।

अथ बह्वादीनां क्रमनिर्देशकारणमाह ।

अब बहु, बहुविध, आदिकोंके यथाक्रमसे निर्देश करनेके कारणको आचार्य कहते हैं।

बहुज्ञानसमभ्यर्च्यं विशेषविषयत्वतः ।
स्फुटं बहुविधज्ञानाज्जातिभेदावभासिनः ॥ ११ ॥
तत्क्षिप्रज्ञानसामान्यात्तच्चानिःसृतवेदनात् ।
तदनुक्तगमात्सोपि ध्रुवज्ञानात्कुतश्चन ॥ १२ ॥

जातिका आश्रय कर भेदोंको प्रकाशनेवाले बहुविध पदार्थोंके ज्ञानकी अपेक्षासे विशेषरूप अधिक पदार्थोंको विषय करनेवाला होनेके कारण बहुका ज्ञान अच्छा चारों ओर पूजनीय है। यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अर्थात्—जातिका अवलम्ब कर पदार्थोंका जानना उतना स्पष्ट नहीं है, जितना कि व्यक्तियोंका आश्रय कर पदार्थोंका जानना विशद या आदरणीय है। अतः बहुविधसे पहिले बहुका कहना प्रशस्त है। तथा सामान्यरूपसे शीघ्र ही पदार्थको जाननेकी अपेक्षा उस बहुविधका ज्ञान करना आदरणीय है। अतः क्षिप्रके पूर्वमें बहुविध कहा है। तथैव वह क्षिप्रका ज्ञान भी अनिःसृत ज्ञानसे श्लाघ्य है। अनिःसृत पदार्थको बतानेकी अपेक्षा छात्रको शीघ्र बतानेपर अधिक लब्धांक प्राप्त हो जाते हैं। और उस अनुक्तकी अपेक्षासे अनिःसृतका ज्ञान अभ्यर्चित है। छल, कपटपूर्ण जगत्में अनुक्त पदार्थको समझना जितना सरल है, उतना इन्द्रियों द्वारा अनिःसृत पदार्थका समझना सुकर नहीं है। वह अनुक्तज्ञान भी किसी कारणवश (अपेक्षा) ध्रुवज्ञानसे पूजनीय है। अचलितको जाननेकी अपेक्षा मायावियोंके अनुक्त अभिप्रेतोंका या विद्वानोंकी गूढ चर्चाका पता पालेना कठिन है। अतः अल्पस्वरपना, सुसंज्ञापन, आदिका लक्ष्य न रखकर अर्चनीयका विचार करते हुये श्री उमास्वामी आचार्यने बहु, बहुविध, आदि सूत्रमें पदोंका क्रम कहा है। दोमें पूर्वप्रयोग करनेके लिये अन्यतरपर विशेषदृष्टि रक्खी जाती है। बहु तो इतनी नहीं। शिष्योंकी जिज्ञासा या प्रतिपत्तिके क्रमकी स्वाभाविक प्रसिद्धि इसी प्रकार है।

तत्तद्विषयबह्वादेः समभ्यर्हितता तथा।
बोध्यं तद्वाचकानां च क्रमनिर्देशकारणं ॥ १३ ॥

उन उन बहु, बहुविध, आदिको विषय करनेपनकी अपेक्षासे बहु आदिके ज्ञानोंको अधिक पूजनीयपना समझ लेना चाहिये। तथा उन बहु आदिकके वाचक शब्दोंके भी क्रमसे निर्देश करनेका कारण वही अभ्यर्हितपना समझ लेना चाहिये। पूज्यके ज्ञानरूप ध्यानसे पुण्य प्राप्त होता है। वैसा ही पूज्यका नामकथन करनेसे भी पुण्य मिलता है। ज्ञानको समझानेके लिये शब्दके अतिरिक्त अन्य अच्छा उपाय कोई नहीं है। पूज्य पदार्थोंके साथ वाचक सम्बन्ध हो जानेसे शब्द पूज्य हो जाता है। यहांतक कि भूमि, काल, वायु, आसन, आदि भी पूज्य हो जाते हैं। क्षेत्र पूजा, कालपूजा, या विशिष्ट पुरुषोंके उपकरणोंका सत्कार इसी भित्तिपर किये जाते हैं।

बह्वादीनां हि शब्दानामितरेतरयोगे द्वंद्वे बहुशब्दो बहुविधशब्दात्प्राक् प्रयुक्तोभ्यर्हितत्वात् सोपि क्षिप्रशब्दात् सोप्यनिःसृतशब्दात्सोप्यनुक्तशब्दात् सोपि ध्रुवशब्दात्। एवं कथं शब्दानामभ्यर्हितत्वं ? तद्वाच्यानामर्थानामभ्यर्हितत्वात्। तदपि कथं ? तद्ग्राहिणां ज्ञानानामभ्यर्हितत्वोपपत्तेः, सोपि ज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशेषप्रकर्षादुत्कर्षविशुद्धि-

प्रकर्षस्य परमार्थतोभ्यर्हितस्य भावादिति । तदेव यथोक्तक्रमनिर्देशकरणस्य कारणमवसीयते कारणांतरस्याप्रतीतेः ।

बहु, बहुविध, आदिक शब्दोंका इतरइतरयोग नामका द्वन्द्वसमास होनेपर बहुविध शब्दसे पहिले बहुशब्द प्रयुक्त किया गया है । क्योंकि विशेष विशेष अनेक व्यक्तियोंको कहनेवाला वह बहु शब्द अनेक जातियोंको कहनेवाले बहुविध शब्दसे अधिक पूज्य है और वह बहुविध भी क्षिप्र शब्दसे अधिक अर्चनीय है । तथा वह क्षिप्र शब्द भी अनिःसृतसे और वह अनिःसृत भी अनुक्त शब्दसे तथा वह अनुक्त भी ध्रुवशब्दसे अधिक सपर्या करने योग्य है । यहां यदि कोई यों प्रश्न करें कि मुख, तालु, आदि अथवा चेतनप्रयत्नद्वारा उत्पन्न हुये शब्दोंको इस प्रकार अभ्यर्हितपना कैसे है ? बताओ ! उसके प्रति हमारा यह उत्तर है कि उन शब्दोंके वाच्य अर्थोंकी परिपूज्यता होनेसे वाचकशब्द भी पूज्य हो जाते हैं । महान पुरुषकी मूर्ति या चित्र भी आदरदृष्टिसे देखा जाता है । फिर कोई पूछे कि उन वाच्य अर्थोंको पूज्यपना किस ढंगसे हुआ ? इसका समाधान यों है कि उन महान् अर्थोंके ग्रहण करनेवाले ज्ञानोंका अतिपूज्यपना बन रहा है । अर्थात् आत्माका गुण ज्ञान परमपूज्य है । उसमें जो प्रकृष्ट पदार्थ आदरणीय होकर विषय हो रहे हैं, वे भी पूज्य हो जाते हैं । विषयीधर्मका विषयमें आरोपित कर लिया जाता है, जैसे कि जड घटको प्रत्यक्षज्ञानका विषय होनेसे प्रत्यक्ष कह देते हैं । यदि कोई पुनः चोद्य उठावे कि वह ज्ञान भी पूज्य क्यों है ? इसपर हमारा यह उत्तर है कि निकृष्ट हो रहे ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मोंके विशेषक्षयोपशमके अत्युत्तम प्रकर्ष होनेसे उत्पन्न हुई, उक्त पूज्यज्ञानोंकी विशुद्धिका प्रकर्ष वास्तविकरूपसे अभ्यर्हित होकर विद्यमान हो रहा है । अर्थात् हमारी ही अन्तरंग विशुद्धि हमको परमपूज्य है । उसकी आत्मीय विशुद्धि उसके कारण विशिष्ट क्षयोपशममें मान ली जाती है । यहां कार्यके स्वकीय धर्मका कारणमें आरोप है । और क्षयोपशमकी प्रकर्षतासे ज्ञानमें पूज्यताका संकल्प है । यहां कारणका धर्म कार्यमें आरोपित किया है । तथा ज्ञानमें पूज्यता आ जानेसे उसके द्वारा जानने योग्य ज्ञेय पदार्थोंमें भी पूज्यपनेका अध्यारोप है । यहां विषयीका धर्म विषयमें धर दिया गया है । सूक्ष्म एवंभूतनय तो घट, पट, जिनगुरु, आदिके ज्ञानोंको ही घट, पट, आदि पदार्थ कह रहा है । तथा ज्ञेय पदार्थोंमें ज्ञानद्वारा पूज्यपना आ जानेसे उस ज्ञानके वाचक शब्दोंको भी अभ्यर्हितपना आ जाता है । जैसे कि वक्ताके प्रामाण्यसे शब्दमें प्रमाणपना प्राप्त हो जाता है । या पापकी कथाओंका कहना, सुनना, भी यदि श्रोताको व्यतिरेक मुद्रासे शिक्षाद्वारा निवृत्ति मार्गपर नहीं लगा पाता है, तो पापक्रियाके समान ही दुर्गतिका कारण है । व्याकरणमें " कौपीन " शब्दकी निरुक्ति यों की गई है कि " कूपे पातयितुं योग्यं कौपीनं पापं तत्प्रधानकारणत्वात् लिंगमपि कौपीनं तदाच्छादनवस्त्रत्वाद्वस्त्रमपि कौपीनं " यानी जो कूएमें गिराने (फेंकने) योग्य पदार्थ है, वह कौपीन है, जो कि पाप है । अतः कौपीनका मुख्य

शब्दार्थ पाप हुआ, किन्तु पापका विशिष्ट कारण होनेसे लिङ्ग भी कौपीन माना गया है। और उस लिंगका आच्छादन करनेवाला वस्त्र भी कौपीन कहा जाता है। यहां तीन स्थलोंपर आरोप किया गया है। तब कहीं कौपीनका अर्थ लंगोटी हो पाया है। प्रतिपादकके ज्ञानका कार्य होनेसे और प्रतिपाद्य श्रोताके ज्ञानका कारण होनेसे शब्द भी अपने कारण और कार्योंसे वैसे धर्मों (प्रामाण्य) को प्राप्त कर लेता है। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्। यद्यपि निश्चयनयसे सम्पूर्ण वस्तुऐं स्वप्रतिष्ठित हैं। फिर भी व्यवहारनयसे विचारनेपर न जाने किसके निमित्तसे कौनसे भले बुरे कार्य जगत्में हो रहे हैं। न जाने किन प्राचीन पुरुषोंके आशीर्वादोंसे या किस लडका, लडकी, बहू आदिके प्रकृष्ट भाग्य अनुसार क्षेम वर्त रहा है। सुभिक्ष, सुराजा, धार्मिक क्रियायें आदि प्रवर्त रहे हैं। अन्यथा कृतघ्नता, दुष्टविचार, बकभक्ति, ईर्षा, कलह, हिंसाभाव, गुरुद्रोह, व्यभिचारपरिणाम, वंचना आदिक कुकर्म तो अधःपतनकी ओर धक्कापेल ले जाय ही रहे हैं। समुदायकृत पुण्यपाप भी ग्राम, नगर, देशकी समृद्धि या विपत्तिमें सहायक होता है। कचित् एक ही भैसा पूरी पोखरको खबीला कर देता है। प्रकृतमें यह कहना है कि न जाने किसके निमित्तसे किसमें किसका व्यपदेश हो रहा है। पूज्य आत्माओंके सम्बन्धसे उनका शरीर पवित्र हो जाता है। और पवित्रशरीरके सम्बन्धसे वे स्थान क्षेत्र बन जाते हैं। अतः ऊपर ऊपरसे चली आई हुई पूज्यताके अनुसार ज्ञानद्वारा वाचक शब्दोंमें भी पूज्यता आ जाती है। बहुविध शब्दसे बहुशब्द यों ही तो पूज्य हुआ। अतः सूत्रमें कहे गये पदोंके क्रमसे निर्देश करनेका कारण वही निश्चित किया जाता है। अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा है। पूज्यताके देखे गये धन, मोटा शरीर, पण्डिताई, कायक्लेश, उपवास, पूजा करना, पढाना, चिकित्सा करना, प्रभाव, कुलीनता, अधिक आयु, तप आदि इन बहिरंग कारणोंका व्यभिचार दोष देखा जाता है। अतः शब्द या अर्थकी पूज्यतामें निर्दोष ज्ञानका पूज्यपना ही कारण है।

विजानाति न विज्ञानं बहून् बहुविधानपि।
पदार्थानिति केषांचिन्मतं प्रत्यक्षबाधितम् ॥ १४ ॥

एक ही ज्ञान बहुतसे और बहुत प्रकारके पदार्थोंको कैसे भी नहीं जान पाता है " प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः " प्रत्येक अर्थको जाननेके लिये एक एक ज्ञान नियत है। इस प्रकार किन्हीं विद्वानोंका मत है। वह प्रत्यक्षसे ही बाधित है। अर्थात्—एक चाक्षुष प्रत्यक्ष ही सामने आये हुये अनेक वृक्षों, मनुष्यों, धान्यों, पशुओं, आदिको जान लेता है। जातिरूपसे प्रमेयोंको जाननेवाले ज्ञान अनेक प्रकारके अर्थोंको जान रहे हैं। अतः प्रत्येक ज्ञानका विषय एक नियत पदार्थ मानना या प्रत्येक विषयका एक नियतज्ञान मानना प्रत्यक्षविरुद्ध है। अनेक ज्ञान धारावाहिकरूपसे एक विषयको जानते रहते हैं। अनेक ज्ञानोंके समुदायभूत ध्यानमें एक विषय देरतक ज्ञात होता रहता

है। और एक ज्ञान भी समूहरूपसे अनेक अर्थोको विषय करता रहता है। सर्वज्ञका वर्तमानकालमें हुआ एक ज्ञान तो त्रिकालके अनेक प्रमेयोंको युगपत् जान लेता है।

प्रत्यक्षाणि बहून्येव तेष्वज्ञातानि चेत्कथम्।
तद्बद्धोधैकनिर्भासैः शतैश्चेन्नाप्रबाधनात् ॥ १५ ॥

शंकाकार विद्वान् कहता है कि उन अनेक पदार्थोको जाननेमें एक प्रत्यक्ष नहीं प्रवर्त रहा है। किन्तु बहुत प्रत्यक्षों द्वारा एक एक को जानकर बहु या बहुप्रकार पदार्थोका ज्ञान हुआ है। अतिशीघ्र लघुतासे झट पीछे पीछे प्रवृत्ति होनेके कारण अथवा युगपत् अनेक प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जानेके कारण तुमको वे अनेक प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं हो सके हैं। इस प्रकार कहनेपर तो हम पूछेंगे कि उन अज्ञात अनेक प्रत्यक्षोंकी सत्ता कैसे जानी जायगी ? बताओ। उन उन अनेक ज्ञानोंको जाननेके लिये यदि एक एकको प्रकाशनेवाले अनेक ज्ञान उठाये जायंगे, ऐसे सैकडों प्रकाशक ज्ञानोंकरके उनका प्रतिभास होना माना जायगा, यह कहना तो ठीक नहीं। क्योंकि उन ज्ञानोंका भी बाधारहितपनेसे निर्णय नहीं हो पाया है। अतः हमारी समझ अनुसार उन अनेक ज्ञानोंको जाननेवाला ज्ञान तो एक ही आपको मान लेना चाहिये। तद्वत् अनेक विषयोंको एक ज्ञान जान लेता है।

तद्बोधबहुतावित्तिर्बाधिकात्रेति चेन्मतं।
सा यद्येकेन बोधेन तदर्थेष्वनुमन्यताम् ॥ १६ ॥
बहुभिर्वेदनैरन्यज्ञानवेद्यैस्तु सा यदि।
तदवस्था तदा प्रश्नोनवस्था च महीयसी ॥ १७ ॥

यदि प्रश्नकर्ता यों कहे कि उन अनेक ज्ञानोंके बहुतपनेका ज्ञान हो रहा है। अतः वह सबका एक ज्ञान हो जानेका बाधक है। इस प्रकार मन्तव्य होने पर तो हम जैन कहते हैं कि अनेक ज्ञानोंके बहुतपनेका वह ज्ञान यदि एक ही ज्ञानकरके माना जायगा, तब तो उसी अनेक ज्ञानोंको जाननेवाले एकज्ञान समान अनेक अर्थोंमें भी एक ज्ञानद्वारा ज्ञप्ति होना मानलो। यदि अन्य तीसरे प्रकारके अनेक ज्ञानोंसे जानने योग्य दूसरे प्रकारके बहुत ज्ञानोंकरके बहुतोंको जाननेवाले पहिले अनेक ज्ञानोंका वह प्रतिभास माना जायगा, तब तो तीसरे प्रकारके ज्ञानोंको जाननेके लिये चौथे प्रकारके ज्ञान समुदायकी वित्ति आवश्यक होगी। उसके लिये पांचवे प्रकारके ज्ञान मानने पडेंगे। अन्य ज्ञानोंसे अज्ञात हुये ज्ञान पूर्वज्ञानोंको जान नहीं सकते हैं, तब तो वैसाका वैसा ही प्रश्न तदवस्थ रहेगा और बडी लम्बी महती अनवस्था हो जायगी।

स्वतो बह्वर्थनिर्भासिज्ञानानां बहुता गतिः ।
नान्योन्यमनुसंधानाभावात्प्रत्यात्मवर्त्तिनाम् ॥ १८ ॥

बहुत अर्थोंको प्रकाशनेवाले अनेक ज्ञानोंका बहुतपना यदि स्वतः ही जान लिया जायगा सो तो ठीक नहीं । क्योंकि यों माननेपर तो प्रत्येक अपने अपने स्वरूपमें वर्त रहे उन ज्ञानोंका परस्परमें प्रत्यभिज्ञानरूप अनुसंधान नहीं हो सकेगा । किन्तु एक जीवके अनेक ज्ञानोंका अनुसंधान हो रहा है । जैसे कि स्पर्श इन्द्रियसे जाने गये पदार्थको मैं देख रहा हूं, देखे हुये पदार्थका ही स्वाद ले रहा हूं । स्वादिष्टको सूंघ रहा हूं । सूंघे जाचुके का विचार कर रहा हूं । उनकी व्याप्तिका ज्ञान कर रहा हूं, इत्यादि ढंगसे ज्ञानोंके परस्परमें अनुसंधान होते हैं । अतः जैनोंके समान स्वतः जाननेका पक्ष लेना आपको पथ्य नहीं पडेगा ।

तत्पृष्ठजो विकल्पश्चेदनुसंधानकृन्मतः ।
सोपि नानेकविज्ञानविषयस्तावके मते ॥ १९ ॥
बह्वर्थविषयो न स्याद्विकल्पः कथमन्यथा ।
स्पष्टः परंपरायासपरिहारस्तथा सति ॥ २० ॥

उन बहुतसे ज्ञानोंके पीछे होनेवाला विकल्पज्ञान यदि उन ज्ञानोंके अनुसंधानको करनेवाला माना जायगा सो वह भी तो तुम्हारे मतमें अनेक विज्ञानोंको विषय करनेवाला नहीं माना गया है । एक विकल्पज्ञान भी तो आपके यहां एक ही ज्ञानको जान सकेगा । यदि आप अपना प्रत्येक विषयके लिये प्रत्येक ज्ञानके सिद्धान्तको छोडकर दूसरे प्रकारसे एक विकल्पज्ञानद्वारा बहुत ज्ञानोंका विषय कर लेना इष्ट कर लोगे तब तो विकल्पज्ञान बहुत अर्थोंको विषय करनेवाला कैसे नहीं होगा ? हम स्याद्वादी कहते हैं कि अनेक पदार्थोंको जाननेवाला विकल्प स्पष्ट दीख रहा है । और तिस प्रकार माननेपर परम्परासे हुये कठिन परिश्रमका परिहार भी हो जाता है । अर्थात्—एक ज्ञान स्वको स्पष्टरूपसे जानता हुआ अनेक अर्थोंको साक्षात् जान रहा है । ऊंटकी पूंछमें बंधी हुई ऊंटोंकी पंक्तिके समान या चूनके गूझेमें घुसे हुये चूनके समान अनेक अनेक ज्ञानोंकी परम्परा या अन्योन्याश्रयका व्यर्थ परिश्रम नहीं उठाना पडता है । जैनसिद्धान्त अनुसार परम्पराका निरास करना स्पष्ट है ॥

यथैव बह्वर्थज्ञानानि बहून्येवानुसंधानविकल्पस्तत्पृष्ठजः स्पष्टो व्यवस्यति तथा स्पष्टो व्यवसायः सकृद्बहून् बहुविधान् वा पदार्थानालंबतां विरोधाभावात् । परंपरायासोप्येवं परिहृतः स्यात्ततो झटिति बह्वाद्यर्थस्यैव प्रतिपत्तेः ।

उन ज्ञानोंके पीछे होनेवाला अनुसंधान करनेवाला विकल्प जैसे ही बहुत अर्थोंको जाननेवाले बहुत ज्ञानोंको (का) स्पष्ट होता हुआ निर्णय कर लेता ही है, उसी प्रकार स्पष्ट हो रहा अवग्रह

आदिरूप व्यवसाय भी एक ही बारमें बहुतसे अथवा बहुत प्रकारके पदार्थोंको विषय कर लेवेगा कोई विरोध नहीं आता है। और इस प्रकार ज्ञानोंको जाननेके लिये ज्ञान और उनको भी जाननेके लिये पुनः ज्ञान इस ढंगसे हुई परम्पराके कठिन श्रमका भी निराकरण कर दिया जाता है। तिस कारण झट ही बहु आदिक अर्थोंकी प्रतीपत्ति हो जाती है। अतः एक ज्ञान भी अनेक और अनेक प्रकारके अर्थोंको जान सकता है। कोई बाधा नहीं आती है।

एवं बहुत्वसंख्यायामेकस्यावेदनं न तु।
संख्येयेषु बहुष्वित्ययुक्तं केचित्प्रपेदिरे ॥ २१ ॥
बहुत्वेन विशिष्टेषु संख्येयेषु प्रवृत्तितः।
बहुज्ञानस्य तद्भेदैकांताभावाच्च युक्तितः ॥ २२ ॥

कोई प्रतिवादी यह मान रहे हैं कि एक ज्ञानके द्वारा बहुत्व नामकी एक संख्यामें आवेदन करा दिया जाता है। किन्तु गिनने योग्य संख्यावाले बहुत अर्थोंमें इति नहीं कराई जाती है। (विषये सप्तमी) इस प्रकार जो कोई समझ रहे हैं, वह उनका समझना युक्तिरहित है। क्योंकि बहुत्व नामकी संख्यासे विशिष्ट हो रहे अनेक संख्या करने योग्य अर्थोंमें एक बहुज्ञानकी प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है। अर्थात्—एक इन्द्रियजन्य एकज्ञान एक समयमें सैकडों, हजारों, अनेक पदार्थोंको जान लेता है। प्रतिवादी किन्हीं वैशेषिकोंने बहुत्व संख्याको भी समवाय सम्बन्धसे अनेकोंमें वृत्ति माना है। भले ही पर्याप्ति सम्बन्धसे बहुत्व नामकी एक संख्या अनेकोंमें रहती है। किन्तु समवाय सम्बन्धसे प्रत्येकमें न्यारी न्यारी होकर ही अनेक बहुत्व संख्यायें अनेकोंमें ठहरती हुई मानी गयी हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार तो संख्या और संख्यावान्का एकान्तरूपसे भेद नहीं है। गुण और गुणीके सर्वथा भेदका युक्तियोंसे निराकारण कर कथंचित् अभेदको हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं। अतः एक ज्ञानद्वारा बहुत्व संख्याको जाननेवाले वादीको बहुत्व संख्यासे कथंचित् अभिन्न हो रहे अनेक बहुत पदार्थोंका ज्ञान हो जाना अभीष्ट करना पडेगा।

न हि बहुत्वमिदमिति ज्ञानं बहुष्त्वर्थेषु कस्यचिच्चकास्ति बहवोमी भावा इत्येकस्य वेदनस्यानुभवात्। संख्येयेभ्यो भिन्नामेव बहुत्वसंख्यां संचिन्वन् बहवोर्था इति वेत्ति तेषां तत्समवायित्वादित्ययुक्ता प्रतिपत्तिः। कुटाद्यवयविप्रतिपत्तौ साक्षात्तदारंभकपरमाणु-प्रतिपत्तिप्रसंगात्। अन्यत्र प्रतिपत्तौ नान्यत्र प्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हि बहुत्वसंवित्तौ बहर्थसंवित्तिरपि माभूत्।

बहुत अर्थोंको नहीं जानकर उन बहुतसे अर्थोंमें यह एक बहुत्व संख्या है। इस प्रकारका ज्ञान तो किसी छोटे छोकरेको भी नहीं प्रतिभासता है। किन्तु ये या वे आम, रुपये, घोडे आदि

हैं, इस प्रकारके बहुत पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले अनेक अर्थोंका एकज्ञान होता हुआ अनुभवा जा रहा है। यदि तुम यों कहो कि संख्या करने योग्य अर्थोंसे सर्वथा भिन्न हो रही बहुत्वनामक संख्या गुणको इकट्ठा कर जान रहा पुरुष "बहुत अर्थ हैं" ऐसा अनुभव कर लेता है। क्योंकि वे बहुतसे अर्थ उस संख्याके समवायसम्बन्धवाले हो रहे हैं। वस्तुतः एक ज्ञानसे बहुत्व संख्या इकेलीका ज्ञान होता है। किन्तु उस संख्याका सम्बन्ध होनेके कारण सम्बन्धियोंमें आरोप कर लिया जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुमको प्रतिपत्ति करना अयुक्त है। क्योंकि समवेत (बहुत्व संख्या) पदार्थके जाननेसे यदि समवायी पदार्थों (बहुत अर्थ) की प्रतिपत्ति होने लगे तब तो घट, पट, आदि अवयवियोंकी इति हो जानेपर उन घट आदिके अव्यवहितरूपसे समवायी आश्रय हो रहे उनको बनानेवाले परमाणुओंकी इति हो जानेका प्रसंग हो जायगा। जैसे बहुत संख्याका समवायसम्बन्ध बहुतसे अर्थोंमें हो रहा है, उसी प्रकार अवयवी घटका समवायसम्बन्ध उसको प्रारम्भ करनेवाले अनेक परमाणुओंमें हो रहा है। इसपर यदि तुम यों कहो कि अन्य पदार्थमें प्रतिपत्ति हो जानेसे उससे न्यारे दूसरे पदार्थोंमें तो उसी ज्ञानसे प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। घटको जाननेवाला ज्ञान भला घटसे सर्वथा भिन्नकारण परमाणुओंको नहीं जान सकता है। तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रकृतमें बहुत्व संख्याकी अच्छी इति हो जानेपर भी उस बहुत्व संख्यासे भिन्न बहुत अर्थोंकी सम्वित्ति भी नहीं होओ। समवायी और समवेतका कथञ्चित् अभेद तुमने माना नहीं है।

येषां तु बहुत्वसंख्याविशिष्टेष्वर्थेषु ज्ञानं प्रवर्तमानं बहवोर्था इति प्रतीतिः तेषां न दोषोस्ति, बहुत्वसंख्यायाः संख्येयेभ्यः सर्वथा भेदानभ्युपगमात्। गुणगुणिनोः कथंचिदभेदस्य युक्त्या व्यवस्थापनात्। ततो न प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानं बहुबहुविधे संवेदनव्यवहाराभावप्रसंगात्।

जिन स्याद्वादियोंके यहां तो बहुत्व नामकी संख्यायें सन्मुख दीख रहे प्रत्येक पदार्थोंमें एक एक होकर रहती हुयीं अनेक मानी गयीं हैं, उपचार या सादृश्यसे भले ही उन बहुत संख्याओंको एक कह दिया जाय, ऐसी बहुत्व संख्याओंसे विशिष्ट हो रहे अनेक अर्थोंमें प्रवर्त रहा एक ज्ञान ही "ये बहुत अर्थ हैं" इस प्रकार प्रतीतिरूप हो जाता है, उन जैनोंके यहां तो कोई दोष नहीं आता है। क्योंकि संख्या करने योग्य अनेक पदार्थोंसे बहुत्वसंख्याका सर्वथा भेद नहीं माना गया है। उपचारसे एक मान ली गयी बहुत्व संख्या भी मुख्य एक एक बहुत्व संख्याके समान अपने आश्रयसे सर्वथा भिन्न नहीं है। गुण और गुणीके कथंचिद् अभेदको हम युक्तियोंसे व्यवस्थापित कर चुके हैं। तिस कारण प्रत्येक अर्थोंके अधीन होकर वर्त रहा विज्ञान नहीं है। अन्यथा यानी एक ज्ञानकी एक ही अर्थको विषय करनेकी अधीनतासे वृत्ति मानी जायगी तो बहुत और बहुत

प्रकारके अर्थोंमें एक सम्वेदन होनेके व्यवहारके अभावका प्रसंग हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। बालक या पशुपक्षी भी एकज्ञानसे अनेक अर्थोंको युगपद् जान रहे प्रतीत होते हैं।

कथं च मेचकज्ञानं प्रत्यर्थवशवर्तिनि ।
ज्ञाने सर्वत्र युज्येत परेषां नगरादिषु ॥ २३ ॥

यदि ईश्वरको छोडकर अन्य जीवोंके सभी ज्ञानोंको वैशेषिक प्रत्येक अर्थके अधीन होकर वर्तनेवाला मानेंगे ऐसा होनेपर तो भला मेचकज्ञान कैसे युक्त बन सकेगा ? बताओ। अनेक नील, पीत, आदि आकारोंको जाननेवाला चित्रज्ञान तो एक होकर अनेकोंका प्रतिभास कर रहा है। दूसरी बात यह है कि नगर, ग्राम, वन, सेना, आदिमें दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंके यहां एक ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि अनेक बाजार या हवेलियोंका सामुदायिक एक ज्ञान होनेपर ही एक नगरका ज्ञान हो सकता है। अनेक वृक्षोंका एक हो जाना माननेपर ही एक वनका ज्ञान सम्भवता है। अनेक घोडे, पियादे, तोपखाना, अश्ववार सैनिक आदि बहुत पदार्थोंका एक ज्ञानद्वारा ग्रहण होना माननेपर ही एक सेनाका ज्ञान सम्भवता है, अन्यथा नहीं। एक बात यह भी है कि जब ज्ञानके स्वभावकी परीक्षा हो रही है तो ईश्वरका ज्ञान क्यों छोडा जाता है ? ऐसी दशामें सर्वज्ञता नहीं बन सकती है।

न हि नगरं नाम किंचिदेकमस्ति ग्रामादि वा यतस्तद्वेदनं प्रत्यर्थवशवर्ति स्यात्। प्रासादादीनामल्पसंयुक्तसंयोगलक्षणा प्रत्यासत्तिर्नगरादीति चेत् न, प्रासादादीनां स्वयं संयोगत्वेन संयोगांतरानाश्रयत्वात्।

नगर नामका कोई एक पदार्थ तो है नहीं। अथवा ग्राम, सेना, सभा, मेला, धान्यराशि आदिक कोई एक ही वस्तु नहीं है। जिससे कि उनमें नगर, सेना आदिका एक ज्ञान होता हुआ प्रत्येक अर्थके वशवर्ती हो सके। अतः अनेकोंको भी जाननेवाला एक ज्ञान मानना पडेगा। इसपर यदि वैशेषिक यों कहें कि नगर तो एक ही पदार्थ है। वन, सेना, ग्राम, आदि भी एक ही एक पदार्थ हैं। अनेक प्रासादों (महलों) आपणों (बाजारों) और कोठियों आदिका अति अल्प संयुक्त संयोगस्वरूपसे संबंध हो जाना ही एक नगर है। अर्थात् एक हवेलीका दूसरी हवेलीसे अति-निकटसंयोग होना और उस संयुक्त हवेलीका तीसरी हवेली या गृहके साथ अल्पनिकट संयोग होना। इसी प्रकार बाजार मुहल्ले, कूंचे, मंडी आदि अनेकोंका अति निकट एक संयोग हो जाना ही एक नगर पदार्थ है। इसी ढंगसे घोडे, सैनिक, आदि अनेक पदार्थोंका परस्परमें संयुक्त या अतिनिकट होकर परम्परासे अन्तमें एक महासंयोगरूप पदार्थ बन जाता है, वह सेना एक वस्तु है। ग्राम आदिमें भी यही समझ लेना। अनेक घरोंका एक दूसरेसे संयुक्त होते होते

परम्परासे संयुक्तोंका एक अतिनिकट एक संयोग पदार्थ ग्राम है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिक नहीं कहें। क्योंकि महल या ग्रहका विचार चलानेपर तुमने उन प्रासादों, घरों या भींतोंको भी संयोगपनेसे स्वीकार किया है। ईंट, चूना, लकडी, लोहा या सोट, वांस, मट्टी, छप्पर आदिके संयोगको ही प्रासाद या घर माना है। घट, पटके समान एक द्रव्य घर नहीं है। वैशेषिकोंने घरको संयोगनामका गुण पदार्थ माना है। " गुणादिर्निगुणक्रियः " गुणमें पुनः गुण रहता नहीं है। अतः ईंट आदिके संयोगरूप घरमें दूसरे कोठियों आदिका संयोग नहीं ठहर सकेगा। भावार्थ—संयुक्त हो रहे द्रव्यके साथ तो दूसरे द्रव्यका संयोग हो सकता है। किन्तु संयोगरूप एक कोठीका दूसरी संयोगरूप कोठीके साथ पुनः संयोग नहीं हो सकता है। " द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोगः " सजातीय पदार्थोंसे मिलकर बने हुये द्रव्यको तो वैशेषिकोंने द्रव्य मान लिया है। जैसे कि अनेक तन्तुओंसे एक पटद्रव्य बन जाता है। अनेक लोहेके अवयवोंसे एक टीन चद्दर या गाटर बन जाता है। अनेक लकडियोंके अवयवसे एक सोटद्रव्य बन जाता है। किन्तु लकडी, चूना, ईंट, लोहा, पानी आदि विजातीय द्रव्योंके मिल जानेपर एक नवीन द्रव्य नहीं बनता है। अन्यथा मकानमें कील ठोक देनेपर या थालीमें परोसी हुई खिचडीका थालीके साथ मिलकर एक नया द्रव्य बन बैठेगा। देवदत्तके टोपी, कपडा, गहना, पहिननेपर भी एक विलक्षण द्रव्य उत्पन्न हो जावेगा। इस भयसे वैशेषिकोंने अनेक विजातीय पदार्थोंके संयोगरूप हो रहे नगर, ग्राम, खाट, घर, घडी, पसरट्टा आदिको द्रव्य हुआ नहीं मानकर " संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्व " नामक संयोग गुण माना है। अतः संयोगरूप प्रासादोंका पुनः संयोगरूप नगर नहीं बन सकता है। संयोगगुणमें पुनः दूसरा संयोग गुण नहीं रहता। गुणे गुणानङ्गीकारात्। निर्गुणा गुणाः।

काष्ठेष्टकादीनां तल्लक्षणा प्रत्यासत्तिर्नगरादि भवत्विति चेन्न, तस्याप्यनेकगत्वात्। न हि यथैकस्य काष्ठादेरेकेन केनचिदिष्टकादिना संयोगः स एवान्येनापि सर्वत्र संयोगस्यैकत्वव्यापित्वादिप्रसंगात् समवायवत्।

काठ, ईंट, टीन, आदिकी तत्स्वरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) ही नगर आदि हो जाओ। यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनेक काठ, ईंटोंका वह संयोग भी तो अनेकोंमें स्थित हो रहा है। अतः वे संयोग अनेक हैं एक नहीं। जिस प्रकार एक काठ, ईंट, कील, बरगा आदिका किसी दूसरे एक ईंट, चूना आदिके साथ संयोग है। वही संयोग न्यारे तीसरे ईंट, बरगा आदि भी के साथ नहीं है। यों सब संयोगोंके माननेपर तो संयोग गुणको समवायके समान एकपन, व्यापीपन, नित्यपन आदिका प्रसंग हो जायगा। यानी वैशेषिकोंने समवाय को तो एक, नित्य, व्यापक, माना है। किन्तु संयोगको अनेक अनित्य, अव्यापक इष्ट किया है।

विभुद्रव्य संयोगकी बात न्यारी है। ऐसी दशामें अनेक ईंट या अनेक काठोंके अन्य अनेक ईंट काठोंके साथ हो रहे संयोग न्यारे न्यारे हुये, एक संयोग नहीं हो सका, जो कि नगर कहा जा सके।

चित्रैकरूपवच्चित्रैकसंयोगो नगराद्येकमिति चेन्न, साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। न ह्येकं चित्रं रूपं प्रसिद्धमुभयोरस्ति।

नील अवयव, पीत अवयव, आदिसे बनाये गये अवयवीमें वर्तरहे कर्बुर या चित्रविचित्र एकरूप नामक गुणके समान चित्रसंयोग भी एक गुण मान लिया जायगा जो कि एक चित्र संयोग ही नगर, ग्राम, आदि एक पदार्थ बन जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चित्रवर्ण नामका उदाहरण ही साध्यके समान असिद्ध है। असिद्ध उदाहरणसे साध्य नहीं सधता है। लौकिक और परीक्षकोंके यहां या हमारे तुम्हारे दोनोंके यहां एक चित्ररूप कोई प्रसिद्ध नहीं है। तुम भले ही न्यारे कर्बुररूपको मानो, हम तो अनेक नील, पीत, आदिको मिलाकर नया बन गया चित्ररूप नहीं मानते हैं। एक चित्रमें भी न्यारे न्यारे स्थानोंपर न्यारे न्यारे नील, पीत, आदि वर्ण विचित्र हो रहे माने हैं। अतः पांच वर्णोंसे अतिरिक्त कोई छठा चित्रवर्ण नहीं है। अनेक रंगोंके मिलकर तो फिर पचासों रंग बन सकते हैं। उनकी क्या कथा है! वे तो पांच रूपोंके ही भेद, प्रभेद, हो जायंगे।

यथा नीलं तथा चित्रं रूपमेकं पटादिषु।
चित्रज्ञानं प्रवर्तेत तत्रेत्यपि विरुध्यते ॥ २४ ॥
चित्रसंव्यवहारस्याभावादेकत्र जातुचित्।
नानार्थेष्विंद्रनीलादिरूपेषु व्यवहारिणाम् ॥ २५ ॥
एकस्यानेकरूपस्य चित्रत्वेन व्यवस्थितेः।
मण्यादेरिव नान्यस्य सर्वथातिप्रसंगतः ॥ २६ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, कर्बुर, (चित्र) आदि अनेक प्रकारके रूप होते हैं। तिनमें जिस प्रकार नीला एक रूप है, उसी प्रकार छींट कपडा, रंग विरंगे पुष्प, प्रतिबिम्ब पत्र (तसवीरें) आदिकोंमें एक चित्ररूप भी देखा जाता है। उनमें चित्ररूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी प्रवृत्ति हो जावेगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार भी वैशेषिकोंका कहना विरुद्ध पड जाता है। क्योंकि नील, पीत आदि रूपोंको मिलाकर एक चित्र रंग नहीं बन सकता है। अन्यथा चित्र रस या चित्रगंध, बन जानेका भी प्रसंग हो जायगा। नीले, पीले, पार्थिव अवयवोंसे जैसे चित्ररूपवाला अवयवी आरब्ध हो जाता माना है। या कोमल

स्पर्शवाले अवयव और कठिन स्पर्शवाले अवयव अथवा उष्ण स्पर्शवाले और शीत स्पर्शवाले अवयवोंसे बनाये गये अवयवीमें जैसे अनुष्णाशीत स्पर्श माना है, उसी प्रकार खट्टा, मीठा आदि रसों या सुगंध दुर्गन्धके मिलानेसे चित्ररस और चित्रगंधकी उत्पत्ति भी हो जानी चाहिये। नाना जातीय रसवाले अवयवोंसे बनाये गये अवयवीको रसरहित मानना औलूक्यदर्शनवालोंको ही शोभता है। अन्य परीक्षक विद्वानोंको ऐसी निस्तत्त्व बात नहीं रुचती है। सर्वथा एक स्वभाववाले पदार्थमें चित्रपनेका अच्छा व्यवहार कभी नहीं होता है। व्यवहार करनेवाले लौकिक पुरुषोंका नाना रूप वाले इन्द्रनीलमणि, माणिक्य, पन्ना, लहसनीयां, आदि अनेक पदार्थोंमें या इन मणियोंकी बनी हुई मालामें चित्रपनका व्यवहार हो जाता है। एक रंग बिरंगे चित्रपत्रमें कढे हुये या छपे हुये भूषण, वस्त्र, केश, नख आदिके अनेक रंग दिखलाये जानेपर चित्रपना व्यवहृत हो जाता है। जैन सिद्धांत अनुसार अनेकरूप स्वभाववाले एक पदार्थकी चित्रपनकरके व्यवस्था हो रही है। जैसे कि चित्रमणि, पंजिका पुष्प (पंजी) आदि में चित्रता है। हिलती हुई वायुसे सूर्यकिरण या दीपक सम्बन्ध हो जानेपर अनेक आभायें जैसे दीखती हैं, उसी प्रकार चित्रमणिकी अनेक वर्ण रेखायें दीखती रहती हैं। अन्य पदार्थोंको चित्रपना नहीं माना गया है। जलमें घोल दिये गये नीले, पीले, लाल, हरे अनेक रंगोंके समान कोई मिला हुआ चित्र वर्ण नहीं है। वह तो संयुक्त नया रंग बन जाता है। इस प्रकार रंगके पचासों भेद हो जाते हैं। किन्तु दो, तीन, चार, पांच या मिश्रितोंको जोडकर छह सात आठ आदि रंगोंका मिलाकर बनाया गया कोई स्वतंत्र रंग नहीं माना गया है। चित्रवर्णको यदि सर्वथा स्वतंत्र रंग माना जायगा तो अनेक प्रकारके रंगोंके मिश्रणसे नाना चित्र मानने पड जायंगे, यह अतिव्याप्ति या अतिप्रसंग दोष हुआ।

यथानेकवर्णमणेर्मयूरादेर्वानेकवर्णात्मकस्यैकस्य चित्रव्यपदेशस्तथा सर्वत्र रूपादावपि स व्यवतिष्ठते नान्यथा। न ह्येकत्र चित्रव्यवहारो युक्तः संतानांतरार्थनीलादिवत् नाप्यनेकत्रैव तद्वदेवेति निरूपितप्रायम्।

जिस प्रकार कि अनेक वर्णवाले मणि या मयूर, नीलकण्ठ, चीता, चितकबरा घोडा, आदिके अथवा अनेक वर्णस्वरूप हो रहे कपडे पत्र, आदि एक पदार्थके चित्रपनका व्यवहार लोकप्रसिद्ध है, तिसी प्रकार सभी रूप, स्पर्श, रस आदिमें भी वह उसी ढंगसे व्यवस्थित होगा, दूसरे प्रकारोंसे नहीं निर्णीत किया जा सकेगा, सर्वथा एक स्वभाव हो रहे पदार्थमें चित्रपनेका व्यवहार युक्त नहीं है। जैसे कि अन्य देवदत्त, जिनदत्त आदिकी नाना सन्तानोंके विषय हो रहे अर्थोंके नील, पीत आदिका मिलाकर चित्रपना नहीं बन पाता है। तथा सर्वथा अनेक पदार्थोंमें भी वह चित्रपना नहीं बन सकता है। जैसे कि अनेक सन्तानोंके ज्ञान द्वारा जान लिये गये न्यारे न्यारे अर्थोंके उन भिन्न भिन्न नील पीत आदिका मिलकर चित्र नहीं बन सकता है। अर्थात्—एकका

या सर्वथा अनेकका चित्र नहीं बन सकता है, किन्तु अनेक स्वभाववाले एकका चित्ररूप माना जाता है। इस बातको हम प्रायःकरके पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं।

नन्वेवं द्रव्यमेवैकमनेकस्वभावं चित्रं स्यान्न पुनरेकं रूपं। तथा च तत्र चित्रव्यवहारो न स्यात्। अत्रोच्यते—

जैनोंके ऊपर कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार अनेक स्वभाववाला एक द्रव्य ही तो चित्र हो सकेगा, किन्तु फिर कोई एक रूपगुण तो चित्र नहीं हो सकेगा। और तैसा होनेपर उस चित्रवर्णमें चित्रपनेका व्यवहार नहीं बना, इस प्रकार सकटाक्ष शंका होनेपर यहां श्रीविद्यानन्द आचार्यद्वारा समाधान कहा जाता है।

चित्रं रूपमिति ज्ञानमेव न प्रतिहन्यते।
रूपेप्यनेकरूपत्वप्रतीतेस्तद्विशेषतः ॥ २७ ॥

यह चित्ररूप है इस प्रकारके ज्ञान होनेका कोई प्रतिघात नहीं किया जाता है। द्रव्यके समान रूपगुणमें भी अनेक स्वभाववालापना प्रतीत हो रहा है। स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें भी अनेक स्वभाव माने गये हैं। अपने अपने उन विशेषोंकी अपेक्षासे रूप, रस, आदि गुण या पर्यायें भी अनेक स्वभाववाली होकर चित्र कही जा सकती हैं। कोई बिगाड नहीं है। एक ही हरे रंगमें तारतम्य मुद्रासे नाना हरे पदार्थोंके रंगोंकी अपेक्षा अनेक स्वभाव हैं। वे न्यारे न्यारे कार्योंको भी कर रहे हैं। कथंचित् अभेद मान लेनेपर संपूर्ण कार्य सध जाते हैं।

ननु रूपं गुणस्तस्य कथमनेकस्वभावत्वं विरोधात्। नैतत्साधु यतः।

यहां किसीकी शंका है कि रूप तो गुण है। उस गुणको अनेक स्वभावसहितपना भला कैसे माना जा सकता है? क्योंकि विरोध दोष उपस्थित होगा। अर्थात् अनेक गुण और पर्यायोंको धारनेसे द्रव्य तो अनेक स्वभाववाला हो सकता है, किंतु एक गुणमें या एक एक पर्यायमें पुनः अनेक स्वभाव नहीं ठहर पाते हैं। अनवस्थाका भी भय है। इस शंकाका आचार्य समाधान करते हैं कि यह कहना सुन्दर नहीं है जिस कारणसे कि सिद्धान्त यों व्यवस्थित हो रहा है।

गुणोनेकस्वभावः स्याद्द्रव्यवन्न गुणाश्रयः।
इति रूपगुणेनेकस्वभावे चित्रशेमुषी ॥ २८ ॥

अनन्त गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है। अतः अभिन्न हो जानेसे द्रव्यके समान गुण भी अनेक स्वभावोंसे सहित हो सकेगा। किंतु "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इस सूत्रके अनुसार वह गुण अन्य गुणोंका आश्रय नहीं है। भावार्थ—जिस प्रकार पुद्गल द्रव्यमें रूप, रस, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण जड रहे हैं, आत्मामें चेतना, सम्यक्त्व, द्रव्यत्व आदि गुण खचित

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हो रहे हैं, उस प्रकार रूप, रस, चेतना, अस्तित्व आदि गुणोंमें पुनः अन्य कोई गुण नहीं रहते हैं, किंतु तरतमपना, घटियाबढियापन, अविभाग प्रतिच्छेदोंसे सहित पर्याय-धारण करनापना, आदि अनेक स्वभाव उन गुणोंमें पाये जाते हैं। आत्माके चेतन्यगुणमें जानना, देखना, प्रमाणपना, किसी ज्ञानकी अपेक्षा मन्दपना, अन्य ज्ञानकी अपेक्षा तीव्रपना मोक्षहेतुपना, रागहेतुपना, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सामान्य, विशेष, नित्यत्व, अनित्यत्व वक्तव्यत्व, अवाच्यत्व, क्षणिकरणत्व, स्वप्रमितिकर्मत्व, पूर्व उपादानपर्यायकी अपेक्षा उपादेयत्व, उत्तर-पर्यायकी अपेक्षा उपादान कारणपन, हेयहान, उपादेयग्रहणरूप फलकी अपेक्षा सफलपना, अनेक शक्तियोंसे प्रचितपना, अभिव्यंजकपना, कालत्रय सम्बन्धीपना, अन्वयीपन, व्यतिरेकीपन, गुणीके देशमें रहनापन, अन्य सहोदर गुणोंके ऊपर अपनी प्रतिच्छाया धरदेनापन, पाण्डित्य, स्पष्टत्व, अस्पष्टत्व, क्षायिकत्व, आदि अनेक स्वभाव (धर्म) निवास कर रहे हैं। इसी प्रकार पुद्गलके रूप गुणमें सुन्दरता, अधिक कालापन, उद्योतकपन, श्यामलितपन, चाकचक्य, प्रतिबिम्ब डालनापन, नेत्रज्योतिका दायकपन, नेत्रज्योतिका हानिकारकपन, प्रकाशकपन, नील पीत आदि पर्यायोंका धारकपन, न्यून अधिक अविभागप्रतिच्छेदोंसे सहितपन, आदि अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। इस कारण अनेक स्वभाववाले रूपगुणमें चित्र विचित्र ऐसी प्रमाबुद्धि हो जाना समुचित ही है।

न हि गुणस्य निर्गुणत्ववन्निर्विशेषत्वं रूपे नीलनीलतरत्वादिविशेषप्रतीतेः। प्रति-योग्यपेक्षस्तत्र विशेषो न तात्त्विक इति चेन्न, पृथक्त्वादेरतात्त्विकत्वप्रसंगात्।

गुणका अन्य गुणोंसे रहितपना जैसे हमको अभीष्ट है, वैसा विशेष स्वभावोंसे रहितपना इष्ट नहीं है। क्योंकि रूपगुणमें यह नीला है, यह उससे भी अधिक नीला वस्त्र है। यह नील रंग उस वस्त्रसे भी अति अधिक नीला है। इत्यादि प्रकारके विशेषोंकी प्रतीति हो रही है। यदि यहां कोई बौद्ध या वैशेषिक यों कहें कि तिस रूप गुणमें अन्य षष्ठी विभक्तिवाले प्रतियोगियोंकी अपेक्षासे अनेक विशेष दीख रहे हैं। वे अनेक विशेष वास्तविक नहीं हैं। अर्थात्—जो वस्तुकी निज गांठके स्वभाव होते हैं, वे अग्निकी उष्णताके समान अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं किया करते हैं। स्वका यानी परानपेक्ष निजका जो भाव होय वह स्वभाव कहा जाता है। अन्योंकी अपेक्षासे यदि स्वके भाव गढे जायंगे तब तो सेठका रोकडिया भी सेठ बन बैठेगा, अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ हो जायंगे, कुरूप शरीर अभिरूप (सुन्दर) माने जायेंगे। अतः अन्य अपेक्षणीय प्रतियोगियोंकी ओरसे आये हुये व्यपदेशोंको वस्तुका धरू स्वभाव नहीं कहना चाहिये, इस प्रकार वैशेषिकोंका कहना ठीक नहीं। क्योंकि यों तो पृथक्त्व, विभाग, द्वित्व, त्रित्व, संख्या आदिको भी अवस्तुभूतपनेका प्रसंग हो जायगा। कारण कि दूसरे पदार्थकी अपेक्षासे ही किसी वस्तुमें पृथक्पना नियत किया जाता है। दो पना, तीनपना, आदि संख्यायें अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे गिनी जाती हैं। अतः अन्य पदार्थोंके

निमित्तसे उत्पन्न हुये नैमित्तिक धर्म भी वस्तुकी गांठके स्वभाव स्वीकार करो। पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि परिणाम आत्माके विभाव माने जाते हैं ॥

पृथक्त्वादेरनेकद्रव्याश्रयस्यैवोत्पत्तेर्न प्रतियोग्यपेक्षत्वमिति चेन्न, तथापि तस्यैकपृथक्त्वादिप्रतियोग्यपेक्षया व्यवस्थानात् सूक्ष्मत्वाद्यपेक्षैकद्रव्याश्रयमहत्त्वादिवत्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि पृथक्त्व, विभाग, संयोग आदिक तो अनेक द्रव्योंके आश्रित होते हुये ही उत्पन्न होते हैं। अतः वे प्रतियोगियोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं किन्तु आप जैनोंके यहां तो पदार्थमें इधर उधरसे बांइनेके समान पीछेसे अनेक स्वभाव आते रहते माने हैं। मांगेके गहनोंको पहननेसे कोई मनस्वी नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि तो भी उस पृथक्त्व आदिकी एक दूसरे द्रव्यके पृथक्पन आदिक प्रतियोगियोंकी अपेक्षा करके व्यवस्था बन रही है। जैसे कि सूक्ष्मत्व, ह्रस्वत्व, आदिकी अपेक्षा रखते हुये और एक द्रव्यमें आश्रित हो रहे महत्त्व, लम्बापन, बडापन आदिक धर्म माने जाते हैं। नारियलकी अपेक्षा आम छोटा है! आमकी अपेक्षा आमला छोटा है। इस प्रकार अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, परिमाण वैशेषिकोंने स्वयं स्वीकार किये हैं।

तस्यास्खलत्प्रत्ययविषयत्वेन पारमार्थिकत्वेन नीलतरत्वादेरपि रूपविशेषस्य पारमार्थिकत्वं युक्तमन्यथा नैरात्म्यप्रसंगात् नीलतरत्वादिवत्सर्वविशेषाणां प्रतिक्षेपे द्रव्यस्यासंभवात्। ततो द्रव्यवद्गुणादेरनेकस्वभावत्वं प्रत्ययाविरुद्धमवबोद्धव्यम्।

इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि वे पृथक्त्व, महत्व आदिक तो बाधारहित ज्ञानमें ध्रुवरूपसे विषय हो रहे हैं, अतः पारमार्थिक हैं। तब तो हम जैन कहेंगे कि इसी ढंगसे रूपके नील, नीलतर, नीलतम आदिक विशेष स्वभावोंको भी वस्तुभूतपना युक्त मान लेना चाहिये। अन्यथा यानी गांठके नैमित्तिक भावोंको यदि स्वका भाव नहीं माना जायगा तो वस्तुओंको स्वभावरहित पनेका प्रसंग हो जायगा, जैसे कि निरात्मकपना बौद्ध माना करते हैं। बात यह है कि जगत्के प्रत्येक पदार्थमें अनेक स्वभाव प्रतीत हो रहे हैं। चोर उल्लू ठगोंको प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, व्यवहारियोंको प्रकाश समीचीन भासता है। गृहस्थको न्यायधन उपार्जनीय है। दिगम्बर मुनियोंको धन अर्जनीय नहीं है। चीकनी, स्वच्छ, सुथरी, स्थलीके होनेपर भी पिडुकिया काटों या तृणोंको बिछाकर अण्डे देती है, किंतु मनुष्यको ऐसे कण्टकाकीर्णस्थलमें बैठना नहीं रुचता है। संक्षेपमें यही कहना है कि संपूर्ण पदार्थोंमें अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। देखिये, द्रव्यमें गुण रहते हैं। गुणोंमें पर्याये ठहरती हैं, पर्यायोंमें स्वभाव और अविभागप्रतिच्छेद, वर्तते हैं गुण और पर्याय भी सहभावी स्वभाव हैं। वृत्तिमान् धर्मोंको स्वभाव कहते हैं। दण्डद्रव्य दण्डी पुरुषका स्वभाव हो सकता है। रूपगुण पुद्गलका स्वभाव है। अग्निस्वरूप पुद्गलका स्वभाव उष्णतापर्याय है। शीत

ऋतु, वसन्तऋतु, ग्रीष्मऋतुमें अग्निकी उष्णता तरतमरूपसे बढती जाती है। वह अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता अधिकता भी अग्निद्रव्यका स्वभाव है। अग्नि स्वयं स्कन्ध या सजीव पदार्थ है। अतः परद्रव्योंके सम्बन्ध होनेपर बन गया विकृत अग्निपर्याय भी किसी द्रव्यका स्वभाव माना जा सकता है। स्वभाव व्यापक हैं और गुण पर्याय, आरोपित धर्म, अविभागप्रतिच्छेद, आदि व्याप्य हैं। हां, किसी अन्तके स्वभावमें अन्य स्वभाव न रहे, किंतु आश्रितत्त्व, स्वभावत्व आदि स्वभावोंको तो उससे कोई छीन नहीं सकता है। कोई भी पदार्थ निःस्वभाव नहीं है। आप वैशेषिक नील, नीलतर, पका, अधिक पका, मीठा, अधिक मीठा, विद्वत्ता, प्रकाण्ड विद्वत्ता, आदिके समान संपूर्ण विशेषोंका यदि निराकरण करेंगे तो द्रव्यकी भी सिद्धि असम्भव हो जायगी। कारण कि अनेक स्वभावोंकी समष्टि (समुदाय) ही तो द्रव्य है। स्वभावोंके विना द्रव्य कुछ भी शेष नहीं बचता है। जैसे कि जड, शाखा, पत्र, पुष्प, फलोंको निकालदेनेपर वृक्ष कुछ नहीं अवशिष्ट रहता है। मीठापन, पीलापन, शीतपन, सुगन्धि, भारीपन, नरमपन, सचिक्कणता आदि स्वभावोंसे रहित कर देनेपर मोदक (लड्डू) कोई पदार्थ नहीं बचता। आठ काटों और रेखाओंको पृथक् कर देनेसे खाट कुछ नहीं रहती है। इसी प्रकार स्वभावोंके विना द्रव्यका आत्मलाभ असम्भव है। तिस कारण सिद्ध हुआ हुआ कि द्रव्यके समान गुण, पर्याय, कर्म यहांतक कि कतिपय स्वभावोंको भी अनेक स्वभावोंसे सहितपना चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। इस सिद्धांतमें किसी भी प्रातीतिक ज्ञानसे विरोध नहीं आता है।

नन्वनेकस्वभावत्वात्सर्वस्यार्थस्य तत्त्वतः।
न चित्रव्यवहारः स्याज्जैनानां क्वचिदित्यसत् ॥ २९ ॥
सिद्धे जात्यंतरे चित्रे ततोपोद्धृत्य भाषते।
जनो ह्येकमिदं नाना वेत्यर्थित्वविशेषतः ॥ ३० ॥

यहां शंका है कि सम्पूर्ण अर्थोंको यथार्थरूपसे जब अनेक स्वभावसहितपना सिद्ध हो गया तब तो जैनोंके यहां किसी ही विशेष पदार्थमें चित्र विचित्रपनेका व्यवहार नहीं बन सकेगा, अर्थात्—सभी घट, काष्ठ, पीतल, चांदी, रक्त आदि पदार्थ चित्र माने जावेंगे। व्यवहारमें जो विशेषरूपसे रंगा हुआ वस्त्र या अनेक रंगोंका चित्रपट अथवा रंग विरंगा पत्र ही जो चित्र कहा जा रहा है, वही विशेषपदार्थ चित्र न हो सकेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शंकाकारका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि विभिन्न दूसरी जातिवाले चित्र पदार्थके सिद्ध हो चुकनेपर उससे विशेष चित्रित पदार्थकी पृथक्भाव कल्पना कर व्यवहारी मनुष्य विशेष विशेष प्रयोजनोंका साधक होनेसे उन अर्थोंमेंसे किसीको यह एक है, और किन्हींको ये अनेक हैं, इस प्रकार कह देता है।

भावार्थ—जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ यद्यपि अनेक स्वभाववाले हैं। दही और गुडका मिलकर जैसे तीसरी जातिका स्वाद बन जाता है, हल्दी और चूनाको मिलाकर जैसे तीसरा रंग बन जाता है, इसी प्रकार एक वस्तुमें अनेक स्वभावोंका तादात्म्यसम्बन्ध हो जानेपर तीसरी ही जातिकी वस्तु सिद्ध हो जाती है। अतः इस ढंगसे सम्पूर्ण वस्तु चित्र हैं। फिर भी विशेष प्रयोजनको साधनेवाली होनेसे किसी चित्ररंगवाली या अत्यासन्न अनेक स्वभाववाली वस्तुमें चित्रपनेका व्यवहार किया जाता है। खाते, पीते, खेलते सभी छोकरे प्रायः उपद्रवी होते हैं, तो भी किसी विशेष चंचल लडकेको ही नटखटी कह दिया जाता है। या बुद्धिमान सब जीवोंमेंसे किसी एक विशेष ज्ञानीको बुद्धिमान् मान लिया जाता है। प्रत्येक पदार्थसे अनेक प्रयोजन सध सकते हैं। किन्तु अर्थक्रियाके अभिलाषी जीवको उस वस्तुसे जो विशेष प्रयोजन प्राप्त करना है। तदनुसार एकपना, अनेकपना, चित्रपना, विचित्रपना, व्यवहृतकर लिया जाता है। वस्तुकी पारिणामिक भित्तिपर ही प्रयोजनसाधक व्यवहारोंका अवलम्ब है।

सिद्धेप्येकानेकस्वभावे जात्यंतरे सर्ववस्तुनि स्याद्वादिनां चित्रव्यवहारार्हे ततोपोद्धारकल्पनया क्वचिदेकत्रार्थित्वादेकमिदमिति क्वचिदनेकार्थित्वादनेकमिदमिति व्यवहारो जनैः प्रतन्यत इति सर्वत्र सर्वदा चित्रव्यवहारप्रसंगतः क्वचित्तुत्रैकानेकस्वभावभावार्थित्वाच्चित्रव्यवहारोपीति नैकमेव किंचिच्चित्रं नाम यत्र नियतं वेदनं स्यात्प्रत्यर्थवशवर्त्तीति।

एक स्वभाव और अनेक स्वभावोंको धार रही संपूर्ण वस्तुओंके तीसरी जातिवाले अनेकांत आत्मकपनकी सिद्धि हो चुकनेपर यद्यपि संपूर्ण ही वस्तुयें स्याद्वादियोंके यहां चित्रपनेके व्यवहार करने योग्य हैं। फिर भी एक स्वभाववाले और अनेक स्वभाववाले इन दो जातियोंसे निराले तीन जात्यन्तर वस्तुओंसे किसी विशिष्ट वस्तुकी पृथक्भाव—कल्पना करके किसी ही विशेष एक वस्तुमें अभिलाषीपना होनेके कारण यह एक है, इस प्रकार एकपनेका व्यवहार फैल रहा है। और अनेकपनकी अभिलाषा होनेके कारण किन्हीं वस्तुओंमें ये अनेक हैं। इस प्रकारका व्यवहार मनुष्यों करके अधिकतासे विस्तार दिया जाता है। तथा पुनः कहीं अनेक आकारवाली वस्तुमें युगपत् एक स्वभाव और अनेक स्वभावोंके सद्भावकी अभिलाषुकता हो जानेसे चित्रपनेका व्यवहार भी प्रसिद्ध हो रहा है। इस प्रकार संपूर्ण वस्तुओंमें सर्वदा चित्रव्यवहारकी आपत्तिका प्रसंग हो जानेके भयसे हमने यह निर्णीत कर दिया है कि विवक्षावश चित्रपनेकी प्रचुरतासे किसी ही विशेष वस्तुमें चित्रपनेका व्यवहार होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि एक ही कोई पदार्थ चित्र कथमपि नहीं है। जिसमें कि नियतरूपसे हो रहा एक ज्ञान प्रत्येक अर्थके अधीन होकर वर्तनेवाला हो सके। यानी चित्र पदार्थ किसी अपेक्षासे अनेक हैं। उनमें एक ज्ञान हो रहा है। यहांतक तेईसवीं वार्तिकका उपसंहार कर दिया है। बहुतोंको जाननेवाला एक ज्ञान हो सकता है।

योगिज्ञानवदिष्टं तद्बह्वाद्यर्थावभासनम् ।
ज्ञानमेकं सहस्रांशुप्रकाशज्ञानमेव चेत् ॥ ३१ ॥
तदेवावग्रहाद्याख्यं प्राप्नुवत् किमु वार्यते ।
न च स्मृतिसहायेन कारणेनोपजन्यते ॥ ३२ ॥
बह्वाद्यवग्रहादीदं वेदनं शाब्दबोधवत् ।
येनावभासनाद्भिन्नं ग्रहणं तत्र नेष्यते ॥ ३३ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि सर्वज्ञ योगीके ज्ञान समान वह ज्ञान बहु, बहुविध आदि अर्थोंका प्रकाशनेवाला हमने इष्ट किया है । सहस्रकिरणवाले सूर्यके प्रकाश समान एक ज्ञान ही अनेकोंका प्रतिभास कर देता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो वही अनेकग्राही एक ज्ञान अवग्रह नामको प्राप्त हो रहा संता क्यों रोका जा रहा है ? वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे शब्दजन्यज्ञान शाब्दबोध करनेपर पूर्व पूर्व समयोंके उच्चारित होकर नष्ट होते जा रहे पहिले पहिलेके वर्णोंकी स्मृतिको सहाय पाकर अन्तिम वर्णका पुनः अपना ही शाब्दज्ञान करा देता है, उसी प्रकार एक एक ज्ञान द्वारा पहिले देखे गये एक एक अनेक अर्थोंकी स्मृतियां आत्मामें उत्पन्न हो जाती हैं, उन स्मृतियोंकी सहायता पाकर इन्द्रियजन्य अन्तिमज्ञान बहु आदि अनेकोंको जान लेता है । आचार्य कहते हैं कि सो यह वैशेषिकोंका विचार ठीक नहीं है । क्योंकि यह बहु आदिक अर्थोंका अवग्रह आदिकज्ञान शाब्दबोधके समान स्मृतिसहकृत कारणसे नहीं उत्पन्न होता है । जिससे कि अवभास-रूपसे भिन्न ग्रहण वहां इष्ट नहीं ग्रहण किया जाय । भावार्थ—स्मृतिकी अपेक्षासे रहित होकर एक ज्ञान बहु आदिक अर्थोंको जान लेता है ।

यो ह्यनेकत्रार्थेक्षावभासनमीश्वरज्ञानवदादित्यप्रकाशनवद्व्याचक्षीत न तु तद्ग्रहणं स्मृतिसहायेनेंद्रियेण जनितं तस्य प्रत्यर्थिवशवर्त्तित्वात् । स इदं प्रष्टव्यः किमिदं बह्वाद्यर्थे अवग्रहादिवेदनं स्मृतिनिरपेक्षिणाक्षेण जन्यते स्मृतिसहायेन वा ? प्रथमपक्षे सिद्धं स्याद्वादिमतं बह्वाद्यर्थावभासनस्यैवावग्रहादिज्ञानत्वेन व्यवस्थापनात् ।

जो नैयायिक या वैशेषिक नियमसे यों बखान करेगा कि युगपत् अनेक पदार्थोंको जाननेवाले ईश्वरज्ञानके समान या सूर्यप्रकाशके समान इन्द्रियजन्य एक ज्ञान भी अनेक अर्थोंमें वर्त जायगा किन्तु उन अनेक पदार्थोंका ग्रहण युगपत् नहीं होगा, क्रमसे होगा । क्योंकि स्मृतिकी सहायताको प्राप्त कर रहीं इन्द्रियोंसे वह ज्ञान उत्पन्न हुआ है । प्रत्येक अर्थके अधीन होकर वर्तनेवाला होनेसे वह ज्ञान एक ही समयमें अनेकोंको नहीं जान सकता है । आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार कह

रहा वह नैयायिक यों पूंछने योग्य है कि भाई बहु, बहुविध आदिक अर्थोंमें वर्त रहा अवग्रह, ईहा आदि स्वरूप यह ज्ञान क्या स्मृतिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियकरके जाना गया है ? अथवा क्या स्मृतिकी सहायताको धारनेवाली इन्द्रियकरके उत्पन्न किया गया है ? पहिला पक्ष लेनेपर तो स्याद्वादियोंका मत प्रसिद्ध हो जाता है। स्याद्वादसिद्धान्तमें बहु आदिक अर्थोंके ज्ञानको ही अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानपनेकरके व्यवस्थित किया है। अर्थात्—स्मृतिकी अपेक्षा नहीं कर इन्द्रियोंसे बहुत, अल्पविध, आदि अनेक अर्थोंका एक ज्ञान हो जाता है। यह बात बालक, पशु, पक्षियोंतकमें प्रसिद्ध है।

द्वितीयकल्पनायां तु प्रतीतिविरोधतः स्वयमननुभूतपूर्वेपि बह्वाद्यर्थेवग्रहादिप्रतीतेः स्मृतिसहायेंद्रियजन्यत्वासंभवात् तत्र स्मृतेरनुदयात् तस्याः स्वयमनुभूतार्थ एव प्रवर्तनाद-न्यथातिप्रसंगात्। ततो नेदं बह्वाद्यवग्रहादिज्ञानमवभासनाद्भिन्नं शब्दज्ञानवत्स्मृतिसापेक्षं ग्रहणमिति मंतव्यं। यतो युगपदनेकार्थे न स्यात्।

दूसरे पक्षकी कल्पना करनेपर तो प्रतीतियोंसे विरोध हो जानेके कारण वह पक्ष ग्राह्य नहीं है। जो अर्थ आजतक पहिले कभी स्वयं अनुभवमें नहीं आये हैं, उन बहु आदिक अर्थोंमें भी उत्पन्न हो रहे अवग्रह आदिक ज्ञानोंकी प्रतीति हो रही है। अपूर्व अर्थोंमें स्मृतिकी सहायता प्राप्त इन्द्रियोंसे जन्यपना तो असम्भव है। क्योंकि उस अदृष्टपूर्व अर्थमें स्मृतिज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। कारण कि स्वयं पहिले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आदि ज्ञानोंसे अनुभव किये जा चुके अर्थोंमें ही तत् इत्याकारा "वह था" इस विकल्पवाली उस स्मृतिकी प्रवृत्ति मानी गयी है। अन्यथा यानी नहीं अनुभूत किये अर्थमें भी यदि स्मृतिकी प्रवृत्ति मानी जायगी तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्—अनन्त अज्ञात पदार्थोंकी धारणाज्ञान नामक संस्कारके विना भी स्मृति हो जानी चाहिये, जो कि नहीं होती है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि यह बहु आदिक अनेक अर्थोंके अवग्रह आदिक ज्ञान प्रत्येक प्रत्येक अर्थमें ज्ञान रूपसे भिन्न नहीं हैं। जिससे कि अनेक अर्थोंमें या अनेक धर्मस्वरूप एक अर्थमें शक्ति न करा सकें और शब्दजन्य श्रुतज्ञान जैसे संकेत स्मरणकी अपेक्षा सहित हो रहा अर्थोंका ग्रहण है। इसके समान अवग्रह आदि ज्ञान नहीं हैं। अवग्रह आदि तो स्मरणकी अपेक्षा विना ही हो जाते हैं। यह मान लेना चाहिये। ऐसी दशामें अनेक धर्म आत्मक अर्थमें या अनेक अर्थोंमें युगपत् अवग्रह आदिक प्रत्येक ज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है।

भवतु नामधारणापर्यंतमवभासनं तत्र न पुनः स्मरणादिकं विरोधादिति मन्यमानं प्रत्याह।

उन बहु, बहुविध, आदि अर्थोंमें धारणापर्यन्त यानी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणातक ज्ञान भलें ही हो जाओ, किन्तु फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदिक ज्ञान तो उन बहु आदिक विषयोंमें नहीं हो सकेंगे। क्योंकि विरोध दोष आता है। अनेकोंकी स्मृति या संज्ञा करनेपर

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषयोंमें परस्पर विरोध ठन जायगा। इस प्रकार अपने घरमें मानकर बैठनेवाले प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज समाधानरूप भाषण करते हैं।

बहौ बहुविधे चार्थे सेतरेऽवग्रहादिकम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं चिंता वाभिनिबोधनम् ॥ ३४ ॥
धारणाविषये तत्र न विरुद्धं प्रतीतितः।
प्रवृत्तेरन्यथा जातु तन्मूलाया विरोधतः ॥ ३५ ॥

बहुत और बहुत प्रकारके तथा उनसे इतर अल्प, अल्पविध आदि अर्थोंमें अवग्रह आदि धारणातक ज्ञान प्रवर्तते हैं। उसी प्रकार बहु आदि बारह प्रकारके अर्थोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, अनुमान, ज्ञान भी वर्तते हैं। धारणाज्ञान द्वारा विषय किये जा चुके उन बहु आदिक अर्थोंमें प्रवर्त रहे स्मरण आदि ज्ञानोंकी प्रतीति हो रही है। कोई विरोध नहीं है। अन्यथा यानी धारणा किये गये बहु आदिक अर्थोंमें यदि स्मृति आदिककी प्रवृत्ति नहीं मानी जायगी तो उन स्मरण आदिको मूलकारण मानकर उत्पन्न हुयी लोकप्रवृत्तिका विरोध हो जावेगा। अर्थात्—स्मृति आदिकके अनुसार बहु आदिक अर्थोंमें कभी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु होती है।

न हि धारणाविषये बह्वाद्यर्थे स्मृतिर्विरुध्यते तन्मूलायास्तत्र प्रवृत्तेर्जातुचिदभावप्रसंगात्। नापि तत्र स्मृतिविषये प्रत्यभिज्ञायास्तत एव। नापि प्रत्यभिज्ञाविषये चिंतायाश्चिंताविषये वाभिनिबोधस्य तत एव प्रतीयते च तत्र तन्मूला प्रवृत्तिरभ्रांता च प्रतीतिरिति निश्चितं प्राक्।

संस्काररूप धारणाज्ञानके विषय हो रहे बहु, बहुविध आदि अर्थोंमें स्मरण हो जाना विरुद्ध नहीं है। यदि धारणाद्वारा जान लिये गये विषयमें स्मृति होना विरुद्ध माना जायगा तो उन विषयोंमें धारणाको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुयी प्रवृत्तिके कभी भी नहीं होनेका प्रसंग हो जावेगा। किन्तु धारणामूलक स्मृतिके द्वारा ऋण लेना देना, स्थानान्तरमें जाकर अपने घर लौटना, अन्धेरेमें अपने जीनेपर चढना उतरना, आदि अनेक प्रवृत्तियां हो रहीं देखी जाती हैं और उस स्मरणज्ञानद्वारा जान लिये गये विषयमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति होना भी तिस ही कारणसे विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—स्मृतिको कारण मानकर उत्पन्न हुये प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनेक प्रवृत्तियां हो रहीं दीख रहीं यह मार्ग उस मार्गसे दूर है, यह दूकानदार उस दूकानदारसे अच्छा है, पर्वतमें यह वैसा ही धूआं है, जैसा कि रसोई खानेमें अग्निसे व्याप्त हो रहा देखा था। यह वैसा ही शब्द है, जिसके साथ पहिले संकेत ग्रहण किया था, यह वही गृह है, जिसमें कि हमने कल भी निवास किया था, यह वही स्त्री या पति है इत्यादि। तथा प्रत्यभिज्ञानद्वारा जान लिये गये विषयमें चिन्ताज्ञानकी और

चिन्ताद्वारा विषय किये गये अर्थमें अनुमानज्ञानकी प्रवृत्ति भी तिस ही कारणसे विरुद्ध नहीं है। उन ज्ञेय विषयोंमें व्याप्तिज्ञानरूप चिन्ताकी प्रतीति हो रही है। जहां धूआं होता है वहां अग्नि होती है, जो कृतक है, वह अनित्य है, इत्यादि व्याप्तिज्ञान प्रत्यभिज्ञेय विषयमें प्रतीत हो रहे हैं। और व्याप्तिज्ञानसे जाने जा चुके विषयमें यह पर्वत अग्निमान् है, यह घट अनित्य है, इत्यादिक अनुमान ज्ञान हो रहे देखे जाते हैं। और इन पूर्वके ज्ञानोंको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुई प्रवृत्तियां निर्णीत हो रही हैं। प्रत्यभिज्ञान, तर्कज्ञान, स्वार्थानुमान ज्ञानोंद्वारा सोपानपर चरण रखना, भले बुरे मनुष्यका परिचय करना, पर्वतमेंसे अग्नि लाना, आदि प्रवृत्तियां अभ्रान्त होकर प्रतीत की जा रही हैं। इस बातको हम पहिले प्रकरणोंमें निश्चित कर चुके हैं। यहांतक बहु, बहुविध, दोनोंका विचार कर दिया है।

क्षणस्थायितयार्थस्य निःशेषस्य प्रसिद्धितः।
क्षिप्रावग्रह एवेति केचित्तदपरीक्षितम् ॥ ३६ ॥
स्थास्नूत्पित्सुविनाशित्वसमाक्रान्तस्य वस्तुनः।
समर्थयिष्यमाणस्य बहुतोबहुतोग्रतः ॥ ३७ ॥

अब यहां बौद्धोंका पूर्वपक्ष है कि सम्पूर्ण घट, पट, आकाश, आत्मा, आदिक अर्थोंकी एक क्षणतक ही स्थायीपनेकरके प्रसिद्धि हो रही है। इस कारण शीघ्र अवग्रह ही होना तो ठीक है। किन्तु अक्षिप्र अवग्रह किसीका नहीं हो सकता है। कारण कि एक क्षणसे अधिक कालतक कोई भी पदार्थ नहीं स्थिर रहता है। इस प्रकार कोई क्षणिक वादी विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कहना परीक्षा किया गया नहीं है। क्योंकि स्थिति स्वभावसहितपन, और उत्पत्तिकी ठेवसे युक्तपन, तथा विनाशशीलका धारीपन, इन तीन धर्मोंसे चारों ओर घेर ली गयी वस्तुका बहुत बहुत युक्तियोंसे अग्रिम ग्रन्थमें समर्थन करनेवाले हैं। अर्थात्—वस्तु कालान्तर तक ठहरती हुयी ध्रुवरूप है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एक एक पर्याय भलें ही क्षणतक ठहरे किन्तु व्यवहार नय या सकलादेशी प्रमाणद्वारा वस्तु अधिक कालतक ठहरती हुयी जानी जा रही है। अतः ध्रुवरूपसे वस्तुके अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान हो सकते हैं।

कौटस्थ्यात्सर्वभावानां परस्याभ्युपगच्छतः।
अक्षिप्रावग्रहैकांतोप्येतेनैव निराकृतः ॥ ३८ ॥

इस उक्त कथनद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको कूटस्थ नित्य माननेवाले विद्वान्का भी निराकरण कर दिया गया समझलेना चाहिये। कारण कि सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन स्वभावोंसे युगपत् समालीढ हो रहे हैं। अतः सम्पूर्ण पदार्थोंको कूटस्थ नित्यपना होनेके कारण अक्षिप्र अवग्रहको ही चारों ओर स्वीकार कर रहे, दूसरे कापिल विद्वानका अक्षिप्र अवग्रह एकान्त

भी इस कथनकरके खण्डित कर दिया गया है। सांख्यमती आत्माको कूटस्थ नित्य स्वीकार करते हैं। प्रकृतिको परिणामी नित्य मानते हैं, जब कि परिणामका अर्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं कर आविर्भाव, तिरोभाव, किया जा रहा है, तो प्रकृति भी कूटस्थ नित्य नहीं है। आत्मा, आकाश, परमाणु आदि भी प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारते हैं। सूर्य, चंद्रमा आदि विमानोंमें भी अनंत परमाणुयें मिलते निकलते रहते हैं। वज्र, हीरा, सेना आदि कठोर पदार्थ या निबिड वस्तुयें भी पहिले समयके आकारोंका छोडना, उत्तरसमयवर्ती नवीन पर्यायोंको लेना, कालान्तर स्थायी स्वभावसे ध्रुव रहना, इन तीन परिणामोंको अपने तदात्मक परिणाम करते रहते हैं।

क्षिप्रावग्रहादिवदक्षिप्रावग्रहादयः संति त्रयात्मनो वस्तुनः सिद्धेः।

शीघ्र अवग्रह हो जाना, शीघ्र ही ईहाज्ञान हो जाना, आदिके समान अक्षिप्रके अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान भी हो जाते हैं। क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन अवयव आत्मक वस्तुकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। क्षिप्र और अक्षिप्रका विचार हो चुका॥

प्राप्यकारींद्रियैर्युक्तोऽनिसृतानुक्तवस्तुनः।
नावग्रहादिरित्येकेऽप्राप्यकारीणि तानि वा॥ ३९॥

यहां वैशेषिकोंका पूर्वपक्ष है कि ज्ञेय पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कर प्रत्यक्षज्ञान करानेवाली स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय और कर्ण इन्द्रियों करके तो सम्पूर्ण नहीं निकली हुयी अनिसृत वस्तुके और वाचकों द्वारा नहीं कही जा चुकी अनुक्त पदार्थके साथ चार इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं हो सका है। जैनोंने "पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं। गंधं रसं च पासं पुट्ठं बद्धं विजाणादि"। जीव कानसे छूये हुये शब्दको सुनता है। छूये विना ही रूपको दूरसे देख लेता है। तथा गंध, रस और स्पर्शको तो छूये हुये और बंधे हुओंको अच्छा जान पाता है, यह सिद्धान्त माना है। अतः प्राप्यकारी चार इन्द्रियोंद्वारा अनिसृत, अनुक्त अर्थके अवग्रह आदिक नहीं हो सकेंगे। यदि स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र इन्द्रियोंकरके अनिसृत, अनुक्तके अवग्रह आदिक ज्ञान मान लिये जावेंगे तो वे चारों इन्द्रियां चक्षुके समान अप्राप्यकारी हो जावेंगी, जो कि जैनोंको इष्ट नहीं हैं। इस प्रकार कोई एक वादी कह रहे हैं।

प्राप्यकारिभिरिंद्रियैः स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रैरनिसृतस्यानुक्तस्य चार्थस्यावग्रहादिरनुपपन्न एव विरोधात्। तदुपपन्नत्वे वा न तानि प्राप्यकारीणि चक्षुर्वत्। चक्षुषोपि ह्यप्राप्तार्थपरिच्छेदहेतुत्वमप्राप्यकारित्वं तच्चानिसृतानुक्तार्थावग्रहादिहेतोः स्पर्शनादेरस्तीति केचित्।

उन वैशेषिकोंके वक्तव्यका विवरण यों है कि विषयोंसे सम्बन्धकर ज्ञान करानेवाली प्राप्यकारी त्वचा, जीभ, नाक, कान इन चार इन्द्रियोंकरके अनिसृत अनुक्त अर्थके अवग्रह

आदिक ज्ञान होना असिद्ध ही है। क्योंकि विरोध है। यानी जो प्राप्यकारी हैं, वे अनिसृत अनुक्तको नहीं जान सकते हैं। और जो पदार्थ (इन्द्रियां) अनिसृत अनुक्त अर्थोंको जान रहे हैं, वे सम्बन्धी विषयोंको प्राप्त कर प्राप्यकारी नहीं बन सकते हैं। हाथीका पूरा शरीर जब जलसे निकला ही नहीं है, तो उसका स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे ज्ञान भला कैसे हो सकता है ? जो वक्ताके मुखसे कहा गया पदार्थ नहीं है, उसका चार इन्द्रियोंसे कथमपि ज्ञान नहीं हो पावेगा। यदि फिर भी जैन उन अनिसृत अनुक्त अर्थोंके अवग्रह आदिक ज्ञान हो जानेकी उपपत्ति करेंगे तो वे चार इन्द्रियां चक्षुके समान प्राप्यकारी नहीं हो सकेंगी। यानी चक्षुके समान चार इन्द्रियां भी अप्राप्यकारी बन जावेंगी। चक्षुका भी अप्राप्यकारित्व यही है कि चक्षुको दूरवर्ती अप्राप्त अर्थके परिच्छेद करनेका हेतुपना है। और वह अप्राप्यकारीपना अनिसृत अनुक्त अर्थोंके अवग्रह आदि ज्ञानोंकी कारण हो रहीं स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंके भी बन रहा है। ऐसी दशामें चार इन्द्रियोंको भी अप्राप्यकारीपना प्राप्त होता है, जो कि हम वैशेषिकोंको और तुम जैनोंको भी इष्ट नहीं है। इस प्रकार कोई वृद्ध वैशेषिक कह रहे हैं। अब आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि—

तन्नानिसृतभावस्यानुक्तस्यापि च कैश्चन ।
सूक्ष्मैरंशैः परिप्राप्तस्याक्षैस्तैरवबोधनात् ॥ ४० ॥

वह किन्हीं विद्वानोंका कहना उचित नहीं है। क्योंकि अनिसृत पदार्थ और अनुक्तपदार्थोंकी भी उनके सूक्ष्म अंशोंकरके कैई ओरसे प्राप्तिरूप सम्बन्ध हो जाता है। तभी प्राप्त हो रहे विषयका उन स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र, इन्द्रियोंकरके अवग्रह आदिरूप ज्ञान होता है। भावार्थ— चार हाथ दूर रखी हुयी अग्निको हम स्पर्शन इन्द्रियसे छूकर जान लेते हैं। यहां अग्निके चारों ओर फैले हुये स्कन्ध पुद्गल उस अग्निके निमित्तसे उष्ण हो गये हैं। अग्निसे जली हुयी लकडी जैसे अग्नि कही जाती है, वैसे ही अभेददृष्टिसे वे उष्णस्कन्ध अग्निस्वरूप माने जाते हैं। अतः सूक्ष्म अंशोंकर बिखरी हुयी उस चार हाथ दूरकी अग्निको ही छूकर हमने यहांसे स्पर्शन किया है। इसी प्रकार दूर कूटी जा रही खटाई या कुटकीका सूक्ष्म अंशोंसे रसना द्वारा संसर्ग होकर ही रासनप्रत्यक्ष हुआ है। तथा इत्रकी शीशीके दूर रहते हुये भी इत्रके पारिणामिक छोटे छोटे अंशोंको नासिका द्वारा प्राप्त कर ही अनिसृतपदार्थकी गन्धको सूंघा जाता है। दूरवर्ती पौद्गलिक शब्दके परिणति द्वारा फैलकर छोटे छोटे अवयवोंकरके कानतक आ जानेपर ही श्रावण प्रत्यक्ष होता है। अतः चार इन्द्रियोंके प्राप्यकारीपनकी रक्षा होते हुए अनिसृत और अनुक्त अर्थोंके अवग्रह आदिक ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं है। प्रायः सम्पूर्ण पदार्थोंकी पारिणामिक लहरें चारो ओर फैलकर अन्य निकटवर्ती पदार्थोंपर अपने प्रभावोंको डाल देती हैं, जैसे कि चमकदार पदार्थके निमित्तसे उसके निकटवर्ती अनेक पदार्थ चमक जाते हैं। दुर्गन्ध वायुसे चारों ओरके पदार्थ दुर्गन्धित हो

जाते हैं। खिलाडी छोकरोंका सन्निधान होनेपर विद्वान्में कुछ गम्भीरताकी त्रुटि होकर लडकपन आ जाता है। साथमें विद्वान्के संसर्गसे छोकरोंमें भी कुछ गम्भीरता आ जाती है।

निसृतोक्तमथैवं स्यात्तस्येत्यपि न शंक्यते।
सर्वाप्राप्तिमवेक्ष्यैवानिसृतानुक्ततास्थितेः॥ ४१॥

अब वैशेषिक पुनः कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो उस वस्तुका ज्ञान निसृत और उक्त ही हुआ। अर्थात्—इन्द्रियोंद्वारा जब सूक्ष्म अंश सम्बन्धित कर लिये गये हैं, तब तो वह ज्ञान निसृत और उक्त अर्थका ही कहा गया। इसपर आचार्य कहते हैं कि यों भी शंका नहीं करनी चाहिये। कारण कि सम्पूर्ण अंशोंकी अप्राप्तिका विचार कर ही अनिसृतपन और अनुक्तपनकी व्यवस्था की गयी है। भावार्थ—भले ही वस्तुके थोडे अंश निकल गये होंय या अभिप्रायसे कुछ शब्दोंके अंश कह दिये गये होंय फिर भी सम्पूर्ण अंशोंके नहीं निकलने और कहनेकी अपेक्षासे वह अनिसृत और अनुक्तका ज्ञान व्यवहृत हो जायगा। मुनियोंके सदृश अल्प क्रियाओंके पालते हुये भी कोई गृहस्थ मुनि नहीं कहा जा सकता है।

न हि वयं कात्स्न्र्येनाप्राप्तिमर्थस्यानिसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिहेतोरिंद्रियस्याप्राप्यकारित्वमायुज्यते। किं तर्हि। सूक्ष्मैरवयवैस्तद्विषयज्ञानावरणक्षयोपशमरहितजनावेद्यैः कैश्चित् प्राप्तानवभासस्य चानिसृतस्यानुक्तस्य च परिच्छेदे प्रवर्तमानमिंद्रियं नाप्राप्यकारि स्याच्चक्षुष्वेवमप्राप्यकारित्वस्याप्रतीतेः।

हम स्याद्वादी विद्वान् सम्पूर्णरूपसे प्राप्ति नहीं होनेको अर्थका अनिसृतपना अथवा अनुक्तपना नहीं कह रहे हैं। जिससे कि सूक्ष्म अंशोंसे सम्बद्ध हो रहे भी किन्तु पूर्ण अवयवोंसे नहीं प्राप्त हो रहे उन अर्थोंके अवग्रह आदि ज्ञानोंकी कारण हो रही स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंको अप्राप्यकारीपनका आयोजन किया जाय। तो हम क्या कहते हैं? सो सुनो। उन सूक्ष्म अवयवोंको विषय करनेवाले ज्ञानावरण क्षयोपशमसे रहित हो रहे जीवोंकरके नहीं जानने योग्य ऐसे कितने ही छोटे छोटे अवयवोंद्वारा प्राप्त हो रहे भी और अबतक नहीं प्रतिभास किये गये अनिसृत और अनुक्त अर्थके परिच्छेद करनेमें प्रवर्त रहीं इन्द्रियां अप्राप्यकारी नहीं हो सकेंगी। क्योंकि चक्षुमें इस प्रकारका अप्राप्यकारीपना नहीं प्रतीत हो रहा है। अर्थात्—सूक्ष्म और स्थूल अंश या मूलपदार्थके साथ सभी प्रकार सम्बन्ध न होनेपर चक्षु असम्बद्ध अर्थको जानती है। अतः चक्षुमें अप्राप्यकारीपन है। सूक्ष्म अंशोंसे प्राप्ति होकर पदार्थ ज्ञान कराते हुये कल्पित कर लिया गया अप्राप्यकारीपना चक्षुमें नहीं है। किन्तु प्रकरणमें सूक्ष्म अवयवोंसे प्राप्ति होकर स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे अनिसृत अर्थका अवग्रह किया गया है। अतः चार इन्द्रियां अप्राप्यकारी नहीं हो सकती हैं। वे सूक्ष्म अवयव

सभी सामान्य जीवोंकरके नहीं जाने जाते हैं। अतः अनिसृत या अनुक्त अर्थका वह अवग्रह किसी विशिष्ट ज्ञानीके माना गया है।

कथं तर्हि चक्षुरनिंद्रियाभ्यामनिसृतानुक्तावग्रहादिस्तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसंगादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्। तथा च रसगंधस्पर्शानां स्वग्राहिभिरिंद्रियैः स्पृष्टिबंधस्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य श्रोत्रेण स्पृष्टिमात्रं रूपस्य चक्षुषाभिमुखतयानति-दूरास्पृष्टतयावस्थितिः।

पुनः वैशेषिक कटाक्ष करते हैं कि तो तुम जैन विद्वान् बताओ कि चक्षु और मनकरके भला अनिसृत और अनुक्त अर्थके अवग्रह आदिक ज्ञान कैसे हो सकेंगे ? क्योंकि यों तो उन चक्षु और मनको भी प्राप्यकारीपनका प्रसंग हो जावेगा। अर्थात्—सूक्ष्म अवयवोंके साथ प्राप्ति की विवक्षा करनेपर तो चक्षु और मनद्वारा अवग्रहीत अर्थकी भी कुछ कुछ प्राप्ति हो जाती है, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि योग्यदेशमें अवस्थित हो जानेको ही यहां प्राप्तिपदसे कहा गया है। अवग्रहका लक्षण " इन्द्रियार्थ-समवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राहीज्ञानविशेषोऽवग्रहः " ऐसा न्यायदीपिकामें कहा है। " विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः " यह राजवार्तिकमें लिखा है। यहां इन्द्रिय और अर्थोंका योग्य देशमें स्थित रहना प्राप्ति माना गया है। पदार्थके दूर रहते हुये भी चक्षु और मनका योग्यदेशपना बन जाता है। किन्तु शेष चार इन्द्रियोंका अर्थसे सम्बन्ध हो जानेपर ही योग्यदेश अवस्थान बन सकता है। और तैसा होनेपर रस गंध और स्पर्शोंकी अपने अपनेको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकरके स्पर्श कर और बन्ध होकर सम्बन्ध हो जानेपर अपने योग्य देश अवस्थिति बनजाती है। हां, शब्दकी योग्य देश अवस्थिति तो श्रोत्र इन्द्रियके साथ केवल स्पर्श हो जानेपर ही मिल जाती है। तथा चक्षुके साथ रूपकी योग्य देश अवस्थिति तो अभिमुखपने करके और अधिक दूर या अतिनिकट नहीं होकर स्पर्श नहीं करती हुयी अवस्थिति होना है। अर्थात्—रस, गन्ध और स्पर्शको तो सम्बंध कर और घुल जाना रूप बन्ध हो जानेपर, स्पर्शन, रसना, नासिका, इन्द्रियोंकरके जानलिया जाता है। किन्तु शब्दका केवल कानसे छू जानेपर ही अवग्रह करलिया जाता है। हां, चक्षुके साथ विषयके छूजाने और बंधजानेकी आवश्यकता सर्वथा नहीं है। फिर भी इतनी सामग्री अवश्य चाहिये कि दृष्टव्य पदार्थ चक्षुके सन्मुख होय पीछे की ओरके विमुख पदार्थको चक्षु नहीं देख पायेगी। अधिक दूरके वृक्ष, सुमेरु या अतिनिकटवर्ती अंजन, पलक, तिलको भी चक्षु नहीं देख सकती है। अतः योग्य देशमें अवस्थित हो रहे पदार्थको देखनेवाली आंख अप्राप्यकारी मानी जाती है। स्पर्शन आदि चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं।

सा च यथा सकलस्य वस्त्रादेस्तथा तदवयवानां च केषांचिदिति तत्परिच्छेदिना चक्षुषाऽप्राप्यकारित्वमुपदर्शिते ।

और वह योग्य देशकी अवस्थिति जैसे सम्पूर्ण निकले हुये वस्त्र, हाथी आदि अर्थोंके निःसृत ज्ञानमें सम्भवती है, उसी प्रकार उन वस्त्र, हाथी आदिके टुकडे सूत, सूंड, आदिक कितने ही अवयवोंके निकलनेपर अनिःसृत ज्ञानमें भी पायी जाती है। इस प्रकार कुछ अवयवोंको देखकर उन अवयवियोंका परिच्छेद करनेवाली चक्षुकरके अप्राप्यकारीपना प्रसिद्ध हो जाता है। यह चक्षु-द्वारा अनिसृतका अवग्रह है और पदार्थोंको बखान बखान कर दिखानेके अवसरपर कुछ अर्थोंका कथन नहीं होनेपर भी अभिप्रायद्वारा चक्षुसे अनुक्तका अवग्रह हो जाता है। प्रतिभाशाली विद्वान् अनिःसृत और अनुक्त सुख, दुःख इच्छाओंका मन इन्द्रियसे अवग्रह कर लेते हैं। बाजा बजनेसे राग पहचान लिया जाता है।

स्वस्मिन्नस्पृष्टानामबद्धानां च तदवयवानां कियतां चित्तेन परिच्छेदनात् तावता चानिसृतानुक्तावग्रहादिसिद्धेः किमधिकेनाभिहितेन ।

स्पष्ट बात यह है कि अपनेमें नहीं छूरहे और बन्धको नहीं प्राप्त हो रहे उस विषयी अवयवी तथा उसके कितने ही एक अवयवोंका उस चक्षुकरके परिच्छेद हो जाता है। बस, तितने से ही अनिसृत, अनुक्त अर्थोंके चक्षु और मनकरके अवग्रह आदिक प्रसिद्ध हो जाते हैं। अधिक बढाकर कहनेसे क्या लाभ है ? अर्थात्—इस विषयमें अधिक कहना व्यर्थ है। " पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं। गंधं रसं च पासं पुट्ठं बद्धं विजाणादि " यह सिद्धान्त सौलहो आना पक्का है। यहांतक अनिःसृत और अनुक्तका विचार हो चुका है।

ध्रुवस्य सेतरस्यात्रावग्रहदिर्न बाध्यते ।
नित्यानित्यात्मके भावे सिद्धिः स्याद्वादिनोंजसा ॥ ४२ ॥

पदार्थोंको एकान्तरूपसे अध्रुव अथवा ध्रुव ही कहनेवाले वादियोंके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्रकरणमें ध्रुव पदार्थके और इतर सहितके यानी अध्रुव पदार्थके हो रहे अवग्रह आदिक ज्ञान बाधित नहीं हो पाते हैं। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां निर्दोषरूपसे नित्य, अनित्य, आत्मक पदार्थोंमें प्रसिद्धि हो रही है। अर्थात् कथंचित् नित्यकी अपेक्षा होनेपर अर्थको उतनाका उतना ही जानता हूं, कमती बढती नहीं जानता हूं, इस प्रकार पहिलेके ग्रहणसमान ध्रुवरूपसे यथावस्थित अर्थको जान लेता है। इसमें धारावाहिकज्ञान होनेकी शंका नहीं करना। क्योंकि अंश, उपांशोंसे अर्थोंको निश्चल जान रहा जीव अपूर्व अर्थको ही जान रहा है। तथा संक्लेश और विशुद्धि परिणामोंसे सहकृत हो रहा जीव कथंचित् अनित्यपनकी विवक्षा करनेपर पुनः पुनः न्यून, अधिक, इस प्रकार अध्रुव वस्तुका परिज्ञान करता है। यह बालवृद्ध नारीजनोंतकमें प्रसिद्ध हो

रहा है। ध्यानी पुरुषको मन इन्द्रियद्वारा ध्रुव, अध्रुवका ज्ञान विशदरूपसे अनुभूत है। बालकोंको अनेक पदार्थोंके रासनप्रत्यक्षमें ध्रुव, अध्रुवके ज्ञानका प्रकृष्ट, अप्रकृष्टरूपसे अनुभव है।

यदि कश्चिद्ध्रुव एवार्थः कश्चिदध्रुवः स्यात्तदा स्याद्वादिनस्तत्रावग्रहावबोधमाचक्षाणस्य स्वसिद्धांतबाधः स्यान्न पुनरेकमर्थं कथंचिद्ध्रुवमध्रुवं चावधारयतस्तस्य सिद्धांते सुप्रसिद्धत्वात् स तथा विरोधी बाधक इति चेत् न, तस्यापि सुप्रतीते विषयेऽनवकाशात्। प्रतीतं च सर्वस्य वस्तुनो नित्यानित्यात्मकत्वात्। प्रत्यक्षतोनुमानाच्च तस्यावबोधादन्यथा जातुचिदप्रतीतेः।

हां, यदि कोई पदार्थ तो ध्रुव ही होता और कोई पदार्थ अध्रुव ही होता तब तो उस ध्रुव एकान्त या अध्रुवएकान्त पदार्थमें अवग्रह ज्ञानको बखान रहे स्याद्वादीके यहां अपने अनेकान्त सिद्धान्तसे बाधा उपस्थित होती। किन्तु जब फिर एक ही पदार्थको किसी अपेक्षासे ध्रुवस्वरूप और अन्य सम्भावनीय अपेक्षासे अध्रुवस्वरूप अवधारण करा रहे उस अनेकान्तवादीके सिद्धान्तमें नित्य, अनित्यस्वरूप अर्थकी अच्छी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है, ऐसी दशामें कोई आपत्ति नहीं उपस्थित हो सकती है। यहां क्षणिकवादी या नित्यवादी यदि यों कहें कि तिस प्रकार वस्तुके ध्रुव, अध्रुवस्वरूप माननेपर तो वह प्रसिद्ध हो रहा विरोध दोष बाधक खडा हुआ है। सुमेरु पर्वत स्थिर है तो वह चंचल नहीं हो सकता है। मेघ, बिजली या हाथीका कान चंचल हैं तो वे स्थिर नहीं कहे जा सकते हैं। सहानवस्थान नामक विरोध दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार एकान्तियोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अच्छे प्रमाणोंसे प्रतीत हो रहे विषयमें विरोधदोषका अवकाश नहीं है। सुमेरु पर्वत भी सूक्ष्म पर्यायदृष्टिसे विचारनेपर अस्थिर प्रतीत हो जाता है। वृक्षोंके कंपनेसे या प्रतिक्षण असंख्यात स्कन्धोंके आने जानेसे तथा शिला, मिट्टी आदिमें मन्द मन्दक्रिया हो जानेसे सुमेरुमें भी सूक्ष्म सकंपपना प्रसिद्ध है। जैसे लकडी नम जाती है, वैसे ही शिला भी नम्र हो जाती है। आठ हाथ चौडे घर की छत पर पाटनेके लिये ठीक ठीक दोनों ओर की ऊंचाईपर पटिया धर दी जाय फिर एक ओरकी भींत पर पटियाका शिरा दबा कर दूसरी ओरकी भींत परसे पटियाके नीचेकी एक ईंटका परत निकाल लिया जाय तो ऐसी दशामें पटियाका पांयता एक सूत झुक जायगा। बात यह है कि लोहा, चांदी, सोना, रांगा, घृत, तैल, दूध, जल, इन पदार्थोंमें द्रवपना (पतला होकर बहना) अधिक है। और पत्थरमें अत्यल्प द्रवत्व है। पत्थरकी शिला यदि कुछ दूर तक तिरक जाय तो तिरकनकी कमती बढती कुछ दूरतक चली गयी। चौडाई ही इस सिद्धान्तकी साक्षी है कि अधिक चौडे खाली स्थानके निकटवर्ती पाषाण स्कन्ध सकम्प होकर इस ओर उस ओर हो गये हैं। तथा कुछ आगेके शिलाप्रदेश थोडा द्रवत्व होनेसे न्यून फट पाये हैं। जब कि उससे कुछ आगेके शिलाप्रदेश सर्वथा कम्प नहीं होनेसे जुडे हुये हैं। मन्दिरके ऊपर लगी हुयी ध्वजाके समान

मोटा कंपना नहीं होनेके कारण अथवा पिघले हुये घी या तेलके समान व्यक्त बहना नहीं होनेके कारण सुमेरुपर्वतको अकम्प या दृढ कह दिया जाता है। हाथीका कान या बिजली भी अपने अवयवोंमें स्थिर होकर वर्त रही हैं। अथवा कुछ सामान्य रीति से चंचल माने गये पदार्थ भी स्थिर रहते हैं। पदार्थको आत्मलाभके लिये कुछ समय तो चाहिये। शरीरकी हड्डीमें स्थिर कर्मके उदय और रक्तमें अस्थिर नामकर्मका विपाक माना गया है। किन्तु हड्डीमें भी अस्थिर कर्मका और रक्तमें भी स्थिरकर्मका विपाक प्रभाव डालरहा समझ लेना चाहिये। सूक्ष्मरूपसे हड्डी भी चंचल होती रहती है। लोहू भी कुछ देरतक एकस्थानपर ठहर जाता है। कभी कभी चोट लगनेपर या वातव्याधि हो जानेपर हड्डी चंचल हो जाती है। विशेष रोगमें रक्त भी कैई स्थानोंपर जम जाता है। पहिले कहा चुका है कि बहुत वेगसे दौडनेवाली डांकगाडी भी लोह पटरीके प्रदेशोंपर ठहरती हुयी जा रही है। अन्यथा उस डांक गाडीसे भी अधिक शीघ्र दौडनेवाले वायुयानकी अपेक्षा गमनका अन्तर नहीं निकाला जा सकेगा। चलते हुये कच्छपकी गतिमें मध्यमें स्थिरता होनेपर ही हिरणकी गतिसे अन्तर पड सकता है। घडीकी छोटी सुई और बडी सूई सदा चलती रहती हैं। फिर भी बडी सूईकी द्रुतगतिसे छोटी सूईका मध्यमें ठहर ठहरकर चलना प्रतीत हो जाता है। शीघ्र गति और मन्द गतिमें अन्तर पड जानेकी इसके अतिरिक्त और क्या परिभाषा हो सकती है? चलती हुई रेलगाडीमें बैठा हुआ मनुष्य चल भी रहा है। अन्यथा गिर जानेपर उसके दौडते हुये मनुष्यकी चोट समान चोट कैसे आ जाती है! सिद्धान्त यह है कि प्रायः सभी पदार्थ स्थिर, अस्थिररूप प्रतीत हो रहे हैं जब कि सम्पूर्ण वस्तुओंको नित्य, अनित्य आत्मकपना प्रतीत हो रहा है, तो विरोधदोषकी सम्भावना नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमानसे उन ध्रुव, अध्रुवस्वरूप वस्तुओंका चारों ओरसे ज्ञान हो रहा है। अन्यथा यानी एकान्त रूपसे ध्रुव या केवल अध्रुव हो रही वस्तुकी कभी भी प्रतीति नहीं होती है। इस कारण ध्रुव अध्रुव पदार्थके अवग्रह आदिक ज्ञान हो जानेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती है।

परमार्थतो नोभयरूपतार्थस्य तत्रान्यतरस्वभावस्य कल्पनारोपितत्वादित्यपि न कल्पनीयं नित्यानित्यस्वभावयोरन्यतरकल्पितत्वे तदविनाभाविनोपरस्यापि कल्पितत्वप्रसंगात्। न चोभयोस्तयोः कल्पितत्वे किंचिदकल्पितं वस्तुनो रूपमुपपत्तिमनुसरति यतस्तत्र व्यवतिष्ठते वायमिति तदुभयमंजसाभ्युपगंतव्यम्।

कोई एकान्तवादी बहक कर यदि यों कहें कि वास्तविकरूपसे पदार्थका ध्रुव, अध्रुव दोनों स्वरूपपना ठीक नहीं है। उन दोनोंमेंसे एक ध्रुव ही या अध्रुव ही स्वरूपसे वस्तुका तदात्मकपना समुचित है। दोनोंमेंसे शेष बचा हुआ धर्म कल्पनासे आरोप दिया गया है। वस्तुभूत नहीं है। आचार्य कहते हैं कि एकान्तवादियोंको इस प्रकार भी कल्पना नहीं करना चाहिये। क्योंकि नित्य

अनित्यपनारूप दो स्वभावोंमेंसे किसी एक को भी यदि कल्पित माना जायगा तो उसके साथ अविनाभाव रखनेवाले दूसरे नित्यपन या अनित्यपन स्वभावको भी कल्पितपनेका प्रसंग हो जायगा। एक शरीरके धड या शिर को मृत अथवा जीवित मानलेनेपर शेष बचे हुये भागको भी मृत या जीवित मानना अनिवार्य पड जाता है। यदि नैरात्म्यवादी बौद्ध उन दोनों स्वभावोंका कल्पितपना इष्ट करलेंगे तब तो वस्तुका कोई भी रूप अकल्पित होता हुआ सिद्धिका अनुसरण नहीं कर सकता है, जिससे कि किसी भी उस वस्तुमें यह निःस्वभाववादी बौद्ध अपनी व्यवस्था कर सके। अर्थात्—किसी भी पदार्थको यदि मुख्य अकल्पित या अपने स्वभावोंमें व्यवस्थित नहीं माना जायगा तो सम्पूर्ण भी जगत् कल्पित हो जायगा। ऐसी दशामें बौद्ध अपनी स्वयंकी सिद्धि भी नहीं कर सकेंगे। तिस कारण उन दोनों ध्रुव, अध्रुव स्वरूपोंको बडी सुलभतासे प्रत्येक वस्तुमें निर्दोष स्वीकार करलेना चाहिये। इस प्रकार बहु आदिक बारह भेदोंके अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणाज्ञान हो जाते हैं। ऐसा शीघ्र निर्णीत करलो।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें आचार्य महाराजने प्रथम ही अवग्रह आदि क्रियाओंके कर्मोंका निरूपण करनेके लिये सूत्रका अवतार करना सार्थक बताया है। पुनः अवग्रह आदिक प्रत्येक ज्ञानका विषयभूत बहु आदिकसे सम्बन्ध करना कहकर बहु और बहुविध या क्षिप्र और अध्रुवका भेद दिखाया है। निसृत और उक्त भी न्यारे हैं। प्रकृष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेके कारण बहु आदि छह का कण्ठोक्त निरूपण कर अन्य मन्द क्षयोपशमसे ही हो जानेवाले अल्प आदिका इतर पदसे ग्रहण किया है। आगे बहुशब्दकी पूज्यताको अच्छे ढंगसे साधा है। एक ज्ञानद्वारा बहुतसे अर्थ जाने जा सकते हैं। क्षयोपशम या क्षयके अधीन होकर ज्ञान प्रवर्तता है। ज्ञानका अर्थके साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। बहुतोंमें रहनेवाला बहुत धर्म भी व्यक्ति अपेक्षा अनेक हैं। यहां अच्छा विचार चला है। प्रत्येक अर्थमें एक एक ज्ञानका उपप्लव करना ठीक नहीं है। चित्रज्ञान, नगरज्ञान, प्रासादज्ञान ये सब अनेकोंमें एक ज्ञान हो रहे हैं। कथंचित् एक, अनेकस्वरूप पदार्थको चित्र कहा जा सकता है। गुणमें अनेक स्वभाव ठहरते हैं। हां, गुणमें पुनः दुसरे गुण नहीं निवास करते हैं। प्रतिनियत अनेक स्वभाव तो सर्वत्र व्याप रहे हैं। प्रतीत सिद्ध पदार्थमें कोई विरोध दोष नहीं आता है। मानव शरीरमें रक्त, अस्थि, मल, मूत्र आदि अशुद्ध पदार्थ भरे हुये हैं। फिर भी आत्माके सदाचारकी अपेक्षा पवित्रभाव व्यवस्थित हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंके अनेक स्वभाववाले सिद्ध हो जानेपर भी जैनोंके यहां किसी विशेषपदार्थमें चित्रपनेका व्यवहार भले प्रकार साध दिया है। सर्वज्ञज्ञान या सूर्यप्रकाशके समान ज्ञान भी अनेक अर्थोंको विषय कर सकता है। बहु आदिकोंमें अवग्रह आदिके समान स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदि ज्ञान भी हो जाते हैं। क्योंकि तदनुसार प्रवृत्तियां होती देखी जाती हैं।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप पदार्थोंमें क्षिप्र, अक्षिप्र, अवग्रह, सब हो जाते हैं। प्राप्यकारी चार इन्द्रियों द्वारा अनिसृत, अनुक्तका अवग्रह युक्तियोंसे साध दिया है। अनेक पदार्थोंके सूक्ष्मरूपसे नैमित्तिक परिणमन कुछ दूरतक फैल जाते हैं। चक्षु और मन अप्राप्य अर्थको विषय करते हैं। कर्ण इन्द्रिय छूये हुये शब्दको सुनती है, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन्द्रियां चुपटकर बंध गये हुये अर्थोंको जानती हैं। नित्य अनित्य स्वरूप पदार्थोंमें ध्रुव, अध्रुवसे अवग्रह आदिक ज्ञान हो जाते हैं। सर्वत्र " अनेकान्तो विजयतेतराम् " का दुन्दुभिनिनाद बज रहा है। वस्तु अपने नियत अनेक स्वभावोंमें तदात्मक होकर किलोलें कर रही है। भद्रमास्तां।

बह्वादिसेतरविशेषविवर्तमानधर्म्यात्मधर्मविषयेषु सवित्समाप्तं।
स्तादुद्वादशस्वखिलमद्भमिवात्रमास्मु कौटस्थ्य नाश्वरनिषेधिमतिप्रमाणं ॥ १ ॥

—×—

बहु, बहुविध आदिक धर्मोंके आधारभूत धर्मीको समझानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थस्य ॥ १७ ॥

वे अवग्रह आदिक ज्ञानोंके विषय हो रहे बहु आदिक धर्म अर्थके हैं। अथवा बहु आदिक विशेषणोंसे सहित हो रहे अर्थ (वस्तु) के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान हो जाते हैं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदिक ज्ञान भी अर्थके ही होते हैं।

किमर्थमिदं सूत्र्यते सामर्थ्यसिद्धत्वादिति चेदत्रोच्यते।

यह सूत्र किस प्रयोजनके लिये बनाया जा रहा है। क्योंकि बहु आदिक धर्मोंके कथन कर देनेकी सामर्थ्यसे ही धर्मवाला अर्थ तो स्वतः प्रतीत सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार किसी शंकाकारका बोध उठाने पर तो इसके उत्तरमें यहां श्रीविद्यानंद आचार्य द्वारा यों कहा जाता है।

ननु बह्वादयो धर्माः सेतराः कस्य धर्मिणः।
तेऽवग्रहादयो येषामित्यर्थस्येति सूत्रितम् ॥ १ ॥

शंका हो सकती है कि अल्प, अल्पविध, आदि इतरोंसे सहित हो रहे बहु, बहुविध आदिक धर्म किस धर्मीके हैं? जिन बहु आदिकोंके कि वे अवग्रह आदिक चार ज्ञान हो सकें। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर " अर्थस्य " ऐसा यह सूत्र आचार्यप्रवर श्री उमास्वामी महाराजद्वारा कहा गया है। भावार्थ—जो कोई धर्मीको न मानकर अकेले धर्मोंको ही ज्ञानके विषय हुये

स्वीकार करते हैं, जैसे कि रूप रस तो हैं, किंतु पुद्गलद्रव्य कोई धर्मी नहीं है, ज्ञान, सुख तो हैं आत्मा नहीं है, उन वादियोंके निराकरणार्थ " अर्थस्य " यह सूत्र कहा गया है।

न कश्चिद्धर्मो विद्यते बह्वादिभ्योन्योऽनन्यो वानेकदोषानुषंगात्तदभावे न तेपि धर्माणां धर्मिपरतंत्रलक्षणत्वात्स्वतंत्राणामसंभवात्। ततः केषामवग्रहादयः क्रियाविशेषा इत्याक्षिपंतं प्रतीदमुच्यते। अर्थस्याबाधितप्रतीतिसिद्धस्य धर्मिणो बह्वादीनां सेतराणां तत्परतंत्रतया प्रतीयमानानां धर्माणामवग्रहादयः परिच्छित्तिविशेषास्तदेकं मतिज्ञानमिति सूत्रत्रयेणैकं वाक्यं चतुर्थसूत्रापेक्षेण वा प्रतिपत्तव्यं।

बौद्ध कटाक्ष करता है, बहु, बहुविध आदि धर्मोसे सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न कोई धर्मी पदार्थ विद्यमान नहीं है। क्योंकि अनेक दोषोंके आनेका प्रसंग होगा। धर्मीसे धर्मका सर्वथा भेद माननेपर " इस धर्मीके ये धर्म हैं " ऐसा नियत व्यपदेश नहीं हो सकेगा। जलका धर्म उष्णता और अग्निका धर्म शीतपना बन बैठेगा। कोन रोक सकेगा तथा धर्मीका धर्मोसे अभेद माननेपर धर्मोके समान धर्मी भी अनेक हो जायंगे। अथवा एक धर्मीके समान अनेक धर्म भी एक बन बैठेंगे। ऐसी दशामें भी धर्मी स्वतंत्र सिद्ध नहीं हो सकता है। तथा उस धर्मीका अभाव हो जानेपर उसके आश्रित रहनेवाले वे धर्म भी नहीं सिद्ध होते हैं। क्योंकि धर्मीके पराधीन होकर रहना धर्मोका लक्षण है। सभी धर्म धर्मीके पराधीन ठहरते हैं। स्वतंत्र रहनेवाले धर्मोका असम्भव है, तिस कारण अब आप जैन बतलाइये कि वे अवग्रह, ईहा, आदिक ज्ञप्तिक्रियाके विशेष हो रहे भला किन विषयोंके हो सकेंगे ? इस प्रकार आक्षेप करते हुये पराधीन बौद्ध विद्वान्के प्रति यह सूत्र श्रीउमास्वामी आचार्य करके कहा जाता है। इधर उधरके पदोंका उपस्कार कर इस सूत्रका अर्थ यों है कि बाधारहित प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहे धर्मीस्वरूप अर्थके बहु आदिक धर्म हैं जो कि अल्प आदि इतरोंसे सहित हो रहे वे बहु आदिक धर्म उस धर्मीके परतंत्रपनेकरके प्रतीत किये जा रहे हैं। उन बहु आदिक बारह धर्मोकी अवग्रह आदि विशेष परिच्छित्तियां हो जाती हैं। तिस कारण वह सब एक मतिज्ञान है। इस प्रकार तीन सूत्रोंके एकावयवीरूपसे एक वाक्य बनाकर एक मतिज्ञानका विधान किया गया समझना चाहिये। अर्थात्—अवग्रहेहावायधारणाः १ बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां २ अर्थस्य ३ इन तीनों सूत्रोंका एकीभाव कर धर्मी अर्थके बहु आदिक धर्मोका अवग्रहज्ञान होता है। ईहा आदिकज्ञान भी होते हैं। अथवा चौथा सूत्र " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं " मिलाकर यों शाब्दबोध करना कि अर्थके बहु आदिक धर्मोका इन्द्रिय अनिन्द्रियोंकरके अवग्रहज्ञान होता है। ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं अथवा चौथे सूत्र " मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् " की अपेक्षा रखते हुए उक्त तीन सूत्रोंद्वारा एक वाक्य बनाने पर यों अर्थ कर लेना कि अर्थके धर्म बहु आदिकोंके अवग्रह आदिक ज्ञान होते हुए स्मृति, प्रत्य-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मिज्ञान आदि ज्ञान भी हो जाते हैं तथा तीन सूत्रोंके साथ भविष्यके " व्यंजनस्यावग्रहः " इस चौथे सूत्रका योग कर देनेपर वह अर्थ समझ लेना चाहिये कि धर्मी व्यक्त अर्थ और अव्यक्त अर्थके बहु आदिक धर्मोंका अवग्रह हो जाता है। व्यक्त अर्थके धर्मोंके ईहा आदिक या स्मरण आदिक मतिज्ञान भी हो जाते हैं।

कः पुनरर्थो नामेत्याह।

यह सूत्रमें कहा गया अर्थ फिर भला क्या पदार्थ है ? इस प्रकार शिष्यकी प्रतिपित्सा होनेपर श्रीविद्यानन्दी आचार्य उत्तर कहते हैं सो सुनो।

यो व्यक्तो द्रव्यपर्यायात्मार्थः सोत्राभिसंहितः।
अव्यक्तस्योत्तरे सूत्रे व्यंजनस्योपवर्णनात्॥ २॥

द्रव्य और उसके अंशरूप पर्यायोंसे तदात्मक हो रहा जो धर्मी वस्तुभूत व्यक्त पदार्थ है वह इस प्रकरणमें अर्थ शब्दकरके अभिप्रायका विषय हो रहा है। अग्रिम भविष्यसूत्रमें अव्यक्त व्यंजनका निकट ही वर्णन किया जायगा। इस कारण यहां व्यक्तवस्तुको अर्थ कहना अभिप्रेत है।

केवलो नार्थपर्यायः सूरेरिष्टो विरोधतः।
तस्य बह्वादिपर्यायविशिष्टत्वेन संविदः॥ ३॥
तत एव न निःशेषपर्यायेभ्यः पराङ्मुखम्।
द्रव्यमर्थो न चान्योन्यानपेक्ष्य तद्द्वयं भवेत्॥ ४॥

धर्मी अर्थसे रहित केवल अर्थकी पर्यायें स्वरूप ही अर्थ श्री उमास्वामी आचार्यको इष्ट नहीं है, क्योंकि विरोध दोष है। धर्मीके विना केवल पर्यायस्वरूप धर्मोंका ठहरना विरुद्ध है। द्रव्यरूप अंश और पर्यायरूप अंश दोनों भी अंशी वस्तुमें प्रतीत हो रहे हैं। बहु, बहुविध, आदि पर्यायोंसे सहितपनेकरके उस अर्थके सम्वेदन पामर जनोंतकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं। तिस ही कारण तो सम्पूर्ण पर्यायोंसे पराङ्मुख हो रहा द्रव्य भी अर्थ नहीं मानना चाहिये। माला एकसौ आठ दानोंसे सहित है और सभी दानोंमें डोराका अन्वय पुवा हुआ है। तथा परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते हुए केवल द्रव्य या अकेले पर्याय ये दोनों भी स्वतंत्ररूपसे अर्थ नहीं हैं। जैसे कि केवल धड या अकेला निरपेक्ष शिर जीवित मानव शरीर नहीं है। परमार्थरूपसे स्वकीय द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तु ही अर्थ है।

एवमर्थस्य धर्माणा बह्वादीतरभेदिनाम् ।
अवग्रहादयः सिद्धं तन्मतिज्ञानमीरितम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार व्यवस्थित हो रहे अर्थके धर्म बहु आदिक और अल्प आदिक बारह भेदवाले हैं। उन धर्मोंके अवग्रह आदिक और स्मृति आदिक ज्ञान होते हैं। इस कारण युक्तियोंसे सिद्ध हो चुका मतिज्ञान समझा दिया गया है, या कहा जा चुका है।

न हि धर्मी धर्मेभ्योऽन्य एव यतः संबंधासिद्धिरनुपकारात् तदुपकारे वा कार्यकारणभावापत्तेस्तयोर्धर्मधर्मिभावाभावोऽग्निधूमवत् । धर्मिणि धर्माणां वृत्तौ च सर्वात्मना प्रत्येकं धर्मिबहुत्वापत्तिः एकदेशेन सावयवत्वं पुनस्तेभ्योवयवेभ्यो भेदे स एव पर्यनुयोगोनवस्था च, प्रकारांतरेण वृत्तावदृष्टपरिकल्पनमित्यादिदोषोपनिपातः स्यात् ।

स्याद्वादियोंके यहां अपने निजधर्मोंसे सर्वथा भिन्न ही धर्मी नहीं माना गया है, जिससे कि स्वस्वामिव्यवहारके कारण षष्ठीसम्बन्धकी असिद्धि हो जाय। अर्थात्—धर्म धर्मीके सर्वथा भेद होनेपर इस आम्र फलके ये मीठापन, पीलापन आदि धर्म हैं, और इन मीठापन, पीलापन धर्मोंका यह आम्रफल धर्मी है। इस प्रकार नियतसम्बन्धका व्यवहार असिद्ध हो जायगा। भेदवादी नैयायिकोंके यहां धर्म और धर्मीका परस्परमें उपकार नहीं होनेसे उन धर्मधर्मियोंके सम्बन्धकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे कि भेद होते हुये भी गुरु और शिष्य या पिता और पुत्रमें परस्पर उपकार हो जानेसे गुरुशिष्य भाव या जन्यजनक भाव सम्बन्ध सध जाता है। यदि नैयायिक उन धर्मधर्मियोंका परस्परमें उपकार मानेंगे तब तो उन धर्मधर्मियोंके कार्यकारणभाव हो जानेका प्रसंग होगा, जैसे कि अग्नि और धूमका कार्यकारणभावसम्बन्ध है। अतः उनमें धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध नहीं बन सकेगा अर्थात् समानकालीन पदार्थोंमें होनेवाला धर्मधर्मीभावसम्बन्ध है। किन्तु क्रमसे होनेवाले पदार्थोंमें सम्भव रहा कार्यकारणभाव सम्बन्ध तो उनमें नहीं मानना चाहिये। तथा भेदपक्षमें यह भी दोष है कि धर्मीमें धर्मोंकी वृत्ति माननेपर यदि सम्पूर्णरूपसे वृत्ति मानी जायगी तब तो धर्मीके शरीरमें पूरे अंशसे एक एक धर्मके वर्तनेपर धर्मियोंके बहुतपनेका प्रसंग होगा। यानी प्रत्येक धर्म पूरे धर्मीमें समा जायगा तो प्रत्येक धर्मोंके ठहरनेके लिये अनेक धर्मी चाहिये। तभी तो पूर्णरूपसे अपनेमें धर्मोंको झेल सकेंगे। हां, यदि धर्मीके एक एक देशकरके उन धर्मोंकी वृत्ति मानी जाय तो धर्मीके बहुत हो जानेका प्रसंग तो टल जाता है। किन्तु धर्मीको पहिलेसे ही अवयवसहितपनेका प्रसंग होगा, तभी तो उस धर्मीके प्रथमसे नियत हो रहे एक एक देशमें अनेक धर्म रह सकेंगे। फिर उन एक एक देशरूप अवयवोंसे धर्मीका भेद ही माना जावेगा। ऐसी दशा होनेपर पुनः उन अपने नियत अवयवोंमें भी एक देशसे ही अवयवी वर्तेगा और फिर वही अवयवोंमें पूर्णरूपसे या एकदेशसे वर्तनेका प्रश्न उठाया जायगा। इस प्रकार भेदवादीके यहां

धर्मीमें धर्मों या अवयवोंकी वृत्ति मानते मानते अनवस्था हो जायगी। पूर्णरूपसे या एकदेशसे वृत्ति होना नहीं मानकर अन्य प्रकारोंसे वृत्ति माननेपर तो नहीं देखे हुये पदार्थोंकी कल्पना करना ठहरा। धर्मीमें पूर्णरूपसे भी धर्म नहीं रहते हैं। और एकरूपसे भी नहीं रहते हैं, किन्तु रहते ही हैं। यह आग्रह तो ऐसा ही है, जैसे कि कोई यों कहे कि यह पदार्थ जड नहीं है, चेतन भी नहीं है, किन्तु है ही, इत्यादिक अनेक दोषोंका गिरना भेदवादियोंके ऊपर होता है। इस कारण धर्म और धर्मीका सर्वथा भेद नहीं मानकर कथंचिद् भेद मानना चाहिये। धर्मीकी धर्मोंमें वृत्ति माननेपर भी ऐसे ही दोष आते हैं।

नाप्यनन्य एव यतो धर्म्येव वा धर्मा एव। तदन्यतरापाये चोभयासत्त्वं ततोपि सर्वो व्यवहार इत्युपालंभः संभवेत्।

तथा धर्मोंसे धर्मी सर्वथा अभिन्न भी होय यह भी हम जैनोंके यहां नहीं है, जिससे कि अकेला धर्मी ही रहे अथवा अकेले धर्म ही व्यवस्थित रहें। उन दोनों धर्म या धर्मियोंमेंसे एकके भी विश्लेश हो जानेपर दोनोंका भी अभाव हो जावेगा जो अविनाभूत तदात्मक अर्थ हो रहे हैं। उनमेंसे एकका अपाय करनेपर शेष बचे हुये का भी अपाय अवश्यंभावी है। अग्नि और तदीय उष्णतामेंसे एकका भी पृथक्भाव कर देनेपर बचे हुये दूसरेका भी निषेध हो जाता है। तिस कारण सर्वथा अभेद हो जानेसे भी सभीमें धर्मपने या धर्मीपनेका व्यवहार हो जायगा, यह उलाहना देना सम्भव हो जाय। अतः हम स्याद्वादियोंने धर्मधर्मीका सर्वथा अभेद नहीं मानकर कथंचित् अभेद माना है।

नापि तेनैव रूपेणान्यत्वमनन्यत्वं च धर्मधर्मिणोर्यतो विरोधोभयदोषसंकरव्यतिकराप्रतिपत्तयः स्युः।

और हम जैनोंके यहां धर्मधर्मियोंका तिस ही रूपकरके भेद और तिस ही स्वरूपकरके अभेद भी नहीं माना गया है, जिससे कि विरोध दोष, उभयदोष, संकर, व्यतिकरदोष, अप्रतिपत्तिदोष हो जावें। भावार्थ—अनेकान्तवादियोंके ऊपर विना विचारे एकान्तवादियोंने विरोध आदि दोष उठाये हैं। एकान्तवादियोंका कहना है कि जिस ही स्वरूपसे भेद माना जायगा, उस ही स्वरूपसे अभेद माननेपर विरोध आता है। एक म्यानमें दो तलवारोंका रहना विरुद्ध है। १ जब एक ही वस्तुमें भेद, अभेद दोनों धर दिये गये हैं, तो उन दोनोंके अपेक्षणीय धर्मोंका सम्मिश्रण हो जानेसे उभयदोष हो जाता है। खिचडीमें दालका स्वाद चावलोंमें और चावलोंका स्वाद दालमें आ जाता है। भिन्न जातिवाले घोडी और गधेके सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न हुये खिच्चरमें उभय दोष है। २ भेद अभेदके न्यारे न्यारे अवच्छेदकोंकी युगपत् प्राप्ति हो जानेसे संकर दोष आता है। ३ परस्पर विषयोंमें गमन हो जानारूप व्यतिकर दोष भी जैनोंके अनेकान्तमें आता है। ४ भेद, अभेद, अंशोंमें पुनः एक एकमें भेद अभेदकी कल्पना करते चले जाओगे, अतः जैनोंके

ऊपर कहीं दूर जाकर भी ठहरना नहीं होनेके कारण अनवस्था दोष लागू होगा ५ जब कि वस्तुमें भाईचारेके नातेसे भेद अभेदके नियामक दोनों धर्म रहते हैं, तो किस धर्मसे भेद माना जाय ! और किससे अभेद माना जाय ! इस प्रकार संशय दोष बना रहेगा ६ ऐसी अव्यवस्थित दशामें वस्तुकी निर्णीतप्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। यह अप्रतिपत्ति दोष हुआ ७ तब तो अनिर्णीत वस्तुका या सुन्द, उपसुन्द न्यायअनुसार दो विरुद्ध धर्मोंके झगडेमें मार डाली जा चुकी वस्तुका अभाव ही कहना पडता है। ८ इन आठ दोषोंकी कथमपि खिचडी या खिच्चरके समान भेदाभेद उभय आत्मकरूपसे प्रतीत की जा रही वस्तुमें सम्भावना नहीं है। प्रमाणसे जान लिये गये पदार्थमें कोई दोष नहीं आते हैं। यदि वे किसी प्रकार आधमकें तो गुण होकर माने जाते हैं। मुखके ऊपर नाक समस्थलमें नहीं है। किन्तु अंगुलभर उठी हुयी है। अतः यह नाक ऊंची रहना गुणस्वरूप हो गया। जब कि एक दूसरेके सहारेपर झुका करके दो लकडी खडी कर दी गयीं प्रत्यक्ष दीख रहीं हैं। या आकाशमें पतंगके सहारे डोर और डोरके सहारे पतंग उड रही दीखती है, तो ऐसी दशामें बिचारे अन्योन्याश्रय दोषको अवकाश ही नहीं मिल पाता है। वह गुण होकर वस्तुकी शरणमें आ गिरता है। अतः धर्मधर्मियोंमें उस ही स्वरूपसे अन्यपना और उस ही स्वरूपसे अनन्यपना नहीं माना गया है।

किं तर्हि। कथंचिदन्यत्वमनन्यत्वं च यथाप्रतीतिजात्यंतरमविरुद्धं चित्रविज्ञानवत्सामान्यविशेषवद्वा सत्त्वाद्यात्मकैकप्रधानवद्वा चित्रपटवद्वेत्युक्तप्रायं।

यदि एकान्तवादि यों कहें कि आप जैन विद्वान् धर्म और धर्मीका भेद नहीं मानते हैं, अभेद भी नहीं मानते हैं। तथा उस एक ही रूपसे भेद, अभेद दोनोंको नहीं मानते हैं, तो धर्मधर्मीका कैसा क्या मानते हैं ? स्पष्ट क्यों नहीं कहते हो। केवल नहीं नहीं कह देनेसे तो कार्य नहीं चलता है। इस प्रकार तीव्र जिज्ञासा होनेपर अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रतीतिका अतिक्रमण नहीं कर धर्म और धर्मीका कथंचित् भेद और अभेद माना गया है। भेद अभेद की जातियोंसे यह कथंचित् भेदअभेद तीसरी जातिका होकर अविरुद्ध है। जैसे कि बौद्धोंने अनेक आकारोंसे मिला हुआ एक चित्रविज्ञान माना है। चित्रज्ञानमें एक आकार भी नहीं है और नील पीत आदि अनेक आकार भी स्वतंत्र उसमें नहीं हैं। किन्तु एकाकार अनेकाकार दोनोंसे तीसरी जातिका ही न्यारा आकार चित्रज्ञानमें है। अथवा वैशेषिकोंने सामान्यस्वरूप व्यापक जातियोंकी विशेषरूप व्याप्यजातियां मानी हैं। सत्ता, द्रव्यत्व आदि अधिक देशवर्ती व्यापक जातियोंकी अल्पदेश वृत्ति पृथ्वीत्व, घटत्व आदि व्याप्य जातियां इष्ट की हैं। पृथ्वीत्वमें घटत्व, पटत्वकी अपेक्षा सामान्यपना भी है और सत्ता, द्रव्यत्वकी अपेक्षा विशेषपना भी है। यह सामान्य विशेषपना तो सत्ताके केवल सामान्यसे और घटादि व्यक्तियोंमें रहनेवाले घटत्व, पटत्वके विशेषसे

न्यारी तीसरी जाति का है तथा कापिलोंने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनकी तदात्मक अवस्था रूप एक प्रकृतिको माना है। त्रिगुण आत्मक वह प्रधान उन न्यारे न्यारे तीनके त्रित्व या आकाशके एकत्वसे न्यारी जातिको लिये हुये है अथवा नैयायिकोंके यहां माना गया चित्रपट तत्त्व तो अनेक न्यारे न्यारे रूपोंसे या शुद्ध एक रूपसे युक्त पदार्थोंकी अपेक्षा न्यारी तीसरी जातिवाला पदार्थ है। इस प्रकार कैई एकान्तवादियोंके माने हुये गृहीत दृष्टान्तोंसे वस्तुका भेद अभेद आत्मक जात्यन्तरपना साधलेना चाहिये। इस बातको हम पहिले कैई स्थलोंपर प्रायः कह चुके हैं।

तत एव न सिद्धानामसिद्धानां वा बह्वादीनां धर्मिणि तत्पारतंत्र्यानुपपत्तिः कथंचित्तादात्म्यस्य ततः पारतंत्र्यस्य व्यवस्थितेः।

तिस ही कारणसे यानी कथंचित् भेद अभेद आत्मक वस्तुके निर्णीत हो जानेसे ही निष्पन्न हो चुके अथवा नहीं निष्पन्न हो चुके बहु, बहुविध, आदि धर्मोकी एक धर्मीमें उसके परतंत्र रहनेकी असिद्धि हो जायगी यह नहीं समझना चाहिये, अर्थात्—धर्म धर्मियोंमें परस्पर पराधीनता है। तिसके साथ कथंचित् तादात्म्य हो जानेको ही परतंत्रतापनेकी व्यवस्था हो रही है। भावार्थ—बौद्धोंने कहा था कि " पारतंत्र्यम् हि सम्बन्धः सिद्धे का परतंत्रता। तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः " इसका अर्थ यह है कि सम्बन्धवादियोंने परतंत्रताको ही सम्बन्ध माना है। कारणोंसे सिद्ध किये जा चुके पदार्थोंमें भला फिर पराधीनता क्या रहेगी ? यानी पूर्ण रूपसे बन चुका पदार्थ फिर किसीके अधीन नहीं होता है। कृतकृत्यको दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। तथा जो पदार्थ अभी सिद्ध नहीं हुआ है, अश्वविषाणके समान उसको भी दूसरेकी पराधीनता नहीं झेलनी पडती है। ऐसी दशामें कोई भी सम्बन्ध वास्तविकरूपसे सिद्ध नहीं हो पाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर हम जैन सुझाते हैं कि कथंचित् सिद्ध, असिद्धस्वरूप हो रहे धर्म धर्मियोंकी कथंचित्तादात्म्यरूप परतंत्रता बन रही है।

न च तद्द्रव्यार्थतः सतां पर्यायार्थतोऽसतां धर्माणां धर्मी विरुध्यतेऽन्यथैव विरोधात्।

उस वस्तुमें द्रव्यार्थिकरूपसे विद्यमान हो रहे और पर्यायार्थिक नयसे विचारने पर नहीं विद्यमान हो रहे धर्मोंका आधारभूत हो रहा धर्मी विरुद्ध नहीं पडता है, हां, दूसरे प्रकारोंसे ही माननेपर विरोध है। यानी जिसी अपेक्षासे विद्यमान और उसी अपेक्षासे अविद्यमान माना जायगा या जिसी अपेक्षासे अविद्यमान और उसी अपेक्षासे विद्यमान धर्मोंको माना जायगा, तभी विरोध प्राप्त होता है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओं द्वारा साधे गये अनेकान्तोंमें तो यथार्थ रूपसे वस्तु संस्कृत हो जाती है। पुत्रको माता पिता उत्पन्न करते हैं, गुरुजी उसको पढाते हैं। यहां हाथ, पग, आदि अवयवोंसे बन चुके और विद्वान् रूपसे नहीं बन चुके लडकेको गुरुकी पराधीनता प्राप्त कर गुरु-शिष्यभावसम्बन्धरूप धर्मका धर्मीपना प्राप्त है। ऐसी पावन पराधीनता तो भाग्यसे प्राप्त होती है।

ततो द्रव्यपर्यायात्मार्थो धर्मी व्यक्तः प्रतीयतामव्यक्तस्य व्यंजनपर्यायस्योत्तरसूत्रे विधानात्। द्रव्यनिरपेक्षस्त्वर्थपर्यायः केवलो नार्थोत्र तस्यामप्रमाणकत्वात्। नापि द्रव्यमात्रं परस्परं निरपेक्षं तदुभयं वा तत एव। न चैवंभूतस्यार्थस्य विवर्तानां बह्वादीतरभेदभृताम-वग्रहादयो विरुध्यंते येन एवैकं मतिज्ञानं यथोक्तं न सिध्येत्।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहा अर्थ ही यहां व्यक्त यानी अधिक प्रकट धर्मी समझ लेना चाहिये। व्यंजन पर्यायस्वरूप अव्यक्तधर्मीका उत्तरवर्त्ती "व्यंजनास्यावग्रहः" इस सूत्रमें विधान किया जायगा। अधिष्ठाता द्रव्यकी सर्वथा नहीं अपेक्षा रखता हुआ केवल अर्थपर्याय ही तो यहां अर्थ नहीं निर्णीत किया गया है। क्योंकि उस अकेली अर्थपर्यायको ही वस्तुपनेकी प्राप्ति करना अप्रामाणिक है। तथा अधिष्ठित अर्थपर्यायोंसे रीता केवल द्रव्य ही यहां अर्थ नहीं लिया गया है। क्योंकि केवल द्रव्यको पर्यायोंसे रहित जानना अप्रामाणिक है। अथवा परस्परमें एक दूसरेकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले केवल द्रव्य या कोरे पर्याय ये दोनों भी यह अर्थ नहीं है। कारण वही है। यानी आत्माकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला आत्मा जैसे प्रमाणका विषय नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला निराधार पर्याय और पर्यायोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला आधेय रहित द्रव्य ये दोनों भी कोई पदार्थ नहीं हैं। इनमें प्रमाण ज्ञानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। भले ही द्रव्यार्थिक नय या पर्यायार्थिक नय प्रवर्त जावें, फिर भी सुनयोंको अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करना आवश्यक है। "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षं वस्तुतेऽर्थकृत्"। अतः परस्परापेक्ष द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तु ही अर्थ है। इस प्रकार वस्तुभूत हो रहे अर्थके बहु, बहुविध और उनसे इतर अल्प अल्पविध आदि भेदोंको धारनेवाले पर्यायोंको विषय कर रहे अवग्रह आदिक ज्ञान विरुद्ध नहीं पडते हैं। जिससे कि सर्वज्ञ आम्नाय या युक्ति अनुभवोंके अनुसार यथार्थ कहा गया एक मतिज्ञान सिद्ध नहीं हो सके अर्थात्—द्रव्य, पर्याय आत्मक अर्थके बहु आदिक बारह भेदवाले पर्यायोंको विषय कर रहे अवग्रह आदि और स्मृति आदिक मतिज्ञान हो जाते हैं। वे सब मतिज्ञानपने करके एक हैं।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें प्रथम ही अवग्रह आदि ज्ञानोंके विषयभूत बहु आदिक धर्मोंके धारनेवाला धर्मी अर्थ विचारा गया है। जैनसिद्धान्त अनुसार पदार्थमें अनेक प्रयोजनोंको साधनेवाले अनेक धर्म माने गये हैं। धर्मी अर्थके पराधीन होकर वे धर्म प्रतीत हो रहे हैं। मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेदोंमें अर्थके बहु आदिक धर्मोंकी अपेक्षा दो सौ अठासी और अव्यक्त व्यंजनके धर्मोंकी अपेक्षा

अडतालीस भेद किये हैं। किन्तु अर्थकी बहु आदिक बारह पर्यायोंमें स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानस्वरूप मतिज्ञान भी प्रवर्त जाते हैं, जैसा कि बहु, बहुविध, आदि सूत्रकी बत्तीसवीं वार्तिकमें श्रीविद्यानन्द आचार्यने बतला दिया है। निकट कहे गये इन तीन, चार, सूत्रोंका एक वाक्य बनाकर एक मतिज्ञान समझ लेना चाहिये। द्रव्य और पर्याय ये वस्तुके अंश हैं। श्रुतज्ञानके एकदेशरूप द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुका द्रव्य अंश जान लिया जाता है। और पर्यायार्थिक नयसे परिगणित पर्यायोंको जान लिया जाता है। फिर भी मतिज्ञान और नयोंसे अवशिष्ट बहुतसा बच रहा ऐसा [illegible] श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे जानने योग्य अनन्तप्रमेय वस्तुमें पडा रहता है। उन सबका पिण्डस्वरूप वस्तु है। यहां मतिज्ञानके प्रकरणमें मतिज्ञान द्वारा जानने योग्य द्रव्य और पर्यायोंका तदात्मक पिण्ड अर्थ पकडा गया है। केवल द्रव्य ही या पर्यायें ही पूरा अर्थ नहीं हैं। जैसे कि एक पाया या पाटी पूरी खाट नहीं है। वस्तुके धर्म परस्परमें और वस्तुके साथ अपेक्षा रखते हैं। अतः बहु आदिक धर्म या धर्मवाले धर्मीकी प्रधानतासे अवग्रह आदिक हो जाते हैं। साझेकी वस्तुमें भले ही नाम किसीका होय किन्तु जानना रूप कार्य सर्व अर्थका होता है। एकान्तवादियों द्वारा उठाये गये दोष स्याद्वादियोंपर लागू नहीं होते हैं। क्योंकि हम कथंचित् तादात्म्यरूप वृत्ति मानते हैं। धर्मीकी धर्मोंमें वृत्ति मानना भी हम इष्ट कर लेते हैं। कपडेमें सूत हैं, वृक्षमें फल हैं। वह्निमें निष्ठत्व सम्बन्धसे पर्वत रह जाता है। कथंचित् अभेद हो जाने पर कोई भी धर्म या धर्मी किसीपर भी निवास करो, कोई क्षति नहीं है। राजा प्रजाके आश्रित है और प्रजा राजाके आश्रित है। दण्ड और पुरुषके समान कथंचित् भिन्न पदार्थोंमें भी धर्मधर्मीभाव बन जाता है। किन्तु मतिज्ञान अभेददृष्टिकी प्रधानतासे धर्मधर्मियोंको विषय करता है। एकान्तवादियोंके यहां वृत्तिके दोष आते हैं। हां, अनेकांतवादमें विरोध आदिक कोई दोष नहीं आते हैं। क्योंकि तीसरी ही जातिके कथंचित् भेद, अभेदको मानकर चित्र ज्ञान आदिके समान धर्मधर्मी भाव माना गया है। केवल द्रव्य ही या केवल पर्याय ही अथवा परस्परानपेक्ष दोनों ही कोई अर्थ नहीं है। जैसा कि अद्वैतवादी या बौद्ध अथवा वैशेषिक मान रहे हैं। जैनसिद्धांतमें वस्तुकी बहुत अच्छी परिभाषा की गयी है। अतः ऐसे वस्तुभूत अर्थके बहु आदिक धर्मोंमें अवग्रह आदिक ज्ञान प्रवर्त जाते हैं।

वस्त्वर्थो भिदभिज्जात्यन्तरालीढवपुर्मतेः।
द्रव्यपर्यायतादात्म्यं स्वसात्कुर्वंश्च गोचरः॥ १॥

—×—

प्रसंग प्राप्तोंमें विशेष नियम करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज शिष्योंकी व्युत्पत्तिके वर्धनार्थ अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अव्यक्त पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा, अवाय, धारण, स्मरण प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान नामके मतिज्ञान ये अव्यक्त अर्थमें नहीं प्रवर्तते हैं।

नारब्धव्यमिदं पूर्वसूत्रेणैव सिद्धत्वात् इत्यारेकायामाह ।

कोई शंका करता है कि श्री उमास्वामी महाराजको यह सूत्र तो नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि पहिलेके " अर्थस्य " सूत्रकरके ही इस " व्यंजनस्यावग्रहः " सूत्रका प्रमेय सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार शिष्यकी शंका होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

नियमार्थमिदं सूत्रं व्यंजनेत्यादि दर्शितम् ।
सिद्धे हि विधिरारम्भो नियमाय मनीषिभिः ॥ १ ॥

यह " व्यंजनास्यावग्रहः " इस प्रकार कहा गया सूत्र तो नियम करनेके लिये दिखलाया गया है। कारण कि सिद्ध हो जानेपर पुनः आरम्भ की गयी विधि तो नियम करनेके लिये विचारशाली विद्वानोंकरके मानी गयी है। " सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय "। व्यंजन अर्थका अवग्रह हो जाना यद्यपि पूर्वसूत्रसे ही सिद्ध था किन्तु यहां यह दिखलाना है कि अव्यक्त वस्तुका अवग्रह ही होता है। जैसे कि आज अष्टमीके दिन जिनदत्तने जल पीया है। यहां जलको तो जिनदत्त प्रतिदिन पीता है। किन्तु अष्टमीके दिन जल ही पीया है। अन्य दुग्ध, मेवा, अन्न नहीं खाया है। यह नियम कर दिया जाता है। कण्ठोक्त किये विना वह नियम नहीं हो सकता था।

किं पुनर्व्यंजनमित्याह ।

श्रीमान् पूज्य गुरुजी महाराज तो फिर आप यह बता दो कि व्यंजनका क्या अर्थ है ? इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रकट होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य सप्रमोद होकर उत्तर कहते हैं।

अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यंजनमिष्यते ।
तस्यावग्रह एवेति नियमोऽभक्षवद्व्रतः ॥ २ ॥

इस अवसरपर अस्फुट हो रहा शब्द, स्पर्श, रस, गंध, इनका अथवा स्पर्शवान् पुद्गल, रसवान् पुद्गल, आदिका समुदाय ही व्यंजन इष्ट किया गया है। उस व्यंजनका अवग्रह ही होता है। इस प्रकारका नियम जलभक्षणके समान जान लिया गया है। अर्थात् जैसे कोई अनुपवास करनेवाला जल खाता है, इसका अभिप्राय यह है कि वह अन्न, दुग्ध, मिष्टान्न, नहीं खाकर उस

दिन केवल जल ही पीता है। अथवा जलके साथ पान शद्व तो अच्छा लगता है। किन्तु भक्षण शद्व कुछ खटकता है। अतः आचार्य महाराजका अप् भक्षशद्वसे यह अभिप्राय भी ध्वनित होता है कि थोडा खाकर उसके सहारे पानी पीछेना जलभक्षण है। किसी मनुष्यने प्रातःकाल केवल कलेऊ ही किया, पीछे दिनभर कुछ नहीं खाया। उसके लिये जलभक्षणका ही नियम व्यवहारमें कहा जाता है। बंगालमें कलेऊ करनेको जल खाना कहते हैं (जलखावा जलखाई आछी) उत्तर प्रान्तमें भी सकलपारे, निकुती, गूझा, पेडा, आदिको थोडा खाकर जल पी लेने या दूध, ठंडाई आदि पीनेको जलपान कहते हैं।

ईहादयः पुनस्तस्य न स्युः स्पष्टार्थगोचराः।
नियमेनेति सामर्थ्यादुक्तमत्र प्रतीयते ॥ ३ ॥

उस अव्यक्त पदार्थके फिर ईहा आदिक अनुमानपर्यन्त मतिज्ञान नहीं हो पाते हैं। क्योंकि वे ईहा आदिक ज्ञान स्पष्टरूपसे स्पष्ट हो रहे अर्थको विषय करनेवाले हैं। इस प्रकार नियम करके सूत्रकी सामर्थ्यसे कह दिया गया अर्थ यहां प्रतीत हो जाता है। अर्थात्—अव्यक्तके ईहा आदि ज्ञान नहीं होते हैं। स्मरण आदि ज्ञान भी नहीं होते हैं। यह सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं कहा गया है। फिर भी नियम करनेकी सामर्थ्यसे अर्थापत्या लब्ध हो जाता है। छोटेसे सूत्रमें कितना प्रमेय भरा जा सकता है ! कोटिशः धन्यवाद है। उन महर्षियोंको जिन्होंने कि गागरमें सागर न्याय अनुसार एक सूत्ररूप थम्भेपर असंख्यखनोंवाले प्रासादरूप अपरिमित प्रमेयको लाद दिया है।

नन्वर्थावग्रहो यद्वदक्षतः स्पष्टगोचरः।
तद्वत् किं नाभिमन्येत व्यंजनावग्रहोप्यसौ ॥ ४ ॥
क्षयोपशमभेदस्य तादृशोऽसंभवादिह।
अस्पष्टात्मकसामान्यविषयत्वव्यवस्थितम् ॥ ५ ॥

यहां शंका है कि जिस प्रकार इन्द्रियोंसे स्पष्ट अर्थको विषय करनेवाला अर्थावग्रह होता है, उसके समान वह व्यंजनावग्रह भी स्पष्ट विषय करनेवाला भला क्यों नहीं माना जाता है ! बताओ। इन्द्रियोंसे जन्य तो यह भी है। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि यहां अव्यक्त अर्थका व्यंजनावग्रह करते समय तिस प्रकारके स्पष्ट जाननेवाले विशेष क्षयोपशमका असम्भव है। इस कारण व्यंजनाव-ग्रहका अस्पष्टस्वरूप सामान्य पदार्थको ही विषय करनापन व्यवस्थित किया गया है। अर्थावग्रह या व्यंजनावग्रह करते समय भले ही सामान्य विशेष आत्मक अर्थ वहका वही एकसा है। फिर भी क्षयोपशमके अधीन ज्ञानोंकी प्रवृत्ति होनेके कारण व्यंजनावग्रह द्वारा अव्यक्त शद्वादिके समुदायका

ही ज्ञान हो सकता है। चाहे यों कहलो कि अव्यक्त शब्दादिकको जाननेवाला ज्ञान अस्पष्टरूप व्यंजनावग्रह ही होगा, ईहा आदिक नहीं।

अध्यक्षत्वं न हि व्याप्तं स्पष्टत्वेन विशेषतः।
दविष्ठपादपाध्यक्षज्ञानस्यास्पष्टतेक्षणात् ॥ ६ ॥
विशेषविषयत्वं च दिवा तामसपक्षिणां।
तिग्मरोचिर्मयूखेषु भृंगपादावभासनात् ॥ ७ ॥

अध्यक्षपनकी स्पष्टपनेके साथ विशेषरूपसे व्याप्ति बन रही नहीं है। क्योंकि अधिक दूरवर्ती वृक्षके प्रत्यक्षज्ञानका अस्पष्टपना देखा जा रहा है। तथा विशेषोंका विषय करनापन भी प्रत्यक्षपनेके साथ व्याप्त नहीं है। अंधकारमें देखनेवाले उल्लू, चिमगादर, आदि पक्षियोंको दिनके अवसरपर सूर्यकी किरणोंमें भ्रमरके पावोंका प्रतिभास होता रहता है। अर्थात्—प्रत्यक्षज्ञान होकर भी कोई कोई अस्पष्टरूपसे सामान्यको विषय कर लेते हैं। स्पष्टरूपसे सभी विशेष अंशोंका जान लेना प्रत्यक्ष-ज्ञानके लिये आवश्यक नहीं है। "विशदं प्रत्यक्षम्" यह लक्षण सम्पूर्ण सूक्ष्म विशेष अंशोंके स्पष्ट ग्रहणकी अपेक्षा करनेपर कतिपय प्रत्यक्षोंमें नहीं घटित होता है। दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान अविशद है। और तामस पक्षियोंका दिनमें देखना विशेषांशोंको जाननेवाला नहीं है। अतः इन्द्रियोंसे जन्य होता हुआ भी व्यंजनावग्रह अस्पष्ट है। यह "विशदं प्रत्यक्षं" के अनुसार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको उपचारसे प्रत्यक्ष माना तो गया है। किन्तु व्यञ्जना-वग्रहको परोक्ष कहा गया है।

ननु च दूरतमदेशवर्तिनि पादपादौ ज्ञानमस्पष्टमस्मदादेरस्ति विशेषाविषयं चादित्य-किरणेषु श्यामलाकारमधुकरचरणवदवभासनमुलूकादीनां प्रसिद्धं। न तु तदक्षजं श्रुतमस्प-ष्टत्वाच्छ्रुतमस्पष्टतर्कणमिति वचनात्। ततो न तेन व्यभिचारोऽक्षजत्वस्य हेतोः स्पष्टत्वे साध्ये व्यंजनावग्रहे धर्मिणीति कश्चित्।

यहां किसी विद्वान्का अनुनय है कि बहुत अधिक दूर देशमें वर्त रहे वृक्ष, पशु आदि पदार्थोंमें हम सदृश आदिक अल्पज्ञानियोंको अस्पष्टज्ञान हो रहा है। और वह पदार्थोंके सूक्ष्म विशेष अंशोंको विषय करनेवाला भी नहीं है। तथा अंधेरेमें देखनेवाले उल्लू, चिमगादर आदि तामस पक्षियोंको दिनके अवसरपर सूर्यकी किरणोंमें उत्पन्न हुआ थोडा, काला काला, भ्रमरके चरण समान, दीख जाना तो विशेष अंशको नहीं विषय करनेवाला प्रसिद्ध है। किन्तु हम कहते हैं कि वह ज्ञानइन्द्रियोंसे जन्य ही नहीं है। प्रत्युत अविशद होनेके कारण श्रुतज्ञान है। अविशद विकल्परूप तर्कणाऐं करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार आर्ष ग्रन्थोंमें कहा गया है। तिस कारणसे

व्यंजनावग्रह पक्षमें स्पष्टत्वको साध्य करनेपर इन्द्रियजन्यत्वपन हेतुका उस दूरवर्ती वृक्षकेज्ञान या दिनमें उल्लूक आदिके ज्ञानकरके व्यभिचारदोष नहीं हो सकता है। भावार्थ—छटी कारिकामें दूरवर्ती वृक्षके ज्ञानकी अस्पष्टता देखनेके कारण व्यभिचार हो जानेसे अध्यक्षपनेको स्पष्टपनेके साथ व्याप्ति रखनेवाला नहीं माना गया था और सातवीं कारिकाद्वारा तामसपक्षियोंका दिनमें सूर्य किरणोंमें भ्रमरचरण, सदृशज्ञान हो जानेसे प्रत्यक्षपनेको विशेष अंशकी विषयतासे भी व्याप्त नहीं माना गया था। किन्तु जब वे ज्ञान हमने इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये नहीं इष्ट किये हैं, तो उनमें प्रत्यक्षपना ही नहीं रहा। ऐसी दशामें हेतुके नहीं ठहरनेपर उक्त व्यभिचारदोष हमारे ऊपर नहीं लगते हैं। हां, प्रकरणप्राप्त व्यंजनावग्रह तो इन्द्रियोंसे जन्य है। अतः अर्थावग्रहके समान स्पष्टरूपसे विशेष अंशोंको विषय करनेवाला मान लेना चाहिये। यह चौथी वार्तिकद्वारा उठाई गयी हमारी शंका खडी रहती है। इस प्रकार कोई वैशेषिकका एकदेशी अर्धशिष्य कह रहा है। अब आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

तन्न युक्त्यागमाविरुद्धं दविष्ठपादपादिज्ञानमक्षजमक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सन्निकृष्टपादपादिविज्ञानवत्। श्रुतज्ञानं वा न भवति साक्षात्परंपरया वा मतिपूर्वकत्वाभावात् तद्वदेवेति युक्तिविरुद्धमागमविरुद्धं च तस्य श्रुतज्ञानत्वं यतो धीमद्भिरनुभूयते।

वह किसीका कहना युक्ति और आगमसे अविरुद्ध नहीं है। दूरवर्ती वृक्षके देखनेको और दिनमें उलूक आदिकके देखनेको प्रत्यक्ष नहीं मानना यह मत, अनुमान और आगमसे विरुद्ध पडता है। देखिये। अधिक दूर वर्त्तरहे वृक्ष, मढैया, घोडा, आदिका ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंसे जन्य है (साध्य)। इन्द्रियोंके साथ अन्वय, व्यतिरेकका अनुविधान करनेवाला होनेसे (हेतु) यानी इन्द्रियोंके होनेपर वह ज्ञान होता है (अन्वय) इन्द्रियोंके नहीं होनेपर दूरसे वृक्षका ज्ञान या दिनमें उल्लूको ज्ञान नहीं हो पाते हैं (व्यतिरेक) जैसे कि निकटदेशके वृक्ष, घोडा, मनुष्य, आदिका विशेषज्ञान इन्द्रियोंके साथ अन्वय, व्यतिरेकको अनुविधान करनेवाला होनेसे इन्द्रियजन्य है (अन्वयदृष्टान्त) तब तो ये ज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप आपको भी मान लेने चाहिये। वस्तुतः विचारा जाय तो हम जैनोंके यहां उक्त ज्ञान भले ही प्रत्यक्ष नहीं होवें। क्योंकि " आद्ये परोक्षम् " इस सूत्रद्वारा इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य मतिज्ञानको परोक्ष माना है। किन्तु वैशेषिकोंके यहां इन्द्रिय-जन्यज्ञान तो बडी सुलभतासे प्रत्यक्ष हो जाता है। ये उक्त ज्ञान श्रुतज्ञान तो कैसे भी नहीं हो पाते हैं (प्रतिज्ञा) अव्यवहित अथवा व्यवहितरूप करके भी मतिपूर्वकपना नहीं होनेसे (हेतु) उस हीके समान—यानी अतिनिकटवर्त्ती वृक्षके ज्ञान समान (दृष्टान्त) अर्थात् कोई आदिके श्रुत-ज्ञान तो साक्षात् मतिज्ञानको पूर्व मानकर उत्पन्न होते हैं। और कोई श्रुतज्ञानजन्य दूसरे श्रुतज्ञान तो परम्पराद्वारा मतिपूर्वक हो रहे हैं। किन्तु इन दूरवर्त्ती वृक्ष आदिके ज्ञानोंके पूर्वमें तो मतिज्ञान कथमपि

नहीं हैं। अतः उक्तज्ञान श्रुतज्ञान नहीं हो सकते हैं। कोई भी प्रत्यक्षज्ञान भले ही वह अवधिज्ञान या केवलज्ञान भी क्यों नहीं होय, विचाररूप तर्कणाएं नहीं कर सकता है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष या सर्वज्ञ प्रत्यक्ष ये भडाक सीदें झट पदार्थोंको जान लेते हैं "यों होता तो त्यों होता", यह इतने मूल्यका होना चाहिये, " उस रोगीको यदि हम औषधि देते तो अवश्य लाभ होता ", इत्यादिक विचार प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें नहीं होते हैं। दूरवर्त्ती वृक्ष आदिके प्रत्यक्ष ज्ञानोंमे कोई विचार नहीं हो रहा है। अतः यह श्रुतज्ञान नहीं है। शंकाकार द्वारा इनको श्रुतज्ञान कहना युक्तियों (अनुमान) से विरुद्ध हुआ तथा उन दूरवर्त्ती वृक्ष आदिके ज्ञानोंको श्रुतज्ञानपना आगमप्रमाणसे भी विरुद्ध पडता है। जिस कारणसे कि प्रतिभाशाली विद्वानोंकरके वैसा आगमप्रमाण उक्त ज्ञानोंमें श्रुतज्ञानसे भिन्नताको निरूपणेवाला अनुभव किया जा रहा है।

न चास्पष्टतर्कणं श्रुतस्य लक्षणं स्मृत्यादेरपि श्रुतत्वप्रसंगात्। मतिगृहीतेर्थेनिंद्रियबलादस्पष्टं स्वसंवेदप्रत्यक्षादन्यत्वात्तर्कणं नानास्वरूपप्ररूपणं श्रुतमिति तस्य व्याख्याने 'श्रुतं मतिपूर्वं" इत्येतदेव लक्षणं तथोक्तं स्यात् तच्च न प्रकृतज्ञानेस्ति। न हि साक्षाच्चक्षुर्मतिपूर्वकं तत्स्पष्टप्रतिभासानंतरं तदस्पष्टावभासनप्रसंगात्। नापि परंपरया लिंगादिश्रुतज्ञानपूर्वकत्वेन तस्यानुभवात्। न चात्र यादृशमक्षानपेक्षं पादपादि साक्षात्करणपूर्वकं प्ररूपणमस्पष्टं तादृशमनुभूयते येन श्रुतज्ञानं तदनुमन्येमहि। श्रुतस्मृत्याद्यपेक्षया स्पष्टत्वात्। संस्थानादिसामान्यस्य प्रतिभासनात्। सन्निकृष्टपादपादिप्रतिभासनापेक्षया तु दविष्ठपादपादिप्रतिभासनमस्पष्टमक्षजमपीति युक्तोऽनेन व्यभिचारः प्रकृतहेतोः।

दूसरी बात यह है कि अविशदरूपसे विकल्पनाऐं करना श्रुतज्ञानका लक्षण नहीं है। अन्यथा स्मृति, तर्कज्ञान, आदिको भी श्रुतज्ञानपनेका प्रसंग हो जायगा। ये ज्ञान भी अपने विषयोंकी अविशद विकल्पनाऐं करते हैं। यदि आप शंकाकार " अस्पष्टतर्कणं श्रुतं " इस लक्षणवाक्यका इस प्रकार व्याख्यान करेंगे कि मतिज्ञानद्वारा गृहीत किये गये अर्थमें मन इन्द्रियकी सामर्थ्यसे जो अविशदप्रकाशी यानी स्वसम्वेदनप्रत्यक्षसे भिन्नपना होनेके कारण तर्कण हुआ है, यानी नाना स्वरूपोंका अच्छा निरूपण हो रहा है, वह श्रुतज्ञान है। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा उसका परिभाषण करनेपर तो हमारे सूत्रकारद्वारा कहा जानेवाला " श्रुतं मतिपूर्वं " इस प्रकार यह लक्षण ही तैसा व्याख्यान करनेसे कहा गया समझा जायगा किन्तु तैसा वह श्रुतज्ञानपना तो प्रकरणप्राप्त दूरवर्त्तीज्ञान या उलूकज्ञानोंमें नहीं है। देखिये, वह दूर वृक्ष आदिकका ज्ञान साक्षात् रूपसे चक्षुइन्द्रियजन्य मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो उस स्पष्ट प्रतिभासके अव्यवहित काल पीछे उस दूरवर्त्ती वृक्ष आदिका अविशद प्रतिभास होनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंके पीछे जो श्रुतज्ञान होते हैं, वे स्पष्ट प्रतिभासोंके पीछे

होते हुये अस्पष्ट प्रतिभासरूप हो रहे माने गये हैं। किन्तु प्रकरणमें दूरवृक्षका ज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासके अनन्तर हो रहा अस्पष्टप्रतिभासरूप नहीं है । और यह ज्ञान परम्परासे भी मतिज्ञान-पूर्वक नहीं है। जैसे कि परार्थानुमानमें कर्ण इन्द्रियद्वारा आप्तके शब्दको सुनकर हेतुका ज्ञानस्वरूप पहिला श्रुतज्ञान उठाया जाता है। पीछे उस श्रुतज्ञानसे साध्यज्ञानरूप दूसरा श्रुतज्ञान हो जाता है। इस दूसरे श्रुतज्ञानमें परम्परासे मतिज्ञान पूर्ववर्त्ती रह चुका है। किन्तु यहां दूरवृक्ष आदिके ज्ञानमें परम्परासे मतिज्ञान कारण नहीं है। अतः लिङ्ग, वाच्य, आदिके श्रुतज्ञानके पूर्वकपनेकरके उस दूरवृक्ष आदि ज्ञानका अनुभव नहीं होता है। पहिले वृक्ष आदिका साक्षात्कार कर पीछे यों निरूपण किया जाता है कि " यह वृक्ष आम्रका होना चाहिये " " यह चालीस वर्षका पुराना वृक्ष है " इस वृक्षपर रातको पक्षी निवास करते होंगे " यह वृक्ष छोटी आंधीसे नहीं टूट सकता है " इत्यादि प्रकारके अविशद विचार जैसे इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा कर यहां हो रहे हैं। तिस प्रकारके विचार एकदम दूरसे वृक्षको देखनेपर नहीं अनुभूत हो रहे हैं, जिससे कि हम उसको श्रुतज्ञान मान लेवें। हां, श्रुतज्ञान या स्मरणज्ञान आदि परोक्षज्ञानोंकी अपेक्षासे तो वह दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान स्पष्ट है। क्योंकि सामान्यरूपसे सन्निवेश (रचना) ऊंचाई, स्थूलरंग, एकत्व संख्या, पृथक्पना, परत्व आदिका तो विशद प्रतिभास हो रहा है। श्रुतज्ञानमें तो संकेतस्मरण आदि मध्यवर्ती अपेक्षणीय प्रतीतियोंका व्यवधान पड जानेसे विशद प्रतिभास नहीं हो पाता है। हां, अधिक निकटवर्ती वृक्ष, हाथी, आदिके प्रतिभासकी अपेक्षासे तो अतिशय दूरवर्त्ती वृक्ष, कुटी आदिके प्रतिभासको अस्पष्टपना है। वह ज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य भी है। इस कारण प्रकरणप्राप्त इन्द्रियजन्यपन हेतुका इस दूरवर्ती वृक्षके अस्पष्ट ज्ञानसे छठी कारिकाद्वारा व्यभिचार दोष उठाना हमारा युक्त ही है।

अपरः प्राह। स्पष्टमेव सर्वविज्ञानं स्वविषयेन्यस्य तद्व्यवस्थापकत्वायोगादक्षप्रतिभासनवत्। ततो नास्पष्टो व्यंजनावग्रह इति नैव मन्येत स्पष्टास्पष्टावभासयोरबाधितवपुषोः स्वयं सर्वस्यानुभवात्।

कोई दूसरा विद्वान् यों कह रहा है कि सम्पूर्ण विज्ञान (पक्ष) स्पष्ट ही होते हैं (साध्य) क्योंकि अपने अपने विषयको जाननेमें अन्य किसीको भी उन ज्ञानोंकी व्यवस्था करा देनेपनका योग नहीं है (हेतु) जैसे कि इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको स्वयं अपने विषयका व्यवस्थापकपना होनेसे स्पष्टपना नियत है (दृष्टान्त)। तिस कारण व्यंजनावग्रह मतिज्ञान भी अविशद नहीं है, स्पष्ट ही है। इस प्रकार माननेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह नहीं नहीं मानना चाहिये। क्योंकि बाधाको नहीं प्राप्त हो रहे हैं ढील जिनके, ऐसे स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभासोंका सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वयं अनुभव हो रहा है। अर्थात्—व्यंजनावग्रह, स्मरण, अनुमान, आगम, आदि ज्ञानोंको अन्य प्रतीतियोंका व्यवधान पडजानेके कारण अविशदपना अपने अस्पष्ट आवरणक्षयोपशमके अधीन होता हुआ अनुभूत हो रहा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

है। और स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, इन ज्ञानोंका स्पष्टपना स्पष्ट क्षयोपशम या क्षयके वश हुआ स्वयं अनुभूत हो रहा है। छाया और आतपके समान लोक प्रसिद्ध हो रहे ज्ञानके अस्पष्टपनेका अपलाप नहीं करना चाहिये। आगम या अनुमानसे अग्निको जानकर पुनः प्रत्यक्ष कर लेनेपर विशदपना स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अतीन्द्रिय ज्ञानोंमें इससे भी अधिक विशदपना उपनीत कर लेना चाहिये।

ननु चास्पष्टत्वं यदि ज्ञानधर्मस्तदा कथमर्थस्यास्पष्टत्वमन्यस्यास्पष्टत्वादन्यस्यास्पष्टत्वेतिप्रसंगादिति चेत् तर्हि स्पष्टत्वमपि यदि ज्ञानस्य धर्मस्तदा कथमर्थस्य स्पष्टतातिप्रसंगस्य समानत्वात्। विषये विषयिधर्मस्योपचाराददोष इति चेत् तत एवान्यत्रापि न दोषः।

इसपर अपर (कोई दूसरा) विद्वान् प्रश्न करता है कि व्यंजनावग्रह, स्मरण, आदि ज्ञानोंके अवसरपर माना गया अस्पष्टपना यदि ज्ञानका धर्म माना जायगा, तब तो अर्थका अस्पष्टपना कैसे कहा जा सकता है ? चेतनज्ञानका अस्पष्टपना जड अर्थमें तो नहीं धरा जा सकता है। यदि अन्य वस्तुके अस्पष्टपनसे दूसरे पदार्थका अस्पष्टपना माना जावेगा तो अतिक्रमणरूप अति प्रसंग हो जावेगा अर्थात्—दूरवृक्षके पत्तोंका ज्ञात किया अविशदपना निकटवर्त्ती बडे घडेमें भी व्यवहृत हो जाना चाहिये या सूचीके अग्रभागका अविशदपना हाथीके शरीरमें आरोपित हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार कटाक्ष करनेपर तो हम जैन भी अपर विद्वानके प्रति कह सकते हैं कि तब तो आपका माना हुआ स्पष्टपना भी यदि ज्ञानका धर्म है, तब भला अर्थका स्पष्टपना कैसे कहा जा सकेगा ? हमारे समान तुम्हारे ऊपर भी अतिप्रसंग दोष वैसाका वैसा ही लगता है। अर्थात्—ज्ञानके स्पष्टपनेसे यदि अर्थका स्पष्टपना होने लगे तो यहां कुटकीके कटुपनेसे देशान्तरवर्त्ती खांडमें भी कटुता आ जायगी। या एक विशद हाथीका बडापन एक परमाणुमें भी मान लिया जाय। किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि आप अपने अतिप्रसंगका निवारण यों करें कि चाहे जिस तटस्थ वस्तुके धर्मोंका चाहे किसी भी उदासीन पदार्थमें आरोप नहीं किया जा सकता है, हां, ज्ञान और ज्ञेयका घनिष्टरूपसे विषयविषयीभाव सम्बन्ध हो जानेके कारण विषय-ज्ञेयमें विषयी-ज्ञानके स्पष्टपनका उपचार कर लिया जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। इस प्रकार समाधान करने पर तो हम स्याद्वादी भी उत्तर कह देंगे कि अस्पष्टपनेके दूसरे स्थलपर भी तिस ही कारण यानी विषयीके धर्मका विषयमें आरोप कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। जैसे कि घट प्रत्यक्ष है। अग्नि परोक्ष है। ये ज्ञानोंके धर्म विषयोंमें व्यवहृत हो रहे हैं। दर्पणके धर्म प्रतिबिम्ब्यमें कल्पित कर लिये जाते हैं। प्रतिभास करा देनेकी अपेक्षा ज्ञानको दर्पणकी केवल उपमा देदी जाती है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान विषयके प्रतिबिम्बको धारण नहीं करता है। चमकीले मूर्त पदार्थमें ही मूर्तके प्रतिबिम्ब पड सकते हैं। चेतन अमूर्तज्ञानमें पुद्गल, आत्मा, धर्म, अधर्मके आकार नहीं पड सकते हैं, ज्ञान साकार होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

और दर्शन निराकार होता है। यहां आकारका अर्थ पदार्थोंका स्वपरसम्वेदन करानेकी अपेक्षा विकल्पनाऐं करना है। यदि प्रतिबिम्ब लेना अर्थ किया जायगा तो स्मरणज्ञानमें भूतपदार्थोंकी या सर्वज्ञज्ञानमें भूत, भविष्य, पदार्थोंकी अथवा व्याप्तिज्ञानमें त्रिलोकत्रिकालवर्ती वह्नि, धूम, आदि पदार्थोंकी इति नहीं हो सकेगी। जो जीव मर चुका है, या गर्भमें आनेवाला है, वह वर्तमानमें किन्हींको ऋण नहीं बांटता फिरता है। अतः साकारका अर्थ सविकल्पक ही ग्रहण करना। प्रकरणमें चमचमाते हुये ज्ञानके धर्म ज्ञेयमें ले आये जाते हैं। प्रकाशमान दीपककी तीव्र, मन्द, ज्योतियोंका प्रभाव प्रकाश्य अर्थपर पडता है।

यथैव हि दूरादस्पष्टस्वभावत्वमर्थस्य सन्निकृष्टस्पष्टतापतिभासेन बाध्यते तथा सन्निहितार्थस्य स्पष्टत्वमपि दूरादस्पष्टतापतिभासेन निराक्रियत इति नार्थः स्वयं कस्यचित्स्पष्टोऽस्पष्टो वा स्वविषयज्ञानस्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्यामेव तस्य तथा व्यवस्थापनात्।

यदि अपर विद्वान् यों कहें कि अस्पष्टपना तो बाधित हो जाता है। तो हम भी कह देंगे कि स्पष्टपना भी क्वचित् बाध डाला जाता है। देखिये, जिस ही प्रकार दूरसे जाने गये अर्थका अस्पष्ट स्वभावपना वहां वहां जाते जाते ज्ञाताको अर्थके अतिनिकटवर्ती हो जानेपर स्पष्टपनके प्रतिभास करके बाधित हो जाता है, तिस ही प्रकार सन्निकटवर्ती अर्थका ज्ञानद्वारा आया हुआ स्पष्टपना भी हटकर दूरसे देखनेपर अर्थके अस्पष्टपन प्रतिभास करके निराकृत हो जाता है। इस ढंगसे सिद्ध हो जाता है कि किसी भी जीवके द्वारा जाना गया अर्थ स्वयं अपनी गांठसे स्पष्ट अथवा अस्पष्ट नहीं है। किंतु अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानके स्पष्टपन और अस्पष्टपनकरके ही तिस प्रकार उस अर्थकी स्पष्टता और अस्पष्टता व्यवस्थित हो रही है। जैसे जगत्का कोई भी पदार्थ अपनी गांठसे इष्ट, अनिष्ट बन गया नहीं है। धन, पुत्र, दूध, मेवा, मिष्टान्न, गीत, नृत्य, कलत्र, भूषण, पुष्पमाला, आदि मनोज्ञ पदार्थ भी रोगदशा वृद्धअवस्था या वैराग्य हो जानेपर अनिष्ट हो जाते हैं। कूडा, कीचड, मल, मूत्र, आदि अनिष्ट भी अर्थ समयपर किसानोंको सम्पत्तिके समान अभीष्ट हो जाते हैं। तत्कालीन प्रयोजनोंके साधक, असाधक हो जानेसे इष्ट, अनिष्टपना पदार्थोंमें कल्पित कर लिया गया है। कोई भी दृष्टान्त पूर्णरूपसे दार्ष्टान्तमें लागू नहीं होता है। अन्यथा वह दृष्टान्त स्वयं दार्ष्टांत बन बैठेगा? इष्ट अनिष्टपना तो किसी भी वस्तुमें यथार्थरूपसे नहीं है, किन्तु स्पष्ट, अस्पष्टपना तो अपने कारण क्षयोपशमके वश हुआ ज्ञानमें गांठका वस्तुतः विद्यमान है।

नन्वेवं ज्ञानस्य कुतः स्पष्टता? स्वज्ञानत्वादिति चेन्न, अनवस्थानुषंगात्। स्वत एवेति चेत् सर्वज्ञानानां स्पष्टत्वापत्तिरित्यत्र कश्चिदाचष्टे। अक्षात्स्पष्टता ज्ञानस्येति तदयुक्तं, दविष्ठपादपादिज्ञानस्य दिवा तामसखगकुलविज्ञानस्य च स्पष्टत्वप्रसंगात्।

कोई तटस्थ विद्वान् शंका करता है कि इस प्रकार ज्ञानको भी अपने निज *स्वरूपसे स्पष्टपना* कैसे प्राप्त होगा ? बताओ। यदि उस ज्ञानके स्वस्वरूपको जाननेवाले अन्य ज्ञानसे प्रकृत ज्ञानमें स्पष्टता लाओगे, यह तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि अनवस्था दोषका प्रसंग हो जायगा। अर्थात् दूसरे ज्ञानका स्पष्टपना उसको जाननेवाले तीसरे ज्ञानसे ऋण लिया जावेगा। और तीसरे ज्ञानका स्पष्टपना उसको जाननेवाले चौथे ज्ञानसे उधार लिया जायगा। जैसे कि अर्थका स्पष्टपना ज्ञानसे मांगा गया था। भीखमेंसे भीख और उस भीखमेंसे भीख लेना तो मनस्वी ज्ञानीको उचित नहीं है। यदि ज्ञानको स्पष्टपना स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, यों कहोगे तब तो सभी व्यंजनावग्रह, स्मरण, अनध्यवसाय, आदि ज्ञानोंको स्पष्टतया प्राप्त होजाना आ पडेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार अनाकर तटस्थकी शंका हो जानेपर यहां कोई वाचाल नैयायिक उत्तर देनेके लिए बीच में ही अनधिकार बोल उठता है कि ज्ञानकी स्पष्टता तो इन्द्रियोंसे आ जाती है। अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य हैं, वे स्पष्ट हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह उन नैयायिकोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि यदि इन्द्रियोंसे ही ज्ञानमें स्पष्टपना आने लगे तो अधिक दूरवर्ती वृक्ष डेरा आदिके ज्ञानको तथा दिनमें उलूक आदि तामसपक्षियोंके समुदायको होनेवाले ज्ञानको भी स्पष्टपनेका प्रसंग होगा। अंधकारमें अच्छा देखनेवाले तामस पक्षियोंका दिनके अवसरपर हुआ पदार्थोंका अविशद ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ तो है ही। अतः नैयायिक या वैशेषिकोंके ऊपर यह व्यभिचार दोष लगा।

तदुत्पादकमक्षमेव न भवति दूरतमदिवसकरप्रतापाभ्यामुपहतत्वात् मरीचिकासु तोयाकारज्ञानोत्पादकाक्षवदिति चेत् तर्हि ताभ्यामक्षस्य स्वरूपमुपहन्यते शक्तिर्वा। न तावदाद्यः पक्षः तत्स्वरूपस्याविकलस्यानुभवात्। द्वितीयपक्षे तु योग्यतासिद्धिस्तद्व्यतिरेकेणाक्षशक्तेरव्यवस्थितेः क्षयोपशमविशेषलक्षणायाः योग्यताया एव भावेंद्रियाख्यायाः स्वीकरणार्हत्वात्।

इसपर यदि नैयायिक यों कहें कि उन दूरवर्ती वृक्षके ज्ञान या दिनमें तामस पक्षियोंके ज्ञानोंको उत्पन्न करानेवाली तो इन्द्रियां ही नहीं रही हैं। कारण कि अधिक दूर देशसे और सूर्यके प्रतापसे वे इन्द्रियां नष्ट हो चुकी हैं। जब कारण ही मर गया तो कार्य भी नहीं हो पाता है। जैसे कि चमकते हुये बालू रेत या फूले हुये कांस आदि मृगतृष्णाओंमें जलका विकल्प करनेवाले ज्ञानकी उत्पादक इन्द्रियां चकाचौंध, अतिव्याकुलता, आदिसे बिगड जाती हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकों द्वारा असदुत्तर देनेपर तो हम पूछते हैं कि उन अतिशय दूरदेश अथवा सूर्यप्रताप या चाकचक्यकरके क्या इन्द्रियोंका स्वरूप ही पूरा नष्ट कर दिया गया है ? अथवा क्या इन्द्रियोंकी अभ्यन्तर शक्ति नष्ट कर दी गयी है ? बताओ। तिनमें पहिला पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन इन्द्रियोंके अविकल पूर्णस्वरूपका ठीक ठीक अनुभव हो रहा है।

अर्थात्—इन्द्रियोंका शरीर ठीक वैसाका वैसा ही बना हुआ है। कोई त्रुटि नहीं हो पाती है। चिकित्सा किये विना ही तभी उन्हीं इन्द्रियों करके अन्य भी तो कई समीचीनज्ञान हो रहे हैं। दूसरा पक्ष लेनेपर तो यानी प्रकृष्ट दूर देश या सूर्यकिरण–प्रताप, से चक्षुकी शक्ति नष्ट हुयी मानोगे तब तो योग्यताकी सिद्धि हो जाती है। उस योग्यताके अतिरिक्तपनेकरके इन्द्रिय शक्तिको व्यवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि भावेंद्रिय नामसे प्रसिद्ध हो रही ज्ञानावरण कर्मके विशेष क्षयोपशमस्वरूप योग्यता ही को इन्द्रियशक्तिपना स्वीकार करने योग्य है। "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" ज्ञानावरणकर्मके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावस्वरूप क्षय यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री नहीं मिल सकनेके कारण विपाक दिये विना ही खिर जाना और भविष्यकालमें उदय आनेवाले ज्ञानावरणके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदीरणा, उदय आवलीमें नहीं पडते हुये वहांका वहां ही सदवस्थारूप उपशम दशामें पडा रहनास्वरूप उपशम तथा ज्ञानको एक देशसे घातनेवाले देशघातिस्पर्धकोंका उदय होना, ऐसी क्षयोपशमरूप दशा होनेपर आत्माकी विशुद्धि जो हो जाती है, वह भावेन्द्रियनामकी योग्यता है। वही इन्द्रियोंकी शक्ति मानने योग्य है। दूरदेश या उलूक आदिको घामका प्रकरण उपस्थित होनेपर अथवा अतिनिकटवर्ती अंजन, पलक आदिको देखनेका पुरुषार्थ करनेपर स्पष्टज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यताके नहीं मिलनेसे स्पष्टज्ञान नहीं हो पाया है। अतः ज्ञानका स्पष्टपना और अस्पष्टपना स्वकीय योग्यताके अनुरूप हुआ इष्ट करना चाहिये।

ज्ञानस्य स्पष्टताऽऽलोकनिमित्तेत्यपि दूषितम्।
एतेन स्थापितात्वीहा क्षायिकं च वशंकरी ॥ ८ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि ज्ञानका स्पष्टपना आलोकके निमित्तसे हो रहा है। अर्थात्—तेजोद्रव्यकी प्रभारूप आलोकका जिन द्रव्य, गुण, जाति, आदि पदार्थोंके साथ संयोग या संयुक्त समवाय अथवा संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध हो जायगा, उन पदार्थोंके ज्ञानमें उस आलोकके निमित्तसे स्पष्टता आजावेगी। अन्य अनुमान आदि ज्ञानोंमें स्पष्टपना नहीं है। आलोकको उन ज्ञानोंका निमित्तपना नहीं बन सकनेके कारण उनमें अस्पष्टपना व्यवस्थित है। इस प्रकार वैशेषिकोंका कहना भी इस उक्त कथनकरके ही दूषित कर दिया गया समझ लेना। दूरसे वृक्षको देखनेपर या दिनमें उल्लूके लिये उद्भूत आलोक प्राप्त है, तो फिर क्यों नहीं स्पष्टज्ञान होता है? बताओ। अतः व्यभिचारदोष हुआ। वस्तुतः विचारा जाय तो आलोक ज्ञानका कारण नहीं है। भूत, भविष्य, पदार्थोंके साथ आलोकका सन्निधान नहीं होते हुये भी आत्मा, जाति, पृथक्त्व, परिणाम, रस, गंध, कर्म, आदिका क्वचित् स्पष्टज्ञान हो जाता है। उद्भूतरूप या आलोकसंयोगको द्रव्यके चाक्षुषप्रत्यक्षमें समवायसम्बन्धसे और द्रव्यसमवेत रूपादिके प्रत्यक्षमें स्वाश्रयसमवाय सम्बन्धसे अथवा रूपत्व आदिका प्रत्यक्ष करनेमें स्वाश्रयसमवेत समवायसम्बन्धसे खेंचखांचकर परम्परासम्बन्ध द्वारा वहां लाना अन्याय

है। स्वसंवेदनप्रत्यक्षकरके भी अव्याप्ति दोष आता है। अलम्। जैसे अर्थके स्पष्ट अवग्रहको स्थापन किया है, उसी प्रकार ईहाज्ञान भी स्थापित कर लेना। अवाय, धारणा, भी यों ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कुछ मतिज्ञान और अवधि, मनःपर्यय ज्ञानोंमें अपने क्षयोपशमके अनुसार जैसे स्पष्टपना नियमित है, वैसे ही क्षायिक केवलज्ञानमें कर्मोंके क्षयरूप योग्यताके अधीन होकर स्पष्टपना व्यवस्थित है। स्पष्टज्ञानको करानेवाली योग्यता ही ज्ञानके स्पष्टपनको वश कर रही है।

सैवास्पष्टत्वहेतुः स्याद्व्यंजनावग्रहस्य नः।
गंधादिद्रव्यपर्यायग्राहिणोप्यक्षजन्मनः ॥ ९ ॥

अस्पष्ट ज्ञानको वश करनेवाली वह योग्यता ही ज्ञानके अस्पष्टपनका कारण है। जैसे कि दर्पणकी विशद स्वच्छता और अविशद स्वच्छताके निमित्त तैसे तैसे पारेका पोतना आदि हैं। गंध रस, स्पर्श, इनसे युक्त पुद्गल द्रव्य अथवा इन गुण या द्रव्योंकी सुगंध, काला, उष्णता, आदि पर्यायों अथवा शब्दस्वरूप पर्यायोंको ग्रहण करनेवाले तथा चार इन्द्रियोंसे उत्पन्न भी हो रहे व्यंजनावग्रहको हम स्याद्वादियोंके यहां अस्पष्ट क्षयोपशम अनुसार अस्पष्टपना नियत हो रहा माना गया है।

यथा स्पष्टज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशेषादस्पष्टता व्यवतिष्ठत इति नान्यो हेतु-रव्यभिचारी तत्र संभाव्यते ततोर्थस्यावग्रहादिः स्पष्टो व्यंजनस्यास्पष्टोऽवग्रह एवेति सूक्तम् ॥

जिस प्रकार ज्ञानावरणके स्पष्ट क्षयोपशमसे कतिपय ज्ञानोंका स्पष्टपना व्यवस्थित है। उसी प्रकार ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके अस्पष्ट क्षयोपशमविशेषसे किन्हीं ज्ञानोंका अस्पष्टपना व्यवस्थित हो रहा है। इस प्रकार ज्ञानके स्पष्टपन और अस्पष्टपनकी व्यवस्था हो चुकी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु उनकी व्यवस्था करनेमें व्यभिचारदोषरहित नहीं सम्भावित हो रहा है। तिस कारण सूत्रकार और हमने यों बहुत अच्छा कहा था कि अर्थ–वस्तुके बहु आदिक धर्मोंके हुये अवग्रह ईहा आदिक कतिपय मतिज्ञान स्पष्ट हैं। और अव्यक्त अर्थका केवल एक अवग्रह ही अस्पष्ट होता है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके भाष्यमें प्रथम ही विशेष नियम करनेके लिए सूत्रका आरम्भ करना बताकर जल भक्षणका दृष्टान्त देकर अव्यक्त शब्द आदि समुदायका व्यंजनावग्रह होना ही नियत किया है। सामान्यधर्मकी प्रधानतासे अव्यक्त अर्थको अविशद जानना अपने वैसे क्षयोपशमके अधीन है। लौकिकजनोंके सभी प्रत्यक्ष स्पष्ट ही होय या पूरे विशेष अंशोंको जाननेवाले ही होय ऐसा कोई नियम नहीं है, इसका विशेष विचार किया है। अस्पष्ट तर्कणा करना, श्रुतज्ञानका व्यापकलक्षण

नहीं है। दूरवर्ती वृक्षके इन्द्रियजन्य ज्ञानको भी कथंचित् अस्पष्टपना व्यवस्थित किया है। स्वांशको स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जाननेमें सभी ज्ञान स्पष्ट हैं। एतावता व्यंजनावग्रह अपने विषयको भी जाननेमें स्पष्ट नहीं हो सकता है। स्पष्टपना, अस्पष्टपना, अर्थका धर्म नहीं है। किन्तु स्वकीय तादृश क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानकी गांठके वे धर्म है। नैयायिक या वैशेषिकोंके कथन अनुसार इन्द्रिय और आलोकसे ज्ञानका स्पष्टपना और अस्पष्टपन व्यवस्थित नहीं है। प्रकाशक पदार्थकी योग्यता अनुसार प्रकाश्य अर्थमें स्पष्टपना अस्पष्टपना व्यवहृत हो जाता है। घनांगुलके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग परिमाण लम्बी, चौडी, पौद्गलिक या आत्मप्रदेशस्वरूप द्रव्येन्द्रियोंसे अतिरिक्त लब्धि, उपयोगपर्यायस्वरूप भावइन्द्रियां भी हैं। प्रत्येक कार्यमें अंतरंग कारणोंकी आवश्यकता पडती है। मोटापन, सौन्दर्य, लावण्य, धनवत्ता, जैसे विद्वत्तामें प्रयोजक नहीं हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय, आलोक, उद्भूतरूप, महत्त्व, अर्थ, ये ज्ञानमें विशदपनेके प्रतिष्ठापक नहीं हैं। अस्पष्ट और स्पष्ट क्षयोपशम या स्पष्ट क्षयके अनुसार ज्ञानका स्पष्टत्व, अस्पष्टत्व नियत हो रहा है। अन्य कोई उनका निर्दोष कारण नहीं है।

शब्दादिजातधर्माणामव्यक्तस्य च धर्मिणः।
सामान्यार्थप्रकाशी स्याद् व्यंजनावग्रहोऽस्फुटं ॥ १ ॥

—x—

उक्त सूत्र अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा सामान्यरूपकरके व्यंजनावग्रह हो जानेका प्रसंग प्राप्त होनेपर जिन इन्द्रियोंसे व्यंजनावग्रह होनेका सर्वथा असम्भव है, उन दो इन्द्रियोंद्वारा व्यंजनावग्रहका निषेध करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज नवीन सूत्र रचते हैं।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां ॥ १९ ॥

चक्षु इन्द्रिय और अनिन्द्रिय यानी मनकरके व्यंजनावग्रह नहीं होता है। शेष चार इन्द्रियोंसे ही होता है। ज्ञानमें जितने झगडे टंटें, उपाधियोंका आधिक्य होगा उतना ही ज्ञान मन्द होता जायगा। चक्षु और मन ज्ञान करानेमें अर्थके साथ प्राप्ति होनेका पुंछला नहीं लगाते हैं। अतः वे छोटेसे छोटे ज्ञानको भी अस्पष्ट अवग्रहरूप नहीं बना पाते हैं। हाथीका छोटासा भी ग्रास मनुष्यके बहुत बडे ग्राससे कहीं अधिक होता है। अतः चक्षु और मनके द्वारा हुआ ज्ञान व्यक्त अर्थका ही होगा, अव्यक्तका नहीं।

किमवग्रहेहादीनां सर्वेषां प्रतिषेधार्थमिदमाहोस्विद् व्यंजनावग्रहस्यैवेति शंकायामिदमाचष्टे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कोई शंका करता है कि अव्यक्त अर्थके अवग्रह, ईहा, आदिक सभी ज्ञानोंके निषेध करनेके लिए क्या उमास्वामी महाराजने यह सूत्र कहा है ? अथवा क्या अव्यक्त अर्थके व्यंजनावग्रहके ही निषेधार्थ यह सूत्र कहा है ? अर्थात् अव्यक्त अर्थके व्यंजनावग्रह समान क्या ईहा आदिक ज्ञान भी चक्षु, मन, इन्द्रियोंसे नहीं हो सकेंगे ? ठीक ठीक बताओ। इस प्रकार उचित शंका होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य उसके उत्तरमें यह व्यक्त व्याख्यान कहते हैं कि—

नेत्याद्याह निषेधार्थमनिष्टस्य प्रसंगिनः ।
चक्षुर्मनोनिमित्तस्य व्यंजनावग्रहस्य तत् ॥ १ ॥
व्यंजनावग्रहो नैव चक्षुषानिंद्रियेण च ।
अप्राप्यकारिणा तेन स्पष्टावग्रहहेतुना ॥ २ ॥

पूर्वमें कहे गये " व्यंजनस्यावग्रहः " इस सूत्र अनुसार चक्षु और मनके निमित्तसे भी व्यंजनावग्रह हो जानेका प्रसंग आता है, जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रसंगप्राप्त उस अनिष्टका निषेध करनेके लिये " न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां " इस प्रकार सूत्रको श्रीउमास्वामी महाराज कहते हैं। ज्ञेयविषयोंको प्राप्त नहीं कर ज्ञान करानेवाले चक्षु और मनकरके व्यंजनावग्रह नहीं होता है। यह सूत्रका अर्थ है। स्पष्ट अवग्रहके कारण हो रहे उन चक्षु और मन करके अव्यक्त अर्थका अवग्रह नहीं हो पाता है। अतः परिशेष न्यायसे निकल पडता है कि अव्यक्त अर्थके ईहा आदि-कज्ञान चक्षु और मन तथा अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे नहीं हो पाते हैं। जब कि पूर्व सूत्रमें अव्यक्त अर्थका व्यंजन अवग्रह होना ही बताया गया है तो उस हीसे अव्यक्त विषयमें छहों इन्द्रियोंकरके ईहा, अवाय, आदि मतिज्ञानोंका निषेध हो जाता है। व्यक्त ही अर्थमें धारणापर्यंत ज्ञान होकर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, आदिज्ञान उत्पन्न होते हैं। भले ही वे स्मरण आदिक अस्पष्ट होवें। अतः यह सूत्र चक्षु और मन द्वारा अव्यक्त अर्थोंके अवग्रह, ईहा, आदि सभी ज्ञानोंके निषेधार्थ है। जब अवग्रह ही नहीं हो पाता हो चक्षु, मनसे अव्यक्तके ईहा आदि कैसे हो सकेंगे !

प्राप्यकारींद्रियैश्चार्थे प्राप्तिभेदाद्धि कुत्रचित् ।
तद्योग्यतां विशेषां वाऽस्पष्टावग्रहकारणं ॥ ३ ॥

विषयको प्राप्त होकर ज्ञान करानेवाली इन्द्रियोंकरके अर्थमें प्राप्ति हो जानेके भेदसे कहीं कहीं अस्पष्ट अवग्रहके कारण उस योग्यताविशेषको प्राप्तकर व्यंजनावग्रह हो जाता है। अर्थात् स्पृष्ट अर्थका स्पर्शना या स्पर्शकर बंधजानास्वरूप प्राप्ति होकर श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण इन्द्रियों करके अस्पष्टअवग्रहकी योग्यता प्राप्त होनेपर व्यंजनावग्रह मतिज्ञान हो जाता है।

यथा नवशरावादौ द्वित्र्याद्यास्तोयबिंदवः ।
अव्यक्तामार्द्रतां क्षिप्ताः कुर्व्वंति प्राप्यकारिणः ॥ ४ ॥
पौनःपुन्येन विक्षिप्ता व्यक्तां तामेव कुर्वते ।
तत्प्राप्तिभेदतस्तद्वदिंद्रियाण्यप्यवग्रहम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कि मिट्टीके नये शकोरा, भोलुआ आदि बर्तनोंमें छोटी छोटी पानीकी दो, तीन, चार आदिक बिन्दुयें प्राप्यकारी होकर गेर दी गयीं अव्यक्त गीलेपनको करती हैं, हां, पुनः पुनः स्वरूपकरके कई बार डाली गयीं वे ही जलबिन्दुयें उस व्यक्त आर्द्रताको कर देती हैं। क्योंकि व्यक्त, अव्यक्त गीला करनेमें उन जलबिन्दुओंकी पात्रके साथ प्राप्ति विशिष्ट प्रकारकी है। उसीके समान चार इन्द्रियां और दो इन्द्रियां भी अवग्रहको अव्यक्त और व्यक्त कर देती हैं।

अप्राप्तिकारिणी चक्षुर्मनसी कुरुतः पुनः ।
व्यक्तामर्थपरिच्छित्तिमप्राप्तेरविशेषतः ॥ ६ ॥
यथायस्कांतपाषाणः शल्याकृष्टिं स्वशक्तितः ।
करोत्यप्राप्यकारीति व्यक्तिमेव शरीरतः ॥ ७ ॥

किन्तु फिर चक्षु और मन ये दो इन्द्रियां तो अप्राप्यकारी होती हुई व्यक्त अर्थज्ञप्तिको करती हैं। क्योंकि दोनों इन्द्रियोंमें अप्राप्ति होनेका कोई अन्तर नहीं है, जैसे कि दूरसे लोहेको खींचनेवाला चुम्बक पत्थर अपनी शक्तिसे ही सूई, बाण आदिका आकर्षण कर लेता है। इस कारण वह चुम्बक पाषाण आकर्ष्यविषयके साथ प्राप्ति नहीं करता हुआ अपने शरीरसे ही खेंचना रूप कार्यको व्यक्त ही कर देता है। चुम्बक पाषाण दो प्रकारके होते हैं। पहिले तो दूरसे ही लोहेको खींचकर चुपटा लेते हैं। दूसरे वे हैं, जो दूरसे तो खींच नहीं सकते हैं, किन्तु लोहेका स्पर्श हो जानेपर उसको खींचे रहते हैं। ऐसी ही दशा अप्राप्यकारी और प्राप्यकारी इन्द्रियोंकी समझ लेना।

न हि यथा स्वार्थयोः स्पृष्टिलक्षणाप्राप्तिरन्योपचयस्पृष्टितारतम्याद्भिद्यते तथा तयोरप्राप्तिर्देशव्यवधानलक्षणापि कात्स्न्र्येनास्पृष्टेरविशेषात्।

कारण कि स्व यानी इन्द्रियां और अर्थका स्पर्श हो जानास्वरूप प्राप्ति जिस प्रकार कि दूसरेके साथ न्यून अधिक, गाढ, एकदेश, सर्वदेश, भीतर, बाहर, बढा हुआ, घटा हुआ, आदि छूनेके तारतम्यसे न्यारी न्यारी हो जाती है, उस प्रकार उन इन्द्रिय और विषयोंकी दैशिक व्यवधान स्वरूप अप्राप्ति भी भिन्न भिन्न नहीं होती है। क्योंकि अपने पूर्ण स्वरूपकरके दूरदेशवर्त्ती विषयके

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

साथ अस्पर्श होनेका कोई अन्तर नहीं है। शिरके चार अंगुल ऊपर छतमें लटक रहे पदार्थका जैसे कोई बोझ शिरपर नहीं है, वैसे ही चार हाथ, दस हाथ, ऊपर लटक रहे भारी पदार्थका भी शिरपर कोई लदना नहीं है। एक दिन पूर्वमें या हजार वर्ष पूर्वमें नष्ट होगये पदार्थका असद्भाव वर्तमानमें एकसा है। कोई अन्तर नहीं है। अन्धी बहिनका भाईके साथ थोडा या अधिक हुआ विश्लेष एकसा है। अर्थात् प्राप्यकारी चार इन्द्रियोंकी विषयके साथ भावरूप प्राप्तिका तो भेद हो सकता है। किन्तु अप्राप्यकारी दो इन्द्रियोंकी विषयोंके साथ अभावस्वरूप होती हुई अप्राप्ति तो न्यारी न्यारी नहीं है।

तद्व्यवधायकदेशास्पदाप्राप्तिरपि भिद्यते एवेति चेत् किमयं पर्युदासप्रतिषेधः प्रसज्यप्रतिषेधो वा? प्रथमपक्षेऽक्षार्थाप्राप्तिरन्या न वार्थः पुनरेवं "नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः" इति वचनात् सा च नावग्रहादेः कारणमिति तद्भेदेपि कुतस्तद्भेदः। द्वितीयपक्षे तु प्राप्तेरभावोऽप्राप्तिः सा च न भिद्यतेऽभावस्य स्वयं सर्वत्राभेदात्।

यदि कोई यों कहें कि उन दोनोंके मध्यमें अन्तराल करानेवाले देशोंका आधान होजानेसे अप्राप्ति भी तो भिन्न भिन्न हो जाती है। शत्रुका पांचसौ कोस, दस कोस, एक कोस, पचास गज दूर रहना न्यारे न्यारे प्रकारके संकटका उत्पादक है। सौ वर्ष, एक वर्ष, एक दिन, एक घडी, पूर्वकालोंमें मरे हुये इष्टप्राणीका वियोग भिन्न भिन्न जातिके शोकोंका उत्पादक है। परदेशसे धन, यश, कमाकर आरहे पुरुषको मार्गमें माता, पुत्र, पत्नीवाली जन्मभूमिके साथ रह गया थोडा थोडा देशव्यवधान अन्य अन्य प्रकारोंकी चित्तमें, गुदगुदियें उत्पन्न कराता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि अप्राप्ति शब्दमें पडा हुआ यह नञ् क्या उत्तरपदके पूर्वमें मिल रहा और तद्भिन्न तत्सदृशको ग्रहण करनेवाला पर्युदास निषेध है? अथवा क्या क्रियाके साथ अन्वित होकर सर्वथा निषेध करनेवाला प्रसज्यअभाव है? बताओ। प्रथमपक्ष ग्रहण करनेपर अर्थकी अप्राप्ति तो न्यारी हो जायगी। किन्तु फिर अर्थ तो इस प्रकार न्यारा न्यारा नहीं हो सकेगा। क्योंकि परिभाषाका ऐसा वचन प्रसिद्ध हो रहा है कि पर्युदासपक्षमें नञ्का अर्थ इवकार युक्त है। तिस प्रकार नियमसे अन्य सदृश अधिकरणमें अर्थकी प्राप्ति हो जाती है। "भूतले घटाभावः" यहां घटाभावका अर्थ रीता भूतल है। किन्तु वह अप्राप्ति तो चक्षु, मन द्वारा हुये अवग्रह, ईहा, आदि ज्ञानोंका कारण नहीं है। अतः उस एक हाथ, सौ धनुष, पांचसौ योजन आदि देश भेदसे अप्राप्तिका भेद होनेपर भी उन अवग्रह आदि ज्ञानोंमें भला भेद कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं। इस कारण सिद्ध होता है कि प्राप्तिका भेद हो जानेसे स्पार्शन या श्रोत्रजन्य व्यंजनावग्रहोंमें तो कुछ अन्तर है। किन्तु चक्षु, मनसे हुये अर्थावग्रहोंमें एकसी अप्राप्ति होनेके कारण अन्तर नहीं है। द्वितीय प्रसज्यपक्षका आश्रय करनेपर तो प्राप्तिका अभाव अप्राप्ति पडेगा। किन्तु वह अप्राप्ति तो स्वयं भिन्न नहीं हो रही है। अभाव पदार्थ तो स्वयं सर्वत्र भेद नहीं रखता हुआ एकसा वर्त रहा

है। जैसा ही चाण्डालके शिरपर सींगोंका अभाव है, ऐसा ही राजा, सम्राट्, जैन, ब्राह्मण, मुनि महाराजके उत्तम अंगपर भी विषाणोंका अभाव है। अभावमें कोई अन्तर नहीं है। इस स्पष्ट कथन करनेमें लज्जा और अपमानकी कोई बात नहीं है। रत्नमें और ढेलमें ज्ञानका अभाव एकसा है। अतः अप्राप्यकारी इन्द्रियोंसे अवग्रह एकसा बनेगा। यों अगुरुलघुगुणद्वारा सूक्ष्मभेद सर्वत्र फैल रहा है। उस केवलान्वयी भेदको कौन टाल सकता है ? कोई भी नहीं।

कथमवग्रहाद्युत्पत्तौ सा कारणमिति चेत् तस्यां तत्प्रादुर्भावानुभवात् निमित्तमात्रत्वोपपत्तेः प्राप्तिवत् प्रधानं तु कारणं स्वावरणक्षयोपशम एवेति न किंचन विरुद्धमुत्पश्यामः।

आप जैन उस प्रसज्यरूप अप्राप्तिको अवग्रह आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण कैसे कह देते हो ? इस प्रकार प्रश्न करनेपर तो हम यही उत्तर देंगे कि उस अप्राप्तिके होनेपर उन अवग्रह आदिकोंकी उत्पत्ति होनेका अनुभव हो रहा है। अतः सामान्यरूपसे केवल निमित्तपना अप्राप्तिको बन जाता है। जैसे कि प्राप्यकारी चार इन्द्रियोंद्वारा अवग्रह आदि उत्पन्न होनेमें प्राप्तिको सामान्य निमित्तपना बन जाता है। हां, अवग्रह आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें प्रधानकारण तो अपने अपने आवरण कर्मोंका क्षयोपशम ही है। इस प्रकार सिद्धान्त करनेमें हम किसी विरुद्धदोषको नहीं देख रहे हैं। पुण्य और पाप या अयस्कांत जैसे पदार्थको नहीं प्राप्त कर ही खींच लेते हैं। तद्वत् चक्षु और मन इन्द्रियां अप्राप्त अर्थको विषय कर लेती हैं। कोई विरोध नहीं है।

अत्र परस्य चक्षुषि प्राप्यकारित्वसाधनमनूद्य दूषयन्नाह।

इस प्रकरणमें दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंके चक्षुमें प्राप्यकारीपनके साधनको अनुवाद कर दूषित कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट विवेचन कर कहते हैं।

चक्षुः प्राप्तपरिच्छेदकारणं बहिरिन्द्रियात्।
स्पर्शनादिवदित्येके तन्न पक्षस्य बाधनात् ॥ ८ ॥

चक्षु (पक्ष) अपने साथ संबद्ध हो चुके अर्थकी परिच्छित्तिका कारण है (साध्य) बाह्य इन्द्रिय होनेसे (हेतु) स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार कोई एक वैशेषिक या नैयायिक मान रहे हैं। उनका वह मन्तव्य ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञा वाक्यकी प्रमाणोंद्वारा बाधा उपस्थित हो जानेसे, बहिरिन्द्रियत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है। सभी आंखोंवाले जीव दूरवर्ती पदार्थोंको ही देखते हैं। प्रत्युत आंखसे चुपटा दिया गया पदार्थ तो दीखता भी नहीं है।

बाह्यं चक्षुर्यदा तावत् कृष्णतारादि दृश्यताम्।
प्राप्तं प्रत्यक्षतो बाधात् तस्यार्थाप्राप्तिवेदिनः ॥ ९ ॥

शक्तिरूपमदृश्यं चेदनुमानेन बाधनम् ।
आगमेन सुनिर्णीतासंभवद्बाधकेन च ॥ १० ॥

यहां चक्षु पक्ष किया गया है, जब बाह्यचक्षु कृष्ण तारामण्डल, गोलक आदि स्वरूप देखा जायगा, तब तो अर्थकी अप्राप्ति कर जाननेवाले गोलकरूप चक्षुका प्राप्त होना प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ही बाधाजाता है। अथवा बालवृद्धोंद्वारा दीखनेपनको प्राप्त हो रहे कृष्ण तारा आदिक बहिरंग चक्षु जब चक्षुपदसे लिये जायंगे तब तो अर्थकी अप्राप्ति कर जाननेवाली उस चक्षुकी प्रत्यक्षसे ही बाधा उपस्थित होती है। यानी पक्ष प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है। हां, यदि नहीं दीखनेमें आ रहा ऐसा कोई शक्तिरूप चक्षु पकडा जायगा, तब तो अनुमान प्रमाणसे बाधा उपस्थित हो जायगी। और भले प्रकार निर्णीत किया गया है बाधक प्रमाणोंका असंभव होनापन जिसका, ऐसे आगमप्रमाणकरके भी प्राप्यकारी साधनेवाला अनुमान बाध दिया जाता है, जिसको कि अभी स्पष्ट कहेंगे।

व्यक्तिरूपस्य चक्षुषः प्राप्यकारित्वे साध्ये प्रत्यक्षेण बाध्यते पक्षोनुष्णोग्निरित्यादिवत् । प्रत्यक्षतः साध्यविपर्ययसिद्धेः । शक्तिरूपस्य तस्य तथात्वसाधनेनुमानेन बाध्यते तत एव सुनिर्णीतासंभवद्बाधकेनागमेन च ।

लौकिक जनोंमें प्रसिद्ध हो रहे गोलकस्वरूप व्यक्तिरूप चक्षुका प्राप्यकारीपना साध्य करनेपर तो प्रतिज्ञास्वरूप पक्ष प्रत्यक्षप्रमाण करके ही बाधित हो जाता है। जैसे कि अग्नि ठण्डी है, यह पक्ष स्पार्शनप्रत्यक्षकरके बाधित है। साध्य किये गये ठण्डेपनेसे विपरीत उष्णपना अग्निमें प्रत्यक्षप्रमाणकरके सिद्ध हो रहा है। उसी प्रकार प्रसिद्ध दृश्यमान गोलकरूप चक्षुका प्राप्यकारीपन साध्यसे विपर्यय अप्राप्यकारीपना चाक्षुषप्रत्यक्ष या स्पार्शनप्रत्यक्षसे सिद्ध हो रहा है। आंखवाले जीवोंकी चक्षुयें मस्तकके अधोभागमें सन्मुख स्थित हैं। और घट, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि दृश्य पदार्थ कुछ दूर देशमें स्थित हो रहे हैं। चक्षुका घट आदिके निकट जाना और घट आदिका चक्षुके अतिनिकट आकर छू लेना प्रत्यक्षगोचर नहीं है। यदि आप नैयायिक उस शक्तिरूप चक्षुका तिस प्रकार प्राप्यकारीपना साधन करोगे, यानी गोलक चक्षुके कृष्ण ताराके अग्रभागमें वर्त्तरही चक्षुकी शक्ति विषयको प्राप्तकर ज्ञान कराती है मानोगे, तब तो आपका पक्ष अनुमानप्रमाणसे बाधित हो जायगा। उस ही कारण यानी साध्यसे विपरीत अप्राप्यकारीपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम वैशेषिकोंका अनुमान ठीक नहीं है। तथा जिसके बाधक प्रमाणोंका असम्भव होना अच्छा निर्णीत हो रहा है, उस आगमकरके भी तुम्हारा पक्ष बाधित है " अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं " छूए विना ही चक्षुद्वारा रूप या रूपवान् पदार्थ देख लिया जाता है, इत्यादि आगमप्रसिद्ध हैं।

किं तदनुमानं पक्षस्य बाधकमित्याह ।

हमारे पक्षका बाधक वह अनुमान कौनसा है ? भला बताओ तो सही, इस प्रकार वैशेषिकोंकी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उस अनुमानको स्पष्ट कहते हैं ।

तत्राप्राप्तिपरिच्छेदि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् ।
अन्यथा तदसंभूतेर्घ्राणादेरिव सर्वथा ॥ ११ ॥

चक्षु (पक्ष) जिस पदार्थके साथ चक्षुकी प्राप्ति नहीं है, उस अप्राप्त अर्थकी ज्ञप्ति करानेवाली है (साध्य) । सर्वथा छूये जा रहे अंजन, पलक, कामलदोष, आदिका अवग्रहज्ञान करानेवाली नहीं होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी अप्राप्य अर्थके परिच्छेदीको माने विना चक्षुको वह स्पृष्ट पदार्थका अवग्रह नहीं होना सर्वथा असम्भव है, जैसे कि नासिका, रसना आदि इन्द्रियोंको अप्राप्त अर्थ परिच्छेदी नहीं होनेपर ही स्पृष्टका अनवग्रह नहीं है, अर्थात्—जो इन्द्रियां प्राप्त अर्थकी ज्ञप्ति कराती हैं, वे छूये हुये अर्थका अवग्रह अवश्य कराती हैं, (व्यतिरेक दृष्टांत) ।

केवलव्यतिरेकानुमानमन्यथानुपपत्येकलक्षणयोगादुपपन्नं पक्षस्य बाधकमिति भावः ।

साध्याभावके व्यापकीभूत अभावका प्रतियोगीपना व्यतिरेकव्याप्ति है । उस केवल व्यतिरेकव्याप्तिको धारनेवाले हेतुसे उत्पन्न हुआ यह आप वैशेषिकोंके मन्तव्य अनुसार माना गया केवलव्यतिरेकी ऐसा और हमारे माने गये अन्यथानुपपत्ति नामक एक लक्षणवाले हेतुके योगसे सिद्ध हो रहा अनुमान उस चक्षुके प्राप्यकारीपनको साधनेवाले पक्षका बाधक हो जाता है, यह हमारा तात्पर्य है ।

अत्र हेतोरसिद्धतामाशंक्य परिहरन्नाह ।

इस केवलव्यतिरेकी अनुमानमें दिये गये हेतुके असिद्धपनकी आशंका कर पुनः उसका परिहार करते हुये आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं । अर्थात्—चक्षुःस्वरूप पक्षमें स्पृष्ट पदार्थका अवग्रह नहीं करनारूप हेतु नहीं रहता है, यह नहीं समझना । कथमपि हमारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है । देखिये—

चक्षुषा शक्तिरूपेण तारकागतमंजनं ।
न स्पृष्टमिति तद्धेतोरसिद्धत्वमिहोच्यते ॥ १२ ॥
शक्तिः शक्तिमतोन्यत्र तिष्ठतार्थेन युज्यते ।
तत्रस्थेन तु नैवेति कोन्यो ब्रूयाज्जडात्मनः ॥ १३ ॥

यदि वैशेषिक मनमें यह आशंका रक्खें कि शक्तिस्वरूप चक्षुकरके आंखके ताराओंमें लगा हुआ अंजन (सुरमा) नहीं छुआ गया है। अतः उस स्पृष्ट अनवग्रह हेतुका असिद्धपना यहां कहा जाता है। इस प्रकार वैशेषिकोंकी मनीषा ज्ञात होनेपर तो आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि शक्तिमान् पदार्थकी शक्ति अन्य देशमें स्थित हो रहे अर्थके साथ तो युक्त हो जाय, किन्तु उसी शक्तिमान्के देशमें स्थित हो रहें पदार्थके साथ युक्त नहीं होवे, इस बातको जड आत्माको माननेवाले नैयायिक या वैशेषिकके अतिरिक्त दूसरा कौन चोखा विद्वान् कह सकेगा ? यानी कोई नहीं। भावार्थ—वैशेषिकोंने आत्माको ज्ञानगुणसे सर्वथा भिन्न माना है। ऐसी दशामें आत्मा अपने गांठके निजस्वरूपसे तो जड ही हुआ। जो मनुष्य दूसरोंके भूषण, वस्त्र, मागकर सम्पन्न बना हुआ है, वह वस्तुतः दरिद्र ही है। जब कि नैयायिक या वैशेषिकोंकी आत्मा जड है, तभी वे ऐसी युक्तिशून्य बातें हांकते हैं कि शक्तिमान् चक्षु तो उत्तमांगमें है और उसकी शक्तियां दूरवर्ती पर्वत आदि पदार्थोंके साथ जुड जाती हैं। भला विचारो तो सही कि शक्तियां भी कहीं अपने शक्तिमान् अर्थको छोडकर दूरदेशमें ठहर सकती हैं ? अर्थात् नहीं। शक्तियां शक्तमें ही रहती हैं। भले ही वे वहीं बैठी हुई दूर देशमें कार्योंको कर देवें, यह दूसरी बात है। किन्तु अपने शक्तिमान् आश्रयको छोडकर अन्यत्र नहीं जा सकती हैं। शरीर परिमाण बराबर आत्मामें ठहर रहे पुण्य, पाप, हजारो योजन, असंख्ययोजन दूरवर्ती पदार्थोंमें क्रिया, आकर्षण, आदि करा सकते हैं। दूसरी बात जडपनेकी यह है कि चक्षुसे दूर देशमें पडे हुये पदार्थके साथ तो चक्षुकी शक्ति चिपट जाय, किन्तु चक्षुसे अतिनिकट स्पृष्ट हो रहे अंजन, कामल, काजलसे न चिपटे, ऐसी बातोंको चेतनज्ञ तो नहीं कह सकते हैं।

व्यक्तिरूपाच्चक्षुषः शक्तिमतोन्यत्र दूरादिदेशे तिष्ठतार्थेन घटादिना शक्तींद्रियं युज्यते न पुनर्व्यक्तिनयनस्थेनांजनादिनेति कोन्यो जडात्मवादिनो ब्रूयात्।

शक्तिको धारनेवाले व्यक्तिरूप चक्षुसे अन्य स्थलपर दूर, अति दूर आदि देशोंमें स्थिर हो रहे, घट, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि पदार्थोंके साथ तो शक्तिरूप चक्षुइन्द्रिय संयुक्त हो जाय, किंतु फिर व्यक्ति चक्षुमें स्थित हो रहे अंजन, पलक आदिके साथ संयुक्त नहीं होवे, इस ढपोल शंखी सिद्धान्तको जडआत्मवादी पण्डितके सिवाय और कौन दूसरा विज्ञ कह सकेगा ? अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्माको कहनेवाला विद्वान् ऐसी थोथी बातोंको नहीं कहता फिरता है। अतः हमारा स्पृष्ट अर्थका अप्रकाशकपन हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है, सद्धेतु है।

दूरादिदेशस्थेनार्थेन व्यक्तिचक्षुषः संबंधपूर्वकं चक्षुः संबध्यते तद्वेदनस्यान्यथानुपपत्तेरिति चेत् स्यादेतदेवं यद्यसंबंधेन तत्र वेदनमुपजनयितुं नेत्रेण न शक्येत मनोवत्। न हि प्राप्तिरेव तस्य विषयज्ञानजननिमित्तमंजनादेः प्राप्तस्याप्रवेदनात्। योग्यतायास्तत्राभावात्त-

दमवेदनमिति चेत् सैवास्तु किं प्राप्तिनिर्बंधेन । योग्यतायां हि सत्यां किंचिदक्षं प्राप्तमर्थं परिच्छिनत्ति किंचिदप्राप्तमिति यथाप्रतीतमभ्युपगंतव्यं ।

दूर, अतिदूर, काचव्यवहित, आदि देशोंमें स्थित हो रहे अर्थके साथ व्यक्तिरूप तैजस चक्षुका पहिले सम्बन्ध होकर शक्तिरूप चक्षु उन दूरदेशी पदार्थोंके साथ चुपट जाती है । क्योंकि उन दूरदेशी पदार्थोंका ज्ञान अन्यथा यानी चक्षुका सम्बन्ध हुये विना सिद्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि इस प्रकारका यह आपका कहना तब हो सकता था कि यदि सम्बन्ध नहीं करके उन दूरदेशवर्ती पदार्थोंमें ज्ञानको उत्पन्न करानेके लिये मनके समान (व्यतिरेक) चक्षुद्वारा सामर्थ्य नहीं होती । किन्तु विषयके साथ सम्बन्ध नहीं करके मनके समान चक्षुद्वारा भी ज्ञान उत्पन्न कराया जा सकता है । उस चक्षुकी विषयके साथ प्राप्ति हो जाना ही कोई विषयज्ञानको उत्पन्न करनेका निमित्त नहीं है । देखिये, आंखके साथ सर्वथा चिपट रहे अंजन, रगरा आदिका कुछ भी अच्छा वेदन नहीं हो पाता है । यदि आप वैशेषिक यों कहें कि उस अंजन आदिमें चाक्षुषप्रत्यक्ष हो जानेकी योग्यता नहीं है । अतः उनका बढिया वेदन नहीं हो पाता है । इसपर तो हम कहते हैं कि वह योग्यता ही चाक्षुषप्रत्यक्षका निमित्त हो जाओ। व्यर्थ ही चक्षुके साथ विषयकी प्राप्तिका आग्रह करनेसे क्या लाभ है ! अपने अपने लिये उपयोगी हो रहे स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यताके होनेपर ही कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र, इन्द्रियां तो प्राप्त अर्थकी परिच्छित्ति करती हैं । और योग्यता होते सन्ते कोई मन और चक्षु इन्द्रियां अप्राप्त अर्थको जान लेती हैं । इस प्रकार प्रमाणसिद्ध प्रतीत हो रहे पदार्थका अतिक्रमण नहीं करके स्वीकार कर लेना चाहिये । ऐसा करनेपर ही विद्वत्ताकी रक्षा रह सकती है । औलूक्यदर्शनके अनेक मन्तव्य अप्रातीतिक हैं ।

न हि प्राप्यभावेऽर्थपरिच्छेदनयोग्यताक्षस्य न संभवति मनोवद्विरोधाभावात् । येन प्रतीत्यतिक्रमः क्रियते ततो न स्वरूपासिद्धो हेतुः ।

चक्षु, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंकी विषयके साथ प्राप्ति नहीं माननेपर अर्थज्ञप्ति करानेकी योग्यता ही इन्द्रियोंके नहीं सम्भवती है, यह नहीं समझना। मन इन्द्रियके समान चक्षु इन्द्रियकी भी विषयके साथ प्राप्ति नहीं होनेपर अर्थग्रहण योग्यता हो जानेका कोई विरोध नहीं है, जिससे कि प्रतीतियोंका अतिक्रमण किया जाय । प्रत्युत प्राप्तिका पुंछल्ला नहीं लगानेसे ही मन और चक्षुयें अर्थको व्यक्त जानते हैं । बालक, वृद्ध, पशु, पक्षियोंतकको चक्षुके अप्राप्यकारीपनकी प्रतीति हो रही है । पुस्तकको आंखोंसे सर्वथा चुपटा देनेपर एक अक्षर भी नहीं देखा या बांचा जा सकता है । तिस कारण चक्षुमें अप्राप्यकारीपन सिद्ध करनेके लिये दिया गया स्पृष्ट-अनवग्रह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है । किन्तु पक्षमें ठहर जाता है ।

पक्षाव्यापकोपि न भवतीत्याह ।

यह स्पृष्टानवग्रह हेतु अपने पक्षमें अव्यापक भी नहीं है । अर्थात्—पक्षके पूरे भागोंमें व्याप जाता है । जो हेतु पूरे पक्षमें नहीं व्यापता है, उसको भागासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे शद्ध और घट (पक्ष) अनित्य हैं (साध्य) श्रवण इन्द्रियकरके ग्राह्य होनेसे (हेतु) । यह श्रावणत्व हेतु पक्षके एकदेश शद्धमें तो रह जाता है । किन्तु पक्षके अन्य एकदेश घटमें नहीं रह पाता है । यद्यपि हेतुका पक्षमें रहना आवश्यक गुण नहीं है । फिर भी जिस हेतुका पक्षमें वर्तना कहा जा रहा है, उसका पक्षके एक देशमें ठहरना दोष है । " पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हेत्वाभाववान् पक्षो यस्य स हेतुः भागासिद्धः " । प्रकरणप्राप्त यह स्पृष्टाप्रकाशकत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास नहीं है । इसी बातको आचार्य महाराज कारिकाद्वारा कहते हैं ।

पक्षाव्यापकता हेतोर्मनस्यप्राप्यकारिणि ।
विरहादिति मंतव्यं नास्यापक्षत्वयोग्यतः ॥ १४ ॥

वैशेषिक मान बैठे हैं कि जैनोंके यहां चक्षुके समान मन इन्द्रिय भी तो अप्राप्यकारी है । अतः अतिनिकट वर्तरहे पदार्थका अवग्रह नहीं करना यह हेतु मनमें नहीं रहता है । अति समीप हृदयमें पीडा सुख होनेपर मन उनको प्रत्यक्ष जान लेता है, विचार भी कर लेता है । अतः मन इन्द्रियमें हेतुका विरह होनेसे स्पृष्ट अर्थ अप्रकाशकपना हेतु भागासिद्ध है । पूरे पक्षमें नहीं व्यापरहा है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि इस मनको यहां अनुमानमें पक्षपनेकी योग्यता नहीं मानी गयी है । अर्थात् अकेला चक्षुही पक्ष है । उसमें स्पृष्टानवग्रह हेतु व्यापजाता है । मनको अप्राप्यकारीपना अन्य हेतुसे साधलिया जावेगा । शरीरके हृदयदेशसे अतिरिक्त प्रदेशोंमें सुख, दुःख, आदिका अवग्रह करानेवाला होनेसे अथवा भूत, भविष्य या दूरवर्ती, पदार्थोंका विचार करनेवाला होनेसे मन अप्राप्यकारी है ।

चक्षुरेव ह्यत्र पक्षीकृतं न पुनर्मनस्तस्याप्राप्यकारित्वेन प्रसिद्धत्वात् स्वयमप्रसिद्धस्य साध्यत्वेन व्यवस्थापनात् ।

इस प्रकरणगत अनुमानमें अकेला चक्षु ही पहिले पक्ष नहीं होता हुआ अब पक्ष बनाया गया है, किन्तु फिर मनको पक्ष नहीं किया गया है । क्योंकि उस मनकी सभीके यहां अप्राप्यकारीपनकरके प्रसिद्धि हो रही है । नैयायिक वैशेषिकोंने भी मनको प्रथमसे ही अप्राप्यकारी स्वीकृत कर रखा है । प्रसिद्धको साध्यकोटिपर नहीं लाते हैं । स्वयं अप्रसिद्ध हो रहेको साध्यपनसे व्यवस्थापित किया गया है । " अप्रसिद्धं साध्यम् " ऐसा ऋषिवचन है ।

न चेदमप्रसिद्धमित्याह ।

विषयके साथ नहीं चुपटकर ज्ञान करादेनापन यह अप्राप्यकारित्व भला मनमें अप्रसिद्ध नहीं है । अर्थात् प्रसिद्ध ही है । इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं ।

मनसोऽप्राप्यकारित्वं नाप्रसिद्धं प्रवादिनाम् ।
क्वान्यथातीतदूरादिपदार्थग्रहणं ततः ॥ १५ ॥

बडे अच्छे ढंगके साथ वाद करनेवाले नैयायिक, मीमांसक आदि मतावलम्बियोंके यहां मन इन्द्रियका अप्राप्यकारीपना अप्रसिद्ध नहीं है । अन्यथा यानी अप्राप्यकारीपन माने विना भला कहां उस मनसे अतीत कालके या दूर देशवर्त्ती अथवा भविष्यकालके पदार्थोंका ग्रहण हो सकेगा ! अर्थात्—मनको प्राप्यकारी माननेपर भूत, भविष्य, दूर अतिदूरवर्त्ती पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकेगा, किन्तु होता है । अतः मन अप्राप्यकारी सिद्ध है ।

न ह्यतीतादयो दूरस्थार्था मनसा प्राप्यकारिणा विषयीकर्तुं शक्या इति सर्वैः प्रवादिभिरप्राप्यकारि तदंगीकर्तव्यमन्यथातीतदूरादिवस्तुपरिच्छित्तेरनुपपत्तेः । ततो न पक्षाव्यापको हेतुः स्पृष्टानवग्रहादिति पक्षीकृते चक्षुषि भावात् ।

अतीत, चिरभूत, भविष्य, चिरभविष्य आदि कालोंमें वर्तनेवाले अथवा दूर देशमें स्थित हो रहे अर्थ तो मनको प्राप्यकारी माननेपर उस प्राप्यकारी मनके द्वारा विषय नहीं किये जा सकते हैं । क्योंकि जब वे पदार्थ वर्तमान काल, देशमें विद्यमान ही नहीं हैं, तो उनके साथ मनका सम्बन्ध कथमपि नहीं हो सकता है । इस कारण सभी प्रवादी विद्वानोंकरके वह मन इन्द्रिय अप्राप्यकारी अंगीकार करनी चाहिये अन्यथा यानी अप्राप्यकारी माने विना दूसरे प्रकारोंसे प्राप्यकारी माननेपर अतीतकाल, दूरदेश, आदिमें वर्त रहे पदार्थोंकी परिच्छित्ति होना नहीं बन सकता है । तिस कारण " स्पृष्टानवग्रहात् " यह हेतु पक्षाव्यापक नहीं है । क्योंकि वैशेषिकोंके यहां अप्राप्यकारित्व साधनेके लिये पक्ष नहीं बनायी गयी किन्तु जैनोंके यहां पक्ष कर ली गयी चक्षुमें पूर्णरूपसे विद्यमान रहता है ।

नाप्यनैकांतिको विरुद्धो वा प्राप्यकारिणि विपक्षे स्पर्शनादावसंभवादित्यतो हेतोर्धर्मत्वेन साध्यसिद्धिः ।

यह स्पृष्टानवग्रह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्धहेत्वाभास भी नहीं है । क्योंकि अप्राप्यकारीपन साध्यके अभावको निश्चय करके रखनेवाले स्पर्शन, रसना इन्द्रिय आदि विपक्षके एक देश या पूरे चार इन्द्रियस्वरूप विपक्षमें हेतु नहीं सम्भवता है । इस प्रकार इस स्पृष्टानवग्रह निर्दोष हेतुसे अप्राप्तार्थके परिच्छेदीपन साध्यकी सिद्धि हो ही जाती है ।

इतश्च भवतीत्याह ।

दूसरे इस हेतुसे भी अप्राप्यकारीपना साध्यकी चक्षुमें सिद्धि हो जाती है । इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं ।

काचाद्यंतरितार्थानां ग्रहाच्चाप्राप्तकारिता ।
चक्षुषः प्राप्यकारित्वे मनसः स्पर्शनादिवत् ॥ १६ ॥

चक्षुको (पक्ष) अप्राप्यकारीपना है (साध्य), कांच, अभ्रक, स्फटिक, स्वच्छजल आदिसे व्यवहित हो रहे पदार्थोंका ग्रहण करनेवाली होनेसे (हेतु), जैसे कि मनको अप्राप्यकारीपना है (अन्वयदृष्टान्त) । स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियोंके समान चक्षुको भी प्राप्यकारी माननेपर तो काच-आदिसे व्यवहित हो रहे पदार्थका ग्रहण नहीं हो सकेगा । स्पर्शन, रसना इन्द्रियोंसे शीशीमें धरे हुये पदार्थका तो स्पर्श या रस नहीं जाना जाता है । किन्तु चक्षुसे उस शीशीमें रखे हुए पदार्थका वर्ण जान लिया जाता है,(व्यतिरेकदृष्टान्त) ।

ननु च यद्यंतरितार्थग्रहणं स्वभावकालांतरितार्थग्रहणमिष्यते तदा न सिद्धं साधनं चक्षुषि तदभावात् । देशांतरितार्थग्रहणं चेत्तदेव साध्यं साधनं चेत्यायातं । देशांतरितार्थ-ग्राहित्वमेव ह्यप्राप्यकारित्वमिति कश्चित्, तदसत् । चक्षुषोप्राप्तमर्थं परिच्छेत्तुं शक्तेः साध्यत्वात्तत्राप्रसिद्धत्वादप्राप्तकारणशक्तित्वस्याप्राप्यकारित्वस्येष्टत्वात् । साधनस्य पुनरंत-रितार्थग्रहणस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याभिधानात् ।

यहां कोई दूसरी शंका उठाता है कि जैनोंने अन्तरित अर्थका ग्रहण करना हेतु दिया तो वह अन्तरितग्रहण क्या स्वभावव्यवहित कालव्यवहित पदार्थोंका ग्रहण करना यदि जैनों द्वारा इष्ट किया गया है, तब तो तुम जैनोंका हेतु सिद्ध नहीं है । असिद्ध हेत्वाभास है । क्योंकि चक्षु रूप पक्षमें वह स्वभावव्यवहित, कालव्यवहित, अर्थका ग्रहण करना हेतु नहीं वर्तता है । यदि अन्तरितार्थ ग्रहणका अर्थ देशव्यवहित अर्थका ग्रहण करना माना जायगा, तब तो वही साध्य और वही साधन हुआ, यह आया । अर्थात्—देशांतरित अर्थका ग्राहकपना (हेतु) ही तो नियमसे अप्राप्यकारीपना (साध्य) है । दूरवर्ती पदार्थोंको नहीं संबद्ध कर जानलेना साध्य ही तो देशान्तरित अर्थका ग्राहकपना है । साध्यको तो हेतु नहीं बनाना चाहिये । अन्यथा असिद्ध साध्यके समान हेतु भी साध्यसम हो जाता है । हेतु तो वादी प्रतिवादी दोनोंके लिये प्रथमसे ही मान्य होना चाहिये । इस प्रकार कोई वैशेषिकका एकदेशी कह रहा है । सो वह कहना समीचीन नहीं है । क्योंकि नहीं संबद्ध हो रहे अर्थको जाननेके लिये चक्षुकी शक्ति है । इसको अनुमान द्वारा साधा गया है । उस चक्षुमें अप्राप्त अर्थको परिच्छेदन करनेकी शक्ति वैशेषिक आदिके यहां

अप्रसिद्ध है। इस कारण यहां साध्यका अर्थ यही है, अप्राप्त अर्थका ज्ञान करा देनेकी कारण-शक्तिसे सहितपनेको ही अप्राप्यकारीपनकी इष्टि की गयी है। अतः शक्य, अप्रसिद्ध, और इष्ट ऐसा साध्य अप्राप्यकारीपन है। तथा फिर स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रसिद्ध हो रहे अन्तरितार्थ ग्रहणको हेतुस्वरूपका कथन किया है। देशान्तरवर्त्ती पदार्थका चक्षुद्वारा ग्रहण सबको स्वसंवेदनसे सिद्ध हो रहा है। अतः यह दोनों प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा हेतु है।

ननु च काचाद्यंतरितार्थस्य प्राप्तस्यैव चक्षुषा परिच्छेदादसिद्धो हेतुरित्याशंकां परिहन्नाह।

वैशेषिककी ओरसे पुनः शंका उठायी जाती है कि काच, अभ्रक, आदिकसे देशव्यवहित हो रहे पदार्थोंके साथ चक्षुका सम्बन्ध हो चुकनेपर ही उनका चक्षु द्वारा परिच्छेद होता है। अतः चक्षुको अप्राप्यकारित्व सिद्ध करनेमें दिया गया काचाद्यंतरित अर्थग्रहण हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकारकी आशंकाका परिहार करते हुये श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्ट समाधान कहते हैं।

विभज्य स्फटिकादींश्चेत्कथंचिच्चक्षुरंशवः।
प्राप्नुवंस्तूलराश्यादीन्नश्वरान्नेति चाद्भुतम् ॥ १७ ॥

स्फटिक, शीशी, अभ्रक आदिक अतिकठोर पदार्थोंको कथंचित् तोड फोडकर चक्षुकी किरणें भीतर अर्थके साथ प्राप्त हो चुकी हैं, किन्तु नाशशील अतिकोमल रुईकी राशि, समल-जल, मांडको भेदकर भीतर घुसकर उनसे व्यवहित हो रहे मनुष्य, रुपया, भाण्डतल आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कराता है। यह बडे आश्चर्यकी बात है। अर्थात् जो स्फटिक लोहेकी छेनी करके भी बडे परिश्रमसे कटता है, उसको यदि वैशेषिकोंके यहां चक्षुकी तैजस किरणें तोड फोड-कर भीतर घुस जाती मानी हैं, तो कोमल रुई, मोम, कीचडमें तो बडी सुलभतासे वे घुसकर उनके नीचे रखे हुये पदार्थका प्रत्यक्ष कर लेंगी। भला द्रव, नरम, पदार्थको भेदनेमें वे क्यों कृपा करने लगीं?

निष्ठुरस्थिरस्वभावान् स्फटिकादीन् विभज्य नयनरश्मयः प्रकाशयंति न पुनर्मृदु-नाशिस्वभावांस्तूलराश्यादीनिति किमत्यद्भुतमाश्रित्य हेतोरसिद्धतामुद्भावयंतः कथं स्वस्थाः?

अतीव कठिन होकर बहुत दिनतक ठहरने स्वरूप स्थिर स्वभाववाले स्फटिक, हीरा, आदि पदार्थोंको चीरकर उनसे व्यवहित हो रहे पदार्थोंके साथ भीतर संयुक्त होकर चक्षु किरणें उनको प्रकाश करा देती हैं अथवा स्फटिक आदिमें घुसकर स्फटिक आदिके मध्यभाग या तलभागको प्रकाश देती हैं, किन्तु फिर अधिक मृदु और अल्पकालमें नाश होनेवाले स्वभावको धार रहे रूई पिण्ड, शिरीषपुष्प-समुदाय, दुग्ध, आदिक पदार्थोंको नहीं भेदकर इनसे व्यवहित हो रहे

पदार्थोंको अथवा सूई आदिके मोटे मध्यभाग या तलभागको नहीं प्रकाशती हैं। यह सिद्धान्त तो कुछ एक बड़े भारी आश्चर्यका आश्रयकर सुना जा रहा है। भला इस ढंगसे हमारे काचार्थंतरित अर्थग्रहण हेतुकी असिद्धताका उद्भावन करा रहे वैशेषिक कैसे अपने चेतन आत्मस्वभावमें स्थित हो रहे कहे जा सकते हैं! स्वस्थ [होशवाला] मनुष्य तो ऐसी युक्तिरहित कपोलकल्पित सिद्धान्तोंको गढ नहीं सकता है। अस्वस्थ [अतिरुग्ण या उन्मत्त] की बात न्यारी है।

सामर्थ्यं पारदीयस्य यथाऽऽयस्यानुभेदने ।
नालांबूभाजनोद्भेदे मनागपि समीक्ष्यते ॥ १८ ॥
काचादिभेदने शक्तिस्तथा नयनरोचिषां ॥
संभाव्या तूलराश्यादिभिदायां नेति केचन ॥ १९ ॥
तदप्रातीतिकं सोयं काचादिरिति निश्चयात् ।
विनाशव्यवहारस्य तत्राभावाच्च कस्यचित् ॥ २० ॥

उदाहरण देते हुये वैशेषिक यदि यों कहें कि जिस प्रकार लोहेके बने हुये पदार्थको भेदनेमें पारेसे बने हुये पदार्थकी सामर्थ्य विचार ली जाती है, किन्तु तूम्बीपात्रको भेदनेमें पारेकी बनी हुयी रसायनकी सामर्थ्य किंचित् भी नहीं ठीक देखी जाती है। सूर्यकी किरणें काच, अभ्रकके भीतर घुस जाती हैं। गजी, मलमलको पार नहीं कर सकती हैं। गजी मलमलमें पानी छन जाता है। काचमें नहीं छनता है। कठिन लोहे, पीतलके बर्तनको पारकर चुम्बक लोहेकी शक्ति सूईको पकड़ लेती है। किन्तु कोमल काठको पार नहीं कर पाती है। वज्र या वज्रवृषभनाराच संहननवाले पुरुषका शरीर उस कठिन पर्वत या शिलाको फोड़ देता है। कोमल रुईको नहीं। बिजलीका करैण्ट ताम्बा लोहेमें प्रविष्ट हो जाता है। नरम रबड़में नहीं। तिसी प्रकार नयनकिरणोंकी शक्ति काच, अभ्रक, आदिके भेद करनेमें पर्याप्त है। किन्तु कपासपिण्ड, कीच, काठ, ठंडाई, बूरा आदिको भेदनेमें चक्षुकिरणोंकी सामर्थ्य नहीं सम्भवती है, इस प्रकार कोई कह रहे हैं। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वह उनका कहना प्रतीतियों द्वारा सिद्ध नहीं है। क्योंकि ये वे ही काच, स्फटिक आदिक हैं, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान द्वारा निश्चय हो रहा है। उनमें किसी भी जीवको विनष्टपनेका व्यवहार करना नहीं देखा गया है। भावार्थ—चक्षुकी रश्मियां यदि काच आदिकोंको भेद देती तो वे अवश्य टूट फूटकर नष्ट हो जाते। किन्तु शीशी आदिको देखनेवाले जीव " यह वही शीशी है, जिसको मैं एक घडी पहिलेसे बराबर देख रहा हूं " ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान जगत्प्रसिद्ध कर रहे हैं। स्वपक्ष और परपक्षको साधनेवाले दृष्टान्त तो यों अनेक मिल जाते हैं।

उन दृष्टान्तोंमें हम बाधा नहीं उठाते हैं, किन्तु जहां दृष्टान्तोंका साध्य विचारा प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधित हो रहा है, वहां वज्र, पारा, चुम्बक आदि दृष्टान्त क्या सहारा लगा सकते हैं ! जब कि वे के वे ही बहुत देरतक ठहरनेवाले स्फटिक आदि देखे जा रहे हैं, तो उनको फोडकर चक्षुकिरणोंका भीतर घुस जाना कैसे भी नहीं सम्भवता है।

समानसन्निवेशस्य तस्योत्पत्तेरनाशिता ।
जनो मन्येत निर्लूनकेशादेर्वेति चेन्मतम् ॥ २१ ॥
न क्वचित्प्रत्यभिज्ञानमेकत्वस्य प्रसाधकं ।
सिध्येदिति क्षणध्वंसि जगदापातमंजसा ॥ २२ ॥
आत्माद्येकत्वसिद्धिश्चेत्प्रत्यभिज्ञानतो दृढात् ।
दार्ढ्यात्तत्र कुतो बाधाभावाच्चेत्प्रकृते समं ॥ २३ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस काच, स्फटिक आदिका नाश होकर समान रचनावाले उनकी पुनः शीघ्र उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण स्थूलदृष्टिवाला मनुष्य नहीं नाश हुयेपनको मान लेता है। जैसे कि काट दिये गये और फिर नये उपज आये केश, नख, आदिकोंका ये वे ही हैं, ऐसा प्रत्यभिज्ञान कर लेता है। तथा तैलधाराके क्रमसे नवीन नवीन उपज रही दीप कलिकामें भी यह वही कलिका है, ऐसी भ्रान्तिवश प्रत्यभिज्ञा कर लेता है। अर्थात्—स्फटिक काच शीशी बार बार टूट फूटकर झटिति नवीन बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार वैशेषिकोंका मत होय तब तो कहीं भी पदार्थमें हो रहा यह वही है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान उसके एकत्वका अच्छा साधक नहीं सिद्ध हो सकेगा। और ऐसी दशामें सम्पूर्ण जगत् शीघ्र शीघ्र क्षणमें ध्वंस हो जानेकी टेववाला है, यह बौद्ध सिद्धान्त आगया, जो कि वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है। आत्मा, आकाश, परमाणु, काल, परम महापरिमाण, जाति आदि पदार्थोंको वैशेषिकोंने नित्य माना है। घट, पट, छोहा आदिको कालांतरस्थायी माना है। यदि टूटे, फूटे, नये बने, बिना ही चाहे जिस विद्यमान हो रहे पदार्थका यों ही विनाश मान लिया जायगा, तो आत्मा भी क्षणिक हो जायगा। " यह वही आत्मा है " इस एकत्व प्रत्यभिज्ञानको आभास मानकर स्फटिकके समान सदृश सन्निवेशवाले दूसरे आत्माकी झटिति उत्पत्ति मानकर आत्मामें क्षणिकत्व धर दिया जायगा। और यों तो वैशेषिकसिद्धान्तमें भारी आपत्ति उपस्थित हो जायगी। यदि वैशेषिक यों कहें कि एकत्वको साधनेवाले दृढ प्रत्यभिज्ञानसे आत्मा, आकाश, आदिके एकत्वकी सिद्धि कर लेंगे, तब तो हम पूछेंगे कि उस एकत्वसाधक प्रत्यभिज्ञानमें दृढता किससे आवेगी ? बताओ। यदि बाधारहित

होनेसे प्रत्यभिज्ञानका दृढपना माना जायगा, तब तो आत्माके एकपनको साधनेवाले प्रत्यभिज्ञानके समान प्रकरणप्राप्त स्फटिकके एकपनको साधनेवाले प्रत्यभिज्ञानमें भी वैसी ही दृढता विद्यमान है। अर्थात्—स्फटिक टूटा फूटा नहीं है। वहका वही है यह निर्बाध-प्रतीति है।

न हि स्फटिकादौ प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वपरामर्शिनः किंचिद्बाधकमस्ति पुरुषादिवत्।

स्फटिक, काच आदि विषयोंमें हो रहे और एकत्वको विचारनेवाले प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका बाधक कोई नहीं है। जैसे कि आत्मा, आकाश, आदिके एकत्व प्रत्यभिज्ञानका कोई बाधक नहीं है। यह युवा देवदत्त वही है, जो कि बालकपनमें था। इसी प्रकार यह वही स्फटिक है, ऐसा निर्बाध पक्का प्रत्यवमर्श हो रहा है।

तद्भेदनाभ्युपगमे तु बाधकमस्तीत्याह।

प्रत्युत वैशेषिकोंके अनुसार उन स्फटिक, अभ्रक, आदिका छेदन, भेदन स्वीकार करनेमें बाधक प्रमाण मिल जाता है। इसी बातको आचार्य महाराज स्पष्ट कर कहते हैं।

काचाद्यंतरितानर्थान् पश्यतश्च निरंतरं।
तत्र भेदस्य निष्ठानान्नाभिन्नस्य करग्रहः ॥ २४ ॥

काच, स्फटिक आदिकसे व्यवहित हो रहे अर्थोंको निरंतर देरतक देखनेवाले पुरुषको उसी अभिन्न काच आदिका हाथसे ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि नयन रश्मियोंकरके वैशेषिक मत अनुसार उन काच आदिमें फूट जाना प्रतिष्ठित हो चुका है। जो पदार्थ टूट, फूटचुका है, उसी साजे पदार्थका फिर हाथ द्वारा पकडना नहीं हो सकता है।

सततं पश्यंतो हि काचशिलादीन्नयनरश्मयो निरंतरं भिदंतीति प्रतिष्ठायां कथमभिन्नस्वभावानां तथा तस्य हस्तेन ग्रहणं तद्भेदास्ति तद्भेदाभ्युपगमं बाधिष्यत इति किं नश्चिंतया।

दो, चार घण्टेतक सतत ही काच शिला, स्फटिकमाला, अभ्रक, आदिको देखती हुई चक्षुरश्मियां अथवा पश्यतः ऐसा पाठ माननेपर तो देखनेवाले पुरुषकी चक्षुरश्मियां निरंतर उनको तोडती, फोडती रहती हैं। इस प्रकार वैशेषिक मन्तव्य अनुसार प्रतिष्ठा हो चुकनेपर यह बताओ कि उन्हीं अभिन्न स्वभाववाले काचशिला, चिमनी, शीशी आदि पदार्थोंका तिसी प्रकार उस देखने वालेके हाथसे ग्रहण कैसे हो जाता है? मुद्गर, मोंगरासे घडेको चकनाचूर कर देनेपर उसी साबे परिपूर्ण घडेका फिर हाथसे पकडना नहीं होता है। इसी प्रकार घण्टों देरतक दनादन पड रहीं चक्षुकिरणों द्वारा स्फटिकका छेदन, भेदन हो जानेपर पुनः उन्हीं स्फटिक, काच, आदिका ग्रहण नहीं हो सकेगा, किंतु उन्हीं स्फटिक आदिकोंका वह ग्रहण तो हो रहा देखा जाता है। ऐसा मानने पर वह ग्रहण ही उन स्फटिक आदिके छेदन, भेदनके स्वीकार करनेको बाध डालेगा।

आदिका आयतास नाश या उत्पाद मानना वैशेषिकके न्यायविरुद्धपनको लक्ष्य कर है।

इस दशामें हमको चिंता करनेसे क्या पडा है ? यानी अधिक तर्क, युक्ति, दृष्टान्तके विना ही छोटीसी युक्तिसे हमारा सिद्धांत पुष्ट हो जाता है। छोटी बातके लिए तूल बढाना व्यर्थ है।

विनाशानंतरोत्पत्तौ पुनर्नाशे पुनर्भवेत् ।
कुतो निरंतरं तेन छादितार्थस्य दर्शनम् ॥ २५ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि विनाशके अनन्तर ही शीघ्र पुनः नवीन स्फटिक उत्पन्न हो जाता है, और फिर शीघ्र चक्षुकिरणोंसे नष्ट कर दिया जाता है, तथा फिर उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ही खड होकर फिर उत्पन्न हो जावेगा। दीपकलिकाके समान स्फटिकका उत्पाद और विनाशधारा रूपसे देरतक होता रहता है। अतः वैसा ही नवीन स्फटिक हाथ द्वारा पकड लिया जाता है। इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम पूछेंगे कि उस स्फटिकसे आच्छादित हो रहे अर्थका निरंतर दर्शन कैसे हो सकेगा ? अर्थात् चक्षुरश्मियां जब स्फटिकको तोडती फोडती रहेंगी और वह क्षणक्षणमें नया बनता रहेगा, ऐसी दशामें चक्षुरश्मियां भीतर जाकर अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकेंगी। घूमते हुए पहिया चरखा, पंखा आदिके समान झटझट व्यवधान पडता जावेगा। जो कि भीतर रखे हुये पदार्थका दर्शन नहीं करने देगा। अतः स्फटिकसे ढके हुये अर्थका दर्शन नहीं होना चाहिये। किन्तु होता है। तथा उस स्फटिकके ऊपर रक्खे हुये पदार्थका पतन हो जाना चाहिये। क्योंकि स्फटिक कई बार नष्ट भ्रष्ट हो चुका है।

स्पर्शनेन च निर्भेदशरीरस्य महोंगिनाम् ।
सांतरेणानुभूयेते तस्य स्पर्शनदर्शने ॥ २६ ॥

शरीरधारियोंका स्पर्शन इन्द्रिय करके दूसरे शरीरकी उष्णता भेदन हुये विना ही अनुभूत हो जाती है। किन्तु नष्ट हो रहे उस शरीरके दर्शन और स्पर्शन तो अन्तरसहितपने करके अनुभूत किये जाते हैं। भावार्थ—जहां सतत उत्पाद या विनाश, हो रहा है, उस पदार्थका दर्शन और स्पर्शन तो मध्यमें अभावका अन्तराल डालकर होता है। जैसे कि बादलोंमें बिजली दीखना अथवा चलते हुये पहियेके अरोंका छूना अन्तरालकी पोलसे सहित है, किन्तु यहां प्रकृतमें स्फटिकका दर्शन और स्पर्शन दोनों अन्तरालरहित हो रहे हैं। ऐसी दशामें स्फटिक आदिका शीघ्रतासे नाश या उत्पाद मानना वैशेषिकके न्यायविचारहितपनको बतला रहा है। प्रत्यक्ष प्रसिद्ध अर्थका अपलाप करना समुचित नहीं है।

स्फटिकादेराशूत्पादविनाशाभ्यामभेदग्रहणं निरंतरं पश्यतः संततं न तद्भेदाभ्युपगमस्य बाधकमित्ययुक्तमाशंक्य दर्शनादर्शनयोस्तत्र प्रसंगात् । स्पर्शनास्पर्शनयोश्च । न च तत्र तदा कस्यचिदुपयुक्तस्यादर्शनास्पर्शनाभ्यां व्यवहिते दर्शनस्पर्शने समनुभूयेते ।

वैशेषिक कहते हैं कि स्फटिक, काच आदिकका अतिशीघ्र उत्पाद और विनाश हो जानेसे सादृश्य अनुसार भ्रान्तिके वश निरन्तर एकपनेरूप अभेदको ग्रहण करना तो सदा देखनेवाले पुरुषके उन स्फटिक आदिके छेदनभेदन स्वीकार करनेका बाधक नहीं है। अर्थात्—घण्टोंतक निरन्तर देखनेवाले पुरुषके स्फटिक आदिका शीघ्र उत्पाद और विनाश हो जानेके कारण "यह वही स्फटिक है" ऐसा सादृश्यके वश अभेद ज्ञान हो गया है। वस्तुतः देखा जाय तो वह स्फटिक सदा चक्षुकी किरणोंसे छिद भिद रहा है। अतः उस सादृश्यमूलक एकत्व ग्रहणसे वैशेषिकोंद्वारा स्फटिकका भिद जाना स्वीकार करना नहीं बाधा जा सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों अथवा नैयायिकोंका कहना अयुक्त है। क्योंकि इस ढंगसे तो वहां शीघ्र ही दर्शन और अदर्शन हो जानेका [illegible] और अस्पर्शन हो जानेका भी प्रसंग होगा। भावार्थ—अर्थात्—आंखोंसे एक हाथ दूरपर रखे हुये स्फटिकको हम आंखोंसे देख रहे हैं, हाथसे छू रहे हैं। यदि स्फटिकका उस समय वहां शीघ्र उत्पाद एवं विनाश माना जायगा, तो स्फटिकके नष्ट होनेपर उसका अदर्शन और अस्पर्शन होना चाहिये। यानी देखना, छूना, बीच बीचमें रुक जाना चाहिये। और उत्पन्न हो जानेपर पुनः देखने, छूनेका प्रारम्भ होना चाहिये। तथा नष्ट हो जानेपर देखना छूना शीघ्र रुक जाना चाहिये। जैसे कि कितने ही बार आंखको शीघ्र मींचने और शीघ्र खोलनेपर सन्मुखस्थित पदार्थका दर्शन और अदर्शन होते रहते हैं। अथवा कई बार शीघ्र शीघ्र हाथको घट या तबलासे मिलानेपर और अलग करनेपर देरतक क्रमसे स्पर्शन, अस्पर्शन होते रहते हैं। प्रकृतमें भी हाथसे छूये जा रहे और आंखोंसे देखे जा रहे स्फटिकका शीघ्र शीघ्र दर्शन, अदर्शन और झट स्पर्शन अस्पर्शन, होता रहना चाहिये। किन्तु वहां स्फटिकका चाक्षुषप्रत्यक्ष और स्पार्शनप्रत्यक्ष करनेमें उपयोग लगा रहे किसी भी जीवके हो रहे दर्शन और स्पर्शन तो अदर्शन और अस्पर्शनसे व्यवहित हो रहे समीचीन नहीं अनुभूत किये जा रहे हैं। किन्तु स्फटिकको देखने छूनेवाला मनुष्य बडी देरतक उसी स्फटिकको देखता, छूता रहता है। ऐसा नहीं है कि जैसे बिजलीके लेम्पका बटन दबाने और खोलने, फिर झट दबाना तथा उठाना ऐसी देरतक क्रिया करनेसे विद्युत् प्रदीपके दर्शन अदर्शन दोनों क्रमसे झट झट होते रहते हैं अथवा पानीके नलकी टोंटी खोलने और बन्द करनेका देरतक व्यापार करनेपर झटझट पानीके छूने, नहीं छूनेका स्पार्शन प्रत्यक्ष क्रमसे होता रहता है। किन्तु ऐसा स्फटिकमें नहीं होता है। अतः स्फटिक या शीशीका शीघ्र उत्पाद, विनाश, मानना अनुचित है।

तद्विनाशस्य पूर्वोत्तरोत्पादाभ्यामाशुभाविभ्यां तिरोहितत्वान्न तत्रादर्शनमस्पर्शनं वा स्यादिति चेत्। नन्वेवं तदुत्पादस्य पूर्वोत्तरविनाशाभ्यामाशु भाविभ्यामेव विरोधान्नादर्शनस्पर्शने माभूताम्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि पहिले समयके उत्पाद और उत्तरवर्ती तीसरे समयके उत्पादमें आगे पीछेके उत्पाद अतिशीघ्र हो रहे हैं। अतः इन दो उत्पादोंकरके उस स्फटिकके मध्यवर्ती विनाशका तिरोभाव होगया है। इस कारण वहां उपयोग लगा रहे जीवको अदर्शन अथवा अस्पर्शन नहीं होंगे। आगे पीछे होनेवाले उत्पाद मध्यके विनाशको छिपा देते हैं। इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम आमंत्रण करते हैं कि इस प्रकार तो द्वितीय समयका पहिला विनाश और चतुर्थ समयका विनाश इन शीघ्र होनेवाले दो विनाशोंकरके ही उस स्फटिकके तृतीय समयवर्ती मध्यके उत्पादका विरोध हो जानेके कारण उस स्फटिकके दर्शन और स्पर्शन नहीं होने चाहिये। अर्थात् जैसे इधर उधरके उत्पादोंके बीचमें विनाश पड़ा हुआ है, उसी प्रकार इधर उधरके दो विनाशोंके बीचमें एक उत्पाद भी पडा हुआ है। गोल बारहद्वारी गृहमें दो थम्भोंके बीचमें जैसे द्वाररूप पोल है, तथैव दो द्वाररूप पोलोंके बीचमें एक थम्भा भी है। ऐसी दशामें दर्शन, अदर्शन और स्पर्शन, अस्पर्शन तुल्यबलवाले पडते हैं। रत्तीभर तो क्या बालाग्र बराबर भी अन्तर नहीं है।

तदुत्पादयोः स्वमध्यगतविनाशतिरोधाने सामर्थ्यं भावस्वभावत्वेन बलीयस्त्वात् तद्विनाशयोः स्वमध्यगतोत्पादतिरोधानेऽभावस्वभावत्वेन दुर्बलत्वादिति चेन्न, भावाभावस्वभावयोः समानबलत्वात्। तयोरन्यतरबलीयस्त्वे युगपद्भावाभावात्मकवस्तुप्रतीतिविरोधात्।

इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि स्फटिकके इधर उधरके दो उत्पादोंकी अपने मध्यमें पडे हुये विनाशको तिरोभाव करनेमें शक्ति है। उत्पत्ति भावस्वरूप पदार्थ है। और विनाश अभावस्वरूप पदार्थ है। अभावको भाव छिपा देता है। चौकीपर घोडे, हाथी, पर्वत, समुद्र, आदि पदार्थोंके असंख्य अभाव रखे हुये हैं। उन सबको चौकीपर धरे हुये पत्र, रुपया, अथवा सुन्दर भूषण, फल, पुष्प आदिक भावपदार्थ तिरोभूत कर देते हैं। पत्र, भूषण, आदिके हो रहे चाक्षुषप्रत्यक्ष इतर पदार्थोंके अदर्शनोंको छिपा देते हैं। थालीमें परोसे हुये सुन्दर भावभक्ष्य पदार्थोंका स्पार्शनप्रत्यक्ष या रासनप्रत्यक्ष ये थालीमें अभावको प्राप्त हो रहे अनन्त पदार्थोंके वर्तरहे अस्पर्शन, अरसनको तिरोभूत कर देते हैं। कारण कि अभावकी अपेक्षा भावपक्ष भावका स्वभाव होनेसे विशेष बलवान् होता है। प्रकृतमें उत्पाद बलवान् है। और उस स्फटिकके विवर्तोंमें पहिले पीछे पडे हुये दो विनाशोंको अपने मध्यमें प्राप्त हो रहे उत्पादके तिरोधान करनेमें अभावस्वभावपना हो जानेके कारण दुर्बलपना है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि वस्तुके अनुजीवी, प्रतिजीवी गुणस्वरूप हो रहे भाव, अभाव दोनोंको समानबलसहितपना है। दोनोंकी सामर्थ्य बराबर एकसी है। उन भाव अभाव दोनोंमेंसे किसी एकको यदि अधिक बलवान् माना जायगा तो युगपत्भाव अभावस्वरूप वस्तुकी हो रही प्रतीतिका विरोध हो जायगा, यानी एक बलवान्से दूसरे निर्बलभाव

या अभावकी इत्या कर देनेपर वस्तुमें एक ही समयमें भाव और अभाव दोनों नहीं पाये जा सकेंगे। किन्तु वस्तु सदा ही भाव, अभाव, दोनोंके साथ तदात्मक हो रही प्रतीत की जा रही है। शनैः शनैः भोजन करनेपर मध्यमें अस्पर्शन और अरसनके व्यवधान पड रहे जाने जा रहे हैं। छींट या फटे वस्त्रको देखकर अदर्शनका व्यवधान पड रहा अनुभूत हो रहा है। गोल पंक्तियोंमें लिखे हुये अक्षरोंके ऊपर छेदोंकी गोल पंक्तिवाली चालनीके रख देनेपर वे अक्षर नहीं बांचे जाते हैं। किन्तु उन अक्षरोंके ऊपर चालनीको शीघ्र शीघ्र छुआदेने या डुला देनेसे वे अक्षर व्यक्त, अव्यक्त, बांच लिये जाते हैं। अक्षरोंके बांचनेमें व्यक्तपना यों आया कि चालनीके ठोस भागसे उन अक्षरोंके जो अंग, अंगावयव छिप गये थे वे चालनीके डुलानेपर बीच बीचमें दीख जाते हैं। और बांचनेमें अव्यक्तपना यों रहा कि चालनीके सर्वथा उठा लेनेपर जितना व्यक्त दृष्टिगोचर होता था उतना घुमाई हुयी चालनीसे व्यवहित हो रहे अक्षरोंका स्पष्ट दर्शन नहीं हो पाता है। यहां शुक्लपत्रके ऊपर लिखे हुये काले अक्षरोंकी घुमानेपर शीघ्र शीघ्र आभा पडनेसे पत्रकी शुक्लतामें कुछ कालापन दीखता है। इसी प्रकार काले अक्षरोंके ऊपर पत्रकी शुक्लताकी प्रभा पड चुकी है। चक्रमें अनेक लकीरोंको कई रंगोंसे रंग कर पुनः उसको शीघ्र घुमानेपर आभाओंका सांकर्य देखिये। यह चलनीके घुमानेपर पत्रके व्यक्त, अव्यक्त अक्षरोंका दीखना, भाव अभाव दोनोंका कार्य है। थालीके धर देनेपर अक्षर सर्वथा नहीं बंचते हैं। और चलनी केवल घेरा धर देनेसे अक्षर स्पष्ट निरावरण देख लिये जाते हैं। बात यह है कि भाव और अभाव दोनों समान बलसे कार्य कर रहे हैं। अथवा किसी लम्बे पत्रमें सुईके समान अन्तराल देते हुये सुईके बराबर लकीरें काट लेनेपर उस लम्बी छिद्रपंक्ति वाली चलनीके समान पत्रको पुस्तकपर बिछा देनेसे अक्षर नहीं पढे जाते हैं। किन्तु उस छिदी लकीरवाले पत्रको पुस्तक पंक्तियोंपर शीघ्रतासे यदि डुलाया जाय तो अक्षर पढ लिये जाते हैं। यहां भी भाव अभाव दोनों समान शक्तिसे दर्शन, अदर्शन, पश्चात् दर्शन अदर्शन, पुनः दर्शन अदर्शन इन कार्योंको कर रहे हैं। उनका व्यवधान भी प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार स्पार्शन प्रत्यक्षमें भी लगा लेना। दो हथेलियोंके बीचमें धरकर कडी गोलीको घुमानेपर स्पर्शन और अस्पर्शन जाने जा रहे हैं। भले ही छूनेमें ही उपयुक्त हो रहे पुरुषका लक्ष्य स्पर्शनमें जाय, किन्तु साथ साथ मध्यमें हुआ अस्पर्शन भी छूट नहीं सकता है। चौकीपर धरे हुये भूषणको देखते समय भी सिंह, सर्प आदिका अभाव हमको निर्भय कर रहा है। अन्यथा सिंह, सर्प, विष, आदिके सद्भावकी प्रतीति हो जानेपर भूषण, भोजन, आदिको छोडकर द्रष्टा, रसयिता, स्पृष्टा पुरुष न जाने कहां भगता फिरेगा। अतः भाव और अभाव दोनों समान बलवाले होते हुये वस्तुमें अपना ज्ञान और अर्थक्रियाओंको करा रहे हैं।

न हि वस्तुनो भाव एव कदाचित्प्रतीयते स्वरूपादिचतुष्टयेनेव पररूपादिचतुष्टयेनापि भावप्रतीतिप्रसक्तेः।

वस्तुका भावस्वभाव ही दीखे ऐसा कभी प्रतीत नहीं होता है। अन्यथा स्वरूप आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके चतुष्टयकरके जैसे वस्तुका अस्तित्व (सद्भाव) माना जाता है, वैसा ही पररूप आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके चतुष्टयकरके भी वस्तुके सद्भावकी प्रतीति होनेका प्रसंग आवेगा। अर्थात्—" सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात् " वस्तु अपने स्वरूप नित्य गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, नैमित्तिकस्वभाव, पर्यायशक्तियां, अशुद्ध द्रव्यके कालान्तरस्थायीगुण आदि स्वकीय शरीरके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्स्वरूप है। यहां पंचाध्यायीके अनुसार अपनी गांठके देश, देशांश, गुण, गुणांशोंको वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, भाव, काल, पकडना चाहिये। अर्थात् अखंडित अनेक देश आत्मा, आकाश, धर्म आदि या अखण्डित एकदेश पुद्गल परमाणु आदि वस्तुओंका यथायोग्य लम्बा चौडा पिण्डदेश है। विष्कम्भ क्रमसे उस देशके प्रदेश अनुसार खण्डकल्पना करना देशांश है। द्रव्यके पूरे देशको व्याप रहीं एक एक नित्यशक्ति गुण हैं। तथा गुणके त्रिकालमें होनेवाले परिणाम गुणांश हैं। इस अपने चतुष्टयसे वस्तु सत् है। किन्तु परवस्तुके चतुष्टयकरके प्रकृत वस्तु असद्रूप प्रतीत हो रही है। सभेद पदसे अनुजीवी गुण, स्वभाव, अपेक्षिक धर्म और सप्तभङ्गिओंके विषयकल्पित-धर्म सब पकडने चाहिये।

न चानाद्यनंतसर्वात्मकं च वस्तु प्रतिभाति यतस्तथाभ्युपगमः श्रेयान्।

वस्तु यदि सर्वथा भावरूप ही होती तो उसमें प्रागभाव, ध्वंसाभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव कथमपि नहीं पाये जाते और ऐसा होनेपर वस्तु अनादि, अनन्त, सर्वात्मक, बन बैठती। अर्थात् प्रागभावको माने विना सम्पूर्ण घट, पट, आदि पदार्थ अनादि कालसे चले आ रहे हो जाते। क्योंकि प्रागभाव ही तो कार्य उत्पत्तिके प्रथम समयतक उन घट आदिके सद्भावको रोके हुये था। जब प्रागभाव ही नहीं माना जा रहा है तो द्रव्योंकी सम्पूर्ण कार्यपर्यायें अनादिकालकी बन बैठेंगी और ध्वंसके नहीं माननेपर सम्पूर्ण पर्यायें अनंतकालतक ठहरनेवाली हो जायंगी। क्योंकि अब वस्तुका सर्वथा सद्भाव मानलेनेसे पदार्थोंकी मृत्यु तो नहीं मानी जायगी। ऐसी दशामें घट, पट, आम, अमरूद आदि पदार्थ अनन्तकालतक ठहरे रहेंगे। इनका नाश होना तो माना ही नहीं गया है तथा एक द्रव्यकी विवक्षित पर्यायोंका अन्य पर्यायोंमें यदि अन्योन्याभाव नहीं माना जायगा तो चाहे जो पर्याय चाहे जिस पर्यायस्वरूप हो जायगी। बालक अवस्था ही वृद्ध अवस्था स्वरूप हो जायगी। रत्न भी ढेल हो जायगा, अग्नि उसी समय जल हो जानी चाहिये, जब कि परस्पर परिहारको करनेवाला अन्योन्याभाव नहीं माना जाता है तो अन्योन्यमें भेद कैसे भी नहीं मिल सकेगा। इसी प्रकार एक द्रव्य या उसकी पर्यायोंका दूसरी द्रव्य अथवा उसकी पर्यायोंमें त्रिकाल रहनेवाला अत्यन्ताभाव नहीं माना जावेगा, तो सर्व आत्मक दोष होगा। यानी आत्मा पुद्गल बन बैठेगा, आकाश द्रव्य कालद्रव्य हो जायगा। ज्ञानगुण गंधस्वरूप हो जायगा, आकाशमें ज्ञानका और रूपका समवाय सम्बन्ध हो जाओ। पुद्गल द्रव्यमें चैतन्य और सुख हो

जाओ। भला अत्यन्ताभावके विना उक्त प्रकारके सांकर्यको कौन रोक सकता है ? जब कि जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य, गुणपर्यायें, स्वरूप वस्तुयें अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं और अनादि अनन्त सर्व आत्मक होती हुयीं वस्तुयें नहीं प्रतिभास रही हैं। जिससे कि तिस प्रकार वस्तुका सद्भाव ही स्वीकार करना श्रेष्ठ समझा जावे। वस्तुतः भाव, अभाव, दोनों स्वभावोंके तादात्म्यकरके पदार्थ गुथे हुये हैं। "कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनंततां व्रजेत्" "सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा" इस प्रकार आप्तमीमांसामें श्री पूज्य गुरु समन्तभद्र स्वामीने प्रतिपादन किया है।

नाप्यभाव एव वस्तुनोनुभूयते पररूपादिचतुष्टयेनेव स्वरूपादिचतुष्टयेनाप्यभावप्रतिपत्तिप्रसंगात्। न च सर्वथाप्यसत्प्रतिभाति यतस्तदभ्युपगमोपि कस्यचित्प्रतितिष्ठेत्। प्ररूपितप्रायं च भावाभावस्वभाववस्तुप्रतिभासनमिति कृतं प्रपंचेन।

भाव एकान्तका निरास कर अब अभाव एकान्तका निराकरण करते हैं कि सर्वथा अभाव ही वस्तुका अनुभूत नहीं हो रहा है। अन्यथा पररूप आदिके चतुष्टयकरके जैसे अभाव जाना जा रहा है, उसीके समान स्वरूप आदिके चतुष्टयकरके भी वस्तुके अभावकी प्रतिपत्ति होनेका प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं है। सभी प्रकारोंसे असत् हो रही वस्तु तो नहीं प्रतिभासती है, जिससे कि उस अभाव एकांतका स्वीकार करना भी किसी शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादीका प्रतिष्ठित हो सके। सभी प्रामाणिक विद्वानोंके यहां भाव, अभावस्वरूप वस्तुका प्रतिभास हो रहा है। इस बातको हम बहुत बार प्रायः कह चुके हैं। इस कारण यहां अधिक विस्तार करके कथन करनेसे क्या लाभ है ?। सत् असत् आत्मक वस्तुको सिद्ध करनेमें हम कृतकृत्य हो चुके हैं। अब कुछ साध्य शेष नहीं हैं।

सर्वथोत्पादे विनाशे च पुनः पुनः स्फटिकादौ दर्शनस्पर्शनयोः सांतरयोः प्रसंजनस्य दुर्निवारत्वात्।

प्रकरण अनुसार वैशेषिकोंके प्रति हम कहते हैं कि यदि स्फटिक, काच आदिका पुनः पुनः सर्वथा उत्पाद और शीघ्र शीघ्र विनाश माना जायगा तो स्फटिक आदिकमें हो रहे चाक्षुषप्रत्यक्ष और स्पार्शन प्रत्यक्षोंको अन्तरालसहित हो जानेका प्रसंग आ जाना दुर्निवार है। अर्थात्— स्फटिकके उत्पाद होनेपर उसका दर्शन और स्पर्शन तथा स्फटिकके शीघ्र नाश होनेपर उसका अदर्शन और अस्पर्शन होता रहेगा। ऐसी दशामें निरन्तर घनी देरतक देखा, छूआ, जा रहा वही स्फटिक बीचमें अन्तराल पडते हुये देखा छूआ जा सकेगा। इस देखने, छूनेमें न देखने न छूनेके अन्तराल पडते रहनेका निवारण वैशेषिक नहीं कर सकते हैं।

तदर्थोनुमीयेतेति चेन्न, तेषां काचादेर्न भ्रांतत्वमर्थोपरक्तस्य विज्ञानस्यानुद्भूतिर्नः (१)।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उसी स्फटिककी उत्तर उत्तर सदृश पर्यायोंमें यह वही स्फटिक है, ऐसा वह स्फटिक अर्थ अनुमानसे ज्ञात हो जाता है। ठीक ठीक देखा जाय तो वह स्फटिकके सदृश है। भ्रान्ति हो जानेसे वही मान लिया जाता है। जैसे कि यह वही कलकी औषधि है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन दृष्टा, स्पृष्टा, जीवोंके हो रहे काच आदिकके ज्ञानको भ्रान्तपना नहीं है। ज्ञेय अर्थका ज्ञानमें आकार पडकर उपराग युक्त हो रहे विज्ञानका उद्भव हम स्याद्वादियोंके यहां नहीं माना गया है। भावार्थ—स्फटिक, काच, आत्मा, ज्ञान, आदि सभी पदार्थोंको क्षणिक माननेवाले बौद्ध तो ज्ञानमें अर्थका आकार क्षण क्षणमें न्यारा पडता हुआ मानते हैं। किन्तु हम स्याद्वादी ज्ञानको प्रतिबिम्बवाला साकार नहीं मानते हैं। और स्फटिक आदि अर्थोंको क्षणमें नष्ट हो जानेवाले भी नहीं मानते हैं। इस पंक्तिका ऐदम्पर्य मेरी बुद्धिमें पूरा प्रतिभासित नहीं हुआ है। विशेष व्युत्पन्न पुरुष सत्य अर्थको विस्तारके साथ यथार्थ समझ लेवे। इस अज्ञान और कषायोंसे आकुल हो रहे आधुनिक ऐहिक संसारमें सभी जीव तो अगाधशास्त्रसमुद्रके अमेय प्रमेयरत्नोंके विज्ञ नहीं हैं। " न हि सर्वः सर्ववित् "।

प्राप्तस्यांतरितार्थेन विभिन्नस्यापरीक्षणात्।
नार्थस्य दर्शनं सिध्येदनुमा च तथैव वा ॥ २७ ॥

स्फटिक, काच, आदिसे व्यवहित हो रहे अर्थके साथ चारों ओरसे प्राप्त हो रही चक्षुके द्वारा टूटे, फूटे, स्फटिकका दीखना नहीं होता है। अतः चक्षुद्वारा प्राप्त अर्थका देखना प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं हो सकेगा, और तिस ही प्रकारके पूर्वोक्त अनुमानद्वारा चक्षुका अप्राप्यकारित्व सिद्ध हो चुका है। अन्यथा बौद्धोंके समान वैशेषिकोंको क्षणिकवादकी शरण लेनी पडेगी।

नन्वत्यंतपरोक्षत्वे सत्यर्थस्यानुमागतेः।
विज्ञानस्योपरक्तत्वे तेन विज्ञायते कथम् ॥ २८ ॥

वैशेषिक यदि यों कहें कि साकार-ज्ञानवादी बौद्धोंका क्षणिक तत्त्व माननेका सिद्धान्त तो ठीक नहीं है। क्योंकि परिशेषमें जाकर ज्ञानकी साकारतासे ही निर्वाह करते हुये शून्यवादमें विश्रान्ति लेनी पडेगी। अतः हम वैशेषिकोंके हृदयमें शंका है कि क्षणिक-विज्ञान या परमाणु स्वलक्षणस्वरूप पदार्थोंके अत्यन्त परोक्ष माननेपर बौद्धोंके यहां अर्थकी अनुमानद्वारा भी प्राप्ति कैसे होगी? विज्ञानको अर्थ आकारसे प्रतिबिम्बित माननेपर उस ज्ञान करके अत्यन्त परोक्ष या भूत, भविष्यत्, अर्थ भला कैसे जाना जा सकता है? इसका बौद्ध उत्तर दें।

तथा शश्वददृश्येन वेधसा निर्मितं जगत् ।
कथं निश्चीयते कार्यविशेषाच्चेत्परैरपि ॥ २९ ॥

बौद्धकी ओर होकर आचार्य महाराज वैशेषिकोंके प्रति आक्षेप करते हुये कहते हैं कि तुम वैशेषिकोंके यहां भी सर्वदा अदृश्य हो रहे ईश्वर करके निर्माण किया गया यह जगत् तिस प्रकार कैसे निर्णीत किया जाता है ? बताओ । यदि पृथ्वी, सूर्य, इन्द्रियां, शरीर, पर्वत, समुद्र आदिक विशेष कार्योंसे सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, ईश्वर, स्रष्टा का अनुमान करोगे तो दूसरे बौद्धोंकरके भी उसी प्रकार अत्यन्त परोक्ष अर्थका अनुमान किया जा सकता है । न्यायमार्ग सबके लिये एकसा होना चाहिये ।

यथैवात्रास्मदादिविनिर्मितेतरच्छरीरादिविशिष्टं कार्यमुपलभ्य तस्येश्वरेणात्यंतपरोक्षेण निर्मितत्वमनुमीयते भवता तथा परैरपि विज्ञानं नीलाद्यर्थाकारविशिष्टं कार्यमभिसंवेद्य नीलाद्यर्थोनुमीयत इति समं पश्यामः । यथा च काचाद्यंतरितार्थे प्रत्यक्षता व्यवहारो विभ्रमवशादेवं बहिरर्थेपीति कुतो मतांतरं निराक्रियते ? ।

जिस ही प्रकार इस ईश्वरसिद्धिके अवसरपर हम आदि साधारण जीवोंद्वारा बढिया भी बनाये गये घट, पट, रोटी, बर्तन आदिसे विभिन्न जातिके शरीर, सूर्य, वृक्ष, पृथ्वी, आदि विलक्षण कार्योंको देखकर उनका अत्यन्त परोक्ष ईश्वरकरके निर्मितपना अनुमान द्वारा जान लिया गया आप वैशेषिकोंने माना है, उसी प्रकार अन्य बौद्धोंकरके भी नील, पीत आदिक अर्थोंके आकारसे विशिष्ट हो रहे विज्ञानस्वरूप कार्यको चारो ओर होता हुआ देखकर नील आदिक अर्थोंका अनुमान कर लिया जाता है । इस ढंगको हम जैन तुम बौद्ध और वैशेषिकोंके यहां समानरूपसे हो रहा देख रहे हैं । और जिस प्रकार काच, अभ्रक, आदिसे व्यवहित हो रहे अर्थमें उसी अर्थके प्रत्यक्ष हो जानेपनका व्यवहार वैशेषिकोंके यहां भ्रान्तिके वशसे हो रहा है, इसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके यहां बहिरंग अर्थमें भी भ्रमवश ज्ञान हो रहा मान लिया जावेगा । इस प्रकार तुम वैशेषिक उन बौद्धोंके दूसरे मतका निराकरण कैसे कर सकोगे ? अर्थात् कथमपि नहीं ।

प्रत्यक्षेणाप्रबाधेन बहिरर्थस्य दर्शनम् ।
ज्ञानस्यांतः प्रसिद्धं चेन्नान्यथा परिकल्प्यते ॥ ३० ॥
काचाद्यंतरितार्थेपि समानमिदमुत्तरं ।
काचादेर्भिन्नदेशस्य तस्याबाधं विनिश्चयात् ॥ ३१ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि भले प्रकार बाधाओंसे रहित हो रहे प्रत्यक्ष प्रमाणकरके बहिरंग घट, पट, आदि वस्तुभूत अर्थोंका दर्शन तो ज्ञानके भीतर प्रसिद्ध हो रहा है। दूसरे प्रकारोंसे यानी चारो ओर विज्ञानाद्वैतरूपसे नहीं कल्पित किया जा सकता है। इस प्रकार समाधान करनेपर तो हमारा भी यह उत्तर समानरूपसे लागू कर लो कि काच, स्फटिक, आदिसे ढके गये अर्थमें भी उसीका निर्बाध प्रत्यक्षप्रमाणकरके देरतक देखना, छूना, होता रहता है। एक अंगुल मोटे काच आदिसे ढके हुये एक अंगुल नीचे भिन्न देशवाले उस अर्थका बाधारहित होकर विशेषरूपसे निश्चय हो रहा है। इस कारण पदार्थको प्राप्त नहीं करती हुयी ही चक्षु पदार्थोंको जान लेती है।

यथा मुखं निरीक्षंते दर्पणे प्रतिबिंबितम् ।
स्वदेहे संस्पृशंतीति बाधा सिद्धात्र धीमताम् ॥ ३२ ॥
तथा न स्फटिकांभोभ्रपटलावृतवस्तुनि ।
स्वदेशादितया तस्य तदा पश्चाच्च दर्शनात् ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार कि श्रृंगारी पुरुष या सौंदर्यगर्विता युवती अथवा सुरमा लगानेवाला अर्द्धवृद्ध जन प्रतिबिम्ब प्राप्त हो रहे मुखको तो दर्पणमें देखते हैं और अपने शरीरमें उस मुखको भले प्रकार छूते हैं, कालापन दूर करते हैं, अंजन आदि लगाते हैं, इस प्रकारकी बाधा यहां बुद्धिमानोंके मत अनुसार सिद्ध मानी गयी है। अर्थात् अर्थका ज्ञान अन्यत्र होता है, और अर्थकी प्राप्ति दूसरे स्थलपर होती है। प्रतिबिम्ब प्राप्त मुखके ज्ञानमें जैसी बाधा उपस्थित है, तिस प्रकारकी बाधा तो स्फटिक, स्वच्छजल, अभ्रक या शुक्ल बादलोंके पटल इनसे ढकी हुयी वस्तुके जाननेमें नहीं उपस्थित होती है। क्योंकि काच आदिकसे ढके हुये उन पदार्थोंका उस समय और पीछे कालोंमें भी उसी अपने देश, काल, अवस्था आदि सहितपनेकरके दर्शन होता रहता है। अर्थात्—दो अंगुल मोटी स्फटिकशिलाके ऊपरसे दो अंगुल नीचे रखा हुआ पदार्थ वहांका वहीं वहका वही आगे पीछे दीखता रहता है। और स्फटिक शिला भी वही दीखती, छूती, रहती है। टूट फूट नहीं गयी है। अतः चक्षुका अप्राप्यकारीपना युक्तियोंसे सिद्ध है।

न च नयनरश्मयः प्रसिद्धाः प्रमाणसामर्थ्यादेः स्फटिकादीन् विभज्य घटादीन् प्रकाशयंतीत्याह ।

दूसरी बात यह है कि नेत्रोंकी वे रश्मियां भी तो प्रमाणोंकी सामर्थ्य, युक्ति, दृष्टांत आदिक से प्रसिद्ध नहीं हुई हैं, जो कि स्फटिक, काच, आदिकोंको तोड फोडकर भीतरके घट, चित्र,

औषधि आदि पदार्थोंका प्रकाश करा रहीं मानी गयी हैं। इस प्रस्तावका आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं।

न चेक्षंतेऽस्मदादीनां स्फुरंतश्चक्षुरंशवः।
सांधकारनिशीथिन्यामन्यानभिभवादपि ॥ ३४ ॥

अर्वाग्दर्शी हम सदृश आदि जीवोंके चमकती हुयीं, स्फुरायमाण हो रहीं, नेत्रकिरणें तो नहीं दीखती हैं। यहां यदि कोई यों कहदे, जैसे कि आतपमें सूर्यकिरणोंद्वारा अभिभव (छिप जाना) हो जानेसे प्रदीप किरणें नहीं दीखती हैं। उसीके समान चमकते हुये दूसरे पदार्थोंके प्रकाशित हो जानेके पीछे तिरोभूत हो जानेके कारण चक्षुकिरणें नहीं दीखपाती हैं। इसपर तो हमारा यह कहना है कि अन्धकारसहित काली रातमें तो अन्य प्रकाशकों द्वारा भी छिपाया जाना नहीं होनेसे पुनः अमावस्याकी मेघ छायी काली रातमें मनुष्य, स्त्री, कबूतर आदिके नेत्रोंकी किरणें नहीं दीखती हैं। देखो, प्रदीपकिरणें घाममें यद्यपि नहीं दीखती हैं। परन्तु मनुष्य, चिरैया, आदिकी नेत्रकिरणें तो अंधेरी रातको भी नहीं दीखती हैं। अतः किसी अभिभावक द्वारा अभिभव हो जाना मानना तो ठीक नहीं। हम तो कहते हैं कि अस्मदादिकके नेत्रोंमें किरणें हैं ही नहीं, अतः रातको और दिनको किसी भी समय नहीं दीखती हैं। जैसे कि नहीं होनेके कारण मिट्टीके घडेकी किरणें नहीं दीखती हैं। भले ही बिल्ली, कुत्ता, सिंह, कृष्णसर्प, बैल आदिके नेत्रोंकी चमकती हुयी कान्ति रात्रिमें दीखती है। फिर भी सम्पूर्ण चक्षुओंमें इतनेसे ही प्राप्यकारीपना सिद्ध नहीं हो जाता है। कुत्ता आदिके आंखोंकी भी किरणें दूरस्थित दृश्य पदार्थोंतक जाती हुयीं नहीं दीखती हैं। तथा मनुष्योंकी नेत्रकिरणें तो दीखती ही नहीं हैं। अतः व्यतिरेक-व्यभिचार हो जानेसे चक्षुका किरणोंद्वारा विषयोंके साथ प्राप्त होकर ज्ञान कराना सिद्ध नहीं हो पाता है। असंख्यस्थलोंमेंसे एक स्थानपर भी यदि व्यभिचार दोष आगया तो इतनेसे ही हेतु हेतुमद्भाव बिगड जाता है। व्यभिचारी पुरुष, कुलटा स्त्री, चोर, असत्यभाषीजन, दिन रात थोडे ही कुकर्म रत रहते हैं। किन्तु कदाचित् ही निकृष्ट कर्ममें तीव्र आसक्त हो जानेसे वे दूषित होकर उसके चौबीस घन्टोंतक लग गये संस्कारके वश होते हुये सतत पापभागी बने रहते हैं।

यद्यनुद्भूतरूपास्ते शक्यंते नेक्षितुं जनैः।
तदा प्रमांतरं वाच्यं तत्सद्भावावबोधकम् ॥ ३५ ॥

वैशेषिक यदि यों कहें कि अस्मदादिक जीवोंकी वे नेत्रकिरणें अनुद्भूतरूप वाली हैं। अतः अप्रकटरूप विशिष्ट होनेके कारण मनुष्योंकरके वे नहीं देखी जा सकती है। इसपर आचार्य कहते

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हैं कि तब तो उन नेत्र किरणोंके सद्भावको समझानेवाला न्यारा प्रमाण आप वैशेषिकोंको कहना चाहिये। क्योंकि हम लोगोंके नेत्र तो अब चक्षुकिरणोंको देखनेके लिये समर्थ नहीं है। अर्थात् वैशेषिकोंका मत है कि " **उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये। विभाग संयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिणामयुक्तम् ॥ १ ॥ क्रियां जातिं योग्यवृत्तिं समवायं च तादृशम् ॥** उद्भूतरूपवाले पदार्थ ही नेत्रों द्वारा देखे जाते हैं। " **गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः** "। अपनी ही चक्षुसे अपनी ही नेत्रकिरणोंको देखनेपर अनवस्था दोष आता है। क्योंकि घटके समान किरणोंके जाननेके लिये पुनः उन किरणोंके साथ अन्य किरणोंका संयोग आवश्यक होता जायगा, दूसरे व्यक्ति द्वारा नेत्र किरणोंको दिखानेपर अन्योन्याश्रय हो जाता है। अतः मनुष्य, चिरैया, आदिकी नेत्रकिरणोंको सिद्ध करानेके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण तो थक गया। अब आप वैशेषिक अन्य प्रमाणोंकी शरण लीजिये।

रश्मिवल्लोचनं सर्वं तैजसत्वात् प्रदीपवत्।
इति सिद्धं न नेत्रस्य ज्योतिष्कत्वं प्रसाधयेत् ॥ ३६ ॥
तैजसं नयनं सत्सु सन्निकृष्टरसादिषु।
रूपस्य व्यंजकत्वाच्चेत्प्रदीपादिवदीर्यते ॥ ३७ ॥

वैशेषिक अनुमानप्रमाणद्वारा नेत्रोंकी किरणोंको सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण चक्षुयें (पक्ष) किरणोंसे सहित हैं (साध्य) तेजो-द्रव्यकरके निर्मित होनेसे (हेतु) प्रदीप कलिकाके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार पक्षमें ठहर कर सिद्ध हुआ। तैजसत्व हेतु नेत्रोंके दीप्त किरणसहितपनेको अच्छा साध देवेगा। इस अनुमानमें दिया गया तैजसत्व हेतु असिद्ध नहीं है। सो सुनिये। नेत्र (पक्ष) भास्वरस्वरूपवाले तेजोद्रव्यसे बने हुये तैजस हैं (साध्य) अन्य पदार्थोंके रूप, रस, गंध, आदिके सन्निकृष्ट होते संते भी रूपका ही व्यंजक हो जानेसे (हेतु) प्रदीप, सूर्य, आदिके समान, (अन्वयदृष्टान्त) यदि इस प्रकार वैशेषिक निरूपण कर रहे हैं, तब तो यह दोष आता है कि—

हेतोर्दिने निशानाथमयूखैर्व्यभिचारिता।
तैजसं निहितं चंद्रकांतरत्नक्षितौ भवाः ॥ ३८ ॥
तेजोनुसूत्रिता ज्ञेया गा मूलोष्णवती प्रभा।
नान्या मरकतादीनां पार्थिवत्वप्रसिद्धितः ॥ ३९ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चक्षुमें तैजसत्वको साधनेके लिये दिये गये रूपका ही प्रकाशकपना हेतुका दिनमें निशानाथ यानी चन्द्रमाकी किरणोंकरके व्यभिचारीपना है। अर्थात् प्रभाको दृष्टान्त मान लेनेपर हेतुमें परकीय विशेषण नहीं हैं। अतः दिनमें मन्दप्रभ चमकती हुई चन्द्रमाकी किरणें स्वके रूपकी अभिव्यंजक हैं। किन्तु वैशेषिकोंने उनको तैजस नहीं माना है। तथा चन्द्रकान्तमणि, पन्नारत्न आदिसे भी व्यभिचार होता है। चन्द्रकान्त, माणिक्य, पन्ना, वैडूर्य मणियोंको तुम वैशेषिकोंने तैजस नहीं माना है। यदि चन्द्रकान्त रत्नकी भूमि आदिमें तैजसद्रव्यको धरा हुआ मानकर उनमें पायी जानेवाली किरणोंमें तेजोद्रव्यका अन्वित होकर सूत बंधा हुआ मान लिया जायगा सो तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि तेजोद्रव्यपदार्थोंकी प्रभा तो मूलमें उष्णतासे सहित होती है। **"मूलोण्हपहा अग्गी आदाओ होइ उण्हसहिय पहा। आइच्छे तेरिच्छे उण्हूण पहाउ उज्जोओ"** मूलमें उष्ण और प्रभामें भी उष्ण जो पदार्थ है, वह अग्निस्वरूप तैजस पदार्थ है। किन्तु मूलमें अनुष्ण (शीतल) और प्रभामें उष्ण पदार्थ सूर्य तो आतपयुक्त कहा जाता है। मूल और प्रभा दोनोंमें उष्णतारहित पदार्थ चन्द्रमा, पन्ना, खद्योत, उद्योतवान् बोले जाते हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार सूर्यविमानका शरीर सर्वथा उष्ण नहीं है। किन्तु उसकी प्रभा अति उष्ण है। अतः सूर्य किरणोंसे भी व्यभिचार हो सकता है। जलकी जमाई हुयी बर्फ अति शीतल है। किन्तु उसका प्रभाव (असर) उष्ण है। छोटी पीपल, अभ्रकभस्म, चन्द्रोदय रसायन मूलमें शीतल हैं। किन्तु शरीरमें अति उष्णताके उत्पादक हैं। पदार्थोंकी शक्तियां अचिन्त्य हैं। तपस्वी, साधु स्वयं रोगी, निर्धन और कोई कोई अभव्य होकर भी अन्य जीवोंको नीरोग, धनवान्, या मोक्षमार्गी बना देते हैं। चूना स्वयं लाल रंगका नहीं है। किन्तु हल्दीको लाल कर देता है। जड द्रव्यश्रुत अनन्त जीवोंको भेदविज्ञानी, श्रुतकेवली बना देता है। जल और घृत दोनों भी अमृतके समान गुणकारी हैं। किन्तु मिलाकर दोनोंको रगडनेपर कुछ देर पीछे विषशक्तिवाले हो जाते हैं। तथैव मूलमें अनुष्ण हो रहा सूर्य भी उष्णप्रभाका उत्पादक है। लालटेनके हरे काचकी कान्ति (रोशनी) ठण्डी होती है। और लाल काचकी प्रभा उष्ण हो जाती है। अतः मूलकारणमें उष्णतावाली प्रभासे सहित हो रहीं किरणें ही तैजस कही जा सकती हैं। अन्य पन्ना, मणि, वैडूर्यरत्न, नीलमणि आदिकोंको तो पृथ्वीका विकारपना प्रसिद्ध है। यानी जो मूलमें अनुष्ण है, और जिसकी प्रभा भी अनुष्ण है, वह तैजस नहीं है।

चक्षुस्तैजसत्वं साध्ये रूपस्यैव व्यंजकत्वादित्यस्य हेतोश्चंद्राद्युद्योतेन मूलोष्णत्वरहितेन पार्थिवत्वेन व्यभिचारादगमकत्वात्तत्तैजसत्वस्यासिद्धेर्न ततो रश्मिवच्चक्षुषः सिध्येत्।

चक्षुका तैजसपना साध्य करनेपर रूप आदिकोंके सन्निहित होनेपर रूपका ही व्यंजकपना होनेसे यों इस हेतुका चन्द्रमा, मरकत मणि आदिके उद्योतकरके व्यभिचार होगा, जो कि मूलमें और प्रभामें उष्णतासे रहित होता हुआ पृथ्वीका विकार माना गया है। चक्षुस्सन्निकर्षमें व्यभिचार

वारण करनेके लिये द्रव्यत्व और ज्ञानके कारणको ही ज्ञानका विषय माननेवाले वादीके यहां चाक्षुषप्रत्यक्षके विषय हो रहे रूप, रूपवान् अर्थ, रूपत्व, रूपाभाव इन करके हुये व्यभिचारके निवारणार्थ करणत्व विशेषण लगानेपर भी चन्द्र उद्योत आदि करके व्यभिचार दोष लगा रहना तदवस्थ रहता है। अतः हेतुका गमकपना नहीं होनेके कारण चक्षुमें तैजसपनेकी सिद्धि नहीं हो सकी। इस कारण उस तैजसत्व हेतुसे चक्षुकी किरणवत्ता नहीं सिद्ध हो पायगी।

रूपाभिव्यंजने चाक्ष्णां नालोकापेक्षणं भवेत्।
तैजसत्वात्प्रदीपादेरिव सर्वस्य देहिनः ॥ ४० ॥

दूसरी बात यह है कि यदि सम्पूर्ण नेत्रवाले शरीरी आत्माओंकी चक्षुओंको किरणसहित तैजस माना जावेगा, तब तो चमकीले तेजका विवर्त होनेके कारण चक्षुओंको रूपकी अभिव्यक्ति (ज्ञप्ति) करानेमें अन्य सूर्य, प्रदीप, बिजली आदिके आलोक या प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होना चाहिये। जैसे कि प्रदीप, सूर्य, आदिको रूपके प्रकाशनेमें अन्य सूर्य, दीप, आदिके आलोकांतरकी अपेक्षा नहीं होती है। किन्तु मनुष्य, कबूतर आदिको अंधेरेमें चाक्षुषप्रत्यक्ष करनेके लिये आलोक, प्रकाशकी अपेक्षा होती देखी जाती है। अतः चक्षुका तैजसपना असिद्ध है।

यथैकस्य प्रदीपस्य सुस्पष्टार्थप्रकाशने।
मंदत्वादसमर्थस्य द्वितीयादेरपेक्षणम् ॥ ४१ ॥
तथाक्ष्णोर्न विरुध्येत सूर्यालोकाद्यपेक्षणं।
स्वकार्ये हि स्वजातीयं सहकारि प्रतीक्ष्यते ॥ ४२ ॥

वैशेषिक यदि यों कहें कि अर्थके बढिया स्पष्ट प्रकाश करनेमें मन्द होनेके कारण असमर्थ हो रहे एक दीपकको जैसे दूसरे, तीसरे, आदि दीपकोंकी अपेक्षा हो जाती है, तिसी प्रकार मन्द प्रकाशी होनेसे मनुष्योंके नेत्रोंको भी सूर्य, चन्द्र, प्रदीप, आदिके आलोक, उद्योत, प्रभा आदिकी अपेक्षा करना विरुद्ध नहीं पडेगा। क्योंकि अपने द्वारा करने योग्य कार्यमें अपनी समान जातिवाला सहकारी कारण प्रतीक्षित हो ही जाता है। अतः तैजस नेत्रोंको तैजस सूर्य, दीप आदिकी आकांक्षा होना स्वाभाविक है, हां, रात्रिचरोंके नेत्रोंको दीपककी आवश्यकता नहीं है।

तदसल्लोचनस्यार्थप्रकाशित्वाविनिश्चयात्।
कथंचिदपि दीपादिनिरपेक्षस्य प्रदीपवत् ॥ ४३ ॥

आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रदीपके समान अन्य दीपक, सूर्य, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले मनुष्योंके नेत्रोंको किसी भी प्रकारसे अर्थ-प्रकाशकपनेका विशेष निश्चय नहीं है। यानी मनुष्योंको चाक्षुष प्रत्यक्ष करनेमें अन्य आलोककी अपेक्षा आवश्यक है। मन्दसे भी अतिमन्द हो रहे प्रदीपको स्वप्रकाशनमें अन्य दीपोंकी आवश्यकता नहीं है। भले ही किसी सूक्ष्म या लम्बे, चौडे, पदार्थोंके प्रकाशनेमें अन्य दीपकोंकी आवश्यकता होय, जब कि मन्ददीपके समान भी नेत्रोंमें तैजसकान्ति या किरणें नहीं दीखती हैं, तो नेत्रोंको तैजस कैसे भी नहीं कहा जा सकता है। यों सूक्ष्मतासे विचारनेपर तो मन्दप्रकाश इस सांप, चूहेके बिलोंमें भी है। आतपयुक्त आंगन, गृह, तलघर, खत्ती, गुप्तगृह, मूषकबिल, सर्पबिलमें प्रकाश न्यूनतर न्यूनतम है। चूना, मिट्टी आदि पदार्थोंमें भी थोडी प्रभा होती है। तथा प्रकाशकोंकी प्रभा भी बहुत भीतर घुस जाती है।

अंधकारावभासोस्ति विनालोकेन चेन्न वै।
प्रसिद्धस्तेंधकारोस्ति ज्ञानाभावात्परोर्थकृत् ॥ ४४ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि रात्रिमें आलोकके विना भी अन्धकारका प्रतिभास हो जाता है। फिर आप जैन नेत्रोंको चाक्षुषप्रत्यक्ष करनेमें आलोककी आवश्यकताका इतना आग्रह क्यों कर रहे हैं? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तुम वैशेषिकोंके यहां ज्ञानाभावसे अतिरिक्त कोई न्यारा अर्थक्रियाको कहनेवाला अन्धकार पदार्थ निश्चयसे प्रसिद्ध नहीं माना गया है। फिर आलोक अन्धकारके विना ही दीख जानेका हमारे ऊपर व्यर्थ आपादन क्यों किया जाता है?।

परेष्ट्यास्तीति चेत्तस्याः सिद्धं चक्षुरतैजसं।
प्रमाणत्वेन्यथा नांधकारः सिध्येत्ततस्तव ॥ ४५ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि जैनोंने अंधकारको पुद्गलद्रव्यका पर्याय इष्ट किया है। यों दूसरे जैनोंकी इष्टिसे अन्धकार पदार्थका अस्तित्व मान लिया जाता है। अतः जैनसिद्धान्त अनुसार जैनोंके ऊपर अन्धकारके आलोक विना ही प्रत्यक्ष हो जानेका कटाक्ष किया जा सकता है। प्रतिवादीको जैसा भी अवसर मिलेगा तदनुसार वादीको चित्त या पट्ट, गिरानेकी घातमें लगा रहेगा। इस प्रकार कौटिल्यसहित वैशेषिकोंकी नीति हो जानेपर तो हम स्याद्वादी भी सतर्क होकर कहते हैं कि यदि दूसरे जैनोंकी इष्टिसे ही कार्य साधा जाता है, तो स्याद्वादियोंकी उस इष्टिको प्रमाणपना माननेपर चक्षु अतैजस भी सिद्ध हो जाती है। जैनोंने चक्षुको अतैजस माना है। अन्यथा यानी जैन आचार्योंके इष्ट सिद्धान्तको प्रमाणपना नहीं माननेपर तो तिस कारण तुम्हारे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां अन्धकार पदार्थ सिद्ध नहीं हो पायगा। अर्थात्—जैनोंको अभीष्ट हो रहे सिद्धान्त अनुसार यदि अन्धकारको पौद्गलिक तत्त्व माना जायगा तो उन्हींके अभीष्ट अनुसार चक्षुका अतैजसपना भी सिद्ध हो जायगा। एक बात मानी जाय दूसरी न्याय्य बात नहीं मानी जाय ऐसा अर्द्धजरतीय न्याय प्रशस्य नहीं है।

अतैजसाजनापेक्षि चक्षू रूपं व्यनक्ति यं।
नातः समानजातीयसहकारि नियम्यते ॥ ४६ ॥

वैशेषिकोंने यह कहा था कि तैजस अपनी समान जातिवाले अन्य तैजस पदार्थको सहकारी चाहती है। सो उनका यह कहना भी ठीक नहीं, जब कि रोगी, वृद्ध या मोतियाबिन्दवाले मनुष्योंकी चक्षुयें तेजोद्रव्यसे नहीं बनाये गये अतैजस अंजन या काजलकी अपेक्षा रखती हुयीं जिस रूपकी प्रकट झप्ति कराती हैं, उसमें चक्षुका सहकारी कारण कोई समानजातिका तैजस पदार्थ अपेक्षणीय नहीं है। तथा शिर या पादतलमें तैल, घृत, आदिक मलनेसे नेत्रोंको सहकारिता प्राप्त हो जाती है। काच या पत्थरके उपनेत्र (चश्मा) भी नेत्रोंके सहायक हैं। घी, बूरा, कालीमिर्च, बादामका भक्षण भी नेत्रद्वारा दर्शन करानेमें उपयोगी है। अतः समानजातीय तैजस पदार्थ ही नेत्रोंका सहकारी है, यह नियम नहीं किया जा सकता है। चश्मा आदिक तो वैशेषिकोंके यहां पार्थिव पदार्थ माने गये हैं।

तैजसमेवांजनादि रूपप्रकाशने नेत्रस्य सहकारि न पुनः पार्थिवमेव तत्रानुद्भूतस्य तेजोद्रव्यस्य भावादित्ययुक्तं प्रमाणाभावात्। तैजसमंजनादि रूपावभासने नयनसहकारित्वाद्दीपादिवत्यप्यसम्यक्, चन्द्रोद्योतादिनानैकांतात्। तस्यापि पक्षीकरणान्न व्यभिचार इति चेन्न, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगात्। पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानागमबाधितत्वात् तस्य प्रत्यक्षेणातैजसत्वेनानुभवात्। न तैजसश्चंद्रोद्योतो नयानानंदहेतुत्वात्सलिलादिवदित्यनुमानात्। मूलोष्णवती प्रभा तेज इत्यागमाच्चाब्धिजलकल्लोलैश्चंद्रकांतप्रतिहताः सूर्यांशवः प्रद्योतंते शिशिराश्च भवंति तत एव नयनानंदहेतव इत्यागमस्तु न प्रमाणं, युक्त्यननुगृहीतत्वात् तथाविधागमांतरवत्। तदननुगृहीतस्यापि प्रमाणत्वेतिप्रसंगात्। पुरुषाद्वैतप्रतिपादकागमस्य प्रमाणत्वप्रसंगात् सकलयौगमतविरोधात्। किं च।

वैशेषिक कहते हैं कि तेजोद्रव्यसे बने हुये ही अंजन आदिक पदार्थस्वरूपको प्रकाशनेमें नेत्रके सहकारी कारण हैं। किन्तु फिर वे अंजन आदिक विवर्त केवल पार्थिव ही नहीं हैं। क्योंकि उन अंजन आदिकोंमें प्रकट नहीं हो रहे अप्रकट तेजोद्रव्यका भीतर सद्भाव है। अतः तैजस

नेत्रके तैजस पदार्थ ही सहायक हुये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना युक्तिरहित है । क्योंकि अंजन, काजल, तैल, आदिमें छिपे हुये तेजोद्रव्यके सद्भावका साधक कोई प्रमाण नहीं है । यदि वैशेषिक यह अनुमान प्रमाण देवें कि अंजन, रगरा, चश्मा आदिक [पक्ष] तैजस पदार्थ हैं (साध्य) रूपको प्रकाशनेमें नेत्रोंके सहकारी कारण होनेसे (हेतु) जैसे कि दीपक, बिजली आदिक हैं, (अन्वयदृष्टांत)। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका अनुमान तो समीचीन नहीं है । क्योंकि चन्द्रउद्योत, माणिक्य प्रकाश, आदिक करके व्यभिचार हो जाता है। वे तैजस नहीं होते हुए भी नेत्रोंके सहकारी हैं । यदि वैशेषिक उनको पक्ष नहीं होते हुये भी अञ्जन आदिके साथ पक्षकोटिमें कर लेंगे, अर्थात्—चन्द्र उद्योत, आदिको भी तैजसपना साधनेको उद्युक्त हो जायंगे, अतः व्यभिचार नहीं होगा, मान लेंगे, सो यह तो नहीं समझना । क्योंकि ऐसी दशामें नयनसहकारित्व हेतुको बाधित हेत्वाभास हो जानेका प्रसंग हो जायगा । अंजन, चन्द्रोद्योत, सुरमा आदिमें तैजसपना साधनेपर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणोंसे पक्षबाधित हो जाता है । देखिये, उन अंजन, उद्योत, आदिकोंका प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा अतैजसपनास्वरूप करके अनुभव हो रहा है । अतः काले अंजन, पीछे उद्योत, अभासुर चश्मा, आदिका तैजसपना प्रत्यक्षबाधित है । वैशेषिकोंने भी इनको पार्थिव माना है । तुम्हारे अनुमानमें इस अनुमानप्रमाणसे भी बाधा यों आती है कि चन्द्रोद्योत (पक्ष) तैजस नहीं है (साध्य), नेत्रोंको आनन्दका कारण होनेसे (हेतु) जल, कर्पूर, मभीरा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार अनुमानसे बाधा होनेके कारण तुम्हारा नयनसहकारित्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी है । प्रायः अतैजस, शीतल, पदार्थ ही नयनोंके आनन्ददाता हैं । तथा आगमप्रमाणसे भी तुम्हारा हेतु बाधित है । मूलमें जो उष्ण है और जिसकी प्रभा भी उष्ण है, वह तैजस पदार्थ है । जैनसिद्धान्तमें सूर्यकी प्रभाको उष्ण होनेपर भी मूलमें सूर्यको उष्ण नहीं होनेके कारण तैजस नहीं माना गया है । मोटे तारमें बह रही किन्तु नहीं चमक रही प्रभारहित विद्युत्शक्तिके अति उष्ण होनेपर भी उसकी उष्णकान्ति नहीं होनेके कारण उसको तैजस नहीं माना गया है । भावार्थ—जबतक बिजली तारमें या बिजली घरमें बह रही है या संचित हो रही है, उस समय उष्णप्रभा नहीं होनेके कारण उसमें तैजसकायके जीवोंकी सम्भावना नहीं है । हां, काचके लट्टूमें भीतर चमक जानेसे अथवा बिजलीकी सिगडीमें दहक जानेपर तेजस् कायके जीव उत्पन्न हो जाते हैं । ' मूलोण्हपहा अग्गी " यहां अग्निका अर्थ तेजोद्रव्य है । अतः मूलमें उष्ण और उष्णप्रभावाले पदार्थको तेजोद्रव्यका परिज्ञायक श्रेष्ठ आगम वाक्य हो जानेपर आगमसे भी चन्द्रोद्योतका तैजसपना बाधित हो जाता है । यदि वैशेषिक यह आगम दिखलावें कि समुद्रके जलकी लहरोंकरके चन्द्रकान्तमणिके साथ प्रतिघातको प्राप्त हो रहीं सूर्यकिरणें ही चन्द्रविमान द्वारा प्रकृष्ट उद्योत कर रहीं हैं । अथवा सूर्यकिरणें ही समुद्रजलसे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

टक्कर खाकर ऊपर चन्द्रमाके भीतरसे प्रकाशती हैं । या चन्द्रमाकी कांतिसे टकराकर उछलती हुई सूर्यकिरणें चमकती हैं । और समुद्रजलका स्पर्श हो जानेसे वे शीतल भी हो गयी हैं। तिस ही कारण नेत्रोंको आनन्द देनेका हेतु हो गयीं हैं। अर्थात्—वर्तमानके इंग्रेजी साइन्सका मत यह है कि सूर्यकिरणोंसे ही चन्द्रमा उद्योतित होता है । वैष्णव सम्प्रदायके पुराणोंमें यों लिखा है कि समुद्रका मथन करनेपर चौदह रत्नोंकी प्राप्ति हुयी । उनमें एक चन्द्रमा है । ऊपरले सूर्यकी किरणोंका समुद्रस्थित लम्बी, चौडी, चन्द्रकान्तमणिके साथ अनेक दिनोंतक प्रतिघात होते रहनेके कारण वे उद्योतवाली और शीतल होगई हैं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारके आगम तो प्रमाण नहीं हैं । क्योंकि युक्तियोंके अनुग्रहसे रहित हैं, जैसे कि तिस प्रकारके अन्य आगम विचारे प्रमाण नहीं माने गये हैं । अर्थात् वर्तमानके कतिपय वैज्ञानिकोंने कुछ तारे ऐसे माने हैं, फैलते फैलते भी जिनका प्रकाश असंख्य वर्षोंसे यहां पृथ्वीपर अबतक नहीं आ पाया है । ऐसा उनकी पुस्तकोंमें लिखा है । पृथ्वी आदिक तत्त्वोंको मिलाकर ही जीवात्मा बन जाता है । विचारनेवाले मनका स्थान शिर है, इत्यादिक आगम या पुस्तकें अयुक्त होनेके कारण जैसे प्रमाण नहीं हैं, उसी प्रकार चन्द्रकी गांठके उद्योतको सूर्यकिरणोंका उद्योत कहना और समुद्रजलके स्पर्शसे उनका ठंडा पड जाना कहना अयुक्त है । चन्द्रके लाञ्छनमें जैसे यह आगमप्रमाण नहीं है कि—

" अंकं केपि शशंकिरे जलनिधेः पंङ्कं परे मेनिरे । सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छाय-मैच्छनपरे । इन्दौ यद्गलितेन्दुनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते । तन्नूनं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे " । चन्द्रमामें खण्डित नीलमणिका टुकडा सरीखा काला पदार्थ जो अतिशययुक्त दीख रहा है, उस चिह्नको कोई तो कलंककी आशंका करते हैं, अन्य विद्वान् समुद्रमेंसे चली आयी कीचड मान रहे हैं, कोई उसको हिरण कह रहे हैं, अन्य विद्वान् उसको पृथ्वीकी छाया इच्छते हैं, किन्तु कवि स्वयं यह सिद्धान्त करते हैं कि रातमें पान कर लिया गया गाढ अन्धकार चन्द्रकी कोखमें वही दीख रहा है । वस्तुतः चन्द्रविमान स्वयं छप्पनबटे एकसठ योजनका उद्योत-शाली, तथा मूल और प्रभामें शीतल, तथा अनादिकालीन, एवं काले, पीले, रत्नोंसे निर्मित, रत्नमय, पदार्थ है । उन युक्तियोंसे नहीं अनुगृहीत हो रहे, चाहे जिस किसी आगमको भी यदि प्रमाण मान लिया जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा । जगत्में हिंसा, झूंठ, आखेट, वेश्यासेवन, द्यूतक्रीडा, आदिके प्रतिपादक भी शास्त्र कषायवान् जीवोंने गढ लिये हैं । भेदवादी, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि विद्वानोंके यहां भी ब्रह्माद्वैतके प्रतिपादक आगमको प्रमाणपनेका प्रसंग हो जायगा और ऐसा होनेपर उसके साथ सम्पूर्ण नैयायिक, वैशेषिक और योग्यविद्वानोंके मतका विरोध हो जायगा । किन्तु द्वैतवादी नैयायिकोंने अद्वैत प्रतिपादक आगमको अयुक्त होनेके कारण प्रमाण नहीं माना है । दूसरी बात यह भी है, सो वार्तिकद्वारा सुनिये।

मार्गदर्शक

किमुष्णस्पर्शविज्ञानं तैजसेक्ष्णि न जायते ।
तस्यानुद्भूततायां तु रूपानुद्भूतता कुतः ॥ ४७ ॥

नैयायिक अथवा वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न उठाते हैं कि चक्षुको तेजोद्रव्यसे निर्मित हुआ माननेपर आंखमें क्यों नहीं उष्णस्पर्शका विज्ञान उत्पन्न हो जाता है ? अग्नि, दीपकलिका आदिक सभी तैजस पदार्थोंमें उष्णस्पर्शका स्पार्शनप्रत्यक्ष उपज रहा है। यदि आप उस तैजस नेत्रके उष्ण स्पर्शका अनुद्भूतपना स्वीकार करेंगे तब तो तेजके भास्वररूपका अनुद्भूतपना भला कैसे हो सकता है ? ऐदम्पर्य यह है कि जिस तैजस पदार्थका उष्णस्पर्श अनुद्भूत (अप्रकट) है, उसका रूप अवश्य उद्भूत है। और जिसका रूप अनुद्भूत है, उसका स्पर्श अवश्य उद्भूत (प्रकट) है। फिर नेत्रमें कमसे कम उष्णस्पर्श या भास्वर (अधिक चमकीला) शुक्ल दोनोंमेंसे एक तो अभिव्यक्त होना ही चाहिये। नेत्रको तैजस माना जाय और दोनों भास्वर शुक्ल और उष्ण स्पर्श अप्रकट माने जांय, यह कथन आप नैयायिकोंके अपने सिद्धान्तसे ही विरुद्ध पडता है। किसी भी तैजसपदार्थमें नैयायिकोंने रूप, स्पर्श, दोनोंको तिरोभूत नहीं माना है, रूप, स्पर्श दोनोंमेंसे एक अप्रकट भले ही हो जाय। फिर नेत्रमें अपने नियमका अतिक्रमण वे कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् नहीं। नेत्रमें तेजोद्रव्यके उपजीवक भास्वररूप और उष्णस्पर्श दोनों नहीं प्रतीत होते हैं। अतः चक्षु तैजस नहीं है। पौद्गलिक तो है ही।

तेजोद्रव्यं ह्यनुद्भूतस्पर्शमुद्भूतरूपभृत् ।
दृष्टं यथा प्रदीपस्य प्रभाभारः समंततः ॥ ४८ ॥
तथानुद्भूतरूपं तदुद्भूतस्पर्शमीक्षितम् ।
यथोष्णोदकसंयुक्तं परमुद्भूततद्द्वयम् ॥ ४९ ॥
नानुद्भूतद्वयं तेजो दृष्टं चक्षुर्यतस्तथा ।
अदृष्टवशतस्तच्चेत्सर्वमक्षं तथा न किम् ॥ ५० ॥
सुवर्णघटवत्तत्स्यादित्यसिद्धं निदर्शनं ।
प्रमाणबलतस्तस्य तैजसत्वाप्रसिद्धितः ॥ ५१ ॥

जो तेजोद्रव्य अनुद्भूत स्पर्शवाला है, वह नियमसे उद्भूतरूपको धारण किये हुए देखा गया है। जैसे कि प्रदीपका चारों ओरसे फैल रहा दीप्तियोंका समुदाय भले ही व्यक्त उष्णस्पर्शवाला

नहीं है। किन्तु तेजोद्रव्यके उपजीवी चमकीले उद्भूतरूपको अवश्य धारण किये हुये तथा जिस तेजोद्रव्यमें स्वस्वरूप उद्भूत नहीं भी है, उसमें तेजोद्रव्यके उपयोगी उद्भूत उष्णस्पर्श अवश्य प्रतीत हो रहा है। जैसे कि उष्णजलमें संयुक्त हो रहा तेजोद्रव्य उद्भूत रूपवान् यद्यपि नहीं है, किन्तु उष्णस्पर्शवान् अवश्य है। नैयायिकजनोंने जलको सर्वदा शीतल माना है। उनके मत अनुसार उष्णजलमें तेजोद्रव्यके उष्णस्कन्ध बहुतसे घुस आते हैं। अतः जल उष्ण प्रतीत होने लग जाता है। जैसे कि बूरेमें काली मिरचका चूरा डाल देनेसे बूरेका स्वाद मिष्टमिश्रित चिरपिरा (कटु) अनुभूत हो जाता है। अथवा पानीमें मघीका बुरादा मिला देनेसे कालापानी या नीलापानी हो जाता है। वस्तुतः पानी ठंडा स्वच्छ, शुक्ल, है। किन्तु इस विषयमें जैनसिद्धान्त ऐसा नहीं है। स्याद्वादी तो यों मानते हैं कि पुद्गलद्रव्यकी विशेषपर्याय जल है। सम्भव है उसमें जलकायके जीवोंके शरीर भी होंवे। अनेक स्कन्धोंसे बना हुआ होनेके अशुद्धद्रव्यजलका स्पर्शगुण जो अबतक शीतस्पर्श पर्यायस्वरूप परिणत हो रहा था, वही स्पर्शगुण बिचारा अग्नि, तीव्र आतप, बिजली, आदिका निमित्त मिल जानेपर उष्णस्पर्श परिणति ले लेता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये न्यारी जातिके चार तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि वायु जल बन जाती है। वृक्षोंमें जल प्राप्त होकर वनस्पति बन जाता है। धोंकी जानेपर वायु ही तीव्र अग्नि हो जाती है। अग्निमय कोयला बुझ जानेपर राख हो जाता है। वस्तुतः पुद्गलद्रव्य (तत्त्व) एक है। कोई भी पौद्गलिक पदार्थ निमित्त मिलनेपर किसी भी स्पर्शको धारण कर सकता है। राजगृहीके कुंडोंका जल तो खानोंमेंसे ही प्रथम प्रथम अति उष्णस्पर्शवाला झरता है। शीत ऋतुमें कूपजल भी कदुष्ण निकलता है। अतः जलका शीत ही स्वभाव नियत रखना अयुक्त है। जलमें बूरा या स्याही चूरा अथवा सतुआ मिलादेनेपर केवल संयोग ही नहीं होता, किन्तु बंध होकर तीसरी अवस्था हो जाती है। " तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ", बंधदशामें दोनों पदार्थ अपने अपने स्वभावोंसे च्युत होकर तीसरी ही जातिकी पर्यायको धारण कर लेते हैं। हां, विजातीयद्रव्योंका संयोग होकर बंध हो जानेपर " सगसगभावं ण मुंचंति " अनुसार द्रव्यरूपसे अपने स्वभावोंको कदापि नहीं छोडते हैं। तभी तो विभक्त हो जानेपर न्यारे न्यारे द्रव्य बने रहते हैं। द्यणुकका भेद हो जानेपर दो परमाणु द्रव्य उपज जाते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि उष्णजलका उष्ण स्पर्श वस्तुतः जलका ही तदात्मक परिणाम है। जलमें सूची अग्रभागोंके समान घुसे हुये माने गये तेजोद्रव्यका यह औपाधिक परिणाम नहीं है। भला विचारो तो सही कि उष्ण स्पर्श यदि जलकी निज गांठका नहीं है तो उष्णजलका न्यारा स्वाद भी तेजोद्रव्यका ही माना जायगा। किंतु नैयायिकोंने तेजोद्रव्यको स्वादरहित स्वीकार किया है "गुरुणी द्वे रसवती" (पृथ्वीजले) शीतजलके स्वाद और उष्ण जलके स्वादमें अन्तर तो अवश्य है। ठंडा दूध और भोजनके स्वादसे उष्ण दुग्ध या भोजनका रस विलक्षण है। अतः तेजोद्रव्यके निमित्तसे जल, दूध और भोज्य पदार्थोंमें ही रसान्तर की उत्पत्ति माननी चाहिये। नीरस आकाश तो किसी व्यञ्जनमें रसान्तर नहीं

करदेता है। बूरेमें पिसी हुई कालीमिरचें मिला देनेपर कुछ देरतक यों ही बंधके लिये धरे रहनेसे दोनोंके रसगुणमें विशिष्टपरिणाम हो जाते हैं। हां, बूरेमें चांदी, सोने, लोहेका चूरा मिला देनेपर संयोग हो जाने मात्रसे दोनोंका रसान्तर नहीं हो पाता है। सम्भव है, अधिक कालमें बंध हो जानेपर रसायनप्रक्रियाद्वारा गुणोंकी विभिन्न परिणतियां हो जांय। कांसा या पीतल तो दही या खटाईका शीघ्र विपरिणाम करदेते हैं। निमित्त-नैमित्तिक भावको इन्द्र, चक्रवर्ती भी टाल नहीं सकता है। अस्तु, यहां नैयायिक जो कह रहे हैं, उनकी बात सुनलो। उष्ण जलमें तेजोद्रव्य उद्भूत स्पर्शवाला है। उद्भूतरूप और अनुद्भूतस्पर्शवाले आलोक, प्रभा दीप्ति आदि हैं। तथा उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूतरूपवाले उष्णजलसंयुक्त तैजस आग आदि हैं। उक्त इन दोनों जातिके तैजसद्रव्योंसे भिन्न जितने भी अग्नि, ज्वाला, तप्तलोह गोला, चमकीली बिजली, अंगार, आदि पदार्थ हैं, वे सब तैजस पदार्थ उन उद्भूत भास्वररूप और उद्भूत उष्णस्पर्श दोनोंसे सहित है। हां, तेजोद्रव्यके उपयोगी उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्श दोनों जिसमें अप्रकट होंय, ऐसा तेजोद्रव्य तो कोई नहीं देखा गया है, जिससे कि चक्षु भी तिस प्रकार होता हुआ अनुद्भूत रूपवान् और अनुद्भूत स्पर्शवान् मान लिया जाय। अभिप्राय यह है कि आप वैशेषिक यदि चक्षुको तैजसद्रव्य मानते हैं तो उद्भूतरूप और उद्भूत उष्णस्पर्श दोनोंमेंसे एकको तो अवश्य नेत्रमें प्रकट मानियेगा। दोनोंके अप्रकट माननेपर तो वह नेत्र तैजस कथमपि नहीं सम्भव सकते हैं। यदि पुण्य या पाप के वशसे उस नेत्रमें दोनोंके उद्भूत नहीं होनेपर भी तैजसपना मान लिया जायगा, अथवा तैजसनेत्रके भी किन्हीं जीवोंके पुण्य, पाप, अनुसार दोनों रूप स्पर्शोंका उद्भूतपना नहीं दृष्टिगत हो रहा स्वीकार किया जायगा, तब तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंको तिस प्रकारका अनुद्भूतरूप स्पर्शवाला क्यों नहीं मान लिया जाय? जैसे कि नैयायिकोंने स्वर्णके बने हुये घटमें उष्णस्पर्श और भास्वररूप दोनोंका अप्रकटपना माना है, वैसे तो सोनेका घडा पीला और अनुष्ण, शीतस्पर्शवाला दीख रहा है। इसीके समान स्पर्शनरसना आदि इन्द्रियां भी तैजस बन बैठेंगी। बावदूक कह सकते हैं कि इन्द्रियधारी जीव आंखों या अन्य इन्द्रियोंसे भुरस नहीं जांय, अथवा उनकी आंखें दूसरेकी तैजस आंखोंसे चकाचौंधमें नहीं पड जांय, इसके उपयोगी पुण्यके उदयसे उन इन्द्रियोंके स्पर्श, रूपोंका प्रकट अनुभव नहीं हो पाता है। कभी कभी पुण्य और पापका उदय होनेपर चमकीले और अति उष्ण पदार्थ भी विपरीत भास जाते हैं और कदाचित् अनुष्ण या धूसरित पदार्थ भी पुण्य, पाप अनुसार उष्ण, चमकदार, भास जाते हैं। भाग्यवान्के दोषगुणरूपसे और भाग्यहीनके गुण भी दोषरूपकरके कहे जाते हैं। इस ढंगसे प्रत्यक्षविरुद्ध बातोंमें नैयायिकोंका युक्ति लडाना प्रशंसनीय नहीं है। " अग्नेरपत्यं प्रथमं हिरण्यं " ऐसे वाक्योंपर अन्धविश्वास करके फिर अपने तात्त्विकसिद्धान्तको वहां घसीटना परीक्षकोंको शोभा नहीं देता है। सुवर्ण पीला है, भारी है। अतः पीतल, चांदी, पीली मिट्टी, आदिके समान पार्थिव है। सुवर्णसे तो और भी अधिक चमकीले

पदार्थ शुक्रविमान, चन्द्रमा, दर्पण, रांगकी कलईवाले भांड, हीरा, पन्ना आदि विद्यमान हैं। उनको तो वैशेषिकोंने तैजस नहीं माना है। चंद्रमा आदिमें भी तेजोद्रव्यके कणोंका सद्भाव कल्पित करना यह उसी प्रकार भ्रान्तिरूप है, जैसे कि बर्फ, करका आदि जलीय पदार्थोंमें कठिनपनेकी प्रतीतिको वैशेषिकोंने भ्रान्त मानलिया है। वस्तुतः हिम, ओला, आदिके काठिन्यका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। बात यह है कि प्रमाणोंकी सामर्थ्यसे उस सुवर्ण घटको तैजसपना प्रसिद्ध नहीं हो पाता है। अतः नहीं सिद्ध हुये दृष्टांत सुवर्णघटके बलसे चक्षुमें तैजसरूप और उष्णस्पर्श दोनोंका अनुद्भूत होकर रह जाना सिद्ध नहीं हो सकता है। इस कारण वैशेषिकोंके पूर्वोक्त अनुमानसे चक्षुका तैजसपना सिद्ध नहीं हो सका, उक्त दृष्टान्त स्वयं ही सिद्ध नहीं है।

नोष्णवीर्यत्वतस्तस्य तैजसत्वं प्रसिध्यति।
व्यभिचारान्मरीचादिद्रव्येण तैजसेन वः ॥ ५२ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि चक्षु (पक्ष) तैजस है (साध्य) उष्णवीर्य सहितपना होनेसे (हेतु) जैसे कि ज्वाला है अर्थात्—नेत्रमें अति उष्णशक्ति है। तृण, कंकरी, मच्छर, धूल आदिके पड जानेपर आंख उसको शीघ्र नष्ट कर देती है। काले सर्प या दृष्टिविषसर्पकी आंखोंमें अत्यधिक उष्णता शक्ति है। आंखमें बूंद दो बूंद जल डाल देनेसे वह अतिउष्ण हो जाता है। नेत्रसे आंसू उष्ण (गरम) निकलते हैं। नेत्रकी तैजस शक्तिसे दृष्टिपात होकर बालक, दर्पण, सुंदर अवयव, भक्ष्य, पेय, पदार्थ दृष्टिदोषसे ग्रसित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उष्णवीर्य युक्तपनेसे चक्षुका तैजसपना भी वैशेषिकोंके यहां नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। क्योंकि मिरच, पीपल, चंद्रोदय रसायन, पाला, संखिया, सर्पविष, आत्मशक्तियां, आदिसे व्यभिचार हो जायगा। जो कि तुम वैशेषिकोंके यहां तैजसपदार्थ नहीं माने गये हैं। अर्थात् मिरच, संखिया, आदिक भी बडी बडी उष्णशक्तियोंके कार्य करते हैं। पाला गिरनेसे बन, अरहर आदिके वृक्ष ठिठुरकर दग्ध हो जाते हैं, किन्तु वे तैजस नहीं हैं।

ततो नासिद्धता हेतोः सिद्धसाध्यस्य बुध्यते।
चाक्षुषत्वादितो ध्वानेऽनित्यत्वस्य यथैव हि ॥ ५३ ॥

स्वरूपासिद्ध हेत्वाभाससे साध्यकी सिद्धि नहीं हुयी समझी जाती है। प्रकरणमें तिस कारण रूप आदिकोंके सन्निहित होनेपर रूपकी ही अभिव्यक्ति करनेवालापन हेतुसे चक्षुमें तैजसपना सिद्ध नहीं हुआ और तैजसपना हेतुकी असिद्धि हो जानेसे किरणसहितपन साध्यकी सिद्धि नहीं समझी जायगी। असिद्ध हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हुआ करती है। जिस ही प्रकार कि शब्दमें

चाक्षुषत्व, रासनत्व आदि असिद्ध हेतुओंसे अनित्यपनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जब कि चक्षुमें रश्मियां सिद्ध नहीं हुयीं तो काच आदिकसे अंतरित अर्थका प्रकाशपना रश्मियोंद्वारा उसको प्राप्तकर नहीं बना। ऐसी दशामें चक्षुका प्राप्यकारीपना खण्डित हो जाता है।

तदेवं तैजसत्वादित्यस्य हेतोरसिद्धत्वान्न चक्षुषि रश्मिवत्त्वसिद्धिनिबंधनत्वं यतस्तस्य रश्मयोर्थप्रकाशनशक्तयः स्युः सतामपि तेषां बृहत्तरगिरिपरिच्छेदनमयुक्तं मनसोधिष्ठाने सर्वथेत्याह।

तिस कारण इस प्रकार तैजसत्वात् ऐसे इस हेतुकी असिद्धता हो जानेसे चक्षुमें उस तैजसत्वको ज्ञापककारण मानकर किरणसहितपनेकी सिद्धि नहीं हो सकी। अथवा इस तैजसत्व हेतुको चक्षुमें किरणसहितपनकी सिद्धिका कारणपना नहीं है, जिससे कि उस चक्षुकी रश्मियां अर्थको प्रकाशनेकी शक्तिवाली हो सकें। दूसरी बात यह है कि अस्तु संतोष न्याय अनुसार चक्षुमें किरणोंका सद्भाव भी मान लिया जाय तो भी उन रश्मियोंके द्वारा चक्षुकरके अधिक बडे पर्वतकी इति करना अयुक्त पडेगा। भला छोटीसी चक्षुओंकी किरणें कोसों दूरवर्त्ती लम्बे, चौडे, महान्, पर्वत बराबर फैलकर कैसे प्रकाश करा सकती हैं!। धतूरेके फूल समान आदिमें छोटी होकर भी आगे आगे बढती हुयीं नेत्रकिरणें महान् पर्वतोंका भी प्रकाश करा देती हैं, ऐसी प्रत्यक्षप्रमाण-विरुद्ध, कठिन, गुरु, कल्पना करनेकी अपेक्षासे तो चक्षुके अप्राप्यकारी माननेमें प्रमाणोपपन्न लाघव है। तथा वैशेषिकोंद्वारा माने गये अधिष्ठाता अणु मनकरके चक्षुओंका अधिष्ठान यानी अधिकृतपना माननेपर तो सभी प्रकारोंसे महान् पर्वतकी परिच्छित्ति सर्वथा नहीं हो सकती है। इसी बातको ग्रन्थकार वार्तिकद्वारा विशद कहते हैं।

संतोपि रश्मयो नेत्रे मनसाधिष्ठिता यदि।
विज्ञानहेतवोर्थेषु प्राप्तेष्वेवेति मन्यते ॥ ५४ ॥
मनसोणुत्वतश्चक्षुर्मयूखेष्वनधिष्ठितेः।
भिन्नदेशेषु भूयस्त्वपरमाणुवदेकशः ॥ ५५ ॥
महीयसो महीध्रस्य परिच्छित्तिर्न युज्यते।
क्रमेणाधिष्ठितौ तस्य तदंशेष्वेव संविदः ॥ ५६ ॥

तुम वैशेषिकोंके कथन अनुसार चक्षुमें रश्मियां विद्यमान भी मान ली जाय तो ये मन इन्द्रियसे अधिष्ठित हो रहीं यदि अपनेसे सम्बन्धको प्राप्त हो रहे ही अर्थोंमें विज्ञानकी उत्पादक

मार्गदर्शक :— आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कारण हैं, ऐसा माना जाता है, तब तो मनका अणुपना होनेके कारण चक्षुकी अनेक और लंबी चौडी भिन्न भिन्न देशोंमें फैली हुई किरणोंमें अधिष्ठान नहीं हो सकेगा। जैसे कि एक एक परमाणु होकर बहुतसे देशोंमें फैल रहे परमाणुओंमें एक परमाणुका युगपत् अधिष्ठातापन नहीं बन पाता है, एक छोटी परमाणु एक समयमें एक ही परमाणुपर अधिकार जमा सकती है। एक परमाणु बराबर हो रहा मन असंख्य किरणोंपर अपना अधिकार कैसे भी नहीं आरोप सकता है। ऐसी दशामें अधिक लंबे चौडे महान् पर्वतकी चक्षुद्वारा ज्ञप्ति होना युक्त नहीं पडेगा। उस मनकी क्रम, क्रमसे अनेक किरणोंमें अधिष्ठिति मानी जावेगी, तब तो उस पर्वतके छोटे छोटे अंशोंमें ही अनेक ज्ञान हो सकेंगे। लम्बे चौडे एक महान् पर्वतका एक ज्ञान नहीं हो सकेगा। किन्तु एक महान् पर्वतका एक चाक्षुषप्रत्यक्ष हो रहा है। पर्वतकी एक एक अणुको क्रमसे जानते हुये तो अनन्त वर्षोंमें भी पर्वतको जान लेना नहीं संभवता है।

निरंशोवयवी शैलो महीयानपि रोचिषा।
नयनेन परिच्छेद्यो मनसाधिष्ठितेन चेत् ॥ ५७ ॥
न स्यान्मेचकविज्ञानं नानावयवगोचरम्।
तद्देशिविषयं चास्य मनोहीनैर्दृगंशुभिः ॥ ५८ ॥

इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि बहुत बडा भी पर्वत अंशोंसे रहित हो रहा, एक अखण्ड अवयवी द्रव्य है, जो कि चक्षुःकिरणोंमें सम्बन्धित हो रहा संता मनकरके अधिष्ठित हो रहे चक्षुद्वारा चारों ओर जाना जा सकता है। अर्थात् लम्बा चौडा एक अखण्ड अवयवी हाथी जैसे शिरके एक कोनेमें लगी हुयी अंकुशकी छोटीसी नोकसे अधिकृत बना रहता है। महान् पर्वत भी एक अवयवी है। हम वैशेषिक उसमें अंशोंको सर्वथा नहीं मानते हैं। यदि जैन मन्तव्य अनुसार पर्वतमें अंश मान लिये जाते, तब तो जिस अंशमें चक्षुःकिरण सम्बन्धित होती, उतने ही अंशका ज्ञान हो सकता था। सम्पूर्ण अंशोंमें समवेत हो रहे अवयवीका ज्ञान नहीं हो पाता। किन्तु जब अनेक अवयवोंसे एक अखण्ड नवीन अवयवी पर्वत निरंश बन चुका तो फिर किसी भी एक स्थलमें किरणोंका संयोग हो जानेपर और चक्षुकिरणोंमेंसे किसी भी एक किरणमें मनका अधिष्ठान हो जानेपर महान् एक पर्वतका चाक्षुषप्रत्यक्ष सुलभतासे हो सकता है। इसमें झंझटकी कौनसी बात है? इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि रंग बिरंगे चित्रमें या अनेक रंगके छींट वस्त्रमें अनेक अवयवोंके विषय करनेवाला और उस उस देशमें वर्त रहे अवयवोंको विषय कर जाननेवाला चित्रज्ञान तो मनके अधिष्ठातृत्वसे रहित हो रहीं चक्षुःकिरणोंकरके नहीं हो सकेगा, अर्थात्—भिन्न भिन्न देशोंमें पडे हुये चित्र विचित्ररंगके अवयवोंका एक ही समय चित्रज्ञान तो

तब हो सकता है, जब कि अनेक अवयवोंपर उसी समय नेत्र किरणें पडें। और उन अवयवोंमें संयुक्त हो रही सम्पूर्णकिरणोंके साथ मनकी भी युगपत् अधिष्ठिति होय। किन्तु छोटासा परमाणु बराबर मन भला अनेकदेशीय किरणोंमें युगपत् कैसे अधिष्ठान कर सकता है ? यहां चित्रज्ञानमें तो एक अखण्ड अवयवी मानकर निर्वाह नहीं हो सकता है। अथवा जहां भूमिपर फैले हुये अनेक आम्रफलों या पुष्पोंका एक चाक्षुषज्ञान युगपत् किया जा रहा है, वहां भी सजातीय, विजातीय अनेक अखण्ड अवयवियोंमें एक ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अनेक चरम अवयवियोंका मिलकर एक बडा अवयवी फिर तो बन नहीं सकता है। तथा अनेक देशमें पडे, हुये सजातीय, विजातीय, फल, पुष्पोंमें सम्बन्धित हो रहीं न्यारी न्यारी चक्षुःकिरणोंपर एक अणु मनका अधिकार (कब्जा) नहीं हो सकेगा। अनेक किरणोंके साथ मनसंयुक्त ही नहीं हो सकता है। और मनरहित किरणोंकरके भिन्नदेशवाले अनेक काले, पीले, नीले, हरे अवयवोंमें एक चित्रका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। किन्तु प्रामाणिकपुरुषोंको एक चित्रज्ञान होता तो है। अतः वैशेषिकोंका एक निरंश अवयवीके आश्रय लेनेका कथन युक्त नहीं है।

शैलचंद्रमसोश्चापि प्रत्यासन्नदविष्ठयोः ।
सहज्ञानं न युज्येत प्रसिद्धमपि सद्धियाम् ॥ ५९ ॥
कालेन यावता शैलं प्रयांति नयनांशवः ।
केचिच्चंद्रमसं नान्ये तावतैवेति युज्यते ॥ ६० ॥

दूसरी बात यह है कि चक्षुकिरणों द्वारा विषयकी प्राप्ति माननेपर तुम वैशेषिकोंके यहां अतिनिकटपर्वतका और अधिकदूरवर्ती चन्द्रमाका एक साथ ज्ञान युक्तिसहित नहीं हो सकेगा, जो कि समीचीनज्ञान करनेवाले प्रामाणिक पुरुषोंके यहां भी प्रसिद्ध हो रहा है। नयनकी कितनी ही किरणें जितने कालकरके पर्वतको प्राप्त हो रहीं हैं, उतने ही समय करके अन्य कोई किरणें जाकर चन्द्रमाको प्राप्त हो जांय, यह तो समुचित नहीं होगा। कारण कि निकटवर्त्ती पर्वत तो झट आंखोंसे प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु अधिक दूर हजारों कोसतक चन्द्रमाके पास चक्षु किरणें झट नहीं पहुंच सकती हैं। किन्तु सभी बुद्धिमान् पुरुषोंको चन्द्रमा और पर्वतका या शाखा और चन्द्रमाका युगपत् चाक्षुषज्ञान हो रहा है। इतने निकट अर्थों और दूरपदार्थोंमें चक्षु किरणोंका प्राप्त होना और एक अणुमनका उन किरणोंमें संयुक्त होकर अधिकार जमाना अयुक्त है। किन्तु द्वितीयाके चन्द्रमाको शाखाके अवलम्बसे दिखा देते हैं। अथवा उदय हो रहे पूर्ण चन्द्रको पर्वतके ऊपर साथ साथ देखते हैं। थोडी थोडीसी देरमें पलक मार रही यानी भयवश निमेष उन्मेष कर रही चक्षुकी किरणोंका इतना शीघ्र चन्द्रमातक पहुंचना प्रयोगविज्ञानसे सिद्ध

नहीं होता है। मोटरकारकी लालटेनोंका प्रकाश कुछ देरमें दूरतक फैलता है। यों त्रैराशिक लगानेपर चन्द्रमातक नेत्रकिरणोंके जानेमें अधिक समय लगेगा। उन्मीलन करते ही झट चन्द्रमाको नहीं देख सकोगे। किन्तु आंख खोलते झट सन्मुख चन्द्रमा देख लिया जाता है।

तयोश्च क्रमतो ज्ञानं यदि स्यात्ते मनोद्वयं।
नान्यथैकस्य मनसस्तदधिष्ठित्यसंभवात् ॥ ६१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आप वैशेषिक यदि उन पर्वत और चन्द्रमाका ज्ञान क्रमसे होता हुआ कहें तब तो तुम्हारे यहां दो मन अवश्य हो जायंगे। अर्थात्—जितने ही कालमें कुछ नयनकिरणें पर्वततक पहुंचती हैं। उतने ही कालमें अन्य किरणें चन्द्रमातक पहुंच जाती हैं। जैनोंने भी तो एक परमाणुका मन्दगतिसे एक प्रदेशतक गमन एक समयमें माना है, और शीघ्र गतिसे चौदह राजूतक परमाणु एक समयमें चली जाती मानी है। इसपर हम जैन उन वैशेषिकोंसे कहेंगे कि यों दो मन तुमको मानने पड़ेंगे। अन्यथा यानी दो मनको माने विना दोनोंका ज्ञान नहीं हो सकेगा। कारण कि छोटेसे एक मनकी उन दोनोंके ऊपर अधिष्ठिति होना असम्भव है। चक्षुःकिरणोंकी क्रमसे प्राप्ति माननेपर भी दो मन इन्द्रियोंका मानना आवश्यक पड जायगा। किन्तु वैशेषिकोंने प्रत्येक आत्माके लिये एक एक ही मन नियत हो रहा अभीष्ट किया है।

विकीर्णानेकनेत्रांशुराशेरप्राप्यकारिणः।
मनसोधिष्ठितौ कायस्यैकदेशेपि तिष्ठतः ॥ ६२ ॥
सहाक्षपंचकस्यैतत्किं नाधिष्ठायकं मतं।
यतो न क्रमतोभीष्टं रूपादिज्ञानपंचकम् ॥ ६३ ॥
तथा च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरप्रसिद्धितः।
साध्ये मनसि लिंगत्वं न स्यादिति मनः कुतः ॥ ६४ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि मन इन्द्रिय तो अप्राप्यकारी है। अतः शरीरके एक देशमें भी ठहर रहे अप्राप्यकारी मनका फैली हुयीं अनेक नेत्रकिरणोंकी राशिके ऊपर अधिष्ठातृत्व होना संभव जाता है। इसपर तो हम जैन कहेंगे कि खस्सा कचौडी या महोबेके सप्रतिष्ठित पान खानेपर एक साथ उपयुक्त हो रही पांच इन्द्रियोंका अधिष्ठापक यह मन क्यों नहीं मान लिया जाता है? जिससे कि क्रमसे अभीष्ट किये गये रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इनके पांच ज्ञान एक साथ नहीं हो सकें। अर्थात् अप्राप्यकारी मनकी एक समयमें अनेक पदार्थोंके ऊपर अधिष्ठिति माननेपर एक साथ पांचों

ज्ञान हो जाने चाहिये और तैसा होनेपर युगपत् ज्ञानके अनुत्पादकी अप्रसिद्धि हो जानेसे मनको साध्य करनेमें " युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति " यह ज्ञापक हेतु नहीं हो सकेगी। ऐसी दशामें भला अतीन्द्रिय अनिन्द्रिय मनकी सिद्धि कैसी होगी ? भावार्थ—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं "। पांचों इन्द्रियोंसे पांचों ज्ञान हो जानेकी योग्यता होनेपर भी एक समयमें एक ही ज्ञान होता है, अनेक ज्ञान नहीं उपजते हैं। अतः सिद्ध है कि जिस इन्द्रियके साथ वह अणु मन संयुक्त होगा, उसी इन्द्रियसे ज्ञान कराया जायगा। शेष इन्द्रियां यों ही व्यर्थ बैठी रहेंगी। किन्तु अब तो वैशेषिकोंके मन्तव्य अनुसार ही पांचों ज्ञान हो जाने चाहिये।

मनोऽनधिष्ठिताश्चक्षूरश्मयो यदि कुर्वते।
स्वार्थज्ञानं तदप्येतद्दूषणं दुरतिक्रमम् ॥ ६५ ॥

चौअनवीं " संतोपि " इत्यादि वार्त्तिकसे लेकर अबतक इन्द्रियोंके ऊपर मनकी अधिष्ठिति होकर ज्ञान करानेका विचार किया। अब वैशेषिक यदि यह पक्ष पकडें कि मन इन्द्रियसे अधिष्ठित नहीं हो रही ही चक्षुःकिरणें यदि अपने और पदार्थोंके ज्ञानको उत्पन्न कर देती हैं, तो भी यही दूषण लागू रहेगा। इस दूषणका अतिक्रमण करना दुःसाध्य है। अर्थात् मनका अधिष्ठान नहीं माननेपर तो अधिक सुलभतासे युगपत् (एकदम) पांचों ज्ञान हो जाने चाहिये, जो कि किसी भी विद्वान्ने इष्ट नहीं किये हैं। " एकस्मिन्न द्वावुपयोगौ "। एक समयमें एक चेतनागुणकी दो पर्यायें यानी दर्शन, ज्ञान, या चाक्षुष, रासन प्रत्यक्ष आदिक कोई भी इनमेंसे दो नहीं हो सकती हैं। अतः चक्षुका अप्राप्यकारीपन सिद्ध नहीं हुआ।

ततोक्षिरश्मयो भित्त्वा काचादीन्नार्थभासिनः।
तेषामभावतो भावेप्युक्तदोषानुषंगतः ॥ ६६ ॥
काचाद्यंतरितार्थानां ग्रहणं चक्षुषः स्थितम्।
अप्राप्यकारितालिंगं परपक्षस्य बाधकम् ॥ ६७ ॥

तिस कारण यह निर्णीत हुआ कि चक्षुकी रश्मियां काच, आदिको तोड, फोडकर भीतर घुस जाती हैं, और प्राप्त हुये अर्थका चाक्षुषप्रतिभास करा देती हैं। यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त युक्त नहीं है। क्योंकि उन नेत्रोंकी रश्मियोंका अभाव है। यदि उनका सद्भाव भी मान लिया जायगा तो पूर्वमें कहे गये दोषोंका प्रसंग आवेगा। जब कि काच, स्फटिक, आदिकसे आच्छादित हो रहे अर्थोंका चक्षुके द्वारा ग्रहण करना प्रमाणप्रतिष्ठित हो चुका है, जो कि

सोलहवीं वार्तिकसे आरम्भा था। वही चक्षुके अप्राप्यकारीपनका ज्ञापक हेतु होता हुआ वैशेषिक, नैयायिक, आदि दूसरे विद्वानोंकरके स्वीकार किये गये प्राप्यकारीपनके पक्षका बाधक है।

एवं पक्षास्याध्यक्षबाधामनुमानबाधां च प्ररूप्यागमबाधां च दर्शयन्नाह।

इस प्रकार वैशेषिकोंद्वारा माने गये चक्षुके प्राप्यकारीपन पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे हो रही बाधाका और अनुमान प्रमाणोंसे आरही बाधाका अच्छा निरूपणकर अब आगमप्रमाणसे आरही बाधाको दिखलाते हुये ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्ट कथन करते हैं, जो कि उन्होंने नौवीं या दशवीं वार्तिकसे सूचित कर दिया था।

स्पृष्टं शब्दं शृणोत्यक्षमस्पृष्टं रूपमीक्षते।
स्पृष्टं बद्धं च जानाति स्पर्शं गंधं रसं तथा ॥ ६८ ॥
इत्यागमश्च तस्यास्ति बाधको बाधवर्जितः।
चक्षुषोप्राप्यकारित्वसाधनः शुद्धधीमतः ॥ ६९ ॥

" पुट्ठं सुणोदि सद्दं, अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं। गंधं रसं च पासं, पुट्ठं बद्धं विजाणादि " श्री महावीर स्वामीकी आम्नायसे, चले आये हुये प्राचीन शास्त्रोंमें कहा है कि कर्ण इन्द्रियसे छूये जा चुके शब्दको कान द्वारा जीव सुन लेता है। और चक्षुके साथ नहीं छूये जा चुके रूपको आंखद्वारा संसारी जीव देखता है। तथा स्पर्शन, घ्राण, रसना, इन्द्रियोंसे छूये हुये होकर बंधे जा चुके स्पर्श, गंध, रसोंको त्वक्, नासिका, जिह्वा, इन्द्रियोंद्वारा जीव जानता है। इस प्रकारका बाधाओंसे रहित प्रामाणिक आगम उस चक्षुके प्राप्यकारीपनका बाधक है। और विशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंके सन्मुख वह आगम चक्षुके अप्राप्यकारीपनका साधन करा देता है। इस ढंगसे प्रत्यक्ष अनुमान और निर्बाध आगम इन प्रमाणोंसे चक्षुके प्राप्यकारीपनकी बाधा होकर अप्राप्यकारीपना साध दिया गया है।

ननु नयनाप्राप्यकारित्वसाधनस्यागमस्य बाधारहितत्वमसिद्धमिति परोक्तमुपदर्श्य दूषयन्नाह।

यहां कोई शंका करता है कि नेत्रोंके अप्राप्यकारीपनको साधनेवाले आगमका बाधारहितपना असिद्ध है, ऐसी दूसरोंकी सशंक चेष्टाको (अनुवाद करते हुये) दिखलाकर उसको ग्रन्थकार दूषित करते हुये अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

मनोवद्विप्रकृष्टार्थग्राहकत्वानुषंजनं।
नेत्रस्याप्राप्यकारित्वे बाधकं येन गीयते ॥ ७० ॥

तस्य प्राप्ताणुगंधादिग्रहणस्य प्रसंजनम् ।
घ्राणादेः प्राप्यकारित्वे बाधकं केन बाध्यते ॥ ७१ ॥

यहां कोई नैयायिक या वैशेषिक यों जैनोंके आगममें बाधा उठा सकते हैं कि नेत्रको यदि अप्राप्यकारी माना जायगा तो दूरदेशवर्ती या भूत, भविष्यत्–कालवर्ती विप्रकृष्ट अर्थोंका नेत्रद्वारा ग्रहण करा देनेपनका प्रसंग आवेगा, जैसे कि अप्राप्यकारी मन इन्द्रियसे दूर देशके और कालांतरित, पदार्थोंका ग्रहण करा दिया जाता है । अर्थात्—नेत्रोंको विषयके साथ सम्बन्ध हो जानेकी जब आवश्यकता ही नहीं रही तो सुमेरुपर्वत, स्वयंप्रभद्वीप या राम, रावण, शंख आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष अब हो जाना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नेत्रके अप्राप्यकारीपनमें जिस विद्वान् द्वारा उक्त प्रसंग प्राप्त होना बाधक कहा जाता है, उसके यहां घ्राण, स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंके प्राप्यकारीपन अनुसार प्राप्त हो रही परमाणुके गंध, रस, स्पर्शके भी ग्रहण हो जानेका प्रसंग क्यों नहीं बाधक होगा ? नासिका आदिके प्राप्यकारीपनमें हुये इस बाधककी भला किस करके बाधा उठायी जा सकती है ? अर्थात्—चक्षुके अप्राप्यकारीपनमें जैसे यह प्रसंग बाधक उठाया जा सकता है कि दूर देश कालके पदार्थोंको भी चक्षु देख लेवे, उसी प्रकार घ्राण अथवा रसनाके प्राप्यकारीपनमें इस प्रसंगरूप बाधकको क्या कोई मार डालेगा कि घ्राण या रसनाके साथ परमाणु भी तो चुपट रही है । फिर उसका गन्ध या रस क्यों नहीं जाना जाता है ? बताओ । वैशेषिक इसका क्या उत्तर दे सकते हैं ? । कुछ भी नहीं ।

सूक्ष्मे महति च प्राप्तेरविशेषेपि योग्यता ।
गृहीतुं चेन्महद्द्रव्यं दृश्यं तस्य न चापरम् ॥ ७२ ॥
तर्ह्यप्राप्तेरभेदेपि चक्षुषः शक्तिरीदृशी ।
यथा किंचिद्धि दूरार्थमविदिकं प्रपश्यति ॥ ७३ ॥

इस पर वैशेषिक यदि यों कहें कि परमाणु, द्वयणुक आदिक सूक्ष्म पदार्थ और घट, कौर इत्र, आदि स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रियोंकी प्राप्ति होना यद्यपि विशेषताओंसे रहित है, एकसा है, फिर भी महत्त्व परिणामयुक्त द्रव्य ही उन इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य है । अन्य सूक्ष्मपदार्थोंकी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जानेकी योग्यता नहीं है, " महत्त्वं षड्विधे हेतुः " छहों प्रकारके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंमे महत्त्व कारण है । महत्त्वावच्छिन्न जो पदार्थ इन्द्रिय संयुक्त होगा, उसका या उसमें रहनेवाले गुण, जाति, आदिका इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो जायगा शेष पदार्थोंका नहीं होगा, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि चक्षु अप्राप्ति यद्यपि समवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकसी है, कोई भेद नहीं है, तो भी चक्षुकी शक्ति इस प्रकारकी है कि जिस शक्तिकरके किसी एक दूर अर्थको जो कि विदिशाओंमें प्रतिमुख पडा नहीं होकर सन्मुख स्थित हो रहा है, अच्छा देख लेती है। और अन्य अयोग्य अतिदूरके विप्रकृष्ट पदार्थोको नहीं देख पाती है। शक्तिरूप योग्यता तो सर्वत्र माननी पडेगी। सर्वथा भेदवादी वैशेषिकोंके यहां कारणोंसे कार्यसमुदाय जब सर्वथा भिन्न माना गया है, तो चाहे जिस कारणसे कोई भी कार्य क्यों नहीं सम्पादित हो जाता है ? तुम्हारे यहां भी इसका समीचीन उत्तर योग्यताके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता है। जगत्में भिन्न हो रहे और दूर पडे हुये अनेक निमित्त कारण न जाने कहां कहांके नैमित्तिकोंकी बनाते रहते हैं। " स्वभावोऽतर्कगोचरः "। अतः अप्राप्ति होनेपर भी चक्षुःइन्द्रिय विचारी योग्यपदार्थका ही प्रत्यक्ष करावेगी, अयोग्य अर्थोका नहीं।

ननु च घ्राणादींद्रियं प्राप्यकारि प्राप्तमपि तत्राणुगंधादियोगिनः परिच्छिनत्ति नास्मदादेस्तादृशादृष्टविशेषस्याभावात् महत्त्वाद्युपेतद्रव्यं गंधादि तु परिच्छिनत्ति तादृगदृष्ट-विशेषस्य सद्भावादित्यदृष्टवैचित्र्यात्तद्विज्ञानभावाभाववैचित्र्यं मन्यमानान् प्रत्याह।

यहां कोई शंकाकार ऐसा मान बैठे हैं कि हम अज्ञजीवोंकी घ्राण आदि इन्द्रियां तो प्राप्त हो रहे परमाणुके गन्ध, रस, स्पर्शोको नहीं जानती हैं, किन्तु योगियोंकी प्राप्यकारी घ्राण आदि इन्द्रियां तो चुपटे हुये अणुमें प्राप्त हो रहे अणुओंकी गन्ध आदिको भी चारों ओरसे जान लेती हैं। उस प्रकारका पुण्यविशेष हम लोगोंके पास विद्यमान नहीं है। अतः अस्मद् आदिकी बहिःइन्द्रियां परमाणु, द्वयणुकके गन्ध आदिकको नहीं जान सकती है। हां, महत्त्व, उद्भूत, रूप, अनभिभव, आदिसे सहित हो रहे द्रव्य या उसके गंध आदि गुणोंको तो जान लेती हैं। क्योंकि तिस प्रकारके महत्त्व अनेक द्रव्यत्त्व आदिसे सहित हो रहे पदार्थोको जाननेका पुण्यविशेष हम स्थूलदृष्टियोंके पास विद्यमान है। इस प्रकार अदृष्ट (ज्ञानावरणके क्षयोपशम, या क्षय) की विचित्रतासे उन विज्ञानोंके होने नहीं होनेकी विचित्रता बन जाती है। युक्त और युञ्जान नामक योगियोंके योगाभ्याससे उत्पन्न हुआ धर्मविशेष है। उसकी सहायतासे अणुस्वरूप परमाणु द्वयणुकोंके गन्ध आदिका बहिःइन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार मन्तव्य रखनेवाले वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज समाधान कहते हैं।

समं चादृष्टवैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यकारणं।
स्याद्वादिनां परेषां चेत्यलं वादेन तत्र नः ॥ ७४ ॥

एक बात यह भी है कि पुण्य पाप कहो या प्रकरण अनुसार ज्ञानावरणका क्षयोपशम, क्षय कहो ऐसे अदृष्टकी विचित्रता ही तदुत्पन्न ज्ञानकी विचित्रताका कारण है। यह बात हम स्याद्वादियोंके

यहां और दूसरे नैयायिक वैशेषिकोंके यहां समानरूपसे मान ली गई है। इस कारण उस प्रकरणमें हमारे विवाद करनेसे क्या तात्पर्य है ? अर्थात्—झगडा बढानेसे हमें कुछ नया पदार्थ साध्य नहीं करना है। जो ज्ञानकी विचित्रताका कारण हमें साध्य करना था, वह वैशेषिकोंने परिशेषमें प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया है।

स्याद्वादिनामपि हि चक्षुरप्राप्यकारि केषांचिदतिशयज्ञानभृतामृद्धिमतामस्मदाद्यगोचरं विप्रकृष्टस्वविषयपरिच्छेदकं तादृशं तदावरणक्षयोपशमविशेषसद्भावात्। अस्मदादीनां तु यथाप्रतीति स्वार्थप्रकाशकं स्वानुरूपतदावरणक्षयोपशमादिति सममदृष्टवैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यनिबंधनमुभयेषां। ततो न नयनाप्राप्यकारित्वं बाध्यते केनचित् घ्राणादिप्राप्यकारित्ववदिति न तदागमस्य बाधोस्ति येन बाधको न स्यात् पक्षस्य। तदेवं—

स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें भी नियमसे चक्षु अप्राप्यकारी है। हां, किन्ही किन्ही अतिशययुक्त ज्ञानको धारनेवाले और कोष्ठ, दूरात् विलोकन, आदि ऋद्धिवाले जीवोंकी तैसी योग सारिखी चक्षुयें तो उन ज्ञानोंको रोकनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षावरणके विशिष्ट क्षयोपशमका सद्भाव होनेसे उन विप्रकृष्ट स्वभाववाले स्वकीय विषयोंकी परिच्छेदक हो जाती हैं, जिन विषयोंको कि अस्मद् आदि जीवोंकी सामान्य चक्षुयें नहीं जान सकती हैं। यानी विशिष्ट क्षयोपशम होनेसे वैशेषिकोंके यहां योगियोंकी और हमारे यहां ऋद्धिमान् अतिशय ज्ञानी जीवोंकी चक्षुयें विप्रकृष्ट पदार्थोंको भी जान लेती हैं। हां, हम तुम आदि सामान्य जीवोंकी चक्षुयें तो जैसा जैसा अल्प, दूर, मोटे, लम्बे चौडे, अव्यवहित, पदार्थको देखतीं हैं, वैसा प्रतीतिके अनुसार अपने विषयका प्रकाशकपना चक्षुओंको अपने अपने अनुरूप उस चाक्षुषप्रत्यक्षावरणके क्षयोपशमसे अप्राप्त अर्थका प्रत्यक्ष करा देनापन मान लिया जाता है। यह चाक्षुषप्रत्यक्ष अपनेको और स्वविषयको जान जाता है। इस प्रकार ज्ञानकी विचित्रताका कारण अदृष्टवैचित्र्य दोनों वादी-प्रतिवादियोंके यहां समान है। तिस कारण नेत्रोंका अप्राप्यकारीपना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो पाता है, या किसी भी वादी पण्डित करके बाधित नहीं किया जा सकता है। जैसे कि नासिका, रसना आदि इन्द्रियोंका प्राप्यकारीपना अबाधित है, इस प्रकार हमारे चक्षुको अप्राप्यकारी कहनेवाले " अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं " उस आगमकी बाधा नहीं आती है, जिससे कि हमारा आगमप्रमाण तुम्हारे चक्षुके प्राप्यकारित्वको सिद्ध करनेवाले अनुमानका बाधक नहीं होवे। अर्थात्—हमने दसवीं कारिकामें चक्षुके प्राप्यकारीपनका बाधक जो आगमप्रमाण बताया था, वह सिद्ध कर दिखा दिया है। तब तो इस प्रकार यह सिद्धान्त बना कि—

प्रत्यक्षेणानुमानेन स्वागमेन च बाधितः।
पक्षः प्राप्तिपरिच्छेदकारि चक्षुरिति स्थितः॥ ७५॥

कालात्ययापदिष्टश्च हेतुर्बाह्येंद्रियत्वतः ।
इत्यप्राप्तार्थकारित्वे घ्राणादेरिव वांछिते ॥ ७६ ॥

आठवीं वार्त्तिकके अनुसार चक्षु इन्द्रिय (पक्ष) भी दूरवर्ती अर्थका परिच्छेद करानेवाली है (साध्य) इस ढंगका वैशेषिकोंका प्रतिज्ञावाक्य तो प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमान प्रमाण तथा श्रेष्ठ युक्तिपूर्ण समीचीन आगमप्रमाणकरके बाधित कर दिया गया सिद्ध हो चुका है। ऐसी दशामें वैशेषिकों द्वारा प्रयुक्त किया गया " बाह्य इन्द्रियपना होनेसे " यह हेतु बाधित हेत्वाभास है, यानी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों करके चक्षुका अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो जानेपर पीछे कालमें वह हेतु प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार घ्राण आदिकके समान इस दृष्टान्तसे प्राप्यकारिताको वांछायुक्त इष्टसाध्य करनेपर बोला गया बाह्य इन्द्रियत्व हेतु बाधित है। क्योंकि तीन प्रमाणोंसे चक्षुमें अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो चुका है।

न हि पक्षस्यैवं प्रमाणबाधायां हेतुः प्रवर्तमानः साध्यसाधनायालमतीतकालत्वादन्यथातिप्रसंगात् ।

वैशेषिकोंके पक्षकी इस प्रकार प्रमाणोंसे बाधा हो चुकनेपर फिर प्रवर्त रहा हेतु तो साध्यको साधनेके लिए समर्थ नहीं है। क्योंकि हेतु अतीत काल है। साधनकालके बीत जानेपर बोला गया है। अन्यथा यानी प्रमाणोंसे अप्राप्यकारित्वके सिद्ध हो चुकनेपर पीछे बोला गया हेतु भी यदि अपने साध्य प्राप्यकारीपनको साध लेगा तो नियत व्यवस्थाओंका उल्लंघन करनारूप अतिप्रसंग-दोष हो जावेगा। अर्थात्—अग्नि शीतल है, मिश्री मीठी नहीं है, सूर्य स्थिर है, परमाणुयें नहीं है, धर्मसेवन करना परलोकमें दुःखका कारण है, स्वर्ग, नरक आदि नहीं है, इत्यादि प्रतिज्ञायें भी सिद्ध हो जावेंगी। प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकनेपर लट्ठपांडोंकी भांति मनमानी, घरजानी चलाना अनीति है।

एतेन भौतिकत्वादिसाधनं तत्र वारितं ।
प्रत्येतव्यं प्रमाणेन पक्षबाधस्य निर्णयात् ॥ ७७ ॥

इस उक्त कथनकरके भौतिकपना, करणपना आदि हेतु भी उस चक्षुको प्राप्यकारित्व साधनेमें निवारण कर दिये गये (किये जा चुके) समझ लेने चाहिये। क्योंकि प्रमाणोंकरके पक्षकी बाधा हो जानेका निर्णय हो रहा है।

प्राप्यकारि चक्षुर्भौतिकत्वात्करणत्वात् घ्राणादिवदित्यत्र न केवलं पक्षः प्रत्यक्षादिबाधितः । कालात्ययापदिष्टश्चेद्धेतुः पूर्ववदुक्तः । किं तर्ह्यनैकांतिकश्चेति कथयन्नाह ।

वैशेषिक अन्य अनुमानोंको बनाते हैं कि (१) चक्षु (पक्ष) प्राप्यकारी है (साध्य) भूतोंका विकार होनेसे (हेतु) घ्राण इन्द्रियके समान (दृष्टान्त) (२) चक्षु (पक्ष) प्राप्यकारी है (साध्य) द्रव्यका साधकतम होनेसे (हेतु) घ्राण आदि यानी नासिका, रसना, त्वचा, श्रोत्रके समान [अन्वयदृष्टान्त] वैशेषिकोंके यहां पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच द्रव्यभूत पदार्थ माने गये हैं। बहिरंग इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य विशेषगुणोंको धारनेवाले द्रव्य भूत कहे जाते हैं। तिनमें पृथ्वीसे घ्राण इन्द्रिय बनती है। जलसे रसना इन्द्रिय उपजती है। चक्षु इन्द्रिय तेजोद्रव्यका विकार है। त्वचा इन्द्रिय वायुका विवर्त है। श्रोत्र आकाशस्वरूप है, जब कि भौतिक चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं तो चक्षु भी प्राप्यकारी होनी चाहिये। घ्राण आदिके समान चक्षु भी ज्ञानका करण है। इस प्रकार वैशेषिकोंके इन अनुमानोंमें पक्ष यानी प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधित है। अतः पूर्वके बाह्य इन्द्रियत्व हेतुके समान भौतिकत्व और करणत्व, हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। केवल इतना ही कहा गया होय यही नहीं समझना। तब और क्या समझा जाय ? इसका उत्तर यही है कि उक्त हेतु व्यभिचारी भी हैं, इस बातका कथन करते हुये आचार्य वार्तिकद्वारा स्पष्ट परिभाषण करते हैं।

अयस्कांतादिना लोहमप्राप्याकर्षता स्वयं।
अनैकांतिकता हेतोर्भौतिकार्थस्य बाध्यते ॥ ७८ ॥

लोहको स्वयं नहीं प्राप्त होकर दूरसे आकर्षण करनेवाले अयस्कांत या चुम्बक और तृण, पत्ता आदिको अतिदूरसे खेंचनेवाले मोरपंख, अथवा भीतर अपनी ओर खेंचनेवाली वायु आदि करके हेतुका व्यभिचारीपना है। अतः भौतिक अर्थका प्राप्यकारीपना बाधित हो जाता है। अथवा " भौतिकत्वस्य भाव्यते " ऐसा पाठ होनेपर यों अर्थ करना कि भौतिकत्व हेतुका अयस्कांत आदि करके व्यभिचारीपना भावित किया जाता है। भौतिकत्व हेतुके अयस्कांत आदि करके आये हुये व्यभिचारको ही अग्रिम ग्रन्थद्वारा पुष्ट किया जा रहा है।

कायांतर्गतलोहस्य बहिर्देशस्य वक्ष्यते।
नायस्कांतादिना प्राप्तिस्तत्करैर्वोक्तकर्मणि ॥ ७९ ॥

भूल हो जानेपर कभी कभी सानी या भुसके साथ सुई या छोटी कील खाई जाकर भैंस, बलधके पेटमें चली जाती है। चतुरपुरुष उनके शरीरपर चुम्बक पत्थर फेरते हैं। जहां सुई होती है, उसी स्थानसे चुम्बक पाषाण उसको बाहर खींच लेता है। प्रकरणमें यह कहना है कि भैंस, महिष, बैल आदिके शरीरमें भीतर सुई, कील, आदिक लोह प्राप्त होगया है। बाहर देशके [में] रखे हुये अयस्कान्त, चुम्बकपाषाण, आदिके साथ उस लोहेका सम्बन्ध नहीं है तथा उक्त

आकर्षणक्रिया करनेमें उन अयस्कान्त आदिकी किरणोंकरके भी लोहके साथ चुम्बककी प्राप्ति नहीं हुई है। अत भौतिकत्व हेतु व्यभिचारी है। इस बातको हम और भी अग्रिम ग्रन्थोंमें स्पष्ट कह देंगे।

यथा कस्तूरिकाद्रव्ये वियुक्तेपि पटादितः।
तत्र सौगंध्यतः प्राप्तिस्तद्गंधाणुभिरिष्यते ॥ ८० ॥
अयस्कांताणुभिः कैश्चित्तथा लोहेपि सेष्यतां।
विभक्तेपि ततस्तत्राकृष्ट्यादेर्दृष्टितस्तदा ॥ ८१ ॥
इत्ययुक्तमयस्कांतमप्राप्तं प्रति दर्शनात्।
लोहाकृष्टेः परिप्राप्तास्तदंशास्तु न जातुचित् ॥ ८२ ॥

कोई प्रतिवादी कह रहे हैं कि पट, पत्र (कागज) आदिकसे कस्तूरी, इत्र, हींगडा आदि द्रव्यके वियुक्त होनेपर भी उन पट आदिकोंमें सुगन्धपना हो जानेके कारण जैसे उन कस्तूरी आदिककी फैली हुई गन्ध परिमाणुओंके साथ प्राप्ति [सम्बन्ध] इष्ट की जाती है, उसी प्रकार लोहेमें भी अयस्कांत चुम्बककी किन्ही किन्ही अणुयें या छोटे छोटे स्कन्धोंके साथ वह प्राप्ति मान लेनी चाहिये। तभी तो उस चुम्बकसे विभक्त होते हुए भी उस लोहेमें उस समय आकर्षण आदि कर्म देखे जाते हैं। भावार्थ—कस्तूरी, केवडा, आदिकी गन्धसे कुछ दूर पडे हुये भी वस्त्र आदिमें उन सुगन्धी पदार्थोंके छोटे स्कन्धोंका सम्बन्ध हो जानेके कारण सुवासना उत्पन्न हो जाती मानी गयी है। उसीके समान चुम्बक पाषाणके फैलनेवाले छोटे छोटे स्कन्धोंद्वारा लोहकी प्राप्ति हो जाने पर ही लोहका आकर्षण हो सकता है, अन्यथा नहीं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी प्रतिवादीका कहना तो अयुक्त है। क्योंकि दूरसे खेंचनेवाले, असम्बन्धित हो रहे, अयस्कांत चुम्बकके प्रति (की ओर) लोहका आकर्षण हो रहा देखा जाता है। चारो ओरमें किसी भी ओरसे प्राप्त हो रहे उस अयस्कांतके अंश तो कभी भी नहीं देखे जाते हैं। जो कदाचित् भी प्रत्यक्ष गोचर नहीं हो रहा है, उसका मानना अयुक्त है।

यथा कस्तूरिकाद्यर्थं गंधादिपरमाणवः।
स्वाधिष्ठानाभिमुख्येन तान्नयंति पटादिगाः ॥ ८३ ॥
तथायस्कांतपाषाणं सूक्ष्मभागाश्च लोहगाः।
इत्यायातमितोप्राप्तायस्कांतो लोहकर्मकृत् ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार कि गन्धद्रव्य या अतिकटु पदार्थ आदिके परमाणुमें वा छोटे छोटे स्कन्ध अपने आधारभूत गन्धवान् पदार्थकी ही अभिमुखता करके पट आदिकमें प्राप्त हो रहे सन्ते कस्तूरी आदि अर्थको उन पट आदिमें ले जाते हैं। अर्थात्—सुगन्ध आदिके सूक्ष्म अवयव दूर पडे हुये भी सुगन्धीद्रव्यको पट आदिके साथ जोड देते हैं। जैसे कि एक बिलस्त दूर रखी ज्वाला-युक्त अग्निके छोटे छोटे भाग खुले हुये पेट्रोल तेलसे चुपटकर उसी अग्निके द्वारा पैट्रोलको भभका देते हैं, अथवा दूरपर कूटी जा रही, खटाई या सुन्दरव्यंजनोंके छोटे छोटे कण मुंहतक फैलकर मुंहमें लार टपका देते हैं, उसी प्रकार तो लोहमें प्राप्त हो रहे छोटे छोटे भाग अयस्कांत पाषाणको आया हुआ नहीं प्रसिद्ध कर रहे हैं। इस कारणसे सिद्ध होता है कि लोहके साथ सम्बन्धित नहीं हो रहा अयस्कांत पाषाण ही लोहके आकर्षणकर्मको कर रहा है। भावार्थ—कस्तूरीके परमाणुओंकी अपने अधिष्ठानके अनुसार वस्त्रमें प्राप्ति हो रही देखी जाती है। किन्तु चुम्बकके सूक्ष्मभागोंका अपने अधिष्ठानके आश्रित होकर निकट जाना नहीं प्रतीत हो रहा। अतः अप्राप्यकारी मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है।

ननु यथा हरीतकी प्राप्य मलमंगाद्विरेचयति तथायस्कांतपरमाणवः शरीरांतर्गतं शल्यं प्राप्याकर्षंति शरीरादिति मन्यमानं प्रत्याह।

पुनः यहां व्यंग्यसे चक्षुका प्राप्यकारित्व सिद्ध कर रहे किसीकी शंका है कि जिस प्रकार बडी हर्ड हाथ या पेटमें प्राप्त होकर शरीरके सभी अंग उपांगोंसे मलका विशेषरूपसे रेचन (हंगना) करा देती है। अर्थात्—बहुतसे पौद्गलिक पदार्थोंके अंश सर्वदा यहां वहां फैलते रहते हैं। उनके संसर्ग अनुसार पदार्थोंमें अनेक नैमित्तिक या औपादानिक विपरिणाम हो जाते हैं। हर्डके छोटे छोटे अवयव शरीरमें सर्वत्र फैलकर मलको प्राप्त होकर गुदद्वारसे बाहर निकाल देते हैं। तिसी प्रकार चुम्बक पाषाणके परमाणुयें भी प्राप्त होकर शरीरके भीतर प्रविष्ट हो गयी सलाई, सूई, कीलको प्राप्त होकर शरीरसे बाहर खींच लेते हैं। इस प्रकार मान रहे प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज समाधान कहते हैं।

प्राप्ता हरीतकी शक्ता कर्तुं मलविरेचनं।
मलं न पुनरानेतुं हरीतक्यंतरं प्रति॥ ८५॥

मलको प्राप्त होकर हर्ड मलका विरेचन करनेके लिये तो समर्थ है। किन्तु फिर उस मलको अन्य हर्डके प्रति लानेके लिये समर्थ नहीं है। अर्थात्—हाथ या पेटमें रखी हुयी हरीतकी अपने सूक्ष्म कणोंकरके शरीरमें फैले हुये मलके पास पहुंच गयी है, यह मान भी लिया जाय किन्तु पेटमें रखी हुयी अन्य हरीतकीके प्रति उस फैले हुये मलको प्राप्त नहीं करा सकेगी। व्यवहारमें ऐसा देखा जाता है कि चारो ओरसे मल एकत्रित होकर पेटमें आ जाता है, और गुदद्वारसे निकल

जाता है। अतः शरीरमें चारों ओर जाकर मलको खेंच खेंचकर लाना हर्डका कार्य नहीं है। बात यह है कि पेटमें या हाथमें रखी हुयी हरीतकी मलको नहीं प्राप्त होकर भी दूसरे ही मलको मलाशयमें पहुंचाकर रेचना करा देती है। तथैव चुम्बक पाषाण भी लोहका आकर्षण करा देता है, तब तो चक्षुका अप्राप्यकारीपन सिद्ध हो गया। प्राप्तिका ही एकान्त रखना प्रशस्त नहीं है। आचार्य महाराजने भी व्यङ्ग्यसे चक्षुका अप्राप्यकारित्व साधदिया है।

तर्हि यथाननान्निर्गतो वायुः पद्मनालादिगः प्राप्य पानीयमाननं प्रत्याकर्षति तथा-यस्कांतांतरगाः परमाणवो बहिरवस्थितायस्कांतावयविनो निर्गताः प्राप्य लोहं तं प्रत्येवा-कर्षतीति शंकमानं प्रत्याह।

अन्योक्ति द्वारा चक्षुके अप्राप्यकारित्वको साधनेकी अभिलाषा रखता हुआ कोई पंडित अन्य दृष्टान्त देकर चुम्बकका प्राप्यकारीपना साध रहा है कि तब तो मुखसे निकल चुकी वायु जैसे कमलनाल या यवनाल अथवा बांसकी पमोली आदिमें प्राप्त हो रही संती ही सम्बन्धित हो रहे जल ठंडाई, दूध, घूंआं, आदि पीने योग्य पदार्थको मुखद्वारके प्रति आकर्षण करती है, तिसी प्रकार अयस्कांतके अन्तरंग परमाणुयें या चुम्बक और लोहेके अन्तरालमध्यमें पडे हुये चुम्बक परमाणुयें ही बाहिर स्थिर हो रहे अयस्कांत अवयवीसे निकलते सन्ते ही शरीरके भीतर लोहेको प्राप्त होकर उस लोहेको चुम्बक अवयवीके प्रति खेंच लेते हैं। इस प्रकार शंका करते हुये प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं।

आकर्षणप्रयत्नेन विनाननकृतानिलः।
पद्मनालादिगोंभांसि नाकर्षति मुखं प्रति ॥ ८६ ॥

चक्षुके अप्राप्यकारित्वको सिद्ध करनेमें स्याद्वादियोंकी ओरसे दिये गये अयस्कांत दृष्टान्तको पद्मनालकी वायुका दृष्टान्त देकर बिगाडना ठीक नहीं है, अथवा भौतिकत्व हेतुका अयस्कांत करके हुये व्यभिचारदोषका निवारण यवनालकी वायुसे नहीं हो सकता है। क्योंकि मुखसे की गयी वायु कमलनली आदिमें प्राप्त हो रही भी आकर्षण प्रयत्नके विना जलोंको मुखके प्रति नहीं खेंच सकती है। भावार्थ—मुखकी वायुके छोटे भाग पद्मनालमें होकर जलके साथ चुपट रहे तुम्हारे कहनेसे मान भी लिये जांय किन्तु उस प्राप्त हुए जलका मुखकी ओर खेंचना भला प्रयत्नके विना कैसे हो सकता है? वस्तुतः यह विज्ञानयुक्त दीखता है कि मुखमें ही स्थिर हो रही वायु आकर्षण प्रयत्नकरके दूरस्थित अप्राप्त जलको खींच लेती है। अतः यह आकर्षण वायुका दृष्टान्त उलटा चक्षुके अप्राप्यकारित्वको पुष्ट करता है। खींचते समय मुखवायुका बाहिर निकलना नहीं अनुभूत-होता है। हां, बाहरसे वायु, जल, तृण, आदिक वहीं मुखवायुसे ही आकर्षण द्वारा खेंच लिये जाते देखनेमें आ रहे हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तर्हि पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षा यथादित्यरश्मयः प्राप्य भूगतं तोयं तमेव प्रति नयंति तथायस्कांतपरमाणवोपीत्यभिमन्यमानं प्रत्याह ।

पुनः वैशेषिक चुम्बकपाषाणस्वरूप व्यभिचारस्थलको बिगाडनेका निंद्य प्रयत्न करते हैं कि उक्त प्रकारसे नहीं सही, तब तो यों सही कि सूर्यकी किरणें पुरुषके प्रयत्नकी नहीं अपेक्षा रखती हुयीं ही जिस प्रकार पृथ्वीमें प्राप्त हो रहे जलको संपूर्णकर उस सूर्यके प्रति ही ले जातीं (मगा लेती) हैं, उसी प्रकार अयस्कांतकी परमाणुयें भी प्राप्त होकर लोहको अपने निकट खेंच लेती हैं । इस प्रकार अभिमानपूर्वक स्वीकार कर रहे प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं, सो सुनो ।

सूर्यांशवो नयंत्यंभः प्राप्य तत्सूर्यमंडलं ।
चित्रभानुत्विषो नास्तमिति स्वेच्छोपकल्पितम् ॥ ८७ ॥

सूर्यकी किरणें पृथ्वीपर नीचे उतरकर जलको प्राप्त होकर फिर उस सम्बन्धित जलको सूर्यमंडलके प्रति प्राप्त करा देती हैं, ऐसा तुम मानते हो । किन्तु वे सूर्यकिरणें अस्ताचलको प्राप्त हो रहीं सूर्यमंडलके प्रति खेंच कर नहीं प्राप्त करा देती हैं । यह तो अपनी इच्छासे चाहे जो गढ लिया गया विज्ञान है । बात यह है कि सूर्यकिरणें भी सूर्यमें ही बैठी हुयीं होकर हजारों कोस दूर पडे हुये असम्बन्धित जलको खेंच लेती हैं । वह जल शुष्क हो जाय या बादल बनकर बरस जाय अथवा अन्य पौद्गलिक वायु आदि पदार्थरूप परिणत हो जाय यह निमित्त मिलनेके अधीन होने वाली व्यवस्था है । जैनसिद्धान्त अनुसार किसी भी द्रव्यके गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रभाव, किरणें उस द्रव्यसे बाहर प्रदेशोंमें नहीं फैल सकते हैं । अग्निकी लपटें अग्निमें ही रहती हैं । अग्निके निकट वर्त रहे पौद्गलिक पदार्थ उस अग्निके निमित्तसे अत्युष्ण या चमकीले हो गये हैं । व्यवहारी जन कदचित् उपचारसे उसको भी अग्नि कह देते हैं । वस्तुतः अग्नि अपने ही द्रव्यशरीरमें है । उसी प्रकार सूर्य या दीपककी किरणें सूर्य या दीपकलिकादेशसे एक अणु बराबर भी बाहर नहीं जाती हैं । भला द्रव्यके गुण, स्वभाव, शक्तियां, प्रभाव, विना आश्रयके बाहर जावें भी तो आश्रय विना केवल कैसे रह सकते हैं ? भ्राताओ ! सूर्य स्वयं चमकीला पदार्थ है । उसके नीचे या चारों ओर हजारों कोसतक फैल रहे अन्य पुद्गलस्कन्धोंका ही चाकचक्ययुक्त परिणाम हो गया है । यदि इन्द्र या ऋद्धिधारी योगी सूर्यके निकटवर्ती (आसपासके) पुद्गल स्कन्धोंको निकालकर स्थान खाली करदे तो सूर्यका प्रकाश यहां कथमपि नहीं आसकता है । किन्तु यह सम्पूर्ण पुद्गलोंका निकाल देना असम्भव है । यही दीपककी किरणोंमें व्यवस्था करना अर्थात्—दीपकका निमित्त पाकर इतस्ततः फैले हुये अन्य चमकने-योग्य पुद्गल ही चमकदार परिणत हो जाते हैं । प्रकाश, उद्योत, प्रभा, दीप्तिका निमित्तकारण न मिलनेपर वे अन्य पुद्गल काले रंगके होकर अन्धकाररूप परिणत हो जाते हैं ।

शुक्ल वस्त्रोंको काजल शीघ्र काला कर देता है। किन्तु काला अन्धेरा शनैः शनैः पदार्थोंको काला अथवा पीला आदि रंगका बना देता है। काले अन्धेरेसे काला ही पदार्थ रंगा जाय, या रंगा ही जाय यह कोई नियम नहीं है। देखो! सूर्यके शुक्ल आलोकसे कोई पदार्थ नीला, कोई पीला, कोई काला आदि रंगवाले परिणम जाते हैं। कोई वैसे ही रूपमें बने रहते हैं। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अचिन्त्य है। न जाने कैसेसे अन्य कैसा ही पदार्थ बन जाय, कोई आश्चर्य नहीं। अन्धकार दूसरोंका रंग, रस, गन्ध, नहीं बदले तो भी कोई सिद्धान्त नहीं बिगडता है। सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो अन्धकार और प्रकाशमें धरे हुये पदार्थोंके परिणाम न्यारे न्यारे हैं। पशु, पक्षी, बालक अण्डा, या अन्य खाद्य, पेय, फूल फल, अङ्कुर, आदिकी परिणतियां अंधेरे या उजीतेमें भिन्न भिन्न हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि सूर्यकिरणें अप्राप्त होकर भी जलकी सूर्यमण्डलकी ओर आकर्षण शक्तिके अनुसार खींच लेती हैं। अतः उक्त प्रतिवादियोंकी ओरसे दिये गये दृष्टान्त हमारे अप्राप्यकारीपनके अनुकूल ही पडे हैं। दूरवर्ती अप्राप्त पदार्थका प्रतिबिम्ब दर्पण ले लेता है। यंत्र, तंत्र, दूरसे बैठे हुये ही कार्य करते रहते हैं। तथैव चक्षु भी अयस्कांतवत् दूरसे स्पर्शकारी है।

निःप्रमाणकमुदाहरणमाश्रित्यायस्कांतस्य प्राप्यकारित्वं व्यवस्थापयन् कथं न स्वेच्छाकारी ? तदागमात्सिद्धमिति चेन्न, तस्य प्रत्यागमेन सर्वत्र दृष्टेष्टाविरुद्धेन प्रमाणतामात्मसात्कुर्वता प्रतिहतत्वात् स्वयं युक्त्यननुगृहीतस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमाच्च न ततस्तत्सिद्धिः यतोयस्कांतस्य प्राप्यकारित्वासिद्धौ तेनानैकांतिकत्वं भौतिकत्वस्य न स्यात्।

प्रमाणोंके आघातको नहीं सहनेवाले हर्र आदि अप्रमाणीक उदाहरणोंका आश्रय लेकर अयस्कांतचुम्बकके प्राप्यकारीपनकी व्यवस्था कराता हुआ वृद्धवैशेषिक अपने मनमाने इच्छापूर्वक कार्यको करनेवाला क्यों नहीं समझा जायगा ? जो मनमानी अयुक्त बातें गढा करता है, वह खिलाडी छोकरेके समान किसी भी निर्णीत पदार्थकी व्यवस्थाको नहीं करा सकता है। यदि प्रतिवादी यों कहें कि उस वैशेषिकके माने हुये आगमसे चुम्बकपाषाणका प्राप्यकारीपना सिद्ध है। आचार्य कह रहे हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे अयुक्तआगमके प्रतिकूल हो रहे और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सर्वत्र अविरुद्ध होनेके कारण प्रमाणपनेको अपने अधीन करनेवाले श्रेष्ठ आगमकरके उस वैशेषिकोंके आगमका पूर्वप्रकरणमें प्रतिघात कर दिया जा चुका है। और जो आगम स्वयं युक्तियोंसे अनुग्रह प्राप्त नहीं हो रहा है, उसको प्रमाणपना स्वीकृत नहीं किया गया है। अन्यथा झूठी गप्पाष्टक, कहानियां और किम्वदन्तियोंको भी प्रामाण्य आजायगा। तिस कारण उन हर्र, मुखवायु, सूर्यकिरण, विना तारका तार आदि दृष्टान्तोंसे उस प्राप्यकारीपनकी सिद्धि नहीं हो पाती है, जिससे कि अयस्कांतका प्राप्यकारीपना सिद्ध हो जानेपर उस अयस्कांतकरके भौतिकत्वहेतुका अनैकान्तिक हेत्वाभासपना न होय। अर्थात्—भौतिकत्व हेतु अयस्कांतकरके व्यभिचारी है, जो कि हमने अठत्तरवीं वार्तिकमें कहा था। सभी पौद्गलिक पदार्थ प्राप्त होकर ही आकर्षण आदि क्रियाओंको करावें,

यह आग्रह प्रशस्त नहीं है। तीर्थंकर महाराजके जन्मकल्याणके समय दूरवर्ती अनेक स्थानोंपर घंटानाद, सिंहनाद, आसनकम्प आदि होने लग जाते हैं। पचासों कोस दूर बैठे हुये इष्टजनकरके स्मरण किये जानेपर कदाचित् आंख लैकना, अंगूठा खुजाना आदि क्रियायें हो जाती हैं। ऋतु-परिवर्तनके अवसरपर दूरवर्ती निमित्तोंसे न जाने कैसे कैसे नैमित्तिक भाव प्राप्तिके विना ही होते रहते हैं। यों अठत्तरमीं कारिकासे प्रारम्भ कर भौतिकत्व हेतुका अयस्कान्त आदिकरके आये व्यभिचार दोषको यहांतक पुष्ट कर दिया है।

तथैव करणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता।
मंत्रेण च भुजंगाद्युच्चाटनादिकरेण वा ॥ ८८ ॥

तिस ही प्रकार करणत्व-हेतुका भी मन इन्द्रिय और सर्प, सिंह, स्त्री, शत्रु आदिके उच्चाटन, निर्विषीकरण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्वेषण आदिको करनेवाले मंत्रकरके व्यभिचारीपना आता है। अर्थात्–भौतिकत्व हेतुके समान करणत्वहेतु भी मन और मंत्र करके व्यभिचारी है।

शब्दात्मनो हि मंत्रस्य प्राप्तिर्न भुजगादिना।
मनागावर्तमानस्य दूरस्थेन प्रतीयते ॥ ८९ ॥

बार बार घुमाकर बोले जा रहे या थोडा भी नहीं घट बढ रहे शब्दस्वरूप मंत्रकी दूरदेश में स्थित हो रहे सर्प आदिके साथ प्राप्ति तो थोडी भी नहीं प्रतीत हो रही है। किन्तु मन या मंत्र ये करण तो अवश्य हैं। प्रौद्गलिक मंत्र तो भौतिक भी है। हां, मनको वैशेषिकोंने मूर्तोंमें गिनाया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन ये पांच पदार्थ अपकृष्ट परिमाणवाले होनेसे मूर्तद्रव्य माने गये हैं। वैशेषिकोंने शब्दस्वरूप मन्त्रको गुणपदार्थ माना है।

प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद्दात्रादिवदित्यत्राप्यंशतः सर्वान् प्रत्युद्योतकरेणोक्तो हेतुरनैकांतिको मनसा मंत्रेण च सर्पाद्याकृष्टिकारिणा प्रत्येयः पक्षश्च प्रमाणबाधितः पूर्ववत्।

चक्षु (पक्ष) दृश्यविषयके साथ सम्बन्ध कर उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष करानेवाली है (साध्य) करणपना होनेसे (हेतु) हंसिया, गंडसा, छुरिका आदिके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकारके यहां अनुमानमें एक एक अंशसे सभी इन्द्रियोंके प्रति या सम्पूर्ण वादियोंके प्रति वैशेषिकोंके प्रशस्त-पादभाष्यपर टीका रचनेवाले उद्योतकर विद्वान्करके कहा गया करणत्व हेतु तो मन और सर्प आदिका आकर्षण करनेवाले मंत्रकरके व्यभिचारी है। ऐसा विश्वाससहित निर्णय कर लेना चाहिये। मन और मंत्र दोनों प्राप्त नहीं होकर दूरसे ही कार्य करते रहते हैं। दूसरी बात यह है कि उद्योत-कर पण्डितके इस अनुमानका पक्ष विचारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमप्रमाणोंसे बाधित भी है।

जैसे कि पहिले बाह्य इन्द्रियत्व हेतुद्वारा उठाया गया अनुमान आठवीं वार्तिकमें बाधाग्रस्त कर दिया गया है ।

तदेवं चक्षुषः प्राप्यकारित्वे नास्ति साधनं ।
मनसश्च ततस्ताभ्यां व्यंजनावग्रहः कुतः ॥ ९० ॥

तिस कारण इस प्रकार चक्षु और मनका प्राप्यकारीपना सिद्ध करनेमें नैयायिक या वैशेषिकोंके यहां कोई समीचीन ज्ञापक हेतु नहीं है । मनके प्राप्यकारीपनको तो वे प्रथमसे ही इष्ट नहीं करते हैं । तिस कारण उन चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह कैसे हो सकता है ? अर्थात् कथमपि नहीं । अतः " न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् " यह सूत्र युक्त है ।

यत्र करणत्वमपि चक्षुषि प्राप्यकारित्वसाधनाय नालं च तत्रान्यत्साधनं दूरोत्सारितमेवेति मनोवदप्राप्यकारि चक्षुः सिद्धं । ततश्च न चक्षुर्मनोभ्यां व्यंजनस्यावग्रह इति व्यवतिष्ठते ।

जहां चक्षुके प्राप्यकारित्वकी साधनेमें वैशेषिकोंद्वारा अव्यर्थ, रामबाणके समान मान लिया गया करणत्व हेतु भी जब चक्षुमें प्राप्यकारित्वको साधनेके लिये समर्थ नहीं है तो फिर वहां कोई अन्य दूसरे भौतिकत्व, बाह्य इन्द्रियत्व, आसन्नप्रकाशकत्व, विप्रकृष्टार्थग्राहकत्व हेतु तो दूर ही फेंक दिये गये, ऐसा समझ लेना चाहिये । चक्षुकिरणोंका दूर फेंकना तो दूर रहा, किन्तु लगे हाथ प्राप्यकारित्वको साधनेवाले हेतु ही हेत्वाभास बनाकर बहिष्कृत कर दिये गये हैं । अतः मनके समान चक्षु इन्द्रिय भी अप्राप्यकारी सिद्ध हो चुकी और तिस कारण चक्षु और मनकरके अस्पष्ट व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है । इस प्रकार श्रीउमास्वामी महाराजका सूत्र निर्दोष व्यवस्थित हो जाता है ।

दूरे शब्दं शृणोमीति व्यवहारस्य दर्शनात् ।
श्रोत्रमप्राप्यकारीति केचिदाहुस्तदप्यसत् ॥ ९१ ॥
दूरे जिघ्राम्यहं गंधमिति व्यवहृतीक्षणात् ।
घ्राणस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिरिष्टहानितः ॥ ९२ ॥

दृश्य और स्वसम्वेद्य, आत्मस्थ, पदार्थोंको स्पष्ट जाननेवाले चक्षु और मनको अप्राप्यकारित्वका पुरस्कार प्राप्त हो चुकनेपर दाल भातमें मूसर डालनेकी नीतिका अवलम्ब लेकर कोई महाशय श्रोत्रको भी अप्राप्यकारित्वका पारितोषिक दिलाना चाहते हैं । वे अनुमान बनाते हैं कि दूर क्षेत्रमें पडे हुये शब्दको मैं सुन रहा हूं, इस प्रकार व्यवहारके देखनेसे (हेतु) श्रोत्र इन्द्रिय (पक्ष)

अप्राप्यकारी है (साध्य) इस प्रकार जो कोई मीमांसक महाशय कह रहे हैं, वह कहना भी सत्य नहीं है। क्योंकि यों तो दूरदेशमें स्थित हो रही गन्धको मैं सूंघ रहा हूं, इस प्रकार होता हुआ व्यवहार भी देखा है (हेतु)। अतः नासिकाको (पक्ष) अप्राप्यकारीपना (साध्य) सिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा और तब तो इष्टसिद्धान्तकी हानि हो जायगी। नासिकाका अप्राप्यकारीपना तो वादीप्रतिवादी दोनोंने भी अभीष्ट नहीं किया है। अतः श्रोत्रका अप्राप्यकारीपन सिद्ध करना प्रशस्त नहीं है। मन इन्द्रिय मतिज्ञानद्वारा धर्म, अधर्म द्रव्य आदिको भी परोक्ष जानलेती है। " श्रुतमनिन्द्रियस्य " इस सिद्धान्त अनुसार मन अत्यन्त परोक्ष पदार्थोंको भी विषय करने वाला माना है। किन्तु वह अप्राप्यकारी है।

गंधाधिष्ठानभूतस्य द्रव्यप्राप्तस्य कस्यचित्।
दूरत्वेन तथा वृत्तौ व्यवहारोत्र चेन्नृणाम् ॥ ९३ ॥
समं शब्दे समाधानमिति यत्किंचिदेदृशं।
चोद्यं मीमांसकादीनामप्रातीतिकवादिनाम् ॥ ९४ ॥

प्रकृष्ट गन्धवाले द्रव्यको अधिष्ठानभूत मानकर उसकी वासनासे वासित हो रहे किसी दूरवर्ती प्राप्त हो रहे द्रव्यका ही सम्बन्ध हो जानेपर दूरपनेसे तिस प्रकारके ज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है और तैसा होनेपर मनुष्योंके इस गन्धमें दूरवर्ती गन्धको जानलेनेका व्यवहार हो जाता है। अर्थात्—मूल प्रकृष्ट गन्धयुक्त—द्रव्यकी गन्धसे सुवासित पौद्गलिकपदार्थका सम्बन्ध होनेपर ही घ्राण इन्द्रिय सूंघती है। इस प्रकार कहनेपर तो शब्दमें भी वही समाधान सदृश है। यों प्रतीतिके अनुसार नहीं कहनेवाले मीमांसक, वैशेषिक, आदिकोंके द्वारा जो कोई भी ऐरे गैरे सकटाक्ष, प्रश्न उठाये जायेंगे, उनका समाधान गन्धद्रव्यके दृष्टान्तसे कर दिया जायगा। अथवा श्रोत्रपर दिये गये शंकासमाधान उसीके समान घ्राण इन्द्रियपर भी लागू हो जायेंगे।

कुड्यादिव्यवधानेपि शब्दस्य श्रवणाद्यदि।
श्रोत्रमप्राप्यकारीष्टं तथा घ्राणं तथेष्यतां ॥ ९५ ॥
द्रव्यांतरितगंधस्य घ्रातसूक्ष्मस्य तस्य चेत्।
घ्राणप्राप्तस्य संवित्तिः श्रोत्रप्राप्तस्य नो ध्वनेः ॥ ९६ ॥
यथा गंधाणवः केचिच्छक्ताः कुड्यादिभेदने।
सूक्ष्मास्तथैव नः सिद्धाः प्रमाणध्वनिपुद्गलाः ॥ ९७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भींति या झोंपडी आदिके व्यवधान होनेपर भी शद्वका श्रवण होता है (हेतुः) अतः श्रोत्र (पक्ष) यदि अप्राप्यकारी (साध्य) इष्ट किया जा रहा है, तब तो नासिका इन्द्रिय भी तिस प्रकार अप्राप्यकारी इष्ट कर लिया जावे। भींति और प्रासाद पंक्तियोंका व्यवधान होते हुये भी सडी हुयी नालियों, हींग, लहसुन, प्याजके छोंककी गन्ध सूंघ ली जाती है। एतावता क्या घ्राण भी अप्राप्यकारी हो जायगी ! यदि तुम यों कहो कि भींति आदिसे व्यवहित हो रहे गन्ध-युक्त सूक्ष्मद्रव्यकी घ्राणके साथ प्राप्ति हो रहेकी ही सम्वित्ति होती है, अर्थात् जो सूंघे जा चुके हैं, वे गन्धद्रव्यके चारो ओर फैले हुये सूक्ष्म अंश ही हैं। कुछ भींति, छप्पर उनका व्यवधान नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार तुम्हारे कहनेपर तो हम स्याद्वादियोंके यहां भी कर्ण इन्द्रियके साथ सम्बन्धित हो रहे शद्वका ही श्रावणप्रत्यक्ष हुआ कहा जाता है। प्रथम ही दूरप्रदेशमें उत्पन्न हुये शद्वकी पौद्गलिक लहरें फैलतीं, फैलतीं, कानके निकट आ जाती हैं। कभी कभी पौद्गलिक शद्वोंके आनेमें एक, दो मिनट भी लग जाते हैं। हजार हाथ दूरपर धो रहे धोबीके मोंगरेका शद्व दस सैकिण्ड पीछे सुननेमें आता है। दो कोस दूरपर चल रही तोपकी, जलरही बारूदका प्रकाश दीख जानेके आधी मिनट पीछे तोपका शद्व सुनाई पडता है। छोटा मोटा व्यवधान शद्वको आधा चौथाई सुनाई आ जाने देता है। दूरपना और छोटे छोटे व्यवधान होते हुये भी शद्वकी लहरें बन्दूककी गोलीकी गतिके समान क्रमसे उत्पन्न होती जाती हैं। जैसे बन्दूककी गोली कुछ दूर जाकर वेगके मन्द हो जानेसे गिर पडती है। अथवा मध्यमें किसी कठोर पदार्थके साथ टकरा जानेसे आगे नहीं जा पाती है, वैसी ही शद्वरचनाकी व्यवस्था है। अतः गन्ध अणुओंके समान सूक्ष्म शद्वपुद्गल भी प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे हैं। गन्ध और शद्वपर शंकासमाधान एकसा है। जिस प्रकार कितनी ही गंधपरमाणुयें भींत आदिको छेदने भेदनेमें समर्थ हैं, उस ही प्रकार हम स्याद्वादियोंके यहां शब्दस्वरूप सूक्ष्मपुद्गल भी प्रमाणोंसे सिद्ध हैं। पौद्गलिक शब्दोंकी गति भी प्रसिद्ध है।

पुद्गलपरिणामः शब्दो बाह्येंद्रियविषयत्वात् गंधादिवदित्यादि प्रमाणसिद्धाः शब्द-परिणतपुद्गलाः इत्यग्रे समर्थयिष्यामहे। ते च गंधपरिणतपुद्गलवत् कुड्यादिकं भित्वा स्वेंद्रियं प्राप्नुवंतः परिच्छेद्या इति न तेषामप्राप्तानामिंद्रियेण ग्रहणं।

शब्द (पक्ष) पुद्गलका परिणाम है (साध्य), बाह्य इन्द्रियका विषय होनेसे (हेतु), गन्ध, रस आदिके समान [अन्वय दृष्टांत] इत्यादिक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि पुद्गलद्रव्य ही शद्वस्वरूप पर्यायको धारती है। तभी तो फोनोग्राफ यंत्रकी चूडी या तवेमें पौद्गलिकशद्व–सम्बन्धित होकर निमित्त मिलानेसे प्रकट हो जाते हैं। विद्युत् शक्तिसे प्रेरे हुये और तारका आश्रय पाकर शद्वपुद्गल दूरतक चले आते हैं। तारके विना भी शद्व दौडते हैं। तीव्र शद्वोंसे कर्णइन्द्रियका आघात या धक्का लगना देखा जाता है। कानमें कूकू ऐसा महान् शद्व करनेसे

श्रोत्रको भारी चोट पहुंचती है। अत्यधिक तीव्र शब्दसे गर्भपात, गृहका फट जाना, पर्वत शिलापात, भी हो जाते हैं। अतः शब्द पौद्गलिक है। आकाशका अमूर्त गुण नहीं है, यह सिद्ध हो चुका। इस सिद्धान्तको अग्रिम पांचवें अध्यायमें और भी विस्तारके साथ समर्थन करा देवेंगे। यहां संक्षिप्त संकेतसे ही संतोष कर लेना चाहिये। तथा वे सूक्ष्म शब्दपुद्गल पदार्थ तो गन्धस्वरूप परिणमे पुद्गल द्रव्यके समान भींति, छप्पर, परकोटा, आदिको भेद कर अपनेको प्रत्यक्ष करनेवाली कर्ण इन्द्रियको प्राप्त हो रहे सन्ते ही जानने योग्य हैं। इस कारण अप्राप्त हो रहे पुद्गलोंका श्रोत्रइन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता है। कांच लगे हुये किवाडोंमेंसे वक्ताका मुख स्पष्ट दीखता है। किन्तु शब्द सुनाई नहीं पडते हैं। इसका कारण शब्दोंका काच भेद कर नहीं आना या स्वल्प आना है। अतः मीमांसक और नैयायिक वैशेषिकोंका शब्दके विषयमें मन्तव्य अच्छा नहीं है।

कथं मूर्ताः स्कंधाः श्रावणस्वभावाः कुड्यादिना मूर्तिमता न प्रतिहन्यंते इति चेत् तवापि वायवीया ध्वनयः शब्दाभिव्यंजकाः कथं ते न प्रतिहन्यंते इति समानं चोद्यं।

यहां आक्षेप है कि रूप, रस, आदिसे सहित हो रहे मूर्तपौद्गलिक शब्द ही कर्ण इन्द्रियसे सुनने योग्य स्वभावको धारते हुये भला कैसे मूर्तिमान् भींति आदि करके प्रतिघातको प्राप्त नहीं होते हैं? मूर्त्तका मूर्त्तसे प्रतिघात अवश्य होना चाहिये। जैसा कि गजमस्तकका पर्वतसे प्रतिघात हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकोंकी ओरसे कटाक्ष हो जानेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि तुम्हारे यहां भी शब्दको अभिव्यक्त करनेवाली मानी गयी और वायुकी बनी हुयीं वे मूर्त्तध्वनियां ही भला क्यों नहीं भींति, छत्त आदिकरके प्रतिघातको प्राप्त हो जाती हैं? बताओ, जिससे कि शब्द सुनाई न पडे। हमारे समान तुम्हारे ऊपर भी सकटाक्ष प्रश्न वैसा ही खडा रहता है।

तत्प्रतिघाते तत्र शब्दस्याभिव्यक्तेरयोगादनभिव्यक्तस्य च श्रवणासंभवादप्रतिघातः तस्य कुड्यादिना सिद्धस्तदंतरितस्य श्रवणान्यथानुपपत्तेरिति चेत्, तत एव शब्दात्मनां पुद्गलानामप्रतिघातोस्तु दृढपरिहारात्। दृष्टो हि गंधात्मपुद्गलानामप्रतिघातस्तद्वच्छब्दानां न विरुध्यते।

यदि मीमांसक इस चोदका परिहार यों करें कि भींति आदिकसे वायुनिर्मित उन ध्वनियोंका यदि प्रतिघात हो जाना माना जायगा तो उस भित्तिकरके व्यवहित हो रहे प्रदेशमें प्रथमसे विद्यमान हो रहे नित्य, व्यापक शब्दकी अभिव्यक्ति हो जानेका योग्य नहीं बन सकेगा। और ऐसा होनेसे नहीं प्रकट हुये शब्दका कर्ण इन्द्रियद्वारा सुनना असम्भव पड जायगा। अतः उस वायुरचित ध्वनिका झोंपडी आदिकरके प्रतिघात नहीं होना अर्थापत्तिसे सिद्ध है। क्योंकि उन कोट, भींति आदिसे व्यवहित हो रहे शब्दका सुना जाना अन्यथा यानी व्यंजक वायुओंका अप्रतिघात हुये विना नहीं बन सकेगा। इस कारण वायुस्वरूप ध्वनियोंका भीतर आजाना प्रतिरोधके विना हम मानलेते हैं। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि तिस ही

कारण यानी भींतिके भीतर शद्वका सुना जाना अन्यथा यानी शद्वका अप्रतिघात हुये विना असम्भव है। अतः शद्वस्वरूप पुद्गलोंका डेरा, कोट आदिके साथ अप्रतिघात हो जाओ, ऐसा माननेपर ही उस चोद्यका दृढरूपसे परिहार हो सकता है। अन्यथा नहीं। गन्धस्वरूप पुद्गलोंका भी छोटी पतली भींति आदि करके प्रतिघात नहीं होता हुआ देखा गया है। चांदी सोनेके भूषण या तांबे पीतलके भांडे अथवा मूल्यवान् राजकीय पत्रों (स्टाम्प, रजिष्ट्री, डिग्री,) को भींति या भूमिमें गढकर रखनेमें विशेष अन्तर पड जाता है। इसमें वायुका आना जाना या कमती आना, नहीं आना, ही कारण हैं। अतः गन्धपुद्गलोंके समान उन शद्वपुद्गलोंका भी चला आना विरुद्ध नहीं पडता है। वैसा ही प्रत्यक्षप्रमाणसे होता दीख रहा है।

यदि पुनरमूर्तस्य सर्वगतस्य च शद्वस्य परिकल्पनात्तद्व्यंजकानामेवाप्रतिघाताच्छ्रवणमित्यभिनिवेशः तथा गंधस्यामूर्तस्य कस्तूरिकादिद्रव्यविशेषसंयोगजनितावयवा व्यंजकामूर्तद्रव्यांतरेणाप्रतिहतास्तथा घ्राणहेतवः इति कल्पनानुषज्यमाना कथं निवारणीया ?

यदि फिर मीमांसक इस प्रकारका आग्रह करें कि हमारे यहां शद्व सर्वव्यापक और अमूर्त्त माना गया है। अतः शद्व तो वहां भीतर पहिलेसे ही है। किन्तु व्यंजक वायुओंके नहीं होनेसे अबतक उसका सुनना नहीं होता था। उन शब्दोंके व्यंजक वायुओं हीके अप्रतिघात (अरोक) हो जानेसे अब शब्दोंका श्रवण हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार सिद्धान्त कल्पित करनेपर तो हमारी पीछे पीछे प्रसंग प्राप्त हो रही यह कल्पना भी कैसे निवारी जा सकेगी कि अमूर्त्त गन्धके भी कस्तूरी, हींगडा आदि द्रव्यविशेषोंके संयोगसे उत्पन्न हुये अवयव ही व्यंजक हैं और अन्य मूर्त्तद्रव्योंसे नहीं प्रतिघातको प्राप्त हो रहे संते तिस प्रकार गन्धके सूंघे जानेमें नासिकाके सहकारी कारण हैं। अर्थात्—शब्दके समान गन्धको भी अमूर्त, व्यापक, मान लिया जायगा। ध्वनिके समान गन्धव्यंजक पदार्थोंका ही जाना आना कल्पित किया जा सकता है। कोई रोकने वाला नहीं है। मीमांसकोंके ऊपर जैनोंकी ओरसे यह कटाक्ष हुआ।

गंधस्यैवं पृथिवीगुणत्वविरोध इति चेत् शब्दस्यापि पुद्गलत्वविरोधस्तथा परैः शब्दस्य द्रव्यांतरत्वेनाभ्युपगमाददोष इति चेत्तथा गंधोपि द्रव्यांतरमभ्युपगम्यतां प्रमाणबलायातस्य परिहर्तुमशक्तेः। स्पर्शादीनामप्येवं द्रव्यांतरत्वप्रसंग इति चेत्, तान्यपि द्रव्यांतराणि संतु।

मीमांसक कहते हैं कि इस प्रकार गन्धको अमूर्त्त, व्यापक, माननेपर तो गन्धको पृथ्वीका गुणपना कहनेका विरोध होगा। अर्थात्—हमने और नैयायिकोंने गन्धको पृथ्वीका गुण माना है। अतः हम गन्धको अमूर्त्त या व्यापक नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तिस प्रकार शब्दको भी अमूर्त्त व्यापक माननेपर तो पुद्गलपनेका विरोध होगा। अर्थात्—शब्दको पौद्गलिकपना जब हम जैनोंके यहां सिद्ध हो चुका है तो मीमांसक शब्दको अमूर्त और व्यापक कैसे मान सकेंगे ? इसपर मीमांसक यदि यों कहें कि तिस प्रकार दूसरे विद्वानोंने

यानीं हम मीमांसकोंने शब्दको भिन्न द्रव्यपनेसे स्वीकार कर लिया है। अतः वैशेषिकोंकरके न्यारा सिद्धान्त मान लेनेपर हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है। गन्धको पृथ्वीका गुण या शब्दको आकाशके गुण माननेवाले वैशेषिकोंके यहां भले ही कोई दोष आता होय, हमें क्या ? तिस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कह देंगे कि यों तो गन्ध भी एक भिन्नद्रव्य स्वीकार कर लिया जाय कोई दोष नहीं आता है। प्रमाणकी सामर्थ्यसे आगये पदार्थका परिहार केवल स्वेच्छा-पूर्वक निषेध करदेनेसे ही नहीं किया जा सकता है। इसपर मीमांसक यदि यों कहें कि यों तो स्पर्श, रस आदिकोंको भी न्यारा न्यारा द्रव्यपना हो जानेका प्रसंग होगा। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वे स्पर्श आदिक भी न्यारे न्यारे द्रव्य हो जाओ, कोई क्षति नहीं है। गुण और द्रव्यका कथंचित् तादात्म्य है। अतः द्रव्यके स्वरूप तो गुणोंमें भी लागू हो सकते हैं। पुद्गलके गुण भी मूर्त्त कहे जाते हैं।

निर्गुणत्वाच्चेषामद्रव्यत्वमिति चेत्, तत एव शब्दस्य द्रव्यत्वं माभूत् महत्त्वादि गुणाश्रयत्वाच्छब्दे द्रव्यत्वमिति चेत्तत एव गन्धस्पर्शादीनां द्रव्यत्वमस्तु। तेषूपचरितमहत्त्वादय इति चेत् शब्देष्युपचरिताः संतु। कुतः शब्दे तदुपचार इति चेत् गंधादिषु कुतः ? स्वाश्रयमहत्त्वादिति चेत् तत एव शब्देपि।

मीमांसक कहते हैं कि गुणोंमें पुनः दूसरे गुण नहीं रहते हैं। अतः गुणरहितपना होनेके कारण उन स्पर्श, रस आदि गुणोंको द्रव्यपना नहीं घटित हो पाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे शब्दको भी द्रव्यपना मत होओ। शब्द भी तो वैशेषिकोंके यहां रूप, रस आदिके समान गुण माना गया है। अन्य गुणोंका आधार नहीं होनेसे वह भी द्रव्य नहीं हो सकता है। यदि तुम शब्दको महत्त्व, स्थूलत्व, आदि गुणोंका आश्रयपना हो जानेसे शब्दमें द्रव्यपना मानोगे तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण गन्ध, स्पर्श आदिकोंको भी द्रव्यपना हो जाओ। शब्दके समान गन्ध, उष्णस्पर्श आदि भी कुछ दूरतक स्थूल होकर महान् फैले हुये प्रतीत होते हैं। जो गुणवान् हैं वे द्रव्य होने चाहिये। इसपर मीमांसक कहते हैं कि उन गन्ध, उष्णस्पर्श आदिकोंमें तो उपचारसे प्राप्त हुये महत्त्व, स्थूलत्व आदि गुण कल्पित कर लिये हैं। वस्तुतः उष्णद्रव्य या गन्धद्रव्य ही महान् या स्थूल हैं। उनकी स्थूलता, महत्ता ही समवेतत्व या एकार्थसमवाय सम्बन्धसे गुणमें आरोपित कर ली जाती है। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम जैन बोलेंगे कि शब्दमें भी महत्त्व आदिक गुण वस्तुतः नहीं माने जावें, उपचारसे आरोपित कर लिये गये महत्त्व आदिक गुण शब्दमें रहें। इसपर मीमांसक यदि यों पूंछे कि शब्दमें किस हेतुसे उन महत्त्व आदिकोंका उपचार किया जायगा ? बताओ। अर्थात्—पुरुषमें यष्टिका या बालकमें अग्निका अथवा वीरपुरुषमें सिंहका उपचार तो निमित्तोंसे किया जाता है। उसके समान यहां शब्दमें उपचार करनेका निमित्त भला क्या है ? इस प्रकार पूंछनेपर तो हम जैन भी मीमांसकोंसे पूंछते हैं

कि गन्ध, स्पर्श आदिकोंमें महत्त्व आदि गुणोंके रहनेका उपचारनिमित्त क्या है ? बताओ। इसपर मीमांसक यदि यों उत्तर देवें कि अपने आधारभूत द्रव्योंके महत्त्वसे आधेय हो रहे गन्ध आदिमें भी महत्त्व उपचरित हो जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी भी उत्तर दे देवेंगे कि शद्वमें भी अपने आधार पुद्गलके महत्त्वसे महत्त्व उपचरित कर लिया जावेगा। आधारके धर्म आधेयमें आ जाते हैं।

मुख्यमहत्त्वादेरसंभवः शब्दे किमवगतः ? त्वयापि गंधादौ स किमु निश्चितः। गंधादयो न मुख्यमहत्त्वाद्युपेताः शश्वदस्वतंत्रत्वादभाववदित्यतोनुमानात्तदसंभवो निश्चित इति चेत्, तत एव शब्देपि स निश्चीयतां।

मीमांसक पूंछते हैं कि शद्वमें उपचरित महत्त्व माना जा रहा है। सो क्या मुख्य महत्त्व, स्थूलत्व, घोरत्व, तारत्व आदिका असंभव शद्वमें आप जैनोंने जान लिया है ? जिससे कि आप महत्त्व आदिकको मुख्यरूपसे नहीं मानकर उपचारसे मान रहे हैं ? बताओ। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर हम जैन भी पूंछते हैं कि तुम मीमांसकोंने भी क्या गंध आदिकोंमें वह मुख्य महत्त्व आदिकका अभाव क्या निश्चित कर लिया है ? जिससे कि गन्ध, स्पर्श, आदिमें उपचरित महत्त्व आदि गुण गढे जा रहे हैं। इसपर मीमांसक यदि यों अनुमान बनाकर गन्ध आदिमें मुख्य महत्त्वका अभाव सिद्ध करें कि गन्ध आदिक गुण (पक्ष) मुख्यरूपसे महत्त्व, ह्रस्वत्व, आदि गुणोंसे युक्त नहीं हैं (साध्य), सर्वदा स्वतंत्र नहीं होनेसे (हेतु) जैसे कि अभाव पदार्थ (अन्वयदृष्टान्त), इस अनुमानसे पराधीन हो रहे गन्ध आदिकोंमें उन मुख्य महत्त्व आदिकोंका असंभव निश्चित कर लिया गया है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारण शद्वमें भी मुख्यरूपसे महत्त्व आदिकोंका वह असम्भव निर्णीत कर लिया गया समझो। शद्व भी सर्वदा परतंत्र होनेके कारण अभावके समान होता हुआ मुख्य महत्त्व आदिको नहीं धारसकता है। शद्व अन्य द्रव्योंके आश्रित रहता है। उस द्रव्यके गुण एकार्थ समवायसे शद्वमें भी आरोपित कर लिये जावें। उस मुख्य महत्त्वके माननेकी क्या आवश्यकता पडी है ? मुख्य महत्त्वका प्रयोजन उपचरित महत्त्वसे सध जायेगा।

शब्दे तदसिद्धेर्न तन्निश्चेयः सर्वदा तस्य स्वतंत्रस्योपलब्धेरिति चेत् गन्धादावपि तत एव तदसिद्धेः। कुतस्तु तन्निश्चयः तस्य क्षित्यादिद्रव्यतंत्रत्वेन प्रतीतेरस्वतंत्रत्वसिद्धिरिति चेत् शद्वस्यापि वक्तृभेर्यादिद्रव्यतंत्रस्योपलब्धेरस्वतंत्रत्वसिद्धेरस्तु।

मीमांसक कहते हैं कि सदा परतंत्रपना हेतु तो शद्वमें नहीं रहता है। अतः पक्षमें नहीं रहनेवाले उस स्वरूपासिद्ध हेतुसे महत्त्व आदि गुणोंका मुख्यरूपसे नहीं रहना शद्वमें निश्चय करने योग्य नहीं है। क्योंकि सदा ही स्वतंत्र होकर रहनेवाले उस शद्वकी उपलब्धि हो रही है। इस

प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन भी यह कहे विना नहीं मानेंगे कि गन्ध, स्पर्श आदिमें भी तिस ही कारण हेतुकी असिद्धि हो जानेसे उस मुख्यमहत्त्वके असम्भवकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। गन्ध आदि गुण भी तो स्वतंत्र दीख रहे हैं। पुनः मीमांसक बोलते हैं कि तुम जैनोंने उन गन्ध आदिकोंकी स्वतंत्र उपलब्धि होनेका निश्चय भला कैसे कर लिया ? बताओ। वे गन्ध आदि तो सदा पृथ्वी, वायु, आदि द्रव्योंके अधीन हो रहेपनसे प्रतीत किये जा रहे हैं। स्थूल, महती, पृथ्वीका गन्ध, स्थूल, महान्, जाना जा रहा है। फैली हुयी अग्निका उष्ण स्पर्श लम्बा, चौडा, जाना जा रहा है। इस कारण हम मीमांसकोंका अस्वतंत्रपना हेतु गन्ध, स्पर्श आदिमें तो सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर हम भी अपनी टेवके अनुसार कह देंगे कि वक्ता, नगाडा, मृदंग, मजीरा, आदि द्रव्योंके अधीन हो रहे शद्वकी भी उपलब्धि हो रही है। अतः अस्वतंत्रपन हेतुकी शद्वमें सिद्धि हो जाओ और ऐसा हो जानेपर शद्वमें मुख्यरूपसे महत्त्वगुण नहीं ठहर सकेगा। गन्ध आदिके समान उपचारसे ही महत्त्व आदि रह सकेंगे, सो सोच लेना। " सिद्धेरस्तु " पाठ होनेपर यों अर्थ कर लिया जाय कि अस्वतन्त्रपनकी सिद्धि हो जानेसे शद्वमें मुख्यरूपसे महत्त्व आदि नहीं ठहर सकेंगे।

तस्य तदभिव्यंजकध्वनिनिबंधनत्वात्तंत्रत्वोपलब्धेरिति चेत् तर्हि क्षित्यादिद्रव्यस्यापि गंधादिव्यंजकवायुविशेषनिबंधनत्वात्तु गंधादेस्तंत्रत्वोपपत्तिः। शब्दस्य वक्तुरन्यत्रोपलब्धेर्न तंत्रत्वं सर्वदेति चेत् गंधादेरपि कस्तूरिकादिद्रव्यादन्यत्रोपलंभात्तत्परतंत्रत्वं सर्वदा माभूत्।

उस प्रथमसे विद्यमान हो रहे शद्वकी मात्र अभिव्यक्ति करनेमें कुछ चारों ओरसे प्रकट करनेवाली ध्वनिरूप वायुको कारणपना होनेसे उस शद्वको वायुकी पराधीनता दीख रही है। अतः वस्तुतः शद्व स्वतंत्र है। यदि इस प्रकार मीमांसक कहेंगे तब तो हम भी कह देंगे कि पृथ्वी, जल, अग्नि आदि द्रव्योंको भी गन्ध, स्पर्श, आदिके व्यंजक वायुविशेषोंका कारणपना होनेसे ही गन्ध आदिको उन पृथ्वी आदिकी पराधीनता बन रही है। वैसे तो गन्ध स्पर्श आदिक सदा स्वतंत्र हैं। तब तो मीमांसकोंका अस्वतन्त्रत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास होगया। पुनरपि मीमांसक कहे जाते हैं कि वक्ताके देशसे अन्य देशोंमें भी वक्ताके शब्दोंकी उपलब्धि हो रही है। तोपके स्थलसे कोसों दूर भी तोपका शब्द सुनाई देता है। बिना तारका तार, या फोनोग्राफमें भी रहस्य है। अतः वक्ता, भेरी, तोप आदिके सदा अधीन शब्द नहीं है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहने पर तो हम कहते हैं कि गन्ध, स्पर्श, आदिका भी कस्तूरी, अग्नि, इत्र, आदि द्रव्योंके देशसे अन्य देशोंमें उपलब्ध होता है। अतः गन्ध आदि भी उन कस्तूरी आदिकके सदा पराधीन नहीं माने जावें। ऐसी दशा होनेपर गन्ध आदिमें मुख्य महत्त्व आदि गुणोंका अभाव साधनेके लिये दिया गया अस्वतंत्रपना हेतु असिद्ध हो जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ततोन्यत्रापि सूक्ष्मद्रव्याश्रिता गंधादयः प्रतीयंते इति चेत् शब्दोपि तालवादिभ्योऽन्यत्र सूक्ष्मपुद्गलाश्रित एव श्रूयत इति कथमिव स्वतंत्रः। तदाश्रयद्रव्यस्य चक्षुषोपलब्धिः स्यादिति चेत् गंधाद्याश्रयस्य किं न स्यात् ? सूक्ष्मत्वादिति चेत् तत एव शब्दाश्रय द्रव्यस्यापि न चक्षुषोपलब्धिरिति सर्वं समं पश्यामः। ततो यदि गंधादीनां शश्वदस्वतंत्रत्वान्महत्त्वाद्युपेतत्वाभावादारव्यातो न द्रव्यत्वं तदा शब्दस्यापि न तत्।

फिर भी मीमांसक यों बोले कि उस गंधवाले या स्पर्शवान् द्रव्यके क्षेत्रसे अन्य स्थानोंमें भी फैले हुये सूक्ष्मद्रव्यके आश्रित होकर वर्त रहे ही गन्ध, स्पर्श, आदिक प्रतीत हो रहे हैं। तिस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि यों तो शब्द भी तालु, कण्ठ, मुख, ढोल, तोप आदिकसे अन्य प्रदेशोंमें फैले हुये सूक्ष्मपुद्गलोंके आश्रित हो रहे ही सुने जा रहे हैं। यही जैन सिद्धान्त भी है। इस प्रकार भला वह शब्द स्वतंत्र कैसा कहा जा सकता है ? अर्थात् गन्धके समान शब्द भी छोटे छोटे पुद्गलस्कन्धोंके आश्रित होकर रहता हुआ ही दूरतक सुनाई पडता है। अन्यथा नहीं। इसपर मीमांसक यदि यों कटाक्ष करें कि उस शब्दके आश्रय हो रहे पौद्गलिकद्रव्यकी चक्षुइन्द्रियके द्वारा उपलब्धि हो जानी चाहिये। अर्थात् जैसे पुद्गलनिर्मित घट, पुस्तक, आदि पदार्थ चक्षुसे दीखते हैं, उसी प्रकार पौद्गलिकशब्दाश्रय भी आंखोंसे दीख जाना चाहिये। इस प्रकार मीमांसकोंके द्वारा चोद्य उठानेपर तो हम भी उनके ऊपर प्रश्न उठा सकते हैं कि दूरतक फैल रहे गन्ध, रस, आदिके आश्रय हो रहे पृथ्वी आदि पदार्थोंकी भी चक्षुद्वारा उपलब्धि क्यों नहीं हो जाती है ! गन्धवाले या रसवाले पदार्थमें रूप तो अवश्य है ही, फिर खुली इत्रकी शीशीकी दूरतक फैली हुयी सुगन्धका आश्रय पृथ्वीद्रव्य भला चक्षुसे क्यों नहीं दीख जाता है ? बताओ। यदि आप मीमांसक इसका उत्तर यों देवें कि गन्धके आश्रयद्रव्य सूक्ष्म हैं। अतः स्थूलदर्शी जीवकी चक्षुसे उनकी प्राप्ति नहीं हो पाती है। ऐसा कहनेपर तो हम भी उत्तर कर देवेंगे कि शब्दके आश्रय पुद्गलद्रव्यकी भी सूक्ष्म होनेके कारण चक्षुके द्वारा उपलब्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार शब्द और गन्ध आदिमें किये गये सभी आक्षेप और समाधान हमारे तुम्हारे यहां समान हैं, ऐसा हम देख रहे हैं। तिस कारण यदि गन्ध आदिकोंके " सदा अस्वतंत्रपना " इस ज्ञापक हेतुकरके महत्त्व, ह्रस्वत्व आदिसे सहितपनेका अभाव साधा जायगा और इस कारण गुणरहित हो जानेसे उन गन्ध आदिकोंको द्रव्यपना नहीं बन सकेगा, किन्तु गुणपना सिद्ध होगा, तब तो हम दैगंबर कहेंगे कि शब्दको भी सदा अस्वतंत्र नहीं होनेके कारण मुख्य महत्त्व आदिसे सहितपना नहीं बन सकेगा। अत एव वह शब्द भी द्रव्य नहीं हो सकेगा। हमारे आपादन किये गये गन्ध और तुम्हारे शब्द-तत्त्वमें कोई अन्तर नहीं दीखता है। शब्दके वाक्यस्फोट, पदस्फोट, वर्णस्फोटके समान गन्धगुणके भी कई गन्धस्फोट माने जा सकते हैं। वस्तुतः विचार करनेपर गन्धके समान शब्द भी पौद्गलिक-तत्त्व सिद्ध होगा। प्रत्यक्षसिद्ध हो रहे पुद्गलनिर्मित शब्दमें अधिक सम्वाद बढाना व्यर्थ है।

ननु शब्दस्याद्रव्यत्वेप्यसर्वगतद्रव्याश्रयत्वे कथं सकृत्सर्वत्रोपलंभः ? यथा गंधादेः, समानपरिणामभृतां पुद्गलानां स्वकारणवशात् समंततो विसर्पणात् ।

मीमांसक प्रश्न उठाते हैं कि शब्दको स्वतंत्रद्रव्यपना नहीं मानते हुये भी आप जैन अव्यापक द्रव्यके आश्रय रहनेवालापन यदि मानोगे तो बताओ कि एक ही समयमें सर्वत्र कोसोंतक चारो ओर शब्दका उपलंभ कैसे होगा ? बताओ । डेल या घडा एक ही होता हुआ एक बारमें सर्वत्र नहीं दीख सकता है और शब्दको व्यापक, नित्य, माननेपर सबको एक बारमें उसका प्रत्यक्ष हो सकता है, जो कि दीख रहा है । इसका उत्तर हमारी ओरसे यही है कि जैसे गन्ध, स्पर्श, आदिका अद्रव्य होते हुए और असर्वगत द्रव्यके आश्रित होते हुए भी कुछ दूरतक सब ओर उपलम्भ हो जाता है । बात यह है कि एकसा सुगन्धित या उष्णनामके समान परिणामको धारनेवाले पंक्तिबद्ध पुद्गलोंका अपने अपने कारणोंके वशसे दशों दिशाओंमें सब ओरसे फैलना हो जाता है । तीव्र सुगन्ध, दुर्गन्धवाले पदार्थोंके निकटवर्ती पुद्गलोंकी वैसी ही सुगन्ध, दुर्गन्धरूप परिणति दूरतक होती जाती है । कुछ परिणतियां तो इतनी सूक्ष्म हैं कि चक्रवर्ती, देव या ऋद्धिधारी पुरुषोंकी भी इन्द्रियां उनको नहीं जानपाती हैं । यही व्यवस्था शब्दमें भी लगा लेना । वक्ताके मुखसे शब्दके निकलते ही शब्दपरिणतियोग्य पुद्गल स्कन्धोंका सब ओर लहरोंके सदृश शब्दनामक परिणाम हो जाता है । जिस जीवको जितने दूरके शब्दको सुननेकी योग्यता प्राप्त है, वह अपने क्षयोपशम अनुसार उन शब्दोंको सुन लेता है । और दूरतक फैली हुयी शेष परिणतियां व्यर्थ जाती हैं । यों अनन्तपरिणाम हमारे तुम्हारे काम नहीं आनेकी अपेक्षा व्यर्थ सारिखे दीखते हैं । एतावता उन परिणतियोंका अभाव नहीं कहा जा सकता है । भोज्यपदार्थोंमें मध्यवर्ती अनेक रसोंके तारतम्यको लिये हुये सांतर उपजते रहते हैं । उन आगे पीछेके रसोंका स्वाद हमको नहीं आता है । न सही, किन्तु उनकी अक्षुण्णसत्ताको कोई अनाहूत नहीं कर सकता है । मोटे ग्रासमें जो जिव्हाको छू गया स्वल्प पतला पत्तर है, उसका तो रस चखाजाता है । शेष बहुभाग विना आस्वादित हुये यों ही गटक लिया जाता है । क्या करें । सुन्दर लेखनी (नेजेकी कलम) के ऊपर भागमें सर्वत्र पाता बनानेकी कठिनशक्ति है । किन्तु शतांश भागको छोडकर शेष सर्व कठिन बहुभाग व्यर्थ जाते हैं । सर्व बीजोंकी या मनुष्योंकी सभी सन्तानउत्पादक–शक्तियां सफल नहीं हो पाती हैं । छोटेसे शब्दकी भी परिणति हजारों कोस दूरतक पुद्गलोंको यथाक्रमसे तमतरता लिये हुये शब्दमय कर देती है । किन्तु परिमित देशमें वर्त रहा ही शब्द सुनाई पडता है । इसमें अन्तरंग, बहिरंग कारण अनेक उपयोगी हो रहे हैं । हां, निमित्त मिला देनेपर दूरतक भी सुनाई पड सकता है ।

वृक्षाद्यवहितानां विसर्पणं कथं न तेषामिति चेत् यथा गंधद्रव्यस्कंधानां तथा परि-

णामात् । तदेवं गंधादिकृतप्रतिविधानतया दूरादारेकोत्करः शब्दे समस्तो नावतरतीति तद्वत्प्राप्तस्येंद्रियेण ग्रहणं निरारेकमवतिष्ठते तथा प्रतीतेरित्याह ।

यदि मीमांसक यों कहें कि वृक्ष, पर्वत, आदिसे व्यवधानको प्राप्त हो रहे उन शब्दोंका फैलना कैसे नहीं हो जायगा ! अथवा वृक्षसे टकराकर जैसे डेल वहीं गिर पडता है, आगे नहीं जा पाता है, उसी प्रकार वृक्ष, भींति आदिसे टकराकर शब्द भी वहीं गिर जाना चाहिये, फैलना नहीं चाहिये । "कथं नु स्यात्" पाठ होनेपर यों अर्थ करलिया जाय कि वृक्षसे व्यवहित हो रहे उन शब्दोंका फैलजाना भला कैसे हो सकता है ? बताओ। इस प्रकार कहनेपर तो हमारा यही समाधान है कि गन्धद्रव्यके स्कन्धोंका भी तिस प्रकार टकराकर वहीं गिर जाना या नहीं फैलना अथवा फैलजाना जैसे नहीं होता है, उसी प्रकार पौद्गलिक शब्द स्कन्धोंका भी तिस प्रकार परिणाम हो जानेसे विसर्पण हो जाता है। कोई कोई मन्दशब्द विचारे मन्दगन्धके समान नहीं भी फैल पाते हैं । निमित्तोंके अनुसार नैमित्तिकभाव बनते हैं । तिस कारण इस प्रकार पौद्गलिक शब्दपर किये गये कटाक्षोंका गन्ध आदिके लिये किये गये मीमांसकोंके प्रतिविधानरूप करके उत्तर हो जाता है । अर्थात्—पौद्गलिक गन्ध, स्पर्श आदिका जो उत्तर आप देंगे वही शब्दके विषयमें हमारा उत्तर होगा । कानमें अधिक दूध या रेतके घुस जानेपर जैसे कान भर जाता है, उसी प्रकार पौद्गलिक शब्दोंके प्रविष्ट हो जानेपर कर्ण भरपूर हो जायंगे, इस कटाक्षका उत्तर भी गन्धद्रव्यके अनुसार कर लेना । सुगन्ध, दुर्गन्धके पौद्गलिक स्कन्धोंका प्रवेश हो जानेपर नासिका इन्द्रिय जैसे नहीं ठुस जाती है, वैसे ही कान इन्द्रिय भी शब्दसे नहीं भरपूर हो जाती है । पुद्गलके मोटे, छोटे, पतले, गाढे, स्थूल, सूक्ष्म आदि झटिति परिवर्तन हो जाते हैं । बादरबादर आदि छःऊ प्रकारके पुद्गल मिथः परावर्तन कर जाते हैं । डेलके समान शब्दोंसे भी कानको चोट पहुंचना उस नासिकाके दृष्टान्तसे ही प्रतिविधान करने योग्य है । इस प्रकार समस्त शंकाओंका पुंज शब्दमें दूर हीसे अवतीर्ण नहीं हो पाता है । गन्धके उत्तरसे सम्पूर्ण शंकाऐं दूर फेंक दी जाती हैं । इस कारण उस गन्धके समान सम्बन्धित हुये ही शब्दका कर्ण इन्द्रियकरके ग्रहण होना निःसंशय प्रतिष्ठित हो जाता है । क्योंकि तिस प्रकार होता हुआ प्रतीत हो रहा है । इसी बातको ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक-द्वारा स्पष्ट कहते हैं ।

तत्रारेकोत्करः सर्वो गन्धद्रव्ये समं स्थितः ।
समाधिश्चेति न व्यासेनास्माभिरभिधीयते ॥ ९८ ॥

तिस शब्दमें उठायी गयी सम्पूर्ण शंकाओंकी राशि वैसीकी वैसी ही गन्धद्रव्यमें आकर समानरूपसे उपस्थित हो जाती है और उस गन्धद्रव्यका समाधान जो किया जायगा वही समाधान पौद्गलिक शब्दद्रव्यमें लागू होगा । इस प्रकार संक्षेपसे कहकर हमने विस्तारके साथ इसका

कथन नहीं किया है । शंकासमाधानका भार हमने मीमांसकके ऊपर ही धर दिया है। पुद्गलद्रव्यकी पर्याय शब्द है, यह जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्त है ।

प्रपंचतो विचारितमेतदन्यत्रास्माभिरिति नेहोच्यते ।

हमने उस तत्त्वका अधिक विस्तारके साथ अन्य ग्रन्थोंमें विचार कर दिया है । इस कारण अब यहां नहीं विशेष कथन किया जाता है । अतः श्रोत्र इन्द्रिय प्राप्यकारी है और चक्षु इन्द्रिय मनके समान अप्राप्यकारी है , अतः चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है ।

इस सूत्रका सारांश ।

" न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् " इस सूत्रके परिभाष्य प्रकरणोंकी संक्षेपसे सूची इस प्रकार है कि अस्पष्ट अतएव परोक्षज्ञान व्यंजनावग्रहके प्रसंगप्राप्त कारणोंका निषेध करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजके मुखपद्मसे इस सूत्रजलका बहना आवश्यक है । अन्यथा अभीष्ट नियम नहीं हो सकता था । कटु औषधिके अरुचिपूर्वक शीघ्र भक्षण करते समय पहिले रसनाद्वारा व्यंजनावग्रह होता है । पश्चात् विशेष उपयोग लगानेपर औषधिके अर्थावग्रह, ईहा आदि ज्ञान होते हैं । अव्यक्त नहीं जानकर पदार्थोंको व्यक्त ही जाननेवाले चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है । प्राप्तिके समान अप्राप्ति भी अनेक प्रकारकी है । अप्राप्तिमें नञ्का अर्थ पर्युदास है । विषयके साथ चक्षुकी अप्राप्तिसे मन इन्द्रियकी अप्राप्ति न्यारी जातिकी है । अभिमुख हो रहे अप्राप्त अर्थको चक्षु जानती है और मन अभिमुख, अनभिमुख, प्राप्त, अप्राप्त अर्थोंको भी जान लेता है । अभाव भी भावकारणोंके समान कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक हो जाते हैं । भित्ति आच्छादन, वस्त्र आदिका अभाव चाक्षुषप्रत्यक्षमें कारण है । सर्प, सिंह या कूटप्रबन्धक राजवर्ग आदिका अभाव निराकुल अध्ययन, अध्यापन, धन उपार्जन, आदि कार्योंका सहायक है । कार्यत्वावच्छेदकावच्छेदेन प्रतिबन्धकाभावको कारण माना गया है । ज्ञानका प्रधान अन्तरंग कारण क्षयोपशम या क्षय ही है । इसके आगे वैशेषिकोंके माने गये व्यक्तिरूप या शक्तिरूप चक्षुओंका प्राप्यकारीपन खण्डित किया है । प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमप्रमाणोंसे चक्षुके प्राप्यकारित्वकी बाधा आती है । प्राप्त हो रहे अंजन, तिल, आदिको चक्षु नहीं जान पाती है, इसका अच्छा विचार चलाया है । मन इन्द्रियका अप्राप्यकारित्व प्रसिद्ध ही है । स्फटिक आदिको नहीं तोडकर स्फटिकके भीतरकी वस्तुओंका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाता है । यदि चक्षुओंकी किरणें अतिकठोर और लोहसे भी अभेद्य स्फटिकको फोडकर भीतर घुस जाती हैं, तो रूई या मलिनजलसे ढके हुये पदार्थको तो वे बडी सुलभतासे जानलेंगी। यहां वैशेषिकों द्वारा मानी गयी स्फटिककी उत्पादविनाशप्रक्रियापर अच्छा आघात किया गया है । नैयायिक, वैशेषिकप्रभृति कोई कोई विद्वान् वस्तुस्थितिका तिरस्कार

कर या प्रत्यक्ष प्रसिद्धपदार्थकी अवज्ञा कर अपनी पक्षपुष्टिके लिये अप्रामाणिक पदार्थोंकी कल्पना कर बैठते हैं। वस्तुव्यवस्था भले ही नष्ट भ्रष्ट हो जाय, उनका मनमानी आग्रह सधना चाहिये। नैयायिकोंद्वारा मानी गयी स्फटिककी नाश, उत्पादप्रक्रियापर परीक्षक विद्वानोंको हंसी आती है। क्योंकि स्फटिक बडी देरतक वहका वही दीख रहा है। यहांका विचार चमत्कारयुक्त है। जब कि भाव, अभाव दोनोंसे वस्तु गुम्फित हो रही है तो अन्तरालसहित उत्पाद विनाश दीखने चाहिये। किन्तु स्फटिक, काच, अभ्रक आदिमें ऐसा होता नहीं है। उन अविकलोंके सदा अव्यवहित दर्शन स्पर्शन होते रहते हैं। बाह्यइन्द्रियत्व हेतुके बाह्य पदसे मनका व्यवच्छेद भी क्यों किया जाता है? मन भी तो दुःख आदिको संयुक्तसमवाय आदि सम्बन्धसे प्राप्त होकर ही जानता है। अतीत, अनागत दूरवर्ती पदार्थोंके साथ भी कालिक, दैशिक परम्परासम्बन्ध बन रहे हैं। ऐसी दशामें वैशेषिकोंको इन्द्रियत्व हेतु ही देना चाहिये था। मनुष्य, स्त्री आदिके नयनोंकी किरणें दीखती भी तो नहीं हैं। अदृश्य माननेपर तो रात्रिमें सूर्यकिरणें भी तिरोभूत होती हुयीं मान ली जांय, मनुष्यके शिरपर भी सींगोंका सद्भाव गढ लिया जाय। तैजसत्व हेतु भी चक्षुकी किरणोंको सिद्ध नहीं कर सकता है। अनेक दोष आते हैं। अतैजस होकर भी सूर्य या चन्द्रमाकी किरणें प्रतीत हो रही हैं। दूसरे तैजसगूढ अंगारकी किरणें नहीं दीख रही हैं। चक्षुके तैजसत्वको साधनेवाले हेतु भी प्रशस्त नहीं हैं। चन्द्र माणिक्य आदिसे व्यभिचार होता है। अंजन, घृत बादाम तैल आदिकमें तेजोद्रव्यकी सम्भावना करना अनीति है। चन्द्र उद्योत तो तैजस कथमपि नहीं है। सूर्यविमान भी मूलमें अनुष्ण (शीतल) है। उसकी प्रभा उष्ण है। मनुष्यकी आंखोंमें उष्णस्पर्श और भास्वररूप नहीं दीखता है, दोनोंका अनुद्भूत होना किसी भी तेजोद्रव्यमें वैशेषिकोंने नहीं माना है। यों थोडी, बहुत, उष्णता या चमक सभी जीवित शरीरोंमें पायी जाती है। सुवर्ण भी पार्थिव है। क्योंकि वह भारी है, पीला है। स्पर्शन या रसना इन्द्रियके प्राप्यकारित्वको देखकर चक्षुमें भी वही सिद्धान्त करना अनुचित है। मनुष्यका मुख तो प्राप्त कवल (कौर) को पकडता है। किन्तु अजगर सांपका मुख दूरसे खेंचकर भक्ष्यको पकड लेता है। मनुष्य भी अधिक प्यास लगनेपर प्रयत्नकरके अधिक पानीको मुखद्वारा शीघ्र खींच लेता है। चक्षुकी छोटी किरणें मान भी ली जांय तो भी महान् पर्वत, नदी आदिको प्राप्त नहीं कर सकती हैं। यहां धतूरेके फूल समान किरणोंके फैलने या एक पर्वतको निरंश, अवयवी, मानलेनेका निराकरण कर शाखा और चंद्रमाके युगपत् ज्ञान हो जानेसे चक्षुका अप्राप्यकारित्व पुष्ट किया गया है। छोटेसे द्रव्यकी किरणें अपने द्रव्यदेशमें ही रह सकती हैं। बाहर नहीं फैल जायंगी। प्रकाण्ड विद्वान्की विद्वत्ता उसकी आत्मामें ही ठहरेगी। हां, उसके निमित्तसे विद्वत्ताका प्रभाव पडकर नैमित्तिक भाव तो अन्यदेशीय पदार्थोंमें भी उपज सकते हैं, जो कि अन्य पदार्थोंके ही उपादेय परिणाम कहे जायंगे। अनुमान और आगमप्रमाणसे भी चक्षुका अप्राप्त अर्थ प्रकाशत्व साधा गया है। प्रतीतिके अनुसार

वस्तुकी व्यवस्था करनी चाहिये। अदृष्टकी विचित्रतासे ज्ञानकी विचित्रता है। सम्पूर्ण पदार्थ जगत्में विद्यमान हैं, किन्तु पुण्य, पापका ठाठ सर्वत्र फैल रहा है। प्राप्ति, अप्राप्ति, अकिंचित्कर हैं। सेठकी अंटीमें भले ही एक रुपया भी नहीं है और रोकडियाके पास लाखों रुपये हैं। एतावता क्या पच्चीस रुपये मासिकके भृत्य रोकडियाको सुदासम्पन्न हो जानेसे ही लक्ष्मीपति कहा जा सकता है? नहीं। इसके आगे भौतिकत्व, करणत्व आदि हेतुओंसे भी वैशेषिकोंकी अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकी है। अयस्कांत चुम्बक अप्राप्त लोहेको दूरसे खींच लेता है। हर्ड, नली, सूर्यकिरणें आदि दृष्टान्तोंसे अप्राप्यकारीपन सिद्ध नहीं होता है। मंत्र तंत्र अप्राप्त होकर ही उच्चाटन, वशीकरण आदि कार्योंको करते हैं। उद्योतकर चन्द्रमामें जाड्यविशेष है। कविलोक ड और ल में कदाचित् अभेद मान लेते हैं। चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता है। चक्षुके समान श्रोत्रको अप्राप्यकारी कहना असत्य है, अन्यथा घ्राणको भी अप्राप्यकारित्व बन बैठेगा। गन्धद्रव्यके सूक्ष्म अवयव निकलकर या उसके निमित्तसे बहिःप्रदेशोंमें फैले हुये पुद्गल स्कन्धोंका गन्धिल परिणाम हो जानेपर सम्बन्धित हुये पदार्थको ही नासिका जानती है। उसी प्रकार पौद्गलिक शब्दको प्राप्त कर ही श्रोत्र इन्द्रिय सुनती है। यहां शब्दको पौद्गलिकत्व सिद्ध करनेपर मीमांसक और वैशेषिकोंने बडी उछल कूद मचाकर शब्दके पौद्गलिकत्वका निरास करनेमें भारी मुंहकी खायी है। कुटी आदिकसे प्रतिघात आदि कटाक्षोंका गन्ध अणुओंकरके निराकरण कर दिया जाता है। मीमांसकोंके यहां माने गये शब्दके व्यापकपन और अमूर्त्तपनका पूर्वप्रकरणोंमें प्रत्याख्यान किया जा चुका है। महत्त्व, ह्रस्वत्व, आदिक धर्म तो गन्ध द्रव्यके समान शब्दमें भी समझ लेना। प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ अपने निकटवर्त्ती या दूरवर्त्ती योग्य पदार्थोंपर अपने नैमित्तिकभाव उत्पन्न करा देते हैं। शब्दकी उत्पाद प्रक्रिया भी वैसी ही समझना चाहिये। शब्दपरिणतियोग्य पुद्गलवर्गणाऐं लोकमें भरी हुयी हैं। जहां नहीं होगीं वहां नगाडा बजानेपर भी शब्द नहीं बनेगा। वक्ताके कण्ठ, तालु, आदिमें उचित व्यापार कर देनेसे अकार, इकार, आदि वर्ण बन जाते हैं। अथवा मृदंगपर हाथका अभिघात (संयोगविशेष) करनेसे वहां देशमें अनक्षरात्मक शब्द उत्पन्न हो जाता है। वे शब्द कुछ क्षणोंतक ठहरकर नष्ट हो जाते हैं। सरोवरके बीचमें डाल दिया गया डेल जैसे चारो ओर गोल लहरें जलमें बनाता है, वैसे ही वक्ता, मृदंग, आदिका शब्द भी दसों ओर अखण्ड अवयवीरूप लम्बे चौडे पौद्गलिक शब्दको रचता है। यदि दसों दिशाओंमें दश शब्दोंको बनाता होता तो हमें पहिलेसे ही दस शब्द सुनाई पडते, किन्तु ऐसा नहीं है। एक अखण्ड अवयवी शब्दपुद्गलके किसी भी भागका कर्ण इन्द्रियसे सम्बन्ध हो जानेपर पूरे शब्दको हम सुन लेते हैं, जैसे कि घडा या पर्वतके एक उरले भागको देख लेनेपर अखण्ड अवयवी घट या पर्वतका एक चाक्षुषप्रत्यक्ष हो जाता है। यह शब्दोंकी नैमित्तिकधारा बहुत दूरतक फैली हुयी शब्द वर्गणाओंको तत्तत्भावसे शब्दमय बनाती जाती है। अपनी नैमित्तिक–कारणरूप योग्यताके अनुसार शब्दधाराका बनना आगे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चलकर रुक जाता है। कभी कभी तो पहिले उत्पन्न देशके मूलशब्द नष्ट हो जाते हैं। और दूर देशोंके नैमित्तिक शब्द सुनाई पडते रहते हैं। नैमित्तिक भाव अनेक प्रकारके होते हैं। कच्ची ईंटमें अग्निके निमित्तसे उत्पन्न होगयी रक्तिमा पुनः अग्निके पृथक् हो जानेपर भी सैकडों वर्षतक ठहरती है। हां, जपाकुसुमके सन्निधानसे हुयी स्फटिकमें लाली तो निमित्तके दूर कर देनेपर शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, तथा मन्दकषायी भद्रजीवके सद्गुरु महाराजका उपदेश कुछ अधिक कालतक ठहरता है। कोई कोई नैमित्तिकभाव निमित्तके हट जानेपर शीघ्र या देरमें नष्ट होते हैं। अपने अपने अनेक स्वभावोंके अनुसार पदार्थोंकी विचित्र परिणतियां हैं। दीपक या सूर्यप्रकाशके समान शब्द भी निमित्तके पृथक्भूत कर देनेपर अधिककालतक नहीं ठहर पाता है। हां, कुछ समयोंतक ठहर जाता है। सूर्यके छिप जानेपर या दीपकके बुझ जानेपर भी उनका प्रकाश कुछ क्षणों पीछे नष्ट होता है। वस्तुतः विचारा जाय तो प्रकाशका निमित्तकारण ही दीप है। उपादान कारण तो सब ओर भरी हुई प्रकाशने योग्य पुद्गलवर्गणायें हैं। वे निमित्तके नष्ट हो जानेपर भी उपादानकी तैसी परिणति हो जानेसे कुछ देरतक प्रकाशित रह सकती हैं। वक्ताके मुखदेशसे उत्पन्न हुआ, वही शब्द श्रोताके कानतक आवे यह नियम नहीं। यहां भी मध्यवर्ती शब्दपरिणतियोग्य वर्गणायें ही शब्दोंकी उपादान कारण हैं। यदि लम्बा चौडा एक अवयवी शब्द पुद्गल बन गया है तब तो उसी शब्दका सैकडों मनुष्योंको श्रवण हो सकता है। किन्तु यदि छोटे छोटे अनेक शब्द हुए हैं तो श्रोताको सदृश शब्दोंका श्रवण होगा। यही दशा अनक्षर शब्दोंकी उत्पत्तिमें लगा लेना। वीन, हारमोनियमके पातोंमेंसे होकर निकली हुयी ध्वनिवायु ही निषाद, ऋषभ, गांधार, षडज, पञ्चम, धैवत, मध्यम, स्वरोंरूप परिणमजाती है। प्रतिध्वनियोंमें पौद्गलिक शब्दोंका आघात होकर वैसी ही परावर्तित परिणतियां करना भी अभीष्ट है। " देवदत्त गामानय " इस वाक्यके पूर्व पूर्व वर्णका नाश होकर संस्कार युक्त हो रहे उत्तरोत्तर वर्णोंके श्रावणप्रत्यक्षोंसे अन्तमें पूर्ण शाब्दबोध हो जाता है। ज्ञान भी एक विलक्षण प्रकारका अवयवी है। इसका प्रकरण लम्बा है। फिर किसी अवसर पर ग्रन्थकारद्वारा स्वयं बखान किया जायगा। गन्धके सूक्ष्मद्रव्योंका समाधान पौद्गलिकशब्दोंपर न्यायविहित है। पौद्गलिक शब्दका आंखोंसे दीख जाना, वृक्षसे टकराना, कान भरजाना, एक श्रोताके कानमें घुस जानेपर दूसरे श्रोताओंको सुनाई नहीं पडना, आदि उलाहनोंका उत्तर वही गन्ध परमाणुओंवाला है। छिद्र नहीं करते हुये भी भींतिमेंसे सूक्ष्मस्वभाव होनेके कारण शब्द बाहर निकल आते हैं, जैसे कि मिट्टीके घडेमेंसे पानी निकलकर बाहर घडा गीला हो जाता है। कांचमेंसे घाम निकल आती है। इस प्रकरणको विस्तारके साथ लिखा गया है। सूक्ष्मपुद्गलोंके अधीन होता हुआ शब्द सुना जा रहा है। मीमांसकोंका शब्दको अमूर्त्त और सर्वगत कहना प्रमाणोंसे बाधित है। अतः निःसंशय होकर शब्दको पौद्गलिक साधते हुये आचार्यने श्रोत्रका प्राप्यकारित्व पुष्ट किया है। तथा

अप्राप्यकारी चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होनेका उपसंहार करदिया गया है। यहांतक मतिज्ञानके भेदप्रभेदोंका वर्णन युक्तियोंसे साधा है। महान् आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामीकी अगाध विद्वत्ता अर्चनीय है। लोकप्रसिद्ध विज्ञान द्वारा आगमगम्य पदार्थोंका हस्तामलकवत् विस्तृत ज्ञान करा दिया है। यह उसीका आशीर्वादजन्य फल है।

ज्ञानं ह्यनात्मचिदचित्सहकार्यधीनानायत्तवृत्तमपकर्षमियात्प्रकर्षे।
चाप्राप्य विज्जनकपौद्गलिकेऽक्षिचित्ते न व्यञ्जना स्फुरदवग्रहकारणे स्तः ॥ १ ॥

—×—

यहांतक दो परोक्ष ज्ञानोंमेंसे मतिज्ञानका वर्णन कर दूसरे क्रमप्राप्त श्रुतज्ञानका निरूपण करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्वकीय उपज्ञी आत्मासे उतारकर ज्ञानसुधा-पिपासु भव्यजीवोंके हृदयमन्दिरमें विराजमान करते हैं।

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञानका लक्षण पारिभाषिक श्रुतशब्दसे ही निकल पडता है। वह श्रुतज्ञान मति-पूर्वक होता है, अर्थात्—श्रुतज्ञानका निमित्तकारण मतिज्ञान है। श्रुतज्ञानके मूलमें दो भेद हैं। एक अंगबाह्य दूसरा अंगप्रविष्ट भेद है। सर्वज्ञके साक्षात् शिष्य गणधर या प्रशिष्य अन्य आचार्योंद्वारा अल्पज्ञ जीवोंके अनुग्रहार्थ स्मृत रखा गया स्वल्पवचन-विन्यास तो अंगबाह्य है। और बुद्ध्यतिशय ऋद्धिसे युक्त हो रहे गणधर महाराज द्वारा पीछे पीछे सर्वज्ञोक्त स्मृत की गयी महती ग्रन्थरचना अंगप्रविष्ट है। तिनमें कालिक, उत्कालिक, आदि भेदोंकरके अंगबाह्य अनेक प्रकारका है। अंगप्रविष्ट तो आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद, इन भेदोंसे बारह प्रकारका है। अथवा सोलह सौ चौंतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी १६३४८३०७८८८ अपुनरुक्त अक्षरोंका सम्पूर्ण श्रुतके एक कम एकट्टि प्रमाण अक्षरोंमें भाग देनेसे एक सौ बारह करोड तिरासी लाख अठावन हजार पांच ११२८३५८००५ बन गये पद तो अंगप्रविष्टके हैं। और शेष बच रहे आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पिचत्तर अक्षरोंका अंगबाह्य है।

किमर्थमिदमुपदिष्टं मतिज्ञानप्ररूपणानंतरमित्याह।

मतिज्ञानका बढिया निरूपण करनेके अव्यवहित उत्तर ही इस सूत्रका श्री उमास्वामी महाराजने किस प्रयोजनके लिये उपदेश किया है? इस प्रकार समीचीन जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज समाधान कहते हैं कि—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किं निमित्तं श्रुतज्ञानं किं भेदं किं प्रभेदकम् ।
परोक्षमिति निर्णेतुं श्रुतमित्यादि;सूत्रितम् ॥ १ ॥

उस परोक्ष श्रुतज्ञानका निमित्त कारण क्या है ? और उस श्रुतज्ञानके भेद कौन और कितने हैं ? तथा परोक्ष श्रुतज्ञानके भेदोंके भी उत्तरभेद कितने और कौन कौन हैं ? इस प्रकारकी जिज्ञासाओंका निर्णय करनेके लिये " श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् " यह सूत्र श्री उमास्वामीद्वारा निरूपण किया गया है ।

किं निमित्तं श्रुतज्ञानं नित्यशब्दनिमित्तमन्यनिमित्तं चेति शंकामपनुदति मतिपूर्वकमिति वचनात् । किं भेदं तत् ? षड्भेदं द्विभेदमित्यभेदं वेति संशयं सहस्रप्रभेदं द्वादशप्रभेदमनेकभेदं वेति चारेकामपाकरोति द्व्यनेकद्वादशभेदमिति वचनात् ।

किस पदार्थको निमित्त कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है ? इस प्रकार प्रश्न होनेपर कोई मीमांसक विद्वान् यदि इसका यों उत्तर करें कि अपौरुषेय वेदके नित्यशब्दोंको निमित्त पाकर अल्पज्ञ जीवोंके आगमज्ञान होता है और किसी विद्वान्के यहां यह उत्तर सम्भावनीय होय कि अन्य पुण्यविशेष या भावनाज्ञान अथवा आशीर्वाद, ईश्वर आदिको निमित्तकारण मानकर शास्त्रज्ञान हो जाता है । इस प्रकारकी शंकाका " मतिपूर्वं " इस वचनसे निराकरण हो जाता है । अर्थात्—मतिज्ञानस्वरूप निमित्तसे श्रुतज्ञान उपजता है । नित्यशब्दोंसे या पुण्यकर्म आदिसे नैमित्तिक श्रुत नहीं बनता है । सूत्रके उत्तरार्द्धका फल यह है कि उस श्रुतज्ञानके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें कतिपय विद्वान् यों संशयमें पडे हुये हैं कि श्रुतज्ञानके छह भेद हैं । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद, हैं । या शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये वेदके छह अंग हैं । तीन वेद और तीन उपवेद होकर भी छह भेद हो जाते हैं तथा श्रुतज्ञानके ब्राह्मण भाग और मंत्रभाग ये दो भेद हैं अथवा अद्वैतवादियोंके अनुसार वेदका कोई भेद नहीं है । एक ही प्रकारका ब्रह्मप्रतिपादक वेद है । औपाधिक भेद मूलपदार्थको भिन्न प्रकारका नहीं कर सकते हैं । इस प्रकारके संशयका " द्व्यनेकद्वादशभेदम् " के द्वि इस वचनसे निवारण हो जाता है । अर्थात्—वह श्रुतज्ञान मूलमें दो भेदवाला है । उसके छह आदि भेद नहीं हैं । तथा तीसरी बात यह है कि कोई कोई मीमांसक वेदोंकी सहस्रशाखायें मानकर वेदके उत्तर प्रभेद हजार मानते हैं । " सहस्रशाखो वेदः " । अन्य कोई व्याकरण, न्याय, साहित्य, सिद्धान्त, इतिहास, ज्योतिष, मंत्र, आदि प्रभेदोंसे आगमके बारह उत्तरभेद मानते हैं । किन्हीं विद्वानोंने अन्य भी अनेक उत्तर भेद स्वीकार किये हैं । कोई ऐसे भी हैं, जो उत्तरभेदोंको मानते ही नहीं हैं । इस प्रकारकी शंकाका निरास तो " द्व्यनेकद्वादशभेदम् " इस सूत्रार्द्धके " अनेकद्वादशभेदम् " वचनसे हो जाता है । अर्थात्—श्रुतज्ञानके दो भेदोंके उत्तरभेद अनेक और बारह हैं, न्यून अधिक नहीं हैं ।

तत्र किमिदं श्रुतमित्याह ।

उस सूत्रके उद्देश्यदलमें पडा हुआ यह श्रुत क्या पदार्थ है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात् ।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् ॥ २ ॥

श्रुत शद्वके अनेक अर्थ हैं । शास्त्र, निर्णीत अर्थ, सुना गया शद्व, आदि कतिपय अर्थ सहितपना सिद्ध होते हुये भी " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रसे ज्ञानम् शद्वकी अनुवृत्ति चली आनेके कारण भावरूप श्रवणद्वारा निर्वचन किया गया श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है । किन्तु फिर कानोंसे सुना गया केवल शद्व ही श्रुत नहीं है । अर्थात्—" श्रवणं श्रुतं " इस प्रकार भावमें क्त प्रत्यय कर व्युत्पन्न करा दिया गया श्रुतपद तो ज्ञानम्की अनुवृत्ति होनेसे रूढिके अधीन होता हुआ किसी विशेषज्ञानको कह रहा है । हां, वाच्योंके प्रतिपादक शद्व भी श्रुतपदसे पकडे जाते हैं । किन्तु केवल शद्वोंमें ही श्रुतपदको परिपूर्ण नहीं कर देना चाहिये ।

कथमेवं शद्वात्मकं श्रुतमिह प्रसिद्धं सिद्धान्तविदामित्याह ।

कोई पूछता है कि विशेषज्ञानको यदि श्रुत कहा जाता है तो इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वानोंके यहां इस प्रकरणमें शद्व आत्मक श्रुत भला कैसे पकडा जा सकता है ? जो कि स्याद्वादियोंके यहां शद्वमय द्वादशाङ्ग—श्रुत प्रसिद्ध है । श्रुतपदसे ज्ञानको पकडनेपर तो शद्व छूट जाते हैं । और शद्वको ग्रहण करनेपर ज्ञान छूट जाता है । दोनोंका ग्रहण करना तो शद्वशक्तिसे कष्टसाध्य है । इस प्रकार प्रश्न होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि—

तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशद्वप्रयोगतः ।
शद्वभेदप्रभेदोक्तः स्वयं तत्कारणत्वतः ॥ ३ ॥

सूत्रकार गुरुवर्यने स्वयं गम्भीर श्रुतशद्वका प्रयोग किया है । इससे सिद्ध है कि मुख्यरूपसे श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है । और उपचारसे वह शद्व आत्मक श्रुत भी श्रुतशद्व करके ग्रहण करने योग्य है । तभी तो शद्वोंके होनेवाले दो भेद और अनेक या बारह प्रभेद भगवान् सूत्रकारने स्वयं कह दिये हैं । यदि ज्ञानका ही ग्रहण इष्ट होता तो शद्वके होनेवाले भेद प्रभेदोंका वचन नहीं किया गया होता । अतः उपचारसे शद्व आत्मक श्रुत भी अवश्य ग्राह्य है । निमित्त और प्रयोजनके विना उपचार नहीं प्रवर्तता है । अतः यहां उस श्रुतज्ञानके कारण हो रहे शद्वको ही श्रुत कह

दिया है, जैसे प्राणके कारण अन्नको प्राण कह दिया जाता है। गुरुके शब्दोंसे शिष्यको श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इस कारण यह कारणमें कार्यका उपचार है। कार्यभूत श्रुतज्ञानके श्रुतत्वधर्मका कारणभूत शब्दमें आरोप कर दिया गया है। अथवा कारणभूत हो रहे श्रुतज्ञानके कार्य होते हुये शब्दको भी श्रुत कह दिया जाता है। वक्ताके आत्मीय श्रुतज्ञानसे वक्ता स्वयं कण्ठ, तालु, आदि द्वारा वाचक शब्दोंको बनाता है। अतः श्रुतज्ञानके कार्य शब्द हुये, यह कार्यमें कारणका उपचार है। जैसे कि धनको ही पुण्य कह दिया जाता है। अथवा " आत्मा वै जायते पुत्रः " यह व्यवहार हो रहा है। भावार्थ—वक्ताके श्रुतज्ञानका कार्य और श्रोताके श्रुतज्ञानका कारण होनेसे शब्द भी श्रुत कहे जा सकते हैं। " तत् श्रुतज्ञानं कारणं यस्य " अथवा " तस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं " इस प्रकार बहुव्रीहि या तत्पुरुष समासद्वारा " तत्कारणं " की व्युत्पत्ति कर देनेसे उक्त अभिप्राय ध्वनित हो जाते हैं।

तच्च शब्दमात्रं श्रुतमिह ज्ञेयमुपचारात् द्व्यनेकद्वादशभेदमित्यनेन शब्दसंदर्भस्य भेद-प्रभेदयोर्वचनात् स्वयं सूत्रकारेण श्रुतशब्दप्रयोगाच्च। स हि श्रूयतेस्मेति श्रुतं प्रवचन-मित्यस्येष्टार्थस्य संग्रहार्थः श्रेयो। नान्यथा स्पष्टज्ञानाभिधायिनः शब्दस्य प्रयोगार्हत्वात्।

यहां वह श्रुत तो शब्दमात्र है, यह उपचारसे समझना चाहिये। क्योंकि उस श्रुतके दो भेद हैं। तथा अनेक और बारह प्रभेद हैं। इस कथनकरके सूत्रकारने शब्दसम्बन्धी रचना विशेषके ही सम्भवनेवाले भेदप्रभेदोंका कथन किया है। तथा दूसरी बात यह है कि सूत्रग्रन्थ बनानेवाले श्री उमास्वामी महाराजने स्वयं श्रुतशब्दका प्रयोग किया है। अर्थात्—एक तो बात यह है कि अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट या अनेक, बारह, ये भेद प्रभेद तो शब्दके ही हो सकते हैं। श्रुतज्ञानमें तो शब्दद्वारा होते हुये ये भेदप्रभेद भले ही माने गये हैं, मौलिक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सूत्रकारने श्रुत शब्दका प्रयोग किया है, जो कि " श्रुश्रवणे " धातुसे कर्ममें क्त प्रत्यय करनेपर बना, बडी सुलभतासे शब्दश्रुतको कहनेके लिये अभिमुख बैठा हुआ है। जो (शब्द) कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुना जा चुका है, वह श्रुत अवश्य है। यों निर्वचन किया गया शब्दमय श्रुतप्रवचन (शास्त्र) है। इस प्रकारके इस इष्ट अर्थका संग्रह करनेके लिये वह श्रुत शब्दका प्रयोग करना श्रेष्ठ है। ज्ञान और शब्द दोनोंमें प्रवर्तनेवाले श्रुतपदका प्रयोग करना अन्य प्रकारोंसे समुचित नहीं हो सकता है। यों यदि ज्ञान ही अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट होता तो स्पष्ट रूपसे ज्ञानको कहनेवाले ज्ञान, प्रमाण, वेदन, श्रुतज्ञान, आदि पदोंका ही प्रयोग कर देना योग्य था। भाव और कर्ममें निष्ठा प्रत्यय कर ज्ञान और शब्द दोनोंको कहनेवाले श्रुतका प्रयोग करना उचित नहीं था, किन्तु प्रयोग किया है। कोरे द्वैविध्य या संशयके जनक पदोंके प्रयोगद्वारा क्लिष्ट कल्पना करते बैठना किसको अभीष्ट है? अतः अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि मुख्यरूपसे श्रुतज्ञान और गौणरूपसे शब्द आत्मक श्रुत इष्ट है।

कुतः पुनरुपचारः तत्कारणत्वात् । श्रुतज्ञानकारणं हि प्रवचनं श्रुतमित्युपचर्यते । मुख्यस्य श्रुतज्ञानस्य भेदप्रतिपादनं कथमुपपन्नं तज्ज्ञानस्य भेदप्रभेदरूपत्वोपपत्तेः द्विभेद-प्रवचनजनितं हि ज्ञानं द्विभेदं अंगबाह्यप्रवचनजनितस्य ज्ञानस्यांगबाह्यत्वात् अंगप्रविष्टवचनजनितस्य चांगप्रविष्टत्वात् ।

फिर आप आचार्य महाराज आप यह बताओ कि शब्दमें श्रुतपनेका उपचार कैसे किया गया ? " गंगायां घोषः " यहां गंगाका निकटवर्त्ती होनेसे गंगापदकी गंगातीरमें लक्षणा हो जाती है । शूर, क्रूर, चंचल, मनुष्यमें वैसे धर्मोंका सादृश्य होनेसे सिंह, भेडिया या अग्निका उपचार सहायता आदिके लिये कर दिया जाता है । वैसा यहां उपचारका निमित्त और फल क्या है ? बताओ । इसपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि श्रुतज्ञानका कारण वह शब्द है । " तस्य कारणं " ऐसा होनेसे शब्दमय श्रुत है । क्योंकि श्रोताओंके श्रुतज्ञानका कारण नियमसे प्रवचन है । अतः वह शब्द उपचारसे श्रुतप्रमाण कह दिया जाता है । कार्यके धर्म कारणमें होने ही चाहिये । बहुव्रीहि समास करके दूसरा अर्थ भी निकाल लेना । यदि कोई यहां यों पूंछे कि जब दो आदि भेद प्रभेद शब्दमय श्रुतके सम्भवते हैं, तो श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदोंका उक्त रीत्या प्रतिपादन करना भला कैसे युक्तियुक्त सधेगा ? बताओ । इसपर हमारा यही उत्तर है कि भेदप्रभेदवाले उन शब्दोंसे उत्पन्न हुये श्रुतज्ञानके भी उन दो आदिकोंको भेदप्रभेद-स्वरूपपना बन जाता है । दो भेदवाले शब्दमय प्रवचनसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान इन अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट भेदोंसे दो भेदवाला है । मध्यमपदके अक्षरोंका भाग देनेपर शेष बच रहे आठ करोड एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर (८०१०८१७५) अक्षरोंका स्वरूप शब्दमय श्रुतप्रवचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अंगबाह्य है । और बारह अंगोंमें प्रविष्ट हो रहे कुछ न्यून १८४४६७४४०७३७०९५१६१५ इतने अपुनरुक्त अक्षर अथवा इनसे कितने ही (संख्याते) गुने पुनरुक्तअक्षरों या एकसौ बारह करोड तिरासी लाख अट्ठावन हजार पांच (११२८३५८००५) मध्यम पदोंस्वरूप शब्दश्रुत प्रवचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान तो अंगप्रविष्ट है । यों दो प्रकारके प्रवचनसे दो भेदवाला श्रुतज्ञान युक्त बन जाता है ।

तथानेकद्वादशप्रभेदवचनजनितं ज्ञानमनेकद्वादशप्रभेदकं कालिकोत्कालिकादिवचन-जनितस्यानेकप्रभेदरूपत्वात्, आचारादिवचनजनितस्य च द्वादशप्रभेदत्वादिदमुपचरितं च श्रुतं ह्यनेकद्वादशभेदमिहैव वक्ष्यते ।

तथा अंगबाह्य भेदके अनेक प्रभेद और अंगप्रविष्ट भेदके बारह प्रभेदस्वरूप वचनसे जन्म लेता हुआ ज्ञान तो अनेक प्रभेद और बारह प्रभेदवाला व्यवहृत होता है । देखिये । स्वाध्यायकालमें नियतकालवाले वचन कालिक हैं । और स्वाध्याय कालके लिये अनियत कालरूप वचन उत्कालिक हैं । इनके भेद सामायिक, उत्तराध्ययन आदिक हैं । ऐसे कालिक आदि वचनोंसे उत्पन्न हुआ अंग-

बाह्य ज्ञान प्रभेदरूप है। और अट्ठारह हजार, छत्तीस हजार, आदि मध्यम पदोंस्वरूप आचारांग, सूत्रकृतांग आदि वचनोंसे उत्पन्न हुआ अंगप्रविष्ट ज्ञानको बारह प्रभेदसहितपना है। इस कारण यह शद्वस्वरूप श्रुत उपचरित प्रमाण है। इस शद्वश्रुतके द्रव्य रूपसे दो भेद तथा अनेक और बारह प्रभेद यहां ही ग्रन्थमें स्पष्ट कह दिये जायंगे। ये सब भेद शद्वस्वरूप द्वादशांग वाणी और अंगबाह्यवाणीके हैं। इतने संख्यात अक्षर या पदों अथवा संयुक्त पुनरुक्त पदोंसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान अनन्त है।

द्विभेदमनेकद्वादशभेदमिति प्रत्येकं भेदशब्दस्याभिसंबधात् तथा चतुर्भेदो वेदः षडंगः सहस्रशाखः इत्यादि श्रुताभासनिवृत्तिरप्रमाणत्वप्रत्यक्षत्वादिनिवृत्तिश्च कृता भवति कथमित्याह।

द्वन्द्व समासके आदि या अन्तमें पडे हुये पदका प्रत्येकपदमें सम्बन्ध हो जाता है। अतः यहां भी "अनेकद्वादशभेदम्" इस समासित पदके अन्तमें पडे हुये भेदशद्वका तीनोंमें समन्तात् सम्बन्ध हो जानेसे दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद ऐसा अर्थ हो जाता है। और तैसा होनेपर अप्रसिद्धीकी व्युत्पत्ति कर दी जाती है। अन्यमती विद्वान् वेदरूप श्रुतके ऋग्, यजुर्, साम, अथर्व, ये चार भेद मानते हैं, अथवा चार वेदोंके शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, ये छह अंग स्वरूप प्रभेद मानते हैं, या वेदोंकी हजार शाखायें स्वीकार करते हैं। कूर्मपुराणमें वेदोंकी शाखाओंका इस प्रकार वर्णन है। "**एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा। शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्। सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः। आथर्वाणमथो वेदं विभेदनवकेन तु**"। भगवान् व्यासने ऋग्वेदके प्रथम इक्कीस भेद किये, पीछे यजुर्वेदके १०० सौ भेद, सामवेदके हजार १००० भेद और पीछे अथर्वके नौ ९ भेद किये। इस कूर्मपुराणके लेखानुसार वेदोंकी सब शाखा ग्यारह सौ तीस ११३० हैं। कोई कोई ११३१ या ११३७ भी मानते हैं। इतर पण्डित आत्मतत्त्व प्रतिपादक ईश, केन, तित्तिरि, आदि दश उपनिषदों या अन्य उपनिषदोंको भी स्वीकार करते हैं। इत्यादि भेद प्रभेदवाले श्रुत आभासकी निवृत्ति उक्त भेद प्ररूपणसे हो जाती है। "तत्प्रमाणे" सूत्रसे प्रमाणपदकी अनुवृत्ति चले आनेसे दो, अनेक, बारह भेदवाले श्रुतके अप्रमाणपनेकी निवृत्ति हो जाती है। और "आद्ये परोक्षम्" कह देनेसे श्रुतको प्रत्यक्षप्रमाणपनेकी निवृत्ति हो जाती है। श्रुतज्ञानमें अवग्रह, ईहा आदिपना भी निषिद्ध हो जाता है। "मतिपूर्वं" ऐसा कह देनेसे अवधि आदि प्रत्यक्षप्रमाणरूप निमित्तोंसे श्रुतकी उत्पत्ति होना प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। तथा श्रुतज्ञान किसी भी ज्ञानको पूर्ववर्त्ती नहीं मानकर स्वतंत्र तथा मति या केवलज्ञानके समान उपज बैठता है, इस अनिष्ट प्रसंगकी भी "मतिपूर्वं" कह देनेसे निराकृति कर दी गयी है। कैसे या किस प्रकार कर दी गयी है? इसकी उपपत्तिको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं, सो सुनलो।

सम्यगित्यधिकारात्तु श्रुताभासाँनेवर्तनम् ।
तस्याप्रामाण्यविच्छेदः प्रमाणपदवृत्तितः ॥ ४ ॥
परोक्षाविष्कृतेस्तस्य प्रत्यक्षत्वनिराक्रिया ।
नावध्यादिनिमित्तत्वं मतिपूर्वमिति श्रुतेः ॥ ५ ॥

" तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " इस सूत्रसे सम्यक् इस पदका अधिकार चला आता है। इस कारणसे तो वेद, व्यासोक्त पुराण आदिक शास्त्रसदृश दीख रहे श्रुताभासोंकी निवृत्ति हो जाती है। और " तत्प्रमाणे " सूत्रसे प्रमाणपदकी अनुवृत्ति हो जानेके कारण उस श्रुतके अप्रमाणपनेका विच्छेद कर दिया जाता है। आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं। इस प्रकार पूर्वमें ही श्रुतको परोक्षपना प्रकट कर देनेसे उस श्रुतके प्रत्यक्षपनका निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार " मतिपूर्वं " यों कण्ठोक्त सूत्रका श्रवण होनेसे श्रुतमें अवधि, मनःपर्यय आदि निमित्तोंसे उत्पन्न होनापन नहीं सध पाता है। अतः मतिपूर्वं, सम्यक्, परोक्षं, प्रमाणं, श्रुतं इस वाक्यार्थद्वारा अनिष्टनिवृत्ति होते हुये श्रुतका स्वरूप निरूपण हो जाता है।

न नित्यत्वं द्रव्यश्रुतस्य भावश्रुतस्य वा न नित्यनिमित्तत्वमिति सामर्थ्यादवसीयते मतिपूर्वत्ववचनादवध्याद्यानिमित्तत्ववत् ।

शब्दस्वरूप द्रव्यश्रुतको अथवा लब्धि उपयोगस्वरूप भावश्रुतको नित्यपना तो नहीं है। तथा व्यापक, कूटस्थ नित्य, शब्दोंस्वरूप निमित्तसे उत्पन्न होना भी श्रुतोंको प्राप्त होता नहीं है। यह बात सूत्रकी सामर्थ्यसे ही अर्थापत्तिद्वारा निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि सूत्रकारका श्रुतज्ञानको मतिपूर्वकपनेका वचन है। जैसे कि अवधि आदिक निमित्तोंका नैमित्तिकपना श्रुतमें नहीं है। अर्थात्—प्रवाहरूपसे द्रव्यश्रुत या भावश्रुत भले ही नित्य रहें, किन्तु व्यक्तिरूपसे श्रुत अनित्य है। और अनित्य मतिज्ञानसे उपजता है। केवलज्ञानसे भी पुरुषार्थद्वारा परम्परया शब्दश्रुत उत्पन्न हो जाता है। अनित्य शब्दोंसे भावश्रुत हो जाता है। अवधि आदि तो श्रुतके निमित्त नहीं हैं।

श्रुतनिमित्तत्वं श्रुतस्यैवं बाध्येतेति न शंकनीयं । कुतः ?

कोई शंका करता है कि इस प्रकार मतिज्ञानको ही श्रुतका निमित्त मान लेनेपर तो फिर श्रुतज्ञानके पीछे उस श्रुतज्ञानको निमित्त मानकर उपजनेवाले द्रव्यश्रुत या भावश्रुतकी उत्पत्तिमें बाधा आती है। लक्षण अव्याप्त हुआ जाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसी तो शंका नहीं करना चाहिये। कारण कि (क्योंकि)।

पूर्वशब्दप्रयोगस्य व्यवधानेपि दर्शनात् ।
न साक्षान्मतिपूर्वस्य श्रुतस्येष्टस्य बाधनम् ॥ ६ ॥
लिंगादिवचनश्रोत्रमतिपूर्वात्तदर्थगात् ।
श्रुताच्छ्रुतमिति सिद्धं लिंग्यादिविषयं विदाम् ॥ ७ ॥

कुछ दो एक पदार्थोंका व्यवधान हो जानेपर भी पूर्वशब्दका प्रयोग होना देखा जाता है। जैसे कि मथुरासे पूर्व पटना है, अथवा धारणाके पूर्वमें अवग्रहज्ञान रहता है, कुशूलके पूर्व शिवक है, आदि। तभी तो अव्यवहित पूर्वमें अव्यवहितपद सार्थक हो सकता है। इस कारण जिस श्रुतमें साक्षात्‌रूपसे मतिज्ञान निमित्त हो रहा है, अथवा श्रुतजन्य श्रुतज्ञानमें परम्परासे मतिज्ञान निमित्त कारण हो रहा है, उस इष्ट श्रुतके संग्रह या उत्पत्तिकी कोई बाधा प्राप्त नहीं है। " मतिपूर्वं " कहनेसे साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक दोनोंका ग्रहण हो जाता है। विद्वानोंके यहां यह बात प्रसिद्ध है कि धूमका चाक्षुष मतिज्ञान होकर उस मतिज्ञानके निमित्तसे हुआ न्यारी अग्निका ज्ञान तो साक्षात् मतिपूर्वक श्रुतज्ञान है। और परार्थानुमान करते समय किसी आप्त पुरुषके धूम-शब्दका कानोंसे मतिज्ञान कर उसके वाच्य अर्थ धूआंका पहिला श्रुतज्ञान अव्यवहित मतिज्ञानपूर्वक उठाया जाता है। पीछे प्रथम श्रुतज्ञानसे उपजा दूसरा अग्नि, आदिका श्रुतज्ञान तो परम्परा मतिज्ञान-पूर्वक उत्पन्न हुआ कहा जाता है। लिंग आदिके वचनको पूर्वमें श्रोत्र मतिज्ञानसे जानकर उसके वाच्य अर्थको विषयी होकर प्राप्त हो रहे पहिले श्रुतज्ञानसे साध्य आदिको विषय करनेवाला दूसरा श्रुतज्ञान विद्वानोंके यहां इस प्रकार प्रसिद्ध हो रहा है। उस दूसरे श्रुतज्ञानसे अनुमेयपन धर्मको जाननेवाला तीसरा श्रुतज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है। हेतुमालासे जहां मूलसाध्यको साधा जाता वहां दस, पन्द्रह भी श्रुतज्ञान उत्तरोत्तर होते जाते हैं। उन सबके पहिले होनेवाला मतिज्ञान उनका परम्परया निमित्तकारण हो रहा है। तभी तो कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें रहनेवाला समर्थ कारण पद नहीं देकर आचार्य महाराजने पूर्वपद प्रयुक्त किया है। सूत्रकार तो वादी प्रतिवादी सबके अन्तर्यामी हैं।

नन्वेवं केवलज्ञानपूर्वकं भगवदर्हत्प्रभाषितं द्रव्यश्रुतं विरुध्यत इति मन्यमानं प्रत्याह।

पुनः दूसरी शंका है कि इस प्रकार भी कहनेपर जैनोंके यहां भगवान् अर्हन्तदेवद्वारा अच्छे भाषण किये गये शब्द आत्मक द्रव्यश्रुतको केवलज्ञानपूर्वकपना जो माना जा रहा है, वह विरुद्ध पड जायगा। क्योंकि आप तो श्रुतके पूर्वमें मतिज्ञान या श्रुतज्ञान ही स्वीकार करते हैं। किन्तु देवाधिदेव भगवान्‌के शब्दमय द्रव्यश्रुतके पूर्वमें तो केवलज्ञान है। व्यवहित या अव्यवहितरूपसे मतिज्ञान वहां पूर्ववर्ती नहीं है। अतः फिर अव्याप्ति हुयी। इस प्रकार मान रहे शंकाकारके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट समाधान कहते हैं।

न च केवलपूर्वत्वात्सर्वज्ञवचनात्मनः ।
श्रुतस्य मतिपूर्वत्वनियमोत्र विरुध्यते ॥ ८ ॥
ज्ञानात्मनस्तथाभावप्रोक्ते गणभृतामपि ।
मतिप्रकर्षपूर्वत्वादर्हत्प्रोक्तार्थसंविदः ॥ ९ ॥

सर्वज्ञ प्रतिपादित वचनस्वरूप श्रुतको केवलज्ञानपूर्वक हो जानेसे इस प्रकरणमें श्रुतको मतिपूर्वकपनेके नियमका कोई विरोध नहीं पडता है। क्योंकि ज्ञानात्मक श्रुतका श्री उमास्वामी महाराजने तिस प्रकार मतिज्ञानपूर्वकपना अच्छे ढंगसे कहा है। ऐसा होनेपर सभी श्रुतज्ञानोंको साक्षात् या परम्परासे मतिपूर्वकपना सध जाता है। श्रीअर्हंत भगवानका द्रव्यश्रुत तो भले ही केवलज्ञानपूर्वक रहे, कोई क्षति नहीं है। केवली महाराजके भावश्रुतज्ञान हो जानेका तो असम्भव है। शेष सर्वजीवोंके मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। चार ज्ञानको धारनेवाले गणधर महाराजोंके भी अर्हंतभाषित अर्थकी श्रुतज्ञानरूप सम्वित्तिको प्रकर्षमतिज्ञानपूर्वकपना है। अर्थात्—श्री अर्हंतके सर्वांगसमुद्भव अर्धमागधी भाषाका कर्ण इन्द्रियोंसे बढिया मतिज्ञान कर ही पीछे वाच्य और गम्यमान असंख्य प्रमेयोंका श्रुतज्ञान गणधरदेव करते हैं। गणधरदेवके यद्यपि प्रथमसे ही श्रुतज्ञान हो चुका है। फिर भी अर्हंतदेवने केवलज्ञानद्वारा जिन सूक्ष्मपर्यायोंका प्रत्यक्ष कर लिया है, उन प्रज्ञापनीय, अनभिलाप्य, सूक्ष्मपर्यायोंका श्रीतीर्थंकर महाराजकी दिव्यध्वनिके निमित्तसे गणधरकी आत्मामें विशेषज्ञान हो जाता है। तभी तो असंयमी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिकदेव, सर्वार्थसिद्धिके देवोंके श्रुतज्ञान और संयमी मुनि महाराजके पूर्ण श्रुतज्ञान तथा गणधरोंके श्रुतज्ञान एवं क्षपकश्रेणीके श्रुतज्ञानोंमें अविभागप्रविच्छेदोंका तारतम्य है। केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद जैसे उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्यावाले नियत हैं, उस प्रकार पूर्ण श्रुतज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद एक संख्यामें नियत नहीं हैं। न्यून, अधिक, भी हैं। हां, मोटे रूपसे इन सबको पूर्णश्रुतज्ञानी कह दिया जाता है। जैसे शास्त्रीय परीक्षाके तेतीससे प्रारम्भ कर सौ लब्धाङ्क तक प्राप्त करनेवाले सभी छात्रोंको एकसा "शास्त्री" कह देते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान्के शब्दोंको कर्ण इन्द्रियसे अच्छा सुनकर श्रावणमतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान गणधरोंके भी होता है। गणधरोंके लिये कोई न्यारा (स्पेशल) मार्ग नहीं है।

श्रुतज्ञानं हि मतिपूर्वं साक्षात्पारंपर्येण वेति नियम्यते न पुनः शब्दमात्रं यतस्तस्य केवलपूर्वत्वेन विरोधः स्यात्। न च गणधरदेवादीनां श्रुतज्ञानं केवलपूर्वकं तन्निमित्तशब्द-विषयमतिज्ञानातिशयपूर्वकत्वात्तस्येति निरवद्यं।

ज्ञानस्वरूप श्रुत हो साक्षात् अथवा परम्पराकरके पूर्ववर्ती हो रहे मतिज्ञानसे उत्पन्न होता है, ऐसा नियम किया जा रहा है। किन्तु फिर सम्पूर्ण शब्द आत्मक श्रुत भी मतिपूर्वक है, यह नियम नहीं किया जा रहा है, जिससे कि उन सर्वज्ञ वचनोंको केवलज्ञानपूर्वकपना होनेके कारण विरोध दोष आ जाय। अर्थात्—द्रव्यश्रुतके पूर्वमें केवलज्ञानके हो जानेसे श्रुतज्ञानके मतिपूर्वकपनका पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं आता है। गणधर देव, भरतचक्रवर्ती, समवसरणमें बैठे हुये अन्य मुनि, श्रावक, इन्द्र, सिंह, आदिकोंको उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान भी केवलज्ञानपूर्वक नहीं है। किन्तु उस श्रुतज्ञानके निमित्तकारण हुये सर्वज्ञ उक्त शब्दोंको विषय करनेवाले कर्ण इन्द्रियजन्य विशिष्ट अतिशयवाले मतिज्ञानको अव्यवहित पूर्ववर्त्ती मानकर उन गणधर आदिकोंके वह श्रुतज्ञान उत्पन्न हो रहा है। इस कारण अव्याप्ति आदि दोषोंसे रहित यह श्रुतज्ञानका लक्षणसूत्र निर्दोष है।

मतिसामान्यनिर्देशान्न श्रोत्रमतिपूर्वकं।
श्रुतं नियम्यतेऽशेषमतिपूर्वस्य वीक्षणात् ॥ १० ॥
श्रुत्वा शब्दं यथा तस्मात्तदर्थं लक्षयेदयं।
तथोपलभ्य रूपादीनर्थं तन्नांतरीयकम् ॥ ११ ॥

सूत्रकारने मतिपूर्वं ऐसा निर्देश कहकर सामान्यरूपसे सम्पूर्ण मतिज्ञानोंका संग्रह कर लिया है। अतः केवल श्रोत्रइन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही पूर्ववर्त्ती मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होय ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है। कारण कि रूपका चाक्षुषज्ञान, रस या रसवान्का रासन ज्ञान अथवा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक सभी प्रकारके मतिज्ञानोंस्वरूप पूर्ववर्त्ती निमित्तोंसे श्रुतज्ञानोंकी उत्पत्ति होती हुयी देखी जाती है। यह श्रुतज्ञानी जीव या श्रुतशब्दप्रयोक्ता वक्ता जिस प्रकार शब्दको सुनकर उससे उसके वाच्य अर्थको लक्षित कर देता है। तिस ही प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा रूप, स्पर्श आदि अर्थोंको मतिज्ञानसे जानकर उन अर्थोंके अविनाभावी अर्थान्तरोंकी भी श्रुतज्ञानद्वारा लक्षणा कर लेता है। अर्थात्-कर्ण इन्द्रियके समान अन्य पांचों इन्द्रियोंसे भी मतिज्ञान होकर उसको पूर्ववर्ती निमित्त कारण हो जानेपर द्रव्यश्रुत या भावश्रुत उपज जाते हैं। हां, मोक्ष, मोक्षकारण, और संसार, संसारकारण, तत्त्वोंका विशेषरूपसे विवेचन तो वचन या शास्त्रों द्वारा होता है। अतः श्रुतकी बहुभाग प्रवृत्ति श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानमें हो रही है। एतावता अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतोंका निराकरण नहीं किया जा सकता है।

यथा हि शब्दः स्ववाच्यमविनाभाविनं प्रत्यापयति तथा रूपादयोपि स्वाविनाभाविनमर्थं प्रत्यापयंतीति श्रोत्रमतिपूर्वकमिव श्रुतज्ञानमीक्ष्यते। ततो न श्रोत्रमतिपूर्वकमेव तदिति नियमः श्रेयान्, मतिसामान्यवचनात्।

जिस ही प्रकार शब्द अपने अविनाभावी वाच्य अर्थका निश्चमसे निश्चय करा देता है, उसी प्रकार रूप, रस, आदिक भी अपने साथ अविनाभाव रखनेवाले दूसरे अर्थोंकी प्रतीति करा देते हैं। इस प्रकार श्रोत्रमतिपूर्वक श्रुतज्ञानके समान ही चाक्षुष आदि मतिपूर्वक भी श्रुतज्ञान होते देखे जाते हैं। किसी विद्वान् रोगी, धनाढ्य, जितेन्द्रिय, व्यभिचारी, चोरके मुखको देखकर विज्ञ पुरुष उनको वैसा वैसा होनेका श्रुतज्ञान कर लेते हैं। कस्तूरी, हींगडा आदिकी गन्धको सूंघकर उन द्रव्योंका या उनके प्रकर्ष अपकर्षका ज्ञान हो जाता है। बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है। सबसे बडा प्रत्यक्ष जो केवलज्ञान है, वह भी विचार नहीं कर सकता है। विचार करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान ही माना गया है। अतः रसना या घ्राण इन्द्रियोंसे केवल गन्ध, रसका ही शुद्ध ज्ञान होता है, जो कि सच पूंछो तो अवक्तव्य है। गन्ध है या रस है, इस प्रकारके विचार भी तो श्रुतज्ञान है। किन्तु क्या किया जाय, शिष्यको व्युत्पत्ति करानेके लिए अवक्तव्य पदार्थका भी शब्दद्वारा निरूपण करना पडता है। शिष्यके समझ जानेपर यह अवक्तव्य तत्त्व है, ऐसा समीचीन बोध करा दिया जाता है। भगवान् केवलज्ञानी भी सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर अपनी दिव्यभाषासे श्रोताओंकी आत्माओंमें श्रुतज्ञान उपजा देते हैं। इसमें भी यही रहस्य समझ लेना। वस्तुतः तत्त्व तो अवाच्य है। हां, यों ही सुनते, समझते, तत्त्वके अन्तस्तलपर ज्ञानी पहुंच जाता है। क्या किया जाय, राजमार्ग यही है। यों कह देना तो प्रकृष्ट आचार्यको ही शोभता है कि " **यत्परैः प्रतिपाद्योहं यत्परान् प्रतिपादये। उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः** "। यहां यों कहना है कि यह कस्तूरीकी गन्ध है, यह नींबूका रस है, चूलेकी अग्निसे पजायेकी अग्नि अत्युष्ण है, यह मखमल या मलमल अच्छी है, दो रुपया या एक रुपया गजके मूल्यकी है, यह मुर्गेका शब्द है, मोरका नहीं है, इत्यादि विचार सब श्रुतज्ञान हैं। मूर्ख, बधिर, अन्धे जीवोंके अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंसे अनेकानेक श्रुतज्ञान उपजते देखे जाते हैं। तिस कारण यह श्रुतज्ञान केवल श्रोत्रमतिपूर्वक ही है, यह नियम करना श्रेष्ठ नहीं है। अन्यथा अन्धे, बहिरे, पण्डितोंके श्रुतज्ञानोंमें या अन्य भी जीवोंके श्रुतज्ञानोंमें लक्षण नहीं घटनेसे अव्याप्ति हो जायगी सो नहीं हो सकती है। क्योंकि सार्व सूत्रकार महाराजने सामान्य मतिज्ञानोंके संग्रहार्थ " मतिपूर्वं " ऐसा सामान्यकरके मति यह वचन कहा है, जो कि सभी मतिज्ञानोंको श्रुतको निमित्त हो जा सकना कह रहा है।

न स्मृत्यादि मतिज्ञानं श्रुतमेव प्रसज्यते।
मतिपूर्वत्वनियमात्तस्यास्य तु मतित्वतः ॥ १२ ॥
श्रुतज्ञानावृतिच्छेदविशेषापेक्षणस्य च।
स्मृत्यादिष्वंतरंगस्याभावान्न श्रुततास्थितिः ॥ १३ ॥

इस प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, धारणा आदिक मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान हो जांय, यह प्रसंग तो नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि सूत्रकारने उस श्रुतज्ञानको मतिपूर्वकपनेका नियम किया है। किन्तु ये स्मृति आदिक तो स्वयं मतिज्ञानरूप ही हैं। हां, यदि इन स्मरण आदिके पूर्वमें साक्षात् या परम्परासे मतिज्ञान वर्त गया होता, तब तो ये श्रुत कहे जा सकते थे। किन्तु ये स्मरण आदिक तो मूलमें ही स्वयं मतिज्ञान स्वरूप हैं। [illegible] देवदत्तका शरीर ही तो देवदत्तका पुत्र नहीं हो सकता है। श्रुतज्ञानावरण कर्मके विशेष क्षयोपशमकी अपेक्षा श्रुतज्ञानको होती है। श्रुतज्ञानका वह अन्तरंग कारण है। जैसे कि मिथ्यादर्शनका अन्तरंग कारण पौद्गलिक मिथ्यात्वकर्म है और बहिरंग कारण मिथ्याज्ञान है। स्मृति आदिक तो अपने अन्तरंग कारण मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न होते हैं। अतः स्मृति आदिकोंमें श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशमस्वरूप अन्तरंग कारण के नहीं होनेसे श्रुतपना व्यवस्थित नहीं हो पाता है।

मतिर्हि बहिरंगं श्रुतस्य कारणं अंतरंगं तु श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाविशेषः। स च स्मृत्यादेर्मतिविशेषस्य नास्तीति न श्रुतत्वम्।

जिस कारणसे कि मतिज्ञान तो द्रव्यश्रुत या भावश्रुतका बहिरंग कारण है। श्रुतका अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है। क्षयोपशमकी विशेषता यही है कि उस कालमें प्रतिपक्षी कर्मोंकी उदीरणा नहीं हो सके। या श्रुतज्ञानीको नींद, भूक, रोग, चिंतायें आदि नहीं सता सकें, मन्दज्ञानियोंके मन्द क्षयोपशमकी अपेक्षा उसका क्षयोपशम बढिया होय, वैसा श्रुतज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम तो विशेषमतिज्ञान स्वरूप हो रहे स्मृति आदिकोंके नहीं है। इस कारण स्मृति आदिकोंको श्रुतपना नहीं प्राप्त हो पाता है। यह अतिव्याप्ति दोषका निवारण कर दिया गया।

मतिपूर्वं ततो ज्ञेयं श्रुतमस्पष्टतर्कणम्।
न तु सर्वमतिव्याप्तिप्रसंगादिष्टबाधनात् ॥ १४ ॥

जो कोई प्रतिवादी अविशदरूप तर्कणा करनेको श्रुतज्ञान कहते हैं, उनको भी उस अस्पष्ट तर्कण लक्षणसे वह मतिपूर्वक होता हुआ ही अस्पष्ट सम्वेदन श्रुत समझना चाहिये। किन्तु सभी अविशद सम्वेदनोंको श्रुत नहीं समझ लेना चाहिये। अन्यथा यानी मतिपूर्वक होनेवाले या इन्द्रियपूर्वक होनेवाले अथवा व्याप्तिज्ञानपूर्वक होनेवाले एवं अवग्रहपूर्वक हुये आदिक सभी अविशदज्ञानोंको यदि श्रुत माना जायगा, तब तो रासन, स्पार्शन मतिज्ञान, अनुमान, ईहा, आदिक अस्पष्ट ज्ञानोंमें अतिव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा और ऐसा होनेसे इष्टसिद्धान्तमें बाधा उपस्थित हो जायगी जो कि अभीष्ट नहीं है।

श्रुतमस्पष्टतर्कणमित्यपि मतिपूर्वं नानार्थप्ररूपणं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षमित्यवगंतव्यमन्यथा स्मृत्यादीनामस्पष्टाक्षज्ञानानां च श्रुतत्वप्रसंगात् सिद्धांतविरोधापत्तिरिति सूक्तं मतिपूर्वं श्रुतं।

पदार्थोंका अविशद वेदन (तर्कण) करना श्रुतज्ञान है। यह लक्षण " मतिपूर्वं " विशेषण लगा देनेपर तो ठीक बैठ जायगा, अन्यथा नहीं। तथा श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ, और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरोंका प्ररूपण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है, यह समझ लेना चाहिये। अन्यथा यानी ऐसा नहीं माननेपर दूसरे प्रकारोंसे माना जायगा तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक तथा अन्य इन्द्रियोंसे जन्य अस्पष्ट मतिज्ञानोंको भी अस्पष्ट सम्वेदन होनेके कारण श्रुतपनेका प्रसंग आ जावेगा और ऐसा हो जानेसे जैनसिद्धान्तके साथ विरोध हो जानेकी आपत्ति खडी हो जाती है। इस कारण निःस्वार्थ उपकारी श्री उमास्वामी महाराजने यह सूत्र बहुत ही अच्छा कहा है कि मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। बहिरंग कारण मतिज्ञानसे और अन्तरंग कारण श्रुतज्ञानावरण क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ अविशदज्ञान श्रुतज्ञान है, यह इसका तात्पर्य है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकी।

तच्च। — और वह निर्दोष सिद्ध किया जा चुका श्रुतज्ञान तोः—

द्विभेदमंगबाह्यत्वादंगरूपत्वतः श्रुतम्।
अनेकभेदमत्रैकं कालिकोत्कालिकादिकम् ॥ १५ ॥
द्वादशावस्थमंगात्मतदाचारादिभेदतः।
प्रत्येकं भेदशब्दस्य संबंधादिति वाक्यभित् ॥ १६ ॥

" श्रुतं मतिपूर्वं " इतने सूत्रार्द्धका व्याख्यान कर अब " अनेकद्वादशभेदम् " इस उत्तरार्द्धका भाष्य करते हैं कि वह श्रुतज्ञान अंगबाह्य स्वरूपसे और अंगरूपपनेसे दो भेदवाला है। इनमें पहिला एक तो कालिक, उत्कालिक, सामायिक, स्तव, आदिक अनेक भेदवाला है। तथा अंग स्वरूप वह श्रुतज्ञान तो आचार, सूत्रकृत, स्थान आदि भेदोंसे बारह अवस्था युक्त हो रहा है। या बारहभेदोंमें अवस्थित है। द्वन्द्वके अन्तमें पडे हुये भेदशब्दका प्रत्येकमें सम्बन्ध हो जानेसे दो भेद, अनेक भेद, और बारह भेद, इस प्रकार भिन्न भिन्न तीन वाक्य हो जाते हैं। जो कि भेद और उत्तरभेदोंके लिये उपयोगी हैं।

मुख्या ज्ञानात्मका भेदप्रभेदास्तस्य सूत्रिताः।
शब्दात्मकाः पुनर्गौणाः श्रुतस्येति विभिद्यते ॥ १७ ॥

इस सूत्रमें श्रुतज्ञानके कहे गये भेदप्रभेद मुख्य रूपसे तो ज्ञानस्वरूप सूचित किये गये हैं। हां, फिर श्रुतके शब्द–आत्मक भेद तो गौण होते हुये यहां सूत्रमें कहे गये हैं। इस प्रकार श्रुतके मुख्यरूपसे ज्ञानस्वरूप और गौणरूपसे शब्दस्वरूप विशेष भेद करलेना चाहिये। वस्तुतः जैन सिद्धान्तमें ज्ञानको ही प्रमाण इष्ट किया है। किन्तु ज्ञानके कारणोंमें प्रधान कारण शब्द है। जैसे कि शरीरके अवयवोंमें नेत्र प्रधान हैं। मोक्ष या तत्त्वज्ञानके उपयोगी अथवा विशिष्ट विद्वत्ता सम्पादनार्थ शब्द ही आवश्यक पडते हैं। अतः "तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्" शिष्यके ज्ञानका कारण और वक्ताके ज्ञानका कार्य होनेसे उस ज्ञानका प्रतिपादक वचन भी उपचारसे प्रमाण कह दिया जाता है। वैसे ही यहां शब्दको भी श्रुतका गौणरूपसे भेद, प्रभेद, मान लिया गया है।

तत्र श्रुतज्ञानस्य मतिपूर्वकत्वेपि सर्वेषां विप्रतिपत्तिमुपदर्शयति।

तिस प्रकरणमें श्रुतज्ञानका मतिपूर्वकपना सम्पूर्ण वादियोंके यहां सिद्ध हो चुकनेपर भी किसी किसीके यहां विवादग्रस्त हो रहे इस विषयको ग्रन्थकार दिखलाते हैं। अथवा श्रुतज्ञानके मतिपूर्वकपनेमें सभी वादियोंका विवाद नहीं है, इसको प्रकट करे देते हैं। "अविप्रतिपत्ति" पाठ अच्छा है।

शब्दज्ञानस्य सर्वेपि मतिपूर्वत्वमादृताः।
वादिनः श्रोत्रविज्ञानाभावे तस्यासमुद्भवात् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण भी वादी विद्वान् शब्दजन्य वाच्य अर्थज्ञानरूप श्रुतज्ञानका मतिपूर्वकपना आदर सहित मान चुके हैं। क्योंकि कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञानके नहीं होनेपर उस शाब्दबोधकी भले प्रकार उत्पत्ति नहीं हो पाती है। शब्दश्रवण, संकेतस्मरण, ये सभी वाच्यार्थ ज्ञानोंमें कारण पड जाते हैं। यों व्यतिरेकबलसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका कार्यकारणभाव सध जाना प्रायः सबको अभीष्ट है। किन्तु जैनोंके व्यापक पूर्वापरीभावसे यह वादी विद्वानोंके द्वारा अभीष्ट किया गया कार्यकारणभाव संकुचित है। यह ध्यानमें रखना। मायायुक्त चंचल जगत्में न जाने किस किस ढंगसे अनेकरूप धारनेवाले पण्डितजन पैंतरे बदलते रहते हैं। किन्तु वीतरागकी उपासना करनेवाले ठोस विद्वान् तो अपने न्यायमार्गपर ही आरूढ रहकर त्रिलोक, त्रिकालमें, अबाधित हो रहे तत्त्वोंका प्रतिपादन करते रहते हैं। अन्तमें सत्यकी ही विजय होगी।

भवतु नाम श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकं याज्ञिकानामपि तत्राविप्रतिपत्तेः। "शब्दादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि। श्राद्धं तदिति मन्यंते प्रमाणांतरवादिनः" इति वचनात्, शब्दात्मकं तु श्रुतं वेदवाक्यं न मतिपूर्वकं तस्य नित्यत्वादिति मन्यमानं प्रत्याह।

मीमांसक ऐसा मान रहे हैं कि वह श्रुतज्ञान (लौकिक) भले ही मतिज्ञानपूर्वक रहो कोई क्षति नहीं है। ज्योतिष्टोम, आदि यज्ञोंकी उपासना करनेवाले हम मीमांसकोंके यहां भी उसमें कोई

विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं है । हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कथन किया है कि प्रत्यक्ष नहीं भी हो रहे पदार्थमें शब्दसे संकेतस्मरणद्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, आगमज्ञानको न्यारा प्रमाण माननेवाले विद्वान् उस ज्ञानको शाब्दबोध इस नामसे स्वीकार करते हैं । किन्तु वह शब्दात्मक श्रुत तो वेदोंके वाक्य हैं । वे तो मतिज्ञानको पूर्ववर्ती मानकर नहीं उत्पन्न हुये हैं । क्योंकि वे वेदके वाक्य नित्य हैं । इस प्रकार अपने मनोनुकूल मान रहे मीमांसकोंके प्रति आचार्य महाराज परमार्थ तत्त्वको धरते हुये कहते हैं ।

शब्दात्मकं पुनर्येषां श्रुतमज्ञानपूर्वकं ।
नित्यं तेषां प्रमाणेन विरोधो बहुचोदितः ॥ १९ ॥

जिन मीमांसकोंके यहां शब्द आत्मक श्रुत पुनः ज्ञानपूर्वक नहीं माना जाकर नित्य माना गया है, उन याज्ञिकोंके यहां प्रमाणोंकरके विरोध आता है । इसको हम बहुत प्रकारसे पूर्व प्रकरणोंमें कह चुके हैं अथवा प्रमाणोंसे विरोध दोष आनेकी बहुत प्रेरणा कर चुके हैं । अब भी इतना सुन लो कि—

प्रत्यक्षबाधनं तावदग्निमीले पुरोहितं ।
इत्येवमादिशब्दस्य ज्ञानपूर्वत्ववेदनात् ॥ २० ॥

तिन प्रमाणोंमेंसे पहिले प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा तो बाधा यों उपस्थित हो जाती है कि " अग्निमीले (ड) पुरोहितं " इस प्रकारके अन्य भी वैदिक शब्दोंका ज्ञानपूर्वकपना जाना जा रहा है । अग्निकी या पुरोहितकी मैं स्तुति कर रहा हूं । इत्यादिक शब्दजन्यज्ञान तो शब्दका श्रावण प्रत्यक्षकर और उस अर्थके साथ शब्दका संकेत स्मरण कर पीछे ही आगमज्ञान होता हुआ जाना जा रहा है । अथवा " अग्निमीडे आदि शब्दों (वैदिक) की भी उत्पत्ति ज्ञानपूर्वक हो रही प्रतीत है ।

तद्व्यक्तेः ज्ञानपूर्वत्वं स्वयं संवेद्यते न तु ।
शब्दस्येति न साधीयो व्यक्तेः शब्दात्मकत्वतः ॥ २१ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि शब्दोंकी अभिव्यक्ति करनेके लिए ही ज्ञान पूर्ववर्ती हो जाते हैं अथवा शब्दकी अभिव्यक्ति ही ज्ञानपूर्वक होती हुई, स्वयं जानी जा रही है, शब्दको ज्ञानपूर्वकपना नहीं है, शब्द तो नित्य हैं, आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना अधिक अच्छा नहीं है । क्योंकि शब्दोंकी अभिव्यक्तिको भी तो शब्द आत्मकपना निश्चित है । घटकी अभिव्यक्ति घटस्वरूप ही पडेगी । अतः मतिज्ञानने शब्दकी अभिव्यक्तिकी मानो शब्दश्रुतको ही बनाया समझो ।

शद्धादर्थांतरं व्यक्तिः शद्धस्य कथमुच्यते ।
संबंधाच्चेति सम्बन्धः स्वभाव इति सैकता ॥ २२ ॥

यदि मीमांसक शब्दकी उस अभिव्यक्तिको शब्दसे न्यारा पदार्थ स्वीकार करेंगे, तब तो वह शब्दका प्रकट होना भला शब्दका है, यह कैसे कहा जा सकता है ? भिन्न हो रहा महिषका सींग तो घोडेका नहीं कहा जा सकता है । विन्ध्यपर्वतसे सर्वथा भिन्न पडा हुआ सह्य पर्वत तो विन्ध्याचलका है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है । इसपर यदि मीमांसक यों कहें कि शब्द और अभिव्यक्तिका सम्बन्ध हो जानेसे वह अभिव्यक्ति शब्दकी कह दी जायगी, जैसे कि भेद होते हुए भी देवदत्तकी टोपी ऐसा व्यवहार हो जाता है । इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि शब्द और अभिव्यक्तिका वह सम्बन्ध भला स्वका भावस्वरूप स्वभाव ही माना जायगा, और इस प्रकार माननेपर तो फिर वही शब्द और अभिव्यक्तिका एकपना प्राप्त हो जाता है । अतः अभिव्यक्तिके समान वैदिकशब्द भी ज्ञानसे उत्पन्न हुये कहे जायंगे ।

शद्धव्यक्तेरभिन्नैकसंबंधात्मत्वतो न किम् ।
संबंधस्यापि तद्भेदेऽनवस्था केन वार्यते ? ॥ २३ ॥

शब्दके उसकी प्रकटताके साथ होनेवाले सम्बन्धको यदि प्रतियोगी अनुयोगी दोनों पदार्थोंसे अभिन्न माना जायगा, तब तो अभिन्न एक सम्बन्ध आत्मकपना हो जानेसे क्यों नहीं शब्द और अभिव्यक्ति दोनों एक हो जायंगे ? हथेलीस्वरूप सम्बन्धीके साथ अभेद हो जानेपर मध्यमा और अनामिका अंगुलियोंका भी कथंचित् अभेद हो जाता है । एक बडी टंकीमेंसे सैकडों नलोंमें बह रहा पानी एकमएक समझा जाता है । यदि शद्ध और व्यक्तिके बीचमें पडे हुये सम्बन्धका भी उन प्रतियोगी, अनुयोगी दोनोंसे भेद माना जायगा तो अनवस्था दोष किसके द्वारा निवारा जा सकता है ? अर्थात्—भिन्नसम्बन्धको जोडनेके लिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होगी और सम्बन्धिओंसे भिन्न पडे हुये अन्य सम्बन्धको भी "उनका यह है", इस प्रकार व्यवहार करानेके लिये चौथे, पांचवें आदि सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती ही जायगी, यह अनवस्था दोष होगा । इसका निवारण मीमांसकोंके बूते नहीं हो सकता है ।

भिन्नाभिन्नात्मकत्वे तु संबंधस्य ततस्तव ।
शद्धस्य बुद्धिपूर्वत्वं व्यक्तेरिव कथंचन ॥ २४ ॥

यदि स्याद्वादनीतिका अनुकरण करते हुये मीमांसक यों कहें कि शद्ध और उसकी अभिव्यक्तिके मध्यमें पडा हुआ सम्बन्ध तो प्रतियोगी अभिव्यक्ति और अनुयोगी शद्धसे कथंचित्

भिन्न और कथंचित् अभिन्न स्वरूप है, तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण तुम्हारे यहां अभिव्यक्तिके समान शद्वको भी किसी अपेक्षासे बुद्धिपूर्वकपना प्राप्त हुआ। शद्व और अभिव्यक्तिका जिस अंशमें अभेद है, उसी अंशमें बुद्धिसे जैसे अभिव्यक्ति उपजती है, अभेद सम्बन्ध हो जानेके कारण वैसे ही मतिज्ञानसे शद्व भी उपज बैठेगा। अतः शद्व चाहे वैदिक हों अथवा लौकिक हों मंत्र हों, कोई भी होंय, वे अनित्य हैं। शद्व वस्तुतः पुद्गलकी पर्याय हैं। इसको हम साधचुके हैं।

व्यक्तिर्वर्णस्य संस्कारः श्रोत्रस्याथोभयस्य वा ।
तद्बुद्धितावृतेच्छेदः साप्येतेनैव दूषिता ॥ २५ ॥

जिस प्रकार भस्म या मिट्टीसे रगड देनेपर कांसे, पीतलके भांडोंका संस्काररूप अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार मीमांसक यदि अकार, गकार, आदि वर्णोंके संस्कार हो जानेको शद्वकी अभिव्यक्ति कहेंगे ? या श्रोत्र इन्द्रियके अतिशयाधानरूप संस्कारको शद्वकी अभिव्यक्ति मानेंगे ? अथवा वर्ण और श्रोत्र दोनोंके संस्कारयुक्त हो जानेको शद्वकी अभिव्यक्ति कहेंगे ? जो कि संस्कार उस शद्वके ज्ञान हो जानेका आवरण करनेवाले वायु या कर्म आदिका अपनयनरूप विच्छेदस्वरूप माना जावेगा। आचार्य कह रहे हैं कि वह संस्कार और अभिव्यक्ति भी इस उक्त कथनसे दूषित करदी गयी हैं। शद्वको कूटस्थ नित्य माननेपर और श्रोत्रको नित्य आकाशस्वरूप स्वीकार करनेपर उनका आवरण करनेवाला कोई नहीं सम्भवता है। ग्रन्थके प्रारम्भमें दूसरी, तीसरी वार्तिकोंके व्याख्यान अवसर पर इसका अच्छा विचार किया जा चुका है।

विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिर्विभाव्यते ।
नित्यस्यातिशयोत्पत्तिविरोधात्स्वात्मनाशवत् ॥ २६ ॥
कलशादेरभिव्यक्तिर्दीपादेः परिणामिनः ।
प्रसिद्धेति न सर्वत्र दोषोयमनुषज्यते ॥ २७ ॥

पदार्थोंके संस्कार दो प्रकारके होते हैं। सुवर्ण, पीतल आदिके या रांपीसे शुष्क चमडेका संस्कार तो उनके ऊपर लगे हुये मल, आवरण, दोषोंका दूरीकरण कर देनेसे हो जाते हैं। किन्तु दालमें जीरा, हींगडेका छोंक देनेसे या वस्त्रमें केतकी, इत्र आदिकी सुवासनायें कर देनेसे, सडकपर पानी छिडक देनेसे, अथवा बालोंमें पुष्पतेल डालनेसे, जो संस्कार किये जाते हैं, वे संस्कारित पदार्थोंमें कुछ अतिशयोंका धरदेना रूप हैं। पहिली कारिकामें शद्वके श्रावणप्रत्यक्षोंको रोकनेवाले वायु आदिक आवारकोंका निवारण किया जाना--स्वरूप अभिव्यक्तिका विचार कर दिया गया है। अब यदि मीमांसक इस शद्वके विशेष अतिशयोंका आधान करदेना--रूप अभिव्यक्ति

मानेंगे वह भी विचार करनेपर निर्णीत नहीं हो सकेगी। क्योंकि सर्वथा कूटस्थ नित्य शद्वके अतिशयोंकी उत्पत्ति होनेका विरोध है, जैसे कि कूटस्थ नित्यपदार्थकी स्वात्माका नाश हो जाना विरुद्ध है। अपने पूर्वस्वभावोंका त्याग उत्तरस्वभावोंका ग्रहण और स्थूल द्रव्यरूपसे स्थिरता इस प्रकारके परिणामवाले पदार्थमें तो उत्पाद, या विनाश बन सकते हैं। किन्तु मीमांसकोंके यहां माने गये सर्वथा नित्य शद्वमें नवीन अतिशयों या विशेषताओंका आधान नहीं हो सकता है। देखो, पहिलेसे अंधेरेमें रखे हुये कलश, मूढा, दण्ड, आदिक परिणामी पदार्थोंकी तो दीपक, विद्युत आदिकसे अभिव्यक्ति होना प्रसिद्ध हो रहा है। अतः परिणामी नहीं भी हो रहे पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हो जायगी, इस दोषका प्रसंग सर्वत्र (कहीं भी नहीं) नहीं लगता है। अर्थात्—परिणामी पदार्थकी परिणामी पदार्थसे अभिव्यक्ति सम्भवती है। शद्व अपने प्राचीन स्वभाव हो रहे नहीं सुने गयेपनका त्याग करे और नवीन श्रावणस्वभावको ग्रहण करे, तब कहीं परिणामी शद्वकी व्यंजकोंसे अभिव्यक्ति हो सकती है। अभिव्यंजक पदार्थ भी परिणामी होना चाहिये। दीपक अपने पहिलेके अघटप्रकाशपनस्वभावको छोडे और घटप्रकाशकपनको ग्रहण करे, तब कहीं घटका व्यंजक बने। अतः सर्वत्र तीन लक्षणवाले परिणामी पदार्थमें अभिव्यंज्य–अभिव्यंजकभाव बनता है। कूटस्थमें नहीं।

नित्यस्य व्यापिनो व्यक्तिः साकल्येन यदीष्यते।
किं न सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा तद्विनिश्चयः ॥ २८ ॥
स्वादृष्टवशतः पुंसां शाद्वज्ञानाविचित्रता।
व्यक्तेपि कात्स्न्यतः शद्वे भावे सर्वात्मके न किम् ॥ २९ ॥

हम मीमांसकोंसे पूंछते हैं कि सभी भूत, भविष्य, वर्तमान, कालोंमें वर्त रहे नित्य शद्वकी तथा लोक, अलोकमें सर्वत्र ठसाठस ठहर रहे व्यापक शद्वकी यदि सम्पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति हो जाना आप इष्ट करेंगे ? तो बताओ, सर्वदेशोंमें सर्वदा ही कर्ण इन्द्रियवाले सब जीवोंको उस शद्वका विशेषरूपसे निश्चय क्यों नहीं हो जाता है ? जब कि एक स्थानपर अभिव्यंजक द्वारा शद्व प्रकट हो चुका है, तो सर्वत्र, सर्वदा, सबको उस अखण्ड, निरंश शद्वके श्रवण करनेमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर मीमांसक यदि यों कहें कि कृत्स्न (परिपूर्ण) रूपसे शद्वके अभिव्यक्त हो जानेपर भी जीवोंके अपने अपने पुण्य, पापके वशसे शद्वसम्बन्धी ज्ञान होनेकी विचित्रता हो जाती है। जैसे कि गुरु, पुस्तक, विद्यालय, प्रबन्ध, आदिके एकसा ठीक ठीक होनेपर भी छात्रोंके न्यारी न्यारी जातिके क्षयोपशम होनेसे व्युत्पत्तियोंकी विचित्रता हो जाती है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन आपत्ति देंगे कि जैसे शद्वको व्यापक और नित्य माना जाता है, वैसे ही लगे हाथ शद्वको सर्व पदार्थ आत्मक भी मानलिया जाय, अथवा सांख्य मत अनुसार " सर्वं सर्वात्मकं "

या " या सर्वं सर्वत्र विद्यते " कह दिया जाय । शद्वके घट, पट, जीव, सुखस्वरूप हो जानेपर या घट आदिके सर्वत्र व्यापक हो जानेपर भी अदृष्टके वशसे ही नियत व्यक्तिमें शद्वका ज्ञान तो हो ही जायगा । अतः अभाव पदार्थको नहीं मानकर सम्पूर्ण भावोंको सर्व आत्मक क्यों नहीं मानलिया जाय । यदि अपने अपने द्रव्य, भाव, अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे माने जायंगे तो शद्व, घट, सभी पदार्थ अपने परिमित देश और नियत कालमें तिष्ठ रहे निर्णीत करने चाहिये । बुभुक्षाके अनुसार ही पेट पसारना उचित है । अधिक भक्षी या सर्वभक्षीकी दुर्गति अवश्यम्भाविनी है ।

देशतस्तदभिव्यक्तौ सांशता न विरुध्यते ।
व्यंजकायत्तशद्धानामभिन्ने सकलश्रुतिः ॥ ३० ॥

यदि दूसरा विकल्प उठाकर मीमांसक उस शद्वकी साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं मानकर एक देशसे अभिव्यक्ति होना मानेंगे, तब उक्त दोषका निवारण तो हो जायगा, किन्तु व्यंग्य शद्व और व्यंजक वायु आदिमें अंशसहितपना बन बैठेगा, कोई विरोध नहीं आता है । अर्थात्— मृदंगके सौ दो सौ हाथ तक निकट देशमें शद्व प्रकट हो जायगा, और अन्य सैकडों कोसोंमें भरा हुआ वह शद्व अप्रकट बना रहेगा । ऐसी दशामें शद्वके अनेक अंश हुये जाते हैं, जो कि मीमांसकोंने माने नहीं हैं । हां, हम स्याद्वादियोंके यहां शद्वको सांश माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । व्यंजक वायुओंके अधीन होकर वर्त रहे शद्वोंको अभिन्न माननेपर तो सम्पूर्ण वर्णोंकी युगपद् (एकदम) श्रुति हो जायगी । एक विवक्षित देशमें सम्पूर्ण अकार, इकार, ककार आदि वर्णोंके प्रकट हो जानेसे मिला हुआ चिचिरपिचिर संकुल श्रवण होगा, जो कि कभी मेले, पेंठ आदि अवसरोंमें कुछ दूरसे सुननेपर भले ही होय, किन्तु अन्य समयोंमें न्यारे न्यारे शुद्ध वर्णोंकी श्रुति होती रहती है । यह वर्णोंके अनित्य, अव्यापक, माननेपर ही घटित होता है ।

तस्य क्वचिदभिव्यक्तौ व्यापारे देशभाक् स्वतः ।
नानारूपे तु नानात्वं कुतस्तस्यावगम्यताम् ॥ ३१ ॥
स्वाभिप्रेताभिलापस्य श्रुतेरन्योन्यसंश्रयः ॥
सिद्धे व्यंजकनानात्वे विशिष्टवचसः श्रुतिः ॥ ३२ ॥
प्रसिद्धायां पुनस्तस्यां तत्प्रसिद्धिर्हि ते मते ।
यदि प्रत्यक्षसिद्धेयं विशिष्टवचसः श्रुतिः ॥ ३३ ॥
शेमुषीपूर्वतासिद्धिर्वाचां किं नानुमन्यते ।

यदि मीमांसक उस व्यंजकका शद्वके किसी ही अंशमें अभिव्यक्ति करनेके निमित्त व्यापार करना इष्ट करेंगे, तब तो वह शद्व स्वतः ही छोटे छोटे देशोंको धारनेवाला हो गया निरंश नहीं रहा अथवा मीमांसक अखण्ड एक वर्णके अभिव्यंजक कण्ठ तालुओंसे अकार, इकार भागकी अभिव्यक्ति होना स्वीकार करेंगे, उकार ऋकारकी नहीं, तो भी शद्वमें स्वतः देश अंशोंका धारण करना प्राप्त हो गया। एक ही वर्णके इकार, अकार, उकार आदि नानास्वरूप स्वीकार करेंगे, तो उस शद्वका या उसके व्यंजकोंका अनेक रूपपना कैसे जाना जा सकेगा ? उत्तर दो। यदि मीमांसक यह उत्तर कहें कि श्रोताओंको अपने अपने अभीष्ट हो रहे शद्वोंका श्रवण होता देखा जाता है। अतः वर्ण और उनके व्यंजक कारण अनेकरूप सिद्ध हो जाते हैं, इसपर तो हम तुम्हारे मतमें अन्योन्याश्रय दोष उठाते हैं कि व्यंजकोंका अनेकपना सिद्ध हो जानेपर तो विशिष्ट अनेक वचनोंका श्रवण होना सिद्ध होय और फिर विशेष विशिष्ट वचनोंका श्रवण प्रसिद्ध होनेपर तो उन व्यंजकोंका नानापन सिद्ध होय। यदि मीमांसक यों कहें कि विशिष्टवचनोंके सुननेको हम अनेक व्यंजकोंके अधीन मानकर नहीं साधते हैं, किन्तु यह विशिष्ट वचनोंका श्रवण तो सभी जीवोंको प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है। अतः अन्योन्याश्रय दोष लागू नहीं होता है। इसपर तो हम जैन कहेंगे कि प्रत्यक्षप्रसिद्ध होनेके कारण ही वचनोंका मतिपूर्वकपना सिद्ध है, यह क्यों नहीं सरलतासे मान लिया जाता है ?।

ननु ज्ञाननिमित्तत्वं वाचामुच्चारणस्य नः ॥ ३४ ॥
सिद्धं नापूर्णरूपेण प्रादुर्भावः कदाचन ।
कर्तुरस्मरणं तासां तादृशीनां विशेषतः ॥ ३५ ॥
पुरुषार्थोपयोगित्वभाजामपि महात्मनां ।
नैवं सर्वनृणां कर्तुः स्मृतेरप्रतिषिद्धितः ॥ ३६ ॥
तत्कारणं हि काणादाः स्मरंति चतुराननं ।
जैनाः कालासुरं बौद्धा स्वाष्टकात्संकलाः सदा ॥ ३७ ॥

मीमांसक ही अपने पक्षका अवधारण करते जा रहे हैं कि " दर्शनस्य परार्थत्वात् " दर्शन यानी अभिधान तो दूसरोंके लिये हुआ करता है। अतः हमारे यहां वचनोंका उच्चारण करना दूसरोंके ज्ञानोंका निमित्तकारण माना गया है। अपूर्व नवीनस्वरूपसे बुद्धिद्वारा शब्दोंका कभी भी उत्पाद होना सिद्ध नहीं है। क्योंकि तिस प्रकारके उन अपौरुषेय वचनोंके बनानेवाले कर्त्ताका विशेषरूपसे स्मरण नहीं होता है। आत्माके पुरुषार्थ करनेमें उपयोगसहितपनेको धारनेवाले महात्मा-

ओंको भी वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो मीमांसकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि सभी मनुष्योंको वेदके कर्ताकी स्मृति हो जानेका प्रतिषेध नहीं हो रहा है। यानी बहुतसे विचारशील मनुष्य वेदके कर्त्ताका स्मरण कर रहे हैं। कणाद मतके अनुयायी वैशेषिक तो उस वेदके (स्वतंत्र कर्ता) कारण ब्रह्माको स्मरणकर आराधते हैं, और जैन जन वेदके कर्ता कालासुरको स्मरण करते हैं। सम्पूर्ण बौद्धोंके यहां अपने अपने अंशोंको बनानेवाले आठ विद्वानों (अष्टक) को वेदका कर्ता माना गया है। यह सब अपने अपने ऋषियोंकी आम्नायसे चले आये शास्त्र प्रवाह अनुसार वेदकर्त्ताओंका कुछको छोडकर सभी जीवोंको सदा स्मरण हो रहा है। अतः कर्त्ताका असमरण होना वेद या अन्य शास्त्रोंको नित्यपना सिद्ध करनेके लिये उपयोगी नहीं है।

सर्वे स्वसंप्रदायस्याविच्छेदेनाविगानतः।
नानाकर्तृस्मृतेर्नास्ति तासां कर्तेत्यसंगतं ॥ ३८ ॥
बहुकर्तृकतासिद्धेः खंडशास्तादृगन्यवत्।

मीमांसक कहते हैं कि वैशेषिक, जैन, बौद्ध आदि वेदकर्त्ता वादी सभी विद्वान् अपनी अपनी सर्वज्ञमूलक ऋषिसम्प्रदायका मध्यमें विच्छेद नहीं होनेके कारण अनिन्दितरूपसे चतुर्मुख, कालासुर, अष्टक आदिक, अनेक कर्त्ताओंका स्मरण करते हैं। अतः प्रतीत होता है कि वेदका कर्त्ता कोई नहीं है। तभी तो निर्णीतरूपसे एक कर्त्ताका ज्ञान नहीं हो पाता है। जैसे कि महाभारत ग्रन्थके कर्त्ता एक ही व्यासका सबको स्मरण होता है, रत्नकरण्ड श्रावकाचारके कर्त्ता स्वामी श्री समन्तभद्रका सब स्मरण करते हैं। यदि वेदका भी कोई कर्त्ता होता तो एक ही विद्वान् होकर स्मृत किया जाता। किन्तु यहां कोई किसीको और कोई अन्यको कर्त्ता स्मरण कर रहे हैं। अतः वेदका कोई कर्त्ता नहीं है। अथवा सभी जीवोंको वेदश्रुतिओंके अपनी अपनी गुरु सम्प्रदायके न टूट जानेसे ही निर्दोषरूपसे अनेक कर्त्ताओंकी स्मृति होती है। अतः उन श्रुतिओंका कोई कर्त्ता नहीं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना तो असंगत है। क्योंकि भिन्न भिन्न शाखाओंके खण्डरूपसे अनेक कर्त्ताओंकी स्मृति हो जानेसे वेदका बहुत कर्त्ताओं करके बनाया गयापन सिद्ध हो जाता है। जैसे कि तिस प्रकारके अन्य शास्त्र कोई कोई अनेक विद्वानोंके बनाये हुये हैं। महापुराणको दो आचार्योंने बनाया है। कादम्बरीको बनानेवाले बाण, शंकर, आदि कर्त्ताओंके विषयमें अभीतक विवाद पडा है। एतावता कादम्बरीको भी अपौरुषेय नहीं कहा जाता है। मीमांसक भी कादम्बरीको अनित्य और पौरुषेय मानते हैं।

कर्तुरस्मरणं हेतुर्याज्ञिकानां यदीष्यते ॥ ३९ ॥
तदा स्वगृहमान्या स्याद्वेदस्यापौरुषेयता।

जगतोऽकर्तृताप्येवं परेषामिति चेन्न वै ॥ ४० ॥
कर्तुः स्मरणहेतुस्तत्सिद्धौ तैश्च प्रयुज्यते ।

यदि मीमांसकजनोंके यहां वेदको नित्य, अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिये कर्त्ताका स्मरण नहीं होना हेतु इष्ट किया जायगा, तब तो वेदका अपौरुषेयपना अपने घरमें ही मान लिया गया, समझा जायगा, जब कि वेदके कर्ताका स्मरण हो रहा है। यों तो कोई पुराने खण्डहर कुंआ आदिको भी अपौरुषेय कह देगा। क्योंकि उसको भी अपने घरमें खंडेराके कर्त्ताका स्मरण नहीं हो रहा है। इस प्रकार तो दूसरे वैशेषिक, नैयायिक, यौगोंके यहां जगत्का अकर्तृकपना भी बन बैठेगा, जो कि उनको निश्चयसे इष्ट नहीं हो सकता है। कारण कि उस जगत्कर्त्ता, ईश्वरकी सिद्धि करनेमें उन वैशेषिक आदिकोंकरके कर्त्ताका स्मरण होना ज्ञापक हेतु भले प्रकार प्रयुक्त किया जाता है। अपने अपने घरकी गढी हुई बातें कहें जाओ। मीमांसक वैशेषिकोंके जगत्कर्ताके स्मरणको मानते ही नहीं हैं।

महत्त्वं तु न वेदस्य प्रतिवाद्यागमात् स्थितम् ॥ ४१ ॥
येनाशक्यक्रियत्वस्य साधनं तत्तव स्मृतिः ।

मीमांसक कहते हैं कि वेद बहुत बडा ग्रन्थ है, कोई भी विद्वान् इतने महान् ग्रन्थको बना नहीं सकता है। इसपर हम जैन कहते हैं कि वेदोंका बडप्पन तो जैन, बौद्ध आदि प्रतिवादियोंके आगमसे प्रतिष्ठित नहीं हो रहा है। जिससे कि नहीं किया जासकनापन उस हेतुकी तुम्हारे यहां स्मृति ठीक मानी जाय।

पुरुषार्थोपयोगित्वं विवादाध्यासितं कथं ॥ ४२ ॥
विशेषणतया हेतोः प्रयोक्तुं युज्यते सतां ।

वेदके नित्यत्वको सिद्ध करनेमें दिये गये हेतुका विशेषण सम्पूर्ण पुरुषोंके प्रयोजन साधनेमें उपयोगीपना दिया है। सम्भवतः इसका यह अभिप्राय होवे कि विशेषसमयमें उपजा पुरुष अनादि कालीन जीवोंके प्रयोजनोपयोगी उपदेशको नहीं दे सकता है। आचार्य कहते हैं कि वह विशेषण तो विवादग्रस्त हो रहा है। अतः हेतुका विशेषणस्वरूप हो करके प्रयुक्त करनेके लिये सज्जन पुरुषोंके सन्मुख किस प्रकार युक्त हो सकता है ? अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञोंद्वारा भला जीवोंका प्रयोजन कहीं सध सकता है ? अर्थात्—नहीं। ऐसे अनेक प्रकरण वेदमें पाये जाते हैं जो कि लोक और समीचीन शास्त्र अथवा राजनीति, पंचायत नीतिसे विरुद्ध पडते हैं। और यों थोडे बहुत पुरुषार्थके उपयोगी तो कपोलकल्पित उपन्यास भी हो जाते हैं। एतावता कोई वेदोंमें महत्त्वकी सिद्धि नहीं।

वेदाध्ययनवाच्यत्वं वेदाध्ययनपूर्वताम् ॥ ४३ ॥
न वेदाध्ययने शक्तं प्रज्ञापयितुमन्यवत् ।

मीमांसक अनुमान बनाते हैं कि सर्व वेदाध्ययन (पक्ष) गुरु अध्ययनपूर्वकं (साध्य) वेदाध्ययनवाच्यत्वात् (हेतु) अधुनाध्ययनवत् (अन्वयदृष्टांत) वेदोंका पढना सदासे ही गुरुओंके अध्ययनपूर्वक ही चला आ रहा है । क्योंकि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिसे सहित होकर वैदिक मंत्रोंका उच्चारणपूर्वक अध्ययन गुरुवर्यके शब्दोंसे ही कहा जाता है, जैसे कि वर्तमान कालमें परम्परासे चले आये गुरुओंसे ही वेदका अध्ययन हो रहा है । अर्थात्–जैसे मल्हार, भैरवी, सोहनी आदि रागोंका उच्चारण पूर्वगुरुओंको जो प्राप्त हुआ था, वह उसके पहिलेके गुरुओंकी आम्नायसे चला आया हुआ ही आजतक धारारूपसे बह रहा है । श्लोक, ग्रन्थ या लेने देनेके खातेको तो लिखकर भी हम स्वतंत्रतासे पढ सकते हैं । किन्तु स्वरोंका आरोह अवरोह या भिन्न भिन्नरूपसे अलौकिक उच्चारण करना तो गुरुपर्वक्रमसे ही प्राप्त हो सकता है । बहुतसे वाच्यका हम उच्चारण कर सकते हैं । किन्तु अनेक संकेत अक्षरविन्यास करके भी हम उनको पूर्णरूपसे लिख नहीं सकते हैं । गवैया लोगोंका भिन्न भिन्न रागोंका गाना यदि लिख लिया जाय तो सभी बढिया गवैया हो जायंगे । रोने या हंसने अथवा खांसीके शब्द तथा मृदंग घनगर्जन, तोता, घोडा, आदिके शब्द लेखनी, मषी, द्वारा लिखे नहीं जा सकते हैं । हां, दूसरोंसे सुनकर उनका कुछ अनुकरण मुखसे किया जा सकता है । यही दशा वैदिक शब्दोंकी है । वेदका अध्ययन गुरुओंकी परिपाटीसे ही प्राप्त होता है । अतः वैदिक शब्द अनादि अनिधन है । इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वेदाध्ययन वाच्यपना हेतु वेदाध्ययन पक्षमें वेदाध्ययन पूर्वकपनेको बढिया समझानेके लिये समर्थ नहीं है । जैसे कि अन्य हेतु वेदाध्ययनपूर्वकपना साधनेके लिये समर्थ नहीं हैं । अथवा अन्य नैयायिक आदिकोंके यहां वेदका अध्ययन अनादिकालसे आरहा नहीं माना जा रहा है ।

यथा हिरण्यगर्भः सोऽध्येता वेदस्य साध्यते ॥ ४४ ॥
युगादौ प्रथमस्तद्वद्बुद्धादिः स्वागमस्य च ।
साक्षात्कृत्यागमस्यार्थं वक्ता कर्तागमस्य चेत् ॥ ४५ ॥
अग्निरित्यग्निरित्यादेर्वक्ता कर्ता तु तादृशः ।

जिस प्रकार मीमांसकोंद्वारा युगकी आदिमें वेदका सबसे प्रथम अध्ययन करनेवाला ब्रह्मा साधा जाता है, उसी प्रकार बुद्ध, कपिल, आदिक भी युगकी आदिमें अपने अपने आगमके अध्ययन करनेवाले माने जा रहे हैं । फिर वेदको ही अपौरुषेय माननेमें कौन ऐसा रहस्य

घुसा हुआ है ? बताओ। इसपर यदि मीमांसक यों कहें कि बुद्ध आदिक तो आगमके अर्थका विशद प्रत्यक्ष कर उस अर्थके वक्ता हैं। अतः वे तो आगमके बनानेवाले कर्ता ही समझे जायंगे, किन्तु वेदके हमारे माने हुये वक्ताओं द्वारा अतीन्द्रिय अर्थोंका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। अतः वेदके अध्येता या अध्यापक केवल अनुवादक समझे जायेंगे। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वैदिक अग्नि शब्दका और लौकिक अग्नि इत्यादि शब्दोंका जो कोई वक्ता है, वही वक्ता अग्नि इस शब्दका कर्ता है। और तैसा ही अग्निशब्द वेदमें सुना जा रहा है। अतः वहां भी तो वक्ता ही कर्ता समझा जायगा, अतः सहस्र शाखावाला वेद स्वर्गमें पहिले ब्रह्माकरके बहुत दिनतक पढा जाता है। फिर वहांसे उतर कर मनुष्यलोकमें मनु आदि ऋषियोंके लिये प्रकाश दिया जाता है। और फिर स्वर्गमें जाकर चिरकाल पढा जाता है। यह ब्रह्मा, मनु, आदिकी संतान अनादिसे चली आ रही मानना व्यर्थ है। जबतक मूलमें कोई अतीन्द्रिय अर्थोंका विशद प्रत्यक्ष करनेवाला नहीं माना जायगा, तबतक अन्धपरम्परासे तैसा ज्ञान चला आना असम्भव है। मध्यकालवर्ती अनेक पण्डित या व्याख्याता रागी, द्वेषी, अज्ञानी, होते चले आये हैं, तभी तो हिंसा, अहिंसावादी, भावना–नियोगवादी, ब्रह्मकर्मवादी, आदिक भेद अभीतक अड्डा जमाये हुये हैं। अतः वर्ण, पद, समुदायस्वरूप वेदका कर्ता मानना अनिवार्य है।

पराभ्युपगमात्कर्ता स चेद्वेदे पितामहः ॥ ४६ ॥
तत एव न धातास्तु न वा कश्चित्समत्वतः ।
नानधीतस्य वेदस्याध्येतास्त्यध्यापकाद्विना ॥ ४७ ॥
न सोस्ति ब्राह्मणोत्रादाविति नाध्येतृतागतिः ।

यदि मीमांसक यों कहें कि बुद्ध, नैयायिक, आदिक दूसरे विद्वानोंने तो अपने अपने आगमके कर्ता स्वयं बुद्ध आदिक स्वीकार किये हैं। अतः दूसरोंके कहनेसे ही उन आगमोंका वह कर्ता माना जा चुका है। इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि वेदमें भी वैशेषिक विद्वान् ब्रह्माको कर्ता मानते हैं। इस अंशमें उनका स्वीकार करना क्यों नहीं मान लिया जाता है ? यदि मीमांसक यों कहें कि तिस ही कारण विधाता भी कर्ता नहीं रहो तथा और भी कोई वेदका कर्ता नहीं रहो, क्योंकि सब अतीन्द्रिय ज्ञानसे रहित होते हुये सम (एकसे) हैं। पहिले नहीं पढे हुये वेदका अध्ययन करनेवाला कोई भी छात्र तो पढानेवाले अध्यापकके विना अध्ययन नहीं कर पाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो मीमांसकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यहां इस युगकी आदिमें कोई ऐसा ब्राह्मण नहीं है, या ब्रह्मा सिद्ध नहीं है, जिसका कि पढनेवालापन जान लिया जाय। अतः वेदके अध्येतापनका ज्ञान नहीं हो सकता है।

स्वर्गेधीतान् स्वयं वेदाननुस्मृत्येह संभवी ॥ ४८ ॥
ब्रह्माध्येता परेषां वाध्यापकश्चेद्यथायथं ।
सर्वेपि कवयः संतु तथाध्येतार एव च ॥ ४९ ॥
इत्यकृत्रिमता सर्वशास्त्राणां समुपागता ।

मीमांसक कहते हैं कि स्वर्गमें जाकर स्वयं पढे जा चुके वेदोंको पीछे पीछे स्मरण कर यहां मर्त्यलोकमें ब्रह्मा वेदोंका अध्ययन करनेवाला संभव जाता है। और दूसरे मनु, यज्ञवल्कि आदि ऋषियोंका यथायोग्य अध्यापक भी हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि मीमांसक यों कहेंगे तब तो तिसी प्रकार सम्पूर्ण कविजन भी स्वकृत काव्योंके पढनेवाले ही हो जाओ, अर्थात्—छोटे छोटे पुस्तक या श्लोकों अथवा पद्योंको बनानेवाले कवि लोगोंका भी ब्रह्माद्वारा अदृश्यरूपसे अध्यापन करना बन जाओ। इस प्रकार सम्पूर्ण छोटे बडे शास्त्रोंका अकृत्रिमपना अच्छे ढंगसे प्राप्त हो गया। छोटे, मोटे, छंद, गीत, कविता, गढनेवालोंकी तुकबन्दियां भी नित्य, अपौरुषेय, बन बैठेगीं, जो कि मीमांसकोंके यहां भी नित्य नहीं मानी गयीं हैं।

स्वयं जन्मांतराधीतमधीयामहि संप्रति ॥ ५० ॥
इति संवेदनाभावात्तेषामध्येतृता न चेत् ।
पूर्वानुभूतपानादेस्तदहर्जातदारकाः ॥ ५१ ॥
स्मर्तारः कथमेवं स्युस्तथा संवेदनाद्विना ।

गीत, छंद, ग्राम्यगीत, छोटी, बडी, पुस्तकोंको बनानेवाले विद्वानोंको तो इस प्रकारका सम्वेदन नहीं होता है कि अन्य पूर्वजन्ममें पढे जा चुके गीत आदिकोंको हम इस वर्तमान जन्ममें पढ रहे हैं। अतः उन कवियों या शास्त्ररचयिताओंको अध्येतापन नहीं है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम आपादन करेंगे कि क्योंजी, यों तो तैसे सम्वेदनके विना उसी दिनके उत्पन्न हुये बच्चे फिर पहिले जन्मोंमें इष्ट साधकपनेसे अनुभूत किये गये स्तन्यपान, अपने मुखद्वारकी ओर दूधको ले जाना, हाथोंसे पकडनेका अनुसन्धान रखना, आदि क्रियाओंके स्मरण करनेवाले भला कैसे हो सकेंगे ? अर्थात्—पूर्वजन्मोंमें किये जा चुके कृत्योंका अब सम्वेदन होय तभी उसके अनुसार इस जन्ममें क्रियायें की जांय। ऐसा कोई नियम नहीं है। गहरी चोटके कारण स्थान, समय आदिका स्मरण होनेपर ही पीछे फोडेमें पीडा होय और उनका स्मरण नहीं होनेपर न होय, ऐसा नियम बांधना प्रतीतिविरुद्ध है। अतः सम्वेदन किये विना भी उत्तर जन्मोंमें पूर्वजन्मकी स्मृतियां उद्भूत हो सकती हैं। ऐसी दशामें सभी पुस्तकें, गीत आदिक नित्य, अकृत्रिम हो जायंगे।

स्मृतिर्लिंगविशेषाच्चेत्तेषां तत्र प्रसाध्यते ॥ ५२ ॥
कवीनां किं न काव्येषु पूर्वाधीतेषु सान्वया ।

यदि मीमांसक यों कहें कि वैदिक शब्दों और अर्थोंकी तो उन ब्रह्मा, मनु, आदिको विशेष रूपसे स्मृति होती है । अतः उत्तरजन्ममें विशेष सम्वेदन होनेके कारण उन मनु आदिकोंके उन वेदोंमें विशेष स्मृतिस्वरूप ज्ञापकलिंगसे पूर्वजन्मका अध्ययन प्रकृष्ट रूपसे अनुमान द्वारा साध दिया जाता है । किन्तु कवियोंको विशेषस्मृति नहीं होनेके कारण अपने बनाये गये गीत, कविता, आदिका पूर्वजन्मोंमें अध्ययन करना नहीं साध्य किया जासकता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि कवियोंकी भी पूर्वजन्मोंमें पढे हुये ही वर्तमानकालीन काव्योंमें अन्वय सहित चली आरही, वह विशेष स्मृति क्यों नहीं मानली जाय ? कवि या भाटोंके बनाये हुये कवित्तोंमें भी पूर्व जन्मका अध्ययन कारण माना जा सकता है । तब तो वेदके समान वे छन्द भी अकृत्रिम हो जायंगे, बहुतसे वैदिकवाक्य भी तो गीतोंके समान हैं ।

यदि ह्युत्पत्तिवर्णेषु पदेष्वर्थेष्वनेकधा ॥ ५३ ॥
वाक्येषु चेह कुर्वंतः कवयः काव्यमीक्षिताः ।
किं न प्रजापतिर्वेदान् कुर्वन्नेवं सतीक्षितः ॥ ५४ ॥
कश्चित्परीक्षकैर्लोकैः सद्भिस्तद्देशकालगैः ।
तथा च श्रूयते सामगिरा सामानि रुग्मिराट् ॥ ५५ ॥
ऋचः कृता इति क्वेयं वेदस्यापौरुषेयता ।

यदि मीमांसक यों कहें कि अकार, ककार आदि वर्णोंमें या सुबन्त, तिङन्त, पदोंमें अथवा परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रख रहे पदोंके निरपेक्ष समुदायरूप वाक्योंमें इनके अर्थोंके होते सन्ते अनेक प्रकारसे उत्पत्ति होना देखा जाता है, और उन वर्ण, पद, वाक्योंकी जोड मिलाकर नवीन काव्यको करते हुये कविजन देखे गये हैं, अथवा इसी जन्ममें विशेष व्युत्पत्तिको प्राप्त कर कवि लोग नये नये काव्योंको बना देते हैं, यों काव्य, गीत आदिक पौरुषेय हैं, वेद ऐसे नहीं हैं । इस ढंगसे मीमांसकोंके कहनेपर हम जैनोंको कहना पडेगा कि इस प्रकार होनेपर तो ब्रह्मा भी वेदोंको कर रहा क्यों नहीं देखा गया कहा जाता है ? वेदोंके बनते समय उस देश, उस कालमें प्राप्त हुये रागद्वेषविहीन सज्जन लौकिक परीक्षकोंकरके वेदका कर्ता भी कोई पुरुष देखा गया है । वेद, वेदांग, श्रुति, स्मृति, पुराण, आदिक कोई भी अकृत्रिम नहीं हैं । और तिस प्रकार

सुना भी जाता है कि सामवेदकी वाणी करके सामगंत्रोंको पढा जाता है। उससे अनेक रोगोंका निवारण हो जाता है। ऋग्वेदकी ऋचायें अमुक ऋषियोंके द्वारा बनायी गयीं हैं। वेदोंकी उत्पत्तिके लिये शुक्ल यजुर्वेदमें लिखा है कि "ततो विराडजायत विराडो अधिपूरुषः सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ १ ॥ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पंशूस्ताश्चक्रेवायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ २ ॥ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांऽसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ३ ॥ तस्मादश्वा अजायन्त येके चोभयपादतः। गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ४ ॥ इस प्रकार श्रुतियें जब उत्पन्न हुयीं सुनी जा रही हैं, तो भला यह वेदका अपौरुषेयपना कहां रहा ? सामवेदको गानेवाले या ऋचाओंके बनानेवाले यज्ञ आदि ही उनके कर्ता हैं।

प्रत्यभिज्ञायमानत्वं नित्यैकान्तं न साधयेत् ॥ ५६ ॥
पौर्वापर्यविहीनेर्थे तदयोगाद्विरोधतः।
पूर्वदृष्टस्य पश्चाद्या दृश्यमानस्य चैकताम् ॥ ५७ ॥
वेत्ति सा प्रत्यभिज्ञेति प्रायशो विनिवेदितम्।

वेदका नित्यपना सिद्ध करनेके लिये मीमांसक लोग प्रत्यभिज्ञान द्वारा जान लिया गयापन हेतु देते हैं। अर्थात्—वेद नित्य है, क्योंकि यह वही है, इस प्रकार एकत्व प्रत्यभिज्ञान सदासे वेदका होता चला आया है। इसपर हम जैनोंका विचार है कि वह प्रत्यभिज्ञानका विषयपना हेतु भी वेदके एकान्तरूपसे नित्यपनेको सिद्ध नहीं करावेगा। कारण कि पूर्व, अपर, अवस्थाओंसे रहित हो रहे कूटस्थ पदार्थमें उस एकत्व प्रत्यभिज्ञानके होनेका अयोग है। क्योंकि विरोध दोष आता है। कूटस्थ तो जैसाका तैसा ही रहेगा रोमाग्रमात्र भी पलट नहीं सकता है। पहिले यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय नहीं था, तो प्रत्यभिज्ञान उठानेपर भी प्रत्यभिज्ञान द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकता है। पहिले देखा जा चुकापन और अब देखा जा रहापन, ये परिवर्तित धर्म कूटस्थमें नहीं टिक सकते हैं। द्रष्ट होगा तो द्रष्ट ही रहेगा, और यदि दृश्यमान हो गया तो सदा दृश्यमान ही सबको बना रहेगा। पहिले कालमें देखे हुये पदार्थकी पीछे वर्तमानमें देखे जा रहे पदार्थके साथ एकताको जो ज्ञान जानता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रकार प्रायः कई बार हम पूर्व प्रकरणोंमें विशेषरूपसे निवेदन कर चुके हैं। अतः कथंचित् पूर्व, उत्तर अवस्थाओंको थोडा पलटते हुये कालांतरस्थायी पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान होना सम्भवता है।

दृष्टत्वदृश्यमानत्वे रूपे पूर्वापरे न चेत् ॥ ५८ ॥
भावस्य प्रत्यभिज्ञानं न स्यात्तत्राश्वश्रृंगवत्।

तदनित्यात्मकः शद्धः प्रत्यभिज्ञानतो यथा ॥ ५९ ॥
देवदत्तादिरित्यस्तु विरुद्धो हेतुरीरितः ।

यदि मीमांसक यों कहें कि वैदिकशब्दोंकी पूर्वकालमें दृष्टता या श्रुतता और वैदिक शब्दों का वर्तमानमें दृश्यमानपना या श्रूयमाणपना ये दो स्वरूप कोई पहिले पीछेके नहीं हैं, ये तो केवल औपाधिक भाव हैं। अतः शब्दकी कूटस्थनित्यताका बालाग्र भी टूटना नहीं होता है। इस प्रकार उनके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि यदि पदार्थोंको अपनी गांठके स्वरूपोंसे रहित माना जायगा, तब तो घोडेके सींग समान किसी भी पदार्थका वहां प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि उन पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान होना माना जायगा, तब तो उन कालांतरस्थायी पदार्थोंके पलट रहे उस पदार्थके स्वरूप ही माने जायंगे और तिस कारण कोई भी शब्द जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञान होनेसे अनित्य आत्मक सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार देवदत्त, जिनदत्त, आकाश आदिक भी प्रत्यभिज्ञायमान हेतुसे नित्य, अनित्य आत्मक सिद्ध हो जाओ। इस प्रकार तो मीमांसकोंका प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कह दिया गया समझना चाहिये। वस्तुतः विचारा जाय तो रसोई घरमें व्याप्ति ग्रहण किये जा चुके धूएंके सादृश्यसे पर्वतीय धूमकरके अग्निकी प्रतिपत्ति कर ली जाती है। उसी प्रकार सदृश शब्दोंसे उनके वाच्य अर्थोंका शाब्दबोध कर लिया जाता है। शब्द सर्व अनित्य हैं।

दर्शनस्य परार्थत्वादित्यपि परदर्शितः ॥ ६० ॥
विरुद्धो हेतुरित्येवं शद्धैकत्वप्रसाधने ।

मीमांसकोंने यह कहा था कि उपाध्यायके कहे गये शब्दोंको शिष्य सुन रहा है। वाच्य अर्थका बोध करानेके लिये बोले गये शब्द तो दूसरोंके हितार्थ ही होते हैं। संकेतकालका शब्द ही व्यवहारकालमें बना रहेगा। तभी संकेत अनुसार शाब्दबोध करासकता है। अन्यथा संकेत ग्रहण किये गये शब्दसे न्यारे शब्दको सुनकर तो भ्रान्तज्ञान उत्पन्न हो जायगा। इस प्रकार शब्द-स्वरूप दर्शनका परार्थपना हो जानेसे शब्दका एकपना बढिया साधनेमें दिया गया। इस प्रकार "दर्शनस्य परार्थत्व" यह दूसरोंका दिखलाया गया हेतु भी विरुद्धहेत्वाभास है। क्योंकि शब्दके सादृश्यको लेकर वाक्यका अर्थबोध किया जा सकता है। सर्वथा नित्यपन इस अभीष्ट साध्यसे विरुद्ध हो रहे कथंचित् नित्य, अनित्यनपनके साथ व्याप्ति रखनेवाला उक्त हेतु है।

ततोऽकृतकता सिद्धेरभावान्नयशक्तितः ॥ ६१ ॥
वेदस्य प्रथमोध्येता कर्तेति मतिपूर्वतः ।

पदवाक्यात्मकत्वाच्च भारतादिवदन्यथा ॥ ६२ ॥
तदयोगाद्विरुध्येत संगिरौ च महानसः ।
सर्वेषां हि विशेषाणां क्रिया शक्या वचोत्तरे ॥ ६३ ॥
वेदवाक्येषु दृश्यानामन्येषां चेति हेतुता ।
युक्तान्यथा न धूमादेरग्न्यादिषु भवेदसौ ॥ ६४ ॥
ततः सर्वानुमानानामुच्छेदस्ते दुरुत्तरः ।

तिस कारण नय या युक्तियोंकी शक्तिसे वेदके अकृत्रिमपनेकी सिद्धिका अभाव हो जानेसे वेद पौरुषेय सिद्ध हो जाता है । वेदका सबसे पहिले पढनेवाला विद्वान् ही (पक्ष) उसका कर्ता है (साध्य) मानस मतिज्ञान या उसके भी पूर्ववर्ती विद्वानोंके शास्त्रश्रवणरूप मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न होनेसे (हेतु) भारत, भागवतपुराण, रत्नकरण्ड आदि ग्रन्थोंके समान । अथवा दूसरा अनुमान यों कर लेना कि वेदका प्रथम अध्येता ही (पक्ष) वेदका कर्ता है (साध्य), पद, वाक्य, आत्मकपना होनेसे (हेतु) जैसे कि महाभारत, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ सकर्तृक हैं । अर्थात्—मतिपूर्वकपना होने और वर्ण, पद, वाक्यस्वरूप होनेसे वेद पौरुषेय है । पुरुषके कण्ठ, तालु, आदि स्थान या प्रयत्नोंसे नवीन बनाया गया है । अन्यथा यानी वेदको सकर्तृक माने विना उस मतिपूर्वकपनेका और पद, वाक्य, आत्मकपनेका विरोध हो जावेगा (व्यतिरेक व्याप्ति), जैसे कि लम्बे चौडे पर्वतमें या बढिया पर्वतमें महानसका विरोध है, जिस कारण कि सम्पूर्ण विशेषोंकी क्रिया अन्य वचनोंमें की जा सकती है । भावार्थ—एक भ्रमण या गमनक्रियाको देखकर वैसी दूसरी क्रियाओंमें भी सादृश्यमूलक ज्ञान कर लिया जाता है । ये ही दशा वेदवाक्योंमें समझ लेनी चाहिये । वेदवाक्योंमें भी देखे गये (सुने गये) अथवा अन्य सदृशशब्दोंको भी शाब्दबोध ज्ञापक हेतुपना युक्त है । अन्यथा यानी सादृश्य अनुसार दूसरे हेतुओंको ज्ञापकहेतु नहीं माना जायगा, तब तो अग्नि आदि साध्योंको साधनेमें दिये गये धूम आदिकोंको वह ज्ञापकहेतुपना नहीं बन सकेगा और तिस कारण तुम्हारे यहां सम्पूर्ण अनुमानोंका मूलोच्छेद हो जायगा । इसका उत्तर तुम अति कठिनतासे भी नहीं दे सकते हो । अतः श्रुतशब्दोंके सदृश शब्दोंको सुनकर भी शाब्दबोध हो जाता है । अतः वेदको अनित्य मानना ही श्रेष्ठ है ।

प्रमाणं न पुनर्वेदवचसोकृत्रिमत्वतः ॥ ६५ ॥
साध्यते चेद्भवेदर्थवादस्यापि प्रमाणता ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि मीमांसक पुनः यों कहें कि वेदोक्त वचनोंको अकृत्रिमपना होनेसे प्रमाणपना साधा जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम दिगम्बर जैन कहेंगे कि यों तो कर्मकाण्ड प्रतिपादक मंत्रोंकी स्तुति करनेवाले अर्थवाद वाक्योंको भी प्रमाणपना प्राप्त हो जावेगा। " सर्वज्ञः सर्ववित् " इत्यादि मंत्रोंकरके ज्योतिष्टोम आदि याज्ञकर्मोकी स्तुति की गई है। हे कर्म ! तुम सबको जाननेवाले हो, यज्ञकर्ता जीवोंको स्वर्ग आदिमें नियतरूप जानकर भेज देते हो, तुम अद्वैत हो, अनुपम हो, तुम्हारे समान कोई भी अनेक पदार्थ नहीं हैं। तुम्हारा ही श्रवण मनन, ध्यान, करना चाहिये, आदि। किन्तु सर्वज्ञ प्रतिपादक या अद्वैतप्रतिपादक वेदवाक्योंको मीमांसकोंने अनादिकालके अकृत्रिम होते हुये भी प्रमाण नहीं माना है। अतः व्यभिचारदोष हुआ।

अदुष्टहेतुजन्यत्वं तद्धत्प्रामाण्यसाधने।
हेत्वाभासनमित्युक्तमपूर्वार्थत्वमप्यदः॥ ६६॥

मीमांसकों द्वारा वेदवचनको प्रमाणपना साधनेमें दिया गया दुष्ट हेतुओंसे अजन्यपना हेतु भी उसी अकृत्रिमपन हेतुके समान व्यभिचारी हेत्वाभास है। यह भी उक्त कथनकरके कह दिया गया समझो। अर्थात्—निर्दोष हेतुओंसे जन्यपना यह भावप्रधान अर्थ अपौरुषेय वेदमें नहींका नञ्को जन्य पदमें अन्वितकरके अदुष्टहेतुजन्यत्वका अर्थ दुष्ट हेतुओंसे नहीं जन्यपना वेदवाक्योंमें धरा जायगा तो भी अर्थवाद (स्तुतिपरक वैदिकमंत्र) वाक्योंकरके व्यभिचार तदवस्थ रहा तथा वह अपूर्व अर्थोंका ग्राहकपना हेतु भी वेदके प्रामाण्यको नहीं साध सकता है। अर्थवाद वाक्योंसे व्यभिचार दोष आता है। स्तुतिवाक्य भी तो नवीन अपूर्व अर्थोंको विषय करनेवाले हैं। अतः अनेक वादियोंके यहां इष्टप्रमाणोंमें प्रमाणताको साधनेके लिये प्रयुक्त किये जा रहे अकृत्रिमपन, अदुष्टहेतुजन्यत्व, अपूर्वार्थ ग्राहकपन, ये तीन ज्ञापक हेतु तो वेदवचनोंको प्रमाणपना साधनेमें दूषित कर दिये गये हैं।

बाधवर्जितता हेतुस्तत्र चेल्लैंगिकादिवत्॥ ६७॥
किमकृत्रिमता तस्य पोष्यते कारणं विना।

उन वेद वचनोंमें प्रमाणपना साधनेके लिये बाधवर्जितपना हेतु यदि कहा जायगा तब तो हम जैन कहेंगे कि लिंगजन्य अनुमान या प्रत्यक्षप्रमाण आदिके समान वेद वचनोंके अनित्य होते हुये भी प्रमाणपना सरलतया निर्बाधित हो सकता है। फिर विनाकारण ही उस वेदका अकृत्रिमपना क्यों पुष्ट किया जा रहा है ? बताओ। अर्थात्—मीमांसकों द्वारा वेदको प्रामाण्य साधनेके लिये वैदिक शब्दोंकी नित्यता या अकृत्रिमपना साधा जा रहा है। किन्तु वेदको नित्य नहीं मानते हुये भी अनित्य या कृत्रिम अनुमान, प्रत्यक्ष, अर्थापत्ति आदिकी प्रमाणताके समान वेद भी अनित्य होकर

प्रमाण बन जायगा, कोई क्षति नहीं दीखती है। कारणके विना ही वेदके ऊपर अकृत्रिमपनेका अशोभन बोझ क्यों व्यर्थ लादा जाता है ? अनुमान आदिके समान वैदिक वचनोंमें भी अपने बाधक कारणोंका रहितपना प्रमाणताका सम्पादक है।

पुंसो दोषाश्रयत्वेन पौरुषेयस्य दुष्टता ॥ ६८ ॥
शक्यते तज्जसंवित्तेरतो बाधनशंकनं ।
निःसंशयं पुनर्बाधवर्जितत्वं प्रसिध्यति ॥ ६९ ॥
कर्तृहीनवचो वित्तेरित्यकृत्रिमतार्थकृत् ।
परेषामागमस्येष्टं गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ ७० ॥
साधीयसीति यो वक्ति सोपि मीमांसकः कथं ।
समत्वादक्षलिंगादेः कस्यचिद्दुष्टता दृशः ॥ ७१ ॥
शब्दज्ञानवदाशंकापत्तेस्तज्जन्मसंविदः ।
मिथ्याज्ञाननिमित्तस्य यद्यक्षादेस्तदा न ताः ॥ ७२ ॥
तादृशः किं न वाक्यस्य श्रुत्याभासत्वमिष्यते ।

मीमांसक कहते हैं कि जगत्के पुरुष तो राग, द्वेष, अज्ञान, स्वार्थ, पक्षपात, ईर्षा आदि अनेक दोषोंके आश्रय हो रहे हैं। अतः पुरुषोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुये पौरुषेय वचनोंको दुष्टता है। शब्दोंको बनानेवाले हेतु पुरुष दुष्ट हैं। अतः ऐसे उन दोषयुक्त हेतुओंसे उत्पन्न हुये शाब्द-बोधके बाधकोंकी शंका की जा सकती है। सच पूंछो तो संशयरहित होकर बाधवर्जितपना तो फिर कर्ताहीन अपौरुषेय वचनोंसे उत्पन्न हुयी सम्वित्तिको ही प्रसिद्ध हो रहा है। इस कारण वेदका अकृत्रिमपना विशेष प्रयोजनका साधन कर रहा है। वेदका अकृत्रिमपना व्यर्थ नहीं है। पुरुषको कर्ता माननेपर बाधकोंकी या दोषोंकी शंका रही आती है। किन्तु " न रहे बांस और न बजे बांसुरी " इस लोकनीतिके अनुसार वेदका कर्ता ही नहीं मानना श्रेष्ठ मार्ग है। दूसरे वादी जैनोंके यहां आगमका गुणवान् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्दोंसे जन्यपना होनेके कारण प्रमाणपना इष्ट किया गया है। इस क्लेशसाध्य मार्गकी अपेक्षा वेदका अकृत्रिमपना अधिक श्रेष्ठ है। मायावी, बकभक्त और फटाटोप दिखानेवाले पुरुष इस जगत्में बहुत हैं। गुणवान् पुरुषोंका निर्णय करना दुःसाध्य है। दोषोंकी सम्भावना उनमें बनी रहती है। तभी तो हमने वेदोंको नित्य मानलिया है।

" आंख फूटी पीर गयी " । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार जो प्रतिवादी कह रहा है, वह भी समीचीन विचार करनेवाला मीमांसक कैसे समझा जाय ? यों स्थूलबुद्धिवाले पुरुषों द्वारा किसी पदार्थका दुःसाध्यपन निर्णय हो जानेसे तो परमाणु पुण्य, पाप, आकाश, आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी भी जड़ कट जायगी । अतः प्रमाणपना साधनेके लिये अकृत्रिमपनेपर अधिक बल मत डालो । नहीं तो प्रत्यक्षके कारण इन्द्रिय और अनुमानके कारण व्याप्य हेतु तथा उपमानके कारण सादृश्य आदिकको भी समानपनेसे नित्यता माननेका प्रसंग आजावेगा । किसी दोषी पुरुषके द्वारा बोले गये शब्दसे उत्पन्न हुये ज्ञानसमान किसी किसी पुरुषोंके नेत्रोंके भी चाकचक्य, कामल, आदि दोषोंसे सहितपना देखा जाता है । कोई कोई हेतु अविनाभावरहित देखे गये हैं । सदृशपना भी कहीं दोषयुक्त देखा जाता है । अतः उन चक्षु, लिंग, सादृश्य आदिसे उत्पन्न हुये सभी ज्ञानोंको अप्रमाणपनकी आंशकाका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । तब तो मीमांसकों द्वारा इन्द्रियलिंग आदिको भी नित्य माननेके लिये कमर कसनी पड़ेगी । किन्तु मीमांसकोंने इन्द्रिय आदिकोंको नित्य नहीं माना है । " त्याज्या न चूकाभयतो हि शाटी " जुआके डरसे धोती पहरना नहीं छोड़ा जाता है । यदि मीमांसक यों कहें कि मिथ्याज्ञानके निमित्त हो रहे अक्ष, लिंग आदिकसे समीचीन ज्ञानके कारण अक्ष आदिक न्यारे हैं । अतः समीचीन अनित्य चक्षु आदिकोंसे उत्पन्न हुयी वे सम्वित्तियां दुष्ट कारणजन्य नहीं हैं । हां, दुष्ट इन्द्रिय आदिकोंसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष आदिक तो प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभास, उपमानाभास कहे जाते हैं । तब तो हम जैन कह देंगे कि तिस प्रकारके दोषयुक्त पुरुषोंके वाक्योंको भी श्रुति आभासपना क्यों नहीं इष्ट कर लिया जाय ? दोषयुक्त पुरुषोंके वाक्यसे उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुताभास है । अथवा वेदकी श्रुतियां भी जो बाधासहित अर्थोंको कर रही हैं, वे श्रुति–आभास हैं । सर्वत्र सदोष निर्दोष, गुणी गुणरहित, सज्जन दुर्जन, पापी पुण्यवान्, सबाध निर्बाध पदार्थ पाये जाते हैं । विवेकी पुरुष उक्त कारणोंका विवेचन सुलभतासे कर लेते हैं । अतः अक्ष, लिंग आदिके समान वैदिक शब्दोंको भी नित्य माननेकी आवश्यकता नहीं । हां, निर्दोष कारणसे जन्यपना और बाधारहितपना वचनोंमें ढूंढ लेना चाहिये ।

गुणवद्वक्तृकत्वं तु परेरिष्टं यदागमे ॥ ७३ ॥
तत्साधनांतरं तस्य प्रामाण्ये कांश्चन प्रति ।
सुनिर्बाधत्वहेतोर्वा समर्थनपरं भवेत् ॥ ७४ ॥
तन्नो न पौरुषेयत्वं भवतस्तत्र तादृशं ।

अदुष्टकारण जन्यत्वमें नञ्का अर्थ पर्युदासग्रहण करनेपर गुणवान् है वक्ता जिसका, ऐसा गुणवत् वक्तृकपना तो दूसरे स्याद्वादी विद्वानोंकरके आगममें जो इष्ट किया गया है, अथवा कृत्रिम,

स्मृति, जैमिनी सूत्र आदि आगमोंमें दूसरे मीमांसकोंने गुणवान् वक्ताके द्वारा प्रतिपादितपना जो अभीष्ट किया है, वह तो वेदका किन्हीं किन्हीं विद्वानोंके प्रति प्रमाणपना साधनेमें एक दूसरा साधन उपस्थित हो जाता है। अथवा भले प्रकार जानलिये गये बाधारहितपन हेतुसे भी उस प्रमाणपनको साधनेवाले आपकोंका उत्कृष्ट समर्थन हो जावेगा। तिस कारण हमारे यहां और आपके यहां तिस सारिखा दूषित कारणजन्य या बाधासहित पौरुषेयपना वहां समीचीन श्रुतमें नहीं माना जाय। हां, अदुष्टकारणजन्यत्व, अपूर्वार्थत्व, बाधावर्जितत्व उस सदागममें घटित हो जाते हैं, जिसका कि वक्ता गुणवान् पुरुष है। वही कहा गया है कि " तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् "।

मंत्रार्थवादनिष्ठस्यापौरुषेयस्य बाधनात् ॥ ७५ ॥
वेदस्यापि पयोदादिध्वनेर्नैष्फल्यदर्शनात्।

कर्मप्रतिपादक मंत्रोंकी प्रशंसा करनेमें श्रद्धा लगा रहे अर्थवाद मंत्रोंके अपौरुषेयताकी बाधा हो जाती है। वे अपौरुषेय होते हुये भी बाधारहितपन नहीं होनेके कारण तुम्हारे यहां प्रमाण नहीं माने गये हैं। तथा अपौरुषेयपना कोई प्रमाणताका साधक नहीं है। चोरी, व्यभिचार, आदि कुकर्मोंके उपदेश या गाली, कुवचन, आदि भी दुष्टसम्प्रदाय अनुसार सदासे चले आरहे हैं। एतावता ही उनमें प्रामाण्य नहीं आजाता है। बादलोंका गर्जना, बिजलीका कडकना, समुद्रका पूत्कार करना इत्यादि ध्वनियोंका निष्फलपना देखा जाता है। अतः तुम्हारे माने हुये अपौरुषेय वेदको भी निष्फलपना प्राप्त होगा अकृत्रिमपना या प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता कोई समीचीनताके प्रयोजक नहीं हैं। पुरुषोंके द्वारा नहीं बनाये गयेपनका शब्दोंमें कोई मूल्य नहीं है। आंधीमें या वृक्ष गिरनेमें अनेक अपौरुषेय शब्द व्यर्थ होते रहते हैं। कोई कानी कोडीमें भी नहीं पूंछता है।

सत्यं श्रुतं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः ॥ ७६ ॥
प्रत्यक्षादिवदित्येतत्सम्यक् प्रामाण्यसाधनं।
कदाचित्स्यादप्रमाणं शुक्तौ रजतबोधवत् ॥ ७७ ॥

अतः यहांतक यह सच्चा सिद्धान्त पुष्ट हुआ कि शब्द आत्मक या ज्ञान आत्मक श्रुत (पक्ष) सत्य है, (साध्य) बाधकोंके असम्भव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका होनेसे (हेतु), प्रत्यक्ष, अनुमान आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार यह प्रमाणपनेका साधन समीचीन है। अर्थात्—शास्त्रोंकी समीचीनताको साधनेके लिये बाधकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय होना रूप हेतु निर्दोष है। हां, कभी कभी झूंटे शास्त्र अप्रमाण भी हो जाते हैं। जैसे कि सीपमें हुआ

चांदीका ज्ञान (अलङ्कारात्र) अलंकार है। जो श्रुत प्रमाण नहीं है, उसमें बाधकोंका उत्थान हो जाता है। जैसे कि सीपमें हुये चांदीके ज्ञानमें " यह चांदी नहीं है " इस प्रकारका बाधक-प्रमाण उठ बैठता है (व्यतिरेकदृष्टान्त)।

नापेक्षं संभवद्बाधं देशकालनरांतरं।
स्वेष्टज्ञानवदित्यस्य नानैकांतिकता स्थितिः ॥ ७८ ॥

मीमांसकोंके यहां अपने अभीष्ट प्रत्यक्ष आदि ज्ञानोंमें जैसे बाधकोंकी सम्भावना नहीं है। उसी प्रकार समीचीन श्रुतमें भी देशान्तरमें या दूसरे कालोंमें अथवा अन्य पुरुषोंकरके बाधायें सम्भवनेकी अपेक्षा नहीं है। अग्नि यहां उष्ण है तो सम्राट् या इन्द्रके यहां भी उष्ण मिलेगी। ढेंकी यदि स्वर्ग या नरकमें भी चली जाय तो वहां भी कूटनेका काम करेगी। इस कालमें जैसे हितैषी पुरुष परोपकार करते हैं, कालान्तरोंमें भी वे या वैसे पुरुष परोपकृतिपरायण रहते हैं। आधुनिक ऐहिक पुरुषोंके समान देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी एकसी प्रमाणपन, अप्रमाणपनकी व्यवस्था करते हैं। अतः समीचीन श्रुत तो सभी देश सम्पूर्णकाल और अखिल व्यक्तियोंकी अपेक्षासे बाधारहित है। अतः सुविश्वतासम्भवद्बाधकपन इस हेतुके व्यभिचारीपनकी व्यवस्थिति नहीं हो सकी।

न च हेतुरसिद्धोयमव्यक्तार्थवचोविदः।
प्रत्यक्षबाधनाभावादनेकांते कदाचन ॥ ७९ ॥
अनुमेयेऽनुमानेन बाधवैधुर्यनिर्णयात्।
तृतीयस्थानसंक्रांते त्वागमावयवेन च ॥ ८० ॥

और यह असम्भवद्बाधकपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। यानी पक्षमें ठहर जाता है। अव्यक्त यानी अविशदरूपसे अर्थको कहनेवाले वचनोंसे उत्पन्न हुये श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा बाधा हो जानेका अभाव है। समीचीन शास्त्रद्वारा कहे गये अनेकान्तमें किसी कालमें भी प्रत्यक्षप्रमाणोंसे बाधा उपस्थित नहीं होती है। अनेकान्तवादी जैनों द्वारा शास्त्रसिद्ध अनेकान्तका अनुमान करलिया जाता है। अतः अनुमान प्रमाणसे जानलिये गये अनेकान्तमें अनुमानकरके भी बाधा आजानेके रहितपनेका निर्णय हो रहा है। और प्रत्यक्ष, अनुमान इन दो प्रमाणोंसे न्यारे तीसरे आगमगम्य स्थानमें संक्रान्त हो रहे प्रमेयमें तो आगम प्रमाणोंके भागोंकरके बाधारहितपनेका निर्णय हो रहा है। भावार्थ—प्रत्यक्ष योग्य, अनुमानगोचर और आगमविषय पदार्थोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाण तो प्रत्युत श्रुतके साधक हो रहे हैं। वे समीचीन श्रुतके कभी बाधक नहीं हैं। पहिले प्रत्यक्षित और दूसरे अनुमेय पदार्थोंसे अतिरिक्त हो रहे परोक्ष, अत्यन्तपरोक्ष, सम्पूर्ण

पदार्थोंको तृतीय स्थान आगमप्रमाणसे घेर लिया गया माना है। अतः स्याद्वादियोंके श्रुत या श्रुतज्ञानका कोई भी बाधक नहीं है। अतः बाधारहितपना ही श्रुतकी सत्यताका ज्ञापक हेतु है।

परागमे प्रमाणत्वं नैवं संभाव्यते सदा।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वशून्यत्वागमबोधवत् ॥ ८१ ॥

दूसरे नैयायिक, मीमांसक आदि पण्डितोंके स्वीकार किये गये आगममें प्रमाणपना सर्वदा नहीं सम्भावित हो रहा है। क्योंकि उन दूसरोंके आगमोक्त तत्त्वोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणों करके बाधा उपस्थित होती है। जैसे कि सभी पदार्थोंके शून्यपने या उपप्लुतपनेको पुष्ट करनेवाले आगमज्ञानोंकी प्रमाणता इन प्रत्यक्ष अनुमानोंसे बाधित है। युक्ति, तर्क, शास्त्र, अनुभवोंसे विरोध रहित वचनोंको कहनेवाले वे प्रसिद्ध भगवान् श्रीअर्हत देव ही निर्दोष होकर सर्वज्ञ हैं। अर्हत देवका प्रतिपादित किया गया आगम ही प्रमाण है। श्री जिनेन्द्रदेवके मतरूपी अमृतसे जो प्राणी चलाकर बाह्य हो रहे हैं, या अपने आप्तके अभिमानमें दग्ध हो रहे हैं, उनका अभीष्ट तो प्रत्यक्षसे ही बाधित है। भूखा पुरुष यदि अमृत औषधिसे दूर भाग जाय तो उसके इष्टप्रयोजनमें बाधा पड़ रही सबको दीखती है।

भावाद्येकांतवाचानां स्थितं दृष्टेष्टबाधनं।
सामंतभद्रतो न्यायादिति नात्र प्रपंचितम् ॥ ८२ ॥

कपिल, शून्यवादी, नैयायिक, अद्वैतवादी बौद्ध, मीमांसक, वैशेषिक, आदि एकान्तवादियों द्वारा माने गये भावएकान्त, अभावएकान्त, भेदएकान्त, अभेदएकान्त, क्षणिकएकान्त, नित्यएकान्त आदि एकान्तोंको प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे बाधा आ जाना व्यवस्थित हो रहा है। सम्पूर्ण जीवोंको चारों ओरसे कल्याण करनेवाले श्री समन्तभद्राचार्यकी देवागमस्तोत्रमें कही गयी नीतिसे एकान्तवचनोंका प्रमाणोंसे बाधित हो जाना जैसे कि प्रसिद्ध हो रहा है। इस कारण इस प्रकरणमें हमने अधिक विस्तारपूर्वक विचार नहीं चलाया है। भगवान् समन्तभद्राचार्य महाराजने "भावैकान्ते पदार्थानां" यहांसे प्रारम्भ कर "इति स्याद्वादसंस्थितिः" पर्यन्त आप्तमीमांसामें सदेकान्त, एकत्वैकान्त, पृथक्त्वैकान्त, अवाच्यैकान्त, नित्यैकान्त, हेतुवाद, आगमवाद, पुरुषार्थवाद, ज्ञानस्तोकवाद, आदिक एकान्तवचनोंमें अनेक बाधायें आती हुयी सिद्ध कर दी हैं। समीचीन विद्या और आनन्दकी नीतिको बढानेवाले श्रीविद्यानन्द आचार्यने अष्टसहस्रीग्रन्थमें उन कारिकाओंका विशद अलंकार किया है। तत्र द्रष्टव्यं।

करिष्यते च तद्वत्स यथावसरमग्रतः।
युक्त्या सर्वत्र तत्त्वार्थे परमागमगोचरम् ॥ ८३ ॥

तथा उसीके समान और भी यथायोग्य अवसरपर आगे इस ग्रन्थमें भी श्री गुरुवर्य समन्तभद्रस्वामीकी शिक्षाके अनुसार वह विस्तार कर दिया जावेगा। इस तत्त्वार्थ—मोक्षशास्त्रमें प्रतिपादित किये गये और परमागमके विषयभूत हो रहे सूक्ष्मतत्त्वोंका सब स्थलोंपर युक्तिकरके साधन कर दिया जावेगा। अतः मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके माने हुये आगमप्रमाण युक्त नहीं हैं। स्याद्वादियोंकरके कहा गया द्रव्यश्रुत और भावश्रुत श्रेष्ठयुक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है।

प्रोक्तभेदप्रभेदं तच्छ्रुतमेव हि तद्दृढं।
प्रामाण्यमात्मसात्कुर्यादिति नश्चिंतयात्र किम् ॥ ८४ ॥

वह श्रुत ही इस सूत्रमें दो, अनेक, बारह भेद प्रभेदोंसे युक्त होता हुआ भले प्रकार कह दिया गया है। और वह श्रुत ही नियमकरके दृढ प्रमाणपनेको अपने अधीन कर सकेगा। इस प्रकार अब यहां हमको अधिक चिन्ता करके क्या प्रयोजन पडा है? भावार्थ—अधिक परिश्रमके विना ही जब जैनेन्द्राभिमत द्रव्य, भाव, श्रुत सिद्ध हो जाते हैं तो इसके लिये हमको अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

तदेवं श्रुतस्यापौरुषेयतैकांतमपाकृत्य कथंचिदपौरुषेयत्वेपि चोदनायाः प्रामाण्यसाधनासंभवं विभाव्य स्याद्वादस्य च सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं प्रामाण्यसाधनं व्यवस्थाप्य सर्वथैकांतानां तदसंभवं भगवत्समंतभद्राचार्यन्यायाद्भावाद्येकांतनिराकरणप्रवणादावेद्य वक्ष्यमाणाच्च न्यायात्संक्षेपतः प्रवचनप्रामाण्यदार्ढ्यमवधार्य तत्र निश्चितं नामात्मसात्कृत्य संप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रंथमनुवादपुरस्सरं विचारयति।

तिस कारण इस प्रकार श्रुतकी मीमांसकों द्वारा गढी गयी अपौरुषेयताके एकान्तका खण्डन कर और विधि लिङन्त वेदवाक्योंके अपौरुषेयपना होते हुये भी कैसे भी प्रामाण्यकी सिद्धिके असम्भवका विचार कर तथा स्याद्वादसिद्धान्तके ही प्रमाणपनेकी वस्तुभूत साधन हो रही भले प्रकार निश्चित किये गये बाधकोंकी असम्भवताको व्यवस्थापित कर एवं च सर्वथा एकान्तवादोंको उस प्रामाण्यके असम्भवका भाव, अभाव, नित्यपन, अनित्यपन, आदि एकान्तोंके निराकरण करनेमें प्रवीण हो रहे भगवान् श्री समन्तभद्राचार्यके न्यायसे निवेदन कर और भविष्यमें सामन्तभद्रकी शिक्षा अनुसार कहे जानेवाले न्यायसे संक्षेपकरके यथार्थ प्रवचनके प्रमाणपनकी दृढताका निर्णय कराकर उसमें निश्चितपनेको भला अपने अधीन कर, अब इस समय श्रुतके स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले श्री अकलंकाचार्यके ग्रन्थका अनुवादपूर्वक विचार करते हैं। भावार्थ—यहांतक श्रुतकी अपौरुषेयताका खण्डन करा दिया गया है। वेदको अपौरुषेय माननेपर भी मेघध्वनि आदिके समान प्रमाणपनेकी सिद्धि होना असम्भव है। इसका भी विचार कर दिया गया है। तथा

स्याद्वादियोंके आगमको ही प्रमाणपनेकी सिद्धि होती है। बाधकप्रमाणोंके असम्भवका भले प्रकार निश्चित हो जाना ही प्रमाणपनेका प्रयोजक साधन है। यह व्यवस्था करा दी गयी है। सर्वथा एकान्तोंमें वैसा प्रमाणपना असंभव है। भगवान् श्री समन्तभद्राचार्यकी भावादि एकान्तोंके निराकरणमें प्रवीण हो रही नीतिसे और भविष्यमें कही जानेवाली नीतिसे सर्वथा एकान्तोंमें प्रमाणता सिद्ध नहीं हो पाती है। अतः चारों ओर कल्याणोंको प्रसारनेवाले न्यायसे आर्हत प्रवचनको ही प्रमाणपना दृढ निर्णीत किया जाता है। यह संक्षेपसे हमने कह दिया है। उस समीचीन श्रुतके भेद प्रभेद उक्त सूत्र अनुसार समझ लेने चाहिये। प्रामाण्यका निश्चय वहां भले प्रकार आत्मा अधीन किया जाकर अब श्री अकलंक देवके ग्रन्थका अनुवाद करते हुये विचार चलाते हैं। इस प्रकार ल्यप् प्रत्ययवाले छह न्यारे न्यारे वाक्य बनाकर उक्त कथनका उपसंहार करदिया है। और भविष्य कथनकी प्रतिज्ञा कर दी है। अब यहां दूसरे प्रकरणका आरम्भ किया जाता है।

अत्र प्रचक्षते केचिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात्।
तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्ययेष्टविरोधतः ॥ ८५ ॥
शब्दानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते।
तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नान्यमतौ भवम् ॥ ८६ ॥
यद्यपेक्ष्य वचस्तेषां श्रुतं सांव्यवहारिकं।
स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति संप्रतिपद्यते ॥ ८७ ॥

यहां कोई अकलंक देव ऐसा कह रहे हैं कि शब्दकी पीछे योजना लग जानेसे वह ज्ञान श्रुत हो जाता है। इसपर हम दो विकल्प उठाते हैं कि शब्दकी योजना कर देनेसे श्रुत ही होता है ? अथवा श्रुतशब्दकी अनुयोजनासे ही हो जाता है ? श्रुत ही शब्दकी योजनासे होता है, इस प्रकार पहिला नियम करनेसे तो श्री अकलंकदेवका कहना युक्तिपूर्ण है। कोई विरोध नहीं है। शब्दकी योजना करनेके पीछे जो कोई वाच्य अर्थके ज्ञान गुरु या शिष्यके होंगे वे सब श्रुतज्ञान ही तो हैं। यदि अन्यथा यानी शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, ऐसा उत्तर अवधारण लगाया जायगा, तब तो इष्टसिद्धान्तसे विरोध पडेगा। क्योंकि श्रुतज्ञानको यदि शब्दकी अनुयोजना करनेसे ही श्रुतपना कहा जायगा, तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्यज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि शब्दके श्रावणप्रत्यक्षको श्रोत्र मतिज्ञान कहते हैं। उसमें शब्दकी योजना लग जानेसे तो वह श्रुत बन बैठेगा। दूसरी बात यह है कि ज्ञानमें घट है, पट है, पण्डित है,

चेला है, काला है, नीला है, आदि शब्दोंकी योजनासे ही यदि श्रुतपना व्यवस्थित किया जायगा तो श्रोत्रसे अन्य चक्षु, रसना, घ्राण, आदि इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंको निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। भावार्थ—शब्दकी योजनासे ही यदि श्रुत समझा जायगा, तब तो श्रोत्र मतिपूर्वक ही श्रुत होगा। चक्षु आदि मतिपूर्वक श्रुत नहीं हो सकेगा। किन्तु ये बात जैनसिद्धान्तके विरुद्ध पडती है। हां, शब्दकी योजनासे ही श्रुत होता है। इस प्रकार उन अकलंकदेवके वचन यदि समीचीन व्यवहारकी अपेक्षा करके बखाने गये हैं तब तो अपने इष्टसिद्धान्तको बाधा नहीं आ सकेगी। क्योंकि अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंको निमित्त-कारण मानकर होते हुये श्रुतज्ञान भी भले प्रकार जाने जा रहे हैं। बात यह है कि श्रुतमें शब्द योजनाका नियम करना आवश्यक नहीं है। अवाच्य पदार्थोंके अनेक श्रुतज्ञान होते हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे अर्थोंका मतिज्ञान कर अनन्त अर्थान्तरोंका ज्ञान होता है। वह सब श्रुत ही है। उपशम श्रेणी, क्षपकश्रेणीमें जो ध्यान हो रहे हैं, वे सब श्रुतज्ञानके समुदाय हैं। वहां शब्द नहीं बोले जा रहे हैं। शोकग्रस्त, वेदनापीडित या मनमें कलपते हुये मनुष्यको शब्दयोजनाके विना ही असंख्य श्रुत हो रहे हैं।

न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
इत्येकांतं निराकर्तुं तथोक्तं तैरिहेति वा ॥ ८८ ॥
ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकं।
प्राग्नामसंश्रितं शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ ८९ ॥

अथवा शब्दाद्वैतवादी कहते हैं कि लोकमें ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जो कि शब्दके पीछे पीछे अनुगमन करनेके विना ही हो जाय, सभी ज्ञान और ज्ञेय शब्दमें अनुविद्ध हो रहे हैं। इस प्रकारके शब्दैकान्तका निराकरण करनेके लिये यहां उन अकलंक देवने तिस प्रकार शब्दकी योजनासे पहिले तक मतिज्ञान होता है। और पीछे शब्दकी योजना लगा देनेसे श्रुतज्ञान हो जाता है। ऐसा कहा है, सो अकलंककथन ठीक ही है। इन्द्रियोंद्वारा स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, सुख आदिके ज्ञान तो मतिज्ञान हैं। और यह उससे कोमल है, यह उससे अधिक मीठा है, यह उससे न्यून काला है, यह कस्तूरीकी गन्ध उग्र है, पुष्पकी गन्ध मन्द है, इत्यादिक शब्दयोजना कर देनेपर हुये वे ज्ञान श्रुतज्ञान समझे जाते हैं। शिष्यको समझानेके लिये भले ही हम चार ज्ञानोंको उपचारसे शब्द द्वारा कहे जाने योग्य कह दें, किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो श्रुतज्ञानके अतिरिक्त किसी भी ज्ञानमें शब्दयोजना नहीं लगती है। श्रीअकलंक देवका यही अभिप्राय है कि शब्दकी योजनासे पहिले पहिले हुये अवग्रह आदिक और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोध ये सब ज्ञान आदिमें हो

रहे मतिज्ञानस्वरूप हैं। किन्तु शब्दकी अनुयोजना कर देनेसे नाम करके आश्रित हो जानेपर तो द्वितीय बचे हुये श्रुतज्ञानरूप वे हो जाते हैं। यह सिद्धान्त स्थित हो चुका।

अत्राकलंकदेवाः प्राहुः " ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकं। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् "। इति कथं विचार्यते मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधपर्यंताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणं श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमस्तदा न कश्चिद्विरोधः शब्दसंसृष्टज्ञानस्याश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात्।

उक्तका विवरण यों है कि इस प्रकरणमें श्री अकलंकदेव महाराज प्रकृष्टरूपसे भाषण कर रहे हैं कि नाम योजनासे पहिले हुये स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, और अनुमानज्ञान तो आदिमें हुये परोक्ष मतिज्ञानरूप हैं। और शब्दोंकी पीछे योजना कर देनेसे तो द्वितीय शेष रहे परोक्ष श्रुतस्वरूप हैं। इस प्रकार अकलंकदेवके उस व्याख्यानमें यह विचार चलाया जाता है कि अवग्रहको आदि लेकर अनुमानपर्यन्त व्यवस्थित हो रहे आदिम मतिज्ञानसे शेष रहा श्रुत (उद्देश्य) क्या शब्दकी पीछे पीछे योजना कर देनेसे ही हो जाता है, इस प्रकार एव लगाकर अवधारण किया जाता है? अथवा श्रुत ही शब्दोंकी अनुयोजनासे होता है। इस प्रकार एवकार लगाकर अवधारण किया जाता है? बताओ। यदि " श्रुतम् शब्दानुयोजनात् " यहां श्रुत ही शब्दकी अनुयोजनासे होता है, इस प्रकार प्रथम विधेयदलमें एवकार द्वारा नियम किया जायगा, तब तो हमें श्री अकलंकदेवके व्याख्यानसे कोई विरोध नहीं है। क्योंकि शब्दके साथ संसर्गको प्राप्त हो रहे ज्ञानके श्रुतसे भिन्न अश्रुतज्ञानपनेका तिस ही प्रकार अवधारण करनेसे व्यवच्छेद होना सम्भवता है। भावार्थ—शब्दकी योजनासे जो ज्ञान होगा वह श्रुत ही होगा। श्रुतभिन्न किसी मतिज्ञान, अवधिमनःपर्यय या केवलज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता है। हम प्रेरणा करते हैं कि श्रीअकलंकदेवकी सिद्धान्तअविरुद्धचर्चाओंको अविलम्ब स्वीकार कर लेना चाहिये।

अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमस्तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धांतविरोधः स्यात्। सांव्यवहारिकं शाब्दं ज्ञानं श्रुतमित्यपेक्षया तथा नियमे तु नेष्टबाधास्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थताभ्युपगमात् स्वसमयसंप्रतिपत्तेः।

यदि अब शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है। इस प्रकार नियम किया जायगा तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानस्वरूप निमित्तसे ही तो श्रुतज्ञान हो सकेगा। चक्षु, रसना आदि इन्द्रियोंसे जन्य मतिज्ञानोंको निमित्त कारण मानकर श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। किन्तु रसना आदि इन्द्रियोंसे परम्परया तथा अन्य प्रकारोंसे भी अनेक अवाच्य अर्थोंके हो रहे श्रुतज्ञान जगत्में प्रसिद्ध हैं।

अतः उक्त प्रकार नियम करनेपर सिद्धान्तसे विरोध आवेगा। हां, उपदेश देना सुनना, या शास्त्रको पढना, बांचना, आगमगम्य प्रमेयोंको युक्तियोंसे समझाना आदिक समीचीन व्यवहारमें चालू हो रहे तो शब्दजन्यज्ञान सभी श्रुत हैं। इस अपेक्षा करके यदि तिस प्रकार शब्दयोजनासे ही श्रुत है, इस प्रकार नियम किया जायगा, तब तो इष्टसिद्धान्तसे कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि चक्षु आदिसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न हुये भी श्रुतोंको परमार्थरूपसे श्री अकलंकदेवने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अपने सिद्धान्तकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है। स्याद्वादसिद्धान्तकी अक्षुण्णप्रतिष्ठा बनी रहनी चाहिये।

अथवा "न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितं॥" इत्येकांतं निराकर्तुं प्राग्नामयोजनादाद्यमिष्टं न तु तन्नामसंसृष्टमिति व्याख्यानमाकलंकमनुसर्तव्यं। तथा सति यदाह परः "वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी" इति तदपास्तं भवति, तया विनैवाभिनिबोधिकस्य प्रकाशनादित्यावेदयति।

अथवा श्री अकलंकदेवका भाषण संभवतः इस अपेक्षासे सुसंगत कर लेना चाहिये कि शब्दानुविद्धवादी कहते हैं कि जहां स्थलपर जो अर्थ रखा है या आत्मामें जिस पदार्थका ज्ञान हो रहा है, वहां वह शब्द अवश्य है। और जहां शब्द है, वहां अर्थ भी अवश्य है। तभी तो गुड, मिष्टान्न, निम्बू रस, आदि शब्दोंके बोलनेपर ही मुखसे लार टपक पडती है। अधिक प्रिय या अधिक अप्रिय पदार्थोंके स्थलपर आदर-अनादरसूचक शब्द स्वयं मुखसे निकल जाते हैं। चुपके चुपके मालाके ऊपर भगवान्का नाम जप लेते हैं। शब्द और ज्ञानका अजहत् सम्बन्ध है। जगत्में वह ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो कि शब्दका अनुगमन करनेके विना ही हो जाय। मालामें पोये गये मोतियोंके समान सम्पूर्ण पदार्थ बींधे हुये होकर ही मानों शब्दमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शब्दके एकान्तका निराकरण करनेके लिये नामयोजनाके पहिले तो आदिम मतिज्ञान इष्ट किया गया है। किन्तु नामके संसर्गसे युक्त हो रहा वह ज्ञान मतिज्ञान नहीं है, किन्तु श्रुत है, इस प्रकारका अकलंकदेवके द्वारा सूत्रे गये व्याख्यानका श्रद्धापूर्वक अनुकरण करना चाहिये। और तिस प्रकार होनेपर यानी शब्दोंके संसर्गसे रहित मतिज्ञानकी सिद्धि हो चुकनेपर यह मन्तव्य भी उस शब्दैकान्तवादीका निराकृत कर दिया जाता है, जो कि परवादी अपने घरमें बखान रहा है कि सर्वदा नित्य रहनेवाला शब्दस्वरूपपना यदि ज्ञानोंमेंसे उछालकर दूर कर दिया जावेगा, तब तो ज्ञानका प्रकाश ही प्रकाशित नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह शब्दस्वरूपपना ही तो ज्ञानमें अनेक प्रकारके विचारोंको करनेवाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि सभी अनभिलाप्य या प्रज्ञापनीय भावोंमें तो शब्दयोजना स्वीकार करना अनुचित है। उस शब्दयोजनाके विना भी अवग्रह आदिक और स्मृति आदिक मतिज्ञान जगत्में

प्रकाश रहे हैं। अर्थ और शद्वका कोई अजहत् सम्बन्ध भी नहीं है। मोदक, लक्षमुद्रा, रत्न, सुमेरु, समुद्र आदि शद्वोंके बोले जानेपर भी वहां वे मोदक आदिक अर्थ नहीं दीखते हैं। एवं क्षीर, घृत, बूरा, मिश्री, आदिके रसोंका तारतम्यपूर्वक ज्ञान, सुख, होनेपर भी उनके वाचक शद्व नहीं सुने जा रहे हैं। शद्व तो जगत्में संख्यात ही हैं। किन्तु प्रमेय और प्रमाण अनन्त हैं। अतः शद्वोंद्वारा समझाने योग्य ज्ञानसे अनन्तगुणा ज्ञान अनभिलाप्य पडा हुआ है। शद्वयोजनासे रिक्त पडे हुये मतिज्ञानको ग्रन्थकार स्वयं बढाकर निवेदन करे देते हैं, जिससे कि यह प्रमेय और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

वाग्रूपता ततो न स्याद्योक्ता प्रत्यवमर्शिनी।
मतिज्ञानं प्रकाशेत सदा तद्धि तया विना ॥ ९० ॥

तिस कारणसे सिद्ध होता है कि जो शद्वानुविद्धवादियोंने ज्ञानमें वाग्रूपताको ही विचार करनेवाला कहा था, वह युक्त नहीं है; क्योंकि उस शद्वस्वरूपके विना भी यह मतिज्ञान नियमसे सदा प्रकाश करता रहता है। इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होते हैं। वे अर्थविकल्पस्वरूप आकारसे सहित अवश्य हैं। किन्तु शद्वानुविद्ध नहीं हैं। भले ही कोई अपने मतिज्ञानको दूसरोंके प्रति प्रकट करनेके लिये यह काला रूप है, मेरी आत्मामें पीडा है, पेडा मीठा है, ऐसा निरूपण कर दे, किन्तु विचार करनेपर यह सब श्रुतज्ञान हो जायगा। मतिज्ञानके साथ अविनाभाव रखनेवाले श्रुतज्ञानमें ही शद्वयोजना लगी है। सविकल्पक मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये सब स्वकीय शरीरमें अवक्तव्य हैं। श्रुतज्ञानका अल्पभाग ही शद्वयोजनाको धारता है।

न हींद्रियज्ञानं वाचा संसृष्टमन्योन्याश्रयप्रसंगात्। तथाहि। न तावदज्ञात्वा वाचा संसृजेदतिप्रसंगात्। ज्ञात्वा संसृजतीति चेत् तेनैव संवेदनेनान्येन वा? तेनैव चेदन्योन्याश्रयणमन्येन चेदनवस्थानं।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तो शद्वोंके साथ संसर्गयुक्त हो रहा नहीं है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष हो जानेका प्रसंग होगा। इसीको स्पष्ट कर कहते हैं कि पहिले नहीं जानकर तो वचनोंके साथ ज्ञानका संसर्ग नहीं हो सकेगा, क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्—विना जाने ही शद्वोंका संसर्ग लग जानेसे तो चाहे जिस अज्ञात पदार्थको वचनोंद्वारा बोल दिया जायगा। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, बालक, भी अज्ञात अनन्त पदार्थोंके शद्वयोजक बन जायंगे। यदि इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ पदार्थको जानकरके शद्वका संसर्ग हो जाता है, इस प्रकार मानोगे, तब तो हम पूंछेगे कि उस ही शद्वसंसृष्ट होने वाले सम्वेदन करके ज्ञान होना मानोगे? अथवा क्या अन्य किसी ज्ञानकरके इंद्रियज्ञानको जानकर उसके साथ वचनोंका संसर्ग होना इष्ट करोगे? बताओ। यदि प्रथमपक्ष अनुसार उस ही ज्ञानकरके जान लेना माना जायगा तब तो

अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि उसी ज्ञानसे इन्द्रियज्ञानका जानना सिद्ध होय और इन्द्रिय ज्ञानके हो चुकनेपर उसका जानना सिद्ध होय अर्थात् शद्वका संसर्ग हो चुकनेपर ज्ञान होय और ज्ञान होचुकनेपर शद्वका संसर्ग होना तो पक्ष ले रक्खा ही है। आत्माश्रय दोष भी लागू होगा। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार अन्य सम्वेदन करके इन्द्रियज्ञानको जाना जायगा, तब तो अनवस्था होगी, क्योंकि अन्यज्ञानको भी जानकर वचनोंका संसर्ग तब लगाया जायगा जब कि तृतीयज्ञानसे उस अन्य ज्ञानको जान लिया जायगा। इस ढंगसे ज्ञानोंके ज्ञापक चतुर्थ, पंचम, आदि ज्ञानोंकी आकांक्षा बढती बढती दूर जाकर भी अवस्थिति नहीं होगी। अतः कथमपि इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके साथ वचनोंका संसर्ग नहीं होता है। वे अपने डीलमें अवाच्य होकर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। यह सिद्धान्त पुष्ट हुआ।

अत्र शद्वाद्वैतवाचिनामज्ञत्वमुपदर्श्य दूषयन्नाह।

इस अवसर पर शद्वाद्वैतवादी विद्वानोंका अज्ञपना दिखलाकर उनको दोषापन्न करते हुये आचार्य महाराज कहते हैं।

वैखरीं मध्यमां वाचं विनाक्षज्ञानमात्मनः।
स्वसंवेदनमिष्टं नोन्योन्याश्रयणमन्यथा ॥ ९१ ॥
पश्यंत्या तु विना नैतद्व्यवसायात्मववेदनम्।
युक्तं न चात्र संभाव्यः प्रोक्तोन्योन्यसमाश्रयः ॥ ९२ ॥

शद्वाद्वैतवादियोंका जो स्वमन्तव्य है, उसको उनके ही मुखसे सुनिये कि वैखरी और मध्यमा नामक दो वाणियोंके विना तो हमने भी इन्द्रियजन्य ज्ञान इष्ट किया है। और आत्माका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी वैखरी और मध्यमावाणीकी शद्वयोजनाके विना ही अभीष्ट किया है। अन्यथा पूर्वमें दिया गया अन्योन्याश्रय दोष हमारे ऊपर लग जायगा। किन्तु पश्यन्ती—नामक वाणीके विना तो इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान और आत्माका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष ये निश्चयात्मक ज्ञान होना युक्त नहीं है। इस पश्यन्ती वाणीसे इन्द्रियजन्यज्ञान और आत्मज्ञानको अनुविद्ध माननेपर यहां पहिले अच्छा कहा गया अन्योन्याश्रय दोष तो नहीं सम्भवता है। भावार्थ—शद्वाद्वैतवादियोंका अनुभव है कि सम्पूर्ण ज्ञान शद्वानुविद्धपना स्वरूपसे ही सविकल्पक है। श्रोत्र इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य मोटी वैखरी वाणी और अन्तर्जल्पस्वरूप मध्यमावाणीसे ज्ञानको संसृष्ट माननेपर तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। जान चुकनेपर तो शद्वसंसर्ग होय और शद्वसंसर्ग हो चुकनेपर जाना जाय, किन्तु अकार, ककार, आदि वर्ण या पद, वाक्य, प्रकृति, प्रत्यय आदिके विभागोंसे रहित हो रही पश्यन्ती नामक वाणीके विना कोई भी इन्द्रियज्ञान अथवा आत्मज्ञान नहीं हो पाता है। जैसे कि आकाशके

साथ किसी पदार्थका संसर्ग करनेके लिये शब्दोंके मिलानेकी आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार पश्यन्ती नामक वाणीका संसर्ग करनेके लिये ज्ञानको जानने, शब्दोंको सुनने आदिकी आकांक्षा नहीं है। अतः वैखरी और मध्यमाके संसर्ग करनेमें अच्छे ढंगसे कह दिया गया अन्योन्याश्रय दोष यहां पश्यन्तीके संसर्गमें असम्भव है।

व्यापिन्या सूक्ष्मया वाचा व्याप्तं सर्वं च वेदनं।
तया विना हि पश्यंती विकल्पात्मा कुतः पुनः ॥ ९३ ॥
मध्यमा तदभावे क्व निर्बीजा वैखरी क्वचित्।
ततः सा शाश्वती सर्ववेदनेषु प्रकाशते ॥ ९४ ॥

अभीतक शब्दाद्वैतवादी ही कहे जा रहे हैं कि और शुद्ध ज्योतिःस्वरूप होकर सबके अन्तरंगमें प्रकाश रही, नित्य, व्यापक, सूक्ष्मा, नामकी वाणीकरके तो सम्पूर्ण ही ज्ञान व्याप्त हो रहे हैं। कारण कि उस सूक्ष्माके विना तो फिर विकल्पस्वरूप पश्यन्तीवाणी भी कहांसे होगी ? और उस पश्यन्तीवाणीके अभाव हो जानेपर पुनः वह बीजरहित हुयी मध्यमावाणी भला कहां ठहरी ? और मध्यमा शब्दके विना भला वैखरी कहां टिक सकती है? निमित्त विना नैमित्तिक नहीं। तिस कारण वह सर्व वाणियोंकी आद्यजननी सनातन, नित्य, सूक्ष्मा वाणी सम्पूर्ण ज्ञानोंमें प्रकाशती रहती है। इन्द्रिय, अनिन्द्रिय ज्ञानोंमें जो भी कुछ प्रकाश होता दीख रहा है। सब सूक्ष्मावाणीरूप नानीकी सुतास्वरूप पश्यन्ती मैयासे प्राप्त हुआ समझो।

इति येपि समादध्युस्तेप्यनालोचितोक्तयः।
शब्दब्रह्मणि निर्भागे तथा वक्तुमशक्तितः ॥ ९५ ॥
न ह्यवस्थाश्चतस्रोस्य सत्या द्वैतप्रसंगतः।
न च तासामविद्यात्वं तत्त्वासिद्धौ प्रसिद्ध्यति ॥ ९६ ॥

अब आचार्य महाराज कहते हैं कि इस उक्त प्रकार जो भी कोई शब्दाद्वैतवादी समाधान करेंगे वे भी विना विचारे हुये अयुक्त भाषण करनेवाले हैं। क्योंकि भागरहित, निरंश, अखण्ड शब्द ब्रह्ममें तिस प्रकार वाणीके चार भेद कर कहनेके लिये अशक्ति है। अर्थात्—निरंश शब्द ब्रह्म अकेला चार भेदोंसे नहीं कहा जा सकता है। चार भेदोंसे कहनेपर उसके चार भाग हुये जाते हैं। जो कि अद्वैतवादियोंको अभीष्ट नहीं है। इस शब्दब्रह्मकी भिन्न भिन्न चार अवस्थायें सत्य नहीं हैं। क्योंकि चार अवस्थाओंको सत्य माननेपर तो द्वैतका प्रसंग हो जायगा। उन चार

अवस्थाओंको अविषापना भी शद्वब्रह्मके परमार्थरूपसे तत्पने यानी विषापनेकी सिद्धि नहीं होनेपर प्रसिद्ध नहीं हो पाता है।

चतुर्विधा हि वाग्वैखरी मध्यमा पश्यन्ती सूक्ष्मा चेति। तत्राक्षज्ञानं विनैव वैखर्या मध्यमया चात्मनः प्रभवति स्वसंवेदनं च अन्यथान्योन्याश्रयणस्य दुर्निवारत्वात्। तत एवानवस्थापरिहारोपि।

उक्त छह वार्तिकोंका विवरण करते हैं। तहां शद्वाद्वैतवादियोंके मन्तव्यका अनुवाद यों है कि वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा इन भेदोंसे शद्ववाणी निश्चयसे चार प्रकारकी है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकोंके बोलने, सुननेमें आ रही स्थूलवाणी वैखरी है। और जाप देते समय या चुपके पाठ करते समय अन्तरंगमें जल्प की गयी श्वास उच्छ्वासकी नहीं अपेक्षा रखती हुयी पतली वाणी मध्यमा है। तथा वर्ण, पद, मात्रा, उदात्त, आदि विभागोंसे रहित हो रही वाणी सूक्ष्मा है, जो कि पदार्थोंका जानना स्वरूप है। एवं अन्तरंग ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मावाणी जगत्में सर्वदा सर्वत्र व्याप रही है। तिन वाणियोंमेंसे वैखरी और मध्यमाके विना भी इन्द्रियजन्य-ज्ञान और आत्माका स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा हम शद्वाद्वैतवादियोंके ऊपर आये हुये अन्योन्याश्रयदोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकेगा। और तिस ही कारण यानी इन्द्रियज्ञान और आत्मज्ञानका मध्यमा वैखरी वाणियोंके साथ संसर्ग नहीं माननेसे ही अनवस्थादोषका परिहार भी सुलभतासे हो जाता है। अन्योन्याश्रय दोष जहां लगता है परस्परकी अपेक्षा हटाकर उत्तरोत्तर अन्योंकी अपेक्षा लगा देनेसे झट वहां अनवस्थादोष भी लग ही जाता है। उसी प्रकार अनवस्थाका परिहार भी हो जाता है, जैसे कि अन्योन्याश्रय टल गया था।

न चैवं वाग्रूपता सर्ववेदनेषु प्रत्यवमर्शिनीति विरुध्यते पश्यंत्या वाचा विनाक्षज्ञाना-देरप्यसंभवात्। तद्धि यदि व्यवसायात्मकं तदा व्यवसायरूपां पश्यंतीवाचं कस्तत्र निरा-कुर्यादव्यवसायात्मकत्वमसंगात्। न चैवमन्योन्याश्रयोनवस्था वा युगपत्स्वकारणवशा-द्वाक्संवेदनयोस्तादात्म्यमापन्नयोर्भावात्।

इस प्रकार माननेपर हम शद्वाद्वैतवादियोंके प्रति यदि कोई यों कटाक्ष करे कि सम्पूर्ण ज्ञानोंमें विचार करनेवाली मानी गयी वाग्रूपता तो यों विरुद्ध पड जायगी, जब कि आप इन्द्रियज्ञान और आत्मज्ञानमें दो वाणियोंका निषेध कर रहे हैं। इसपर हम शद्वाद्वैतवादिओंका यह कहना है कि यह विरोध हमारे ऊपर नहीं आ सकता है। कारण कि पश्यंती वाणीके विना इन्द्रियज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञानज्ञान, आदिका भी असम्भव है। अर्थात्—इन्द्रियज्ञान आदिमें पश्यंती वाणीके साथ तादात्म्य हो जानेसे वाक्स्वरूपपना अभीष्ट किया है। भले ही वे मध्यमा वैखरीस्वरूप नहीं हों, जब कि वे इन्द्रियज्ञान आदिक यदि निश्चयात्मक हैं, तब व्यवसायस्वरूप पश्यंती

वाणीका उनमेंसे कौन निराकरण कर सकेगा ? अन्यथा इन्द्रियज्ञान आदिकोंको अनिश्चयआत्मकपन हो जानेका प्रसंग होगा किन्तु हम शद्धाद्वैतवादियोंके समान जैनोंने भी इन्द्रियज्ञान, आत्मज्ञानको निश्चयआत्मक स्वीकार किया है। वह निश्चयस्वरूप प्राप्त होना पश्यन्ती वाणीका ही माहात्म्य है। इस प्रकार हम अद्वैतवादियोंके यहां अन्योन्याश्रय अथवा अनवस्थादोष नहीं आता है। क्योंकि अपने कारणोंके वशसे तदात्मकपनेको प्राप्त हो रहे ही वचन और ज्ञानोंकी युगपत् उत्पत्ति हो रही मानी गयी है।

यत्पुनरव्यवसायात्मकं दर्शनं तत्पश्यंत्यापि विनोपजायमानं न वाचानुगतं सूक्ष्मया वाचा सर्वोत्पद्यमानत्वात् तस्याः सकलसंवेदनानुयायिस्वभावत्वात्। तया विना पुनः पश्यंत्या मध्यमाया वैखर्याश्चोत्पत्तिविरोधादन्यथा निर्बीजत्वप्रसंगात्। ततस्तद्बीजमिच्छता तदुत्पादनशक्तिरूपा सूक्ष्मा वाक् व्यापिनी सततं प्रकाशमानाभ्युपगंतव्या। सैवानुपरिहरत्यभिधानाद्यपेक्षायां भवेदन्योन्यसंश्रय इति दूषणं "अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः। अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते" इत्यनवस्थानं च अभिलापस्य तद्भागानां वा पराभिलापेन वैखरीरूपेण मध्यमारूपेण च विनिर्बाधसंवेदनोत्पत्तेरप्रमाणप्रमेयत्वानुषंगाभावादिति ये समादधते, तेप्यनालोचितोक्तय एव, निरंशशुद्धब्रह्मणि तथा वक्तुमशक्तेः। तस्यावस्थानां चतसृणां सत्यत्वेऽद्वैतविरोधात्। तासामविद्यात्वाददोष इति चेन्न, शुद्धब्रह्मणोनंशस्य विद्यात्वसिद्धौ तदवस्थानामविद्यात्वाप्रसिद्धेः।

शद्धाद्वैतवादी ही अपने मतको प्रकट किये जा रहे हैं कि जो फिर अविकल्पक या अनिश्चय आत्मक सत्, चित्, सामान्य आलोचनस्वरूप दर्शन है, वह उस पश्यन्ती वाक्के विना भी उपज रहा है। किन्तु सभी वाणियोंसे अनुगत नहीं होय यह नहीं समझना। कारण कि चैतन्य ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मा वाणीके साथ अन्वित हो रहा ही दर्शन उपज रहा है। वह सूक्ष्मावणी तो सम्पूर्ण सम्वेदनोंके साथ अनुयायी होकर लगे रहना स्वभाववाली है। सर्वव्यापक उस सूक्ष्माके विना तो फिर पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, की उत्पत्ति हो जानेका विरोध है। सब वाणियोंका आद्य कारण सूक्ष्मा है। यदि आद्य कारणके विना ही कार्य हो जावे तो सूक्ष्माके विना पश्यन्तीके हो जानेपर और पश्यन्तीके विना मध्यमाके उपज जानेपर तथा मध्यमाके विना वैखरीकी उत्पत्ति हो जानेपर उक्त कार्योंको बीजरहितपनेका प्रसंग हो जायगा कारणोंके विना तो किसीके यहां भी कार्य होता हुआ नहीं माना गया है। तिस कारण उन तीनों वाणियोंके बीजभूत कारणको चाहनेवाले विद्वानोंकरके उन पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, को उत्पन्न करानेकी शक्तिस्वरूप और सर्वदा, सर्वत्र, व्यापिनी होकर प्रकाश कर रही ऐसी सूक्ष्मा वाणी अवश्य स्वीकार करना चाहिये। वही आकाशके समान नित्य होकर सर्वत्र व्यापरही सूक्ष्मा वाणी ही वाचकशद्ध, संकेतस्मरण, आदिकी अपेक्षा होनेपर

वही आकाशके समान नित्य होकर सर्वत्र व्याप रही सूक्ष्मा वाणी ही वाचक शद्ब, संकेतस्मरण, आदिकी अपेक्षा होनेपर अन्योन्याश्रय हो जायगा, इस दूषणका शीघ्र परिहार कर देती है। अर्थात्– प्रमेयके ज्ञानको शद्बकी अपेक्षा पडेगी और शद्बयोजना करनेके लिये प्रमेयके ज्ञानकी अपेक्षा होगी। इस अन्योन्याश्रय दोषका निवारण वह सूक्ष्मा वाणी कर देती है। कारण कि सूक्ष्मावाणीका ज्ञानके साथ तादात्म्य हो रहा है। अतः पुनः शद्बयोजना या ज्ञान करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। देवदत्तका ज्ञान देवदत्त इन चार या नौ वर्णोंसे अन्वित हो रहा है। किन्तु फिर इन वर्णोंको अन्य ज्ञानसे अन्वित नहीं होना पडता है। उष्ण इमर्त्तीके चारो ओर लगी हुयी चाशनीके समान सूक्ष्मा वाणीका सभी ओरसे तादात्म्य हो रहा है। तथा अनवस्था दूषणका भी परिहार भी वही कर देती है। वाचक देवदत्त शद्ब और उसके दकार, एकार, वकार, आदि अंशोंके वाचक पुनः अन्य शद्बोंका विचार करनेसे अवश्य ही अप्रमाणरहितपन और अप्रमेयरहितपनका प्रसंग आ जावेगा। भावार्थ– सभी वाचक शद्ब और ज्ञायक ज्ञानोंमें यदि शद्बका अनुविद्धपना माना जावेगा तो विशिष्ट मनुष्यका वाचक देवदत्त शद्ब है। और देवदत्त शद्बमें पडे हुये दे या व आदिके वाचक भी पुनः शद्बान्तर उपस्थित होयंगे और उन शद्बान्तरोंके लिये भी तीसरी जातिके वाचकशद्ब आते जायंगे। यदि वाचक-शद्ब और उसके अंश वर्णोंके लिये पुनः अन्य वाचकोंका पृथग्भाव माना जायगा तो पहिले देवदत्त नामक मनुष्यके लिये भी आद्यमें वाचकशद्ब उठानेकी आवश्यकता नहीं है। अतः प्रमेयके ज्ञापक ज्ञान और उससे अनुविद्ध हो रहे शद्ब तथा शद्बोंके भी वाचक अन्य शद्ब एवं अन्य शद्बोंके भी अंशोंको कहनेवाले शद्बान्तरोंका विचार करनेपर जगत्में न कोई प्रमाण व्यवस्थित हो सकता है। और किसी भी देवदत्त आदि प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस प्रकारकी अनवस्था हम शद्बाद्वैतवादियोंके यहां नहीं होती है। क्योंकि वाचकशद्ब और उसके वर्ण, मात्रास्वरूप भागोंका दूसरे वैखरी स्वरूप और मध्यमास्वरूप वाचकशद्बोंकरके सर्वथा बाधाओंसे रहित सम्वेदन उत्पन्न हो रहा है। अतः प्रमाणरहितपन और प्रमेयरहितपनका प्रसंग नहीं आ पाता है। तीसरी कोटिपर जाकर आकांक्षा नहीं रहनेसे अनवस्था टूट जाती है। वैखरी और मध्यमा वाणीके उपजनेतक आकांक्षा बढी रहेगी। पश्चात् मध्यमा या स्थूलवाणी वैखरीके लिये भी पुनः वाचकोंको ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वे वाणियां सूक्ष्मासे सर्वदा अन्वित हो रहीं ही उपजती हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो शद्बाद्वैतवादी अभिमानके साथ समाधान कर रहे हैं, वे (शद्बानुविद्धवादी) भी विचार किये विना ही जल्प करनेवाले हैं। क्योंकि अंश, स्वभाव, शक्तियां, तिर्यग् अंश, उर्ध्व अंश इन भागोंसे सर्वथा रहित हो रहे अखण्ड शद्बब्रह्ममें तिस प्रकार नित्य, अनित्यस्वरूप चार वाणियोंका अथवा एक सूक्ष्माको निमित्त कारण और अन्य तीनको नैमित्तिक कार्य मानना या निश्चय आत्मक अनिश्चय आत्मकज्ञान, दर्शन, भेद करना कहा नहीं जा सकता है। उक्त प्रकारके भेदयुक्त निरूपण तो सांश पदार्थमें सम्भवते हैं। निःस्वभावमें नहीं।

हम जैन उन शद्वाद्वैतवादियोंके प्रति प्रश्न उठाते हैं कि उस शद्व ब्रह्मकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा ये चार अवस्थायें यदि सत्य हैं, तब तो शद्वब्रह्मके अद्वैत होनेका विरोध है। सत्य चार अवस्थायें तो स्पष्टरूपसे द्वैतको साध रही है। यदि तुम यों कहो कि शद्वब्रह्म तो एक ही अखण्ड है। वे चार अवस्थायें अविद्यास्वरूप हैं। जबतक संसारी जीवके अविद्या लगी रहती है, तबतक चार भेद दीखते हैं। किन्तु निरंश ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर भेद नष्ट हो जाता है। अतः हमारे ऊपर कोई दोष नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि निरंश शद्वब्रह्मको समीचीन विद्यापन सिद्ध हो चुका तो उसकी अवस्थाओंको अविद्यापनकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। विद्याके विवर्त भी विद्यास्वरूप हैं। चेतन अखण्ड आत्माके हस्त, पाद, आदि प्रदेशवर्त्ती आत्मप्रदेश या ज्ञान, दर्शन, सुख, इच्छा आदि अंश अचेतन नहीं हैं। मिश्रीके टुकडे कटु नहीं।

तद्धि शद्वब्रह्म निरंशमिंद्रियप्रत्यक्षादनुमानात्स्वसंवेदनप्रत्यक्षादागमाद्वा न प्रसिध्यतीत्याह।

वह शद्वाद्वैतवादियों करके माना गया शद्वब्रह्म तत्त्व भला अंशोंसे रहित है, यह मन्तव्य तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंसे, अनुमान प्रमाणसे, स्वसम्वेदनप्रत्यक्षसे अथवा आगमप्रमाणसे नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। इस बातको ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं।

ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन।
स्वप्नादाविव मिथ्यात्वात्तस्य साकल्यतः स्वयम् ॥ ९७ ॥

स्पार्शनप्रत्यक्ष, चाक्षुषप्रत्यक्ष, आदिक किसी भी इन्द्रियजन्य ज्ञानसे तो शद्वब्रह्मकी व्यवस्थिति नहीं हो पाती है। क्योंकि उन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंको सम्पूर्णरूपसे मिथ्यापना है। ऐसा स्वयं शद्वाद्वैतवादियोंने स्वप्न, मूर्च्छित, मदोन्मत्त, अपस्मार, (मृगीरोग) भूतावेश आदिक अवस्थाओंमें हो रहे इन्द्रिय प्रत्यक्षोंके मिथ्यापनके समान सभी इन्द्रिय प्रत्यक्षोंको झूंठा कहा है। झूंठे ज्ञानसे समीचीन प्रमेय माने गये शद्वब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब सम्पूर्ण ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष मिथ्याज्ञान होगये तो शब्दब्रह्मको साधनेके लिए कोई भी जागते हुए पण्डितका प्रत्यक्षप्रमाणशेष नहीं रहा।

नानुमानात्ततोर्थानां प्रतीतेर्दुर्लभत्वतः।
परप्रसिद्धिरप्यस्य प्रसिद्धा नाप्रमाणिका ॥ ९८ ॥

दूसरे अनुमानप्रमाणसे भी शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो पाती है। क्योंकि प्रतिवादियोंने कहा है कि " अनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभः " उस अनुमानसे अर्थोंकी प्रतीति होना दुर्लभ है।

अनुमेयको सामान्यरूपसे तो व्याप्तिग्रहण करते समय ही जान चुके थे। अब अनुमानकाल में पुनः सामान्यरूपसे जाननेमें सिद्धसाधन दोष होता है और अनुमेयको विशेषरूपसे जाननेके लिए हेतुका अनुगम गृहीत नहीं हो चुका है। जहां जहां धूआं है, वहां वहां तृणोंकी लम्बी शिखा-वाली पर्वतीय अग्नि है। इस प्रकार विशेष अग्निके साथ धूमका अनुगम नहीं हो रहा है। अन्यथा व्यभिचार दोष हो जायगा। दूसरे नैयायिक, मीमांसक, या जैनोंकी मानी गयी प्रसिद्धि भी तो इस अद्वैतवादीके यहां प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्—अनुमानप्रमाण माननेवाले वादियोंकी प्रक्रियाको अद्वैतवादियोंने माना नहीं है, जिससे कि समीचीन लिंगसे साध्यका प्रमाणज्ञान हो जाय। वह अन्य वादियोंकी प्रसिद्धि तो अप्रमाणीक मानी गयी है। अतः अनुमानसे भी तुम्हारे ही विचार अनुसार निरंश शद्धब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकी।

स्वतः संवेदनात्सिद्धिः क्षणिकानंशवित्तिवत्।
न परब्रह्मणो नापि सा युक्ता साधनाद्विना ॥ ९९ ॥

बौद्धोंके माने गये क्षणिक, निरंश, ज्ञानकी जैसे स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि होना तुम शद्धाद्वैतवादियोंने नहीं माना है, उसीके समान नित्य, व्यापक शद्ध परमब्रह्मकी भी स्वतः सम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि नहीं हो पाती है। दूसरी बात यह है कि साधनके विना यों ही कोरी मानली गयी ब्रह्मकी सिद्धि युक्तिसहित भी नहीं है। अन्यथा हेतुके विना वचनमात्रसे चाहे जिस अश्वविषाण आदि अयुक्तपदार्थकी सिद्धि बन बैठेगी, जो कि किसी भी विद्वान्के यहां नहीं मानी गयी है।

आगमादेव तत्सिद्धौ भेदसिद्धिस्तथा न किम्।
निर्बाधादेव चेत्तत्त्वं न प्रमाणांतराद्दते ॥ १०० ॥
तदागमस्य निश्चेतुं शक्यं जातु परीक्षकैः।
न चागमस्ततो भिन्न समस्ति परमार्थतः ॥ १०१ ॥
तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा तस्य प्रज्ञापकः कथं।
न चाविनिश्चिते तत्त्वे फेनबुद्बुदवद्भिदा ॥ १०२ ॥

यदि आगम प्रमाणसे ही उस शद्धब्रह्मकी सिद्धि मानी जायगी तब तो तिस प्रकार आगमसे भेदकी सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी ? पदार्थोंको नाना सिद्ध करनेवाले "अत्थि अणंता जीवा" "ते काला अ असंखदव्वाणि" "परमाणूहिं अणंतहि" "जीवादोणंत गुणा" "संसारिणो मुक्ताश्च" आदि आगम विद्यमान हैं। यदि बाधकोंसे रहित हो रहे

आगमसे अद्वैत शद्वब्रह्मकी ही सिद्धि होना इस कहोगे तब तो हम कहेंगे कि उस आगमका वह बाधारहितपना तो परीक्षकोंकरके अन्य अनुमान, तर्क आदि प्रमाणोंके विना कभी भी निश्चित नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि तुम्हारे यहां उस शद्वब्रह्मसे भिन्न हो रहा परमार्थरूपसे कोई समीचीन आगम भी तो नहीं माना गया है, जिससे कि शद्वब्रह्मकी सिद्धि करली जाय। ब्रह्म और आगमका कथंचित् भेद माननेपर ही गम्यगमकपना बन सकता है। अन्यथा नहीं। यदि आगमको उस शद्वब्रह्मका विवर्त माना जायगा तब तो अविद्यास्वरूप होता हुआ वह आगम उस परमब्रह्मका भले प्रकार ज्ञापक कैसे हो सकता है? अर्थात्—नहीं। अवस्तुभूत पदार्थसे वस्तुभूत तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। झूंठे, कल्पित, मोदक तो सन्क्षुभित उदराग्निकी ज्वालाको शान्त नहीं कर सकते हैं। यों बालकोंके लिये विप्रलम्भ करानेके समान कोरा सन्तोष देना विद्वानोंको समुचित नहीं है। अन्य भेदयुक्त प्रमाणान्तरोंसे आगका निर्बाधपना जबतक विशेषरूपसे निश्चित न होगा तबतक झागके बबूले समान अद्वैत शद्वब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात्—प्रमाणोंके विना ही किसी पदार्थको बलात्कारसे साध दिया जाय तो वह झागके बबूलासमान अधिक देरतक परीक्षकोंके सामने टिक नहीं सकता है। अथवा तत्त्वका विशेषतया निश्चय नहीं होते सन्ते भेदकरके फेनसे अभिन्न हो रहे बबूलेके समान शद्वब्रह्मकी झप्ति नहीं कराई जा सकती है।

मायेयं बत दुःपारा विपश्चिदिति पश्यति।
येनाविद्या विनिर्णीता विद्यां गमयति ध्रुवम् ॥ १०३ ॥
भ्रांतेर्बीजाविनाभावादनुमात्रैवमागता।
ततो नैव परं ब्रह्मास्त्यनादिनिधनात्मकम् ॥ १०४ ॥
विवर्तेतार्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।
भ्रान्तिबीजमनुस्मृत्य विद्यां जनयति स्वयं ॥ १०५ ॥

शद्व अद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तुतः जलके समान शद्वब्रह्म एक है। उसके अनेक बबूलेके समान भेदकरके जीवोंको झूंठा प्रतिभास हो रहा है। खेदके साथ कहना पडता है कि यह संसारी जीवके लम्बी चौडी जिसका पार कठिनतासे पाया जाय ऐसी माया लगी हुयी है। विद्वान् जन वास्तविक तत्त्वको देख लेते हैं जिससे कि विशेषरूपसे निर्णीत करी गयी अविद्या उस विद्याका दृढरूपसे ज्ञापक करा देती है। क्योंकि विना भित्तिके भ्रान्तज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः सब मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञानोंका बीज भूत शब्दब्रह्म है। अब आचार्य कहते हैं कि भ्रान्तियोंका बीजके साथ अविनाभाव माननेसे तो इस प्रकार यहां अनुमान प्रमाण ही आगया और ऐसा होनेपर हेतु, पक्ष, दृष्टान्त आदिको मान

लेनेसे द्वैत हो जावेगा। बीजभूतब्रह्म और नैमित्तिक अविद्यायें मानी गयीं। अतोऽपि द्वैत सिद्ध हो जाता है। तिस कारण अनादि, अनन्तस्वरूप हो रहा शद्ध परब्रह्म कैसे भी सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि तुम्हारा यह कहना शोभा देवे कि वह शब्दब्रह्म ही घट, पट, आदि अर्थ परिणामोंकरके पर्यायोंको धारता है। यों जगत्की प्रक्रिया चलती है वह शब्दब्रह्म ही भ्रान्तिके निमित्त कारणोंका अनुसरणकर स्मरण किया जाकर पश्चात् स्वयं विद्याको उत्पन्न कर देता है। यह अद्वैतवादियोंका कथन द्वैतके सिद्ध होनेपर ही युक्त ठहरेगा।

न हि भ्रांतिरियमखिलभेदप्रतीतिरित्यनिश्चये तदन्यथानुपपत्त्या तद्बीजभूतं शद्धतत्त्वमनादिनिधनं ब्रह्म सिध्यति। नापि तदसिद्धौ भेदप्रतीतिर्भ्रांतिरिति परस्पराश्रयणात्कथमिदमवतिष्ठते "अनादिनिधनं ब्रह्म शद्धतत्त्वं यदक्षरं। विवर्ततेऽर्थभावेन प्राक्रिया जगतो यतः॥" इति यतस्तस्य चतस्रोवस्था वैखर्यादयः संभाव्यंते सत्योऽसत्यो वा। न च तदसंभवेनायं सर्वत्र प्रत्यये शद्धानुगमः सिध्येत् सूक्ष्मायाः सर्वत्र भावात्। यतोभिधानापेक्षायामक्षादिज्ञानेन्योन्याश्रयोऽनवस्था च न स्यात्सर्वथैकांताभ्युपगमात्।

देवदत्त, जिनदत्त, घट, पट, आदिक संपूर्ण भेदोंको प्रकाशनेवाली यह प्रतीति भ्रान्तिस्वरूप है। इस प्रकार जबतक निश्चय नहीं होगा, तबतक उस भ्रान्तिकी अन्यथा अनुपपत्ति करके उसका बीजभूत अनादि, अनन्त, व्यापक, शब्दब्रह्म तत्त्वसिद्ध नहीं हो सकता है, तथा जबतक अद्वैत शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं होवेगी, तबतक देवदत्त आदिकी भेदप्रतीति भी भ्रान्तिरूप सिद्ध नहीं हो सकती है। इस ढंगसे परस्पराश्रय दोष हो जानेसे यह वक्ष्यमाण अद्वैतवादियोंका ग्रन्थ कैसे व्यवस्थित हो सकता है कि शब्दतत्त्वस्वरूप परमब्रह्म अनादिकालसे चला आया हुआ जो अनन्तकालतक अक्षीण होता हुआ प्रवर्तता रहेगा। घट, पट, आदि अर्थ स्वरूपोंकरके वह शब्द ब्रह्म ही परिणाम धारता है। जिन परिणामोंसे कि गृह, कलश, पुस्तक, बाल, वृद्ध, स्वर्ग, नरक आदि भेदरूप जगत्की प्रक्रिया बनती है। भावार्थ—भेदप्रतीतियोंके भ्रमरूप सिद्ध हो जानेपर शब्दाद्वैत सिद्ध होय और अद्वैतके सिद्ध हो चुकनेपर भेदप्रतीति भ्रमस्वरूप बने। इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष हो जानेसे यों अद्वैतवादियोंके मन्तव्य अनुसार शब्दब्रह्मका नित्यपना और दृश्य जगत्स्वरूपकरके उसका परिणाम होना सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि उस शब्दब्रह्मकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, सूक्ष्मा ये चार सद्रूप अथवा असद्रूप अवस्थायें सम्भव हो जांय। यानी शद्धब्रह्मके सिद्ध नहीं होनेपर उसकी अवस्थायें आकाश पुष्पकी सुगन्धियों समान नहीं सिद्ध होती हैं। और उन चार अवस्थाओंके असम्भव हो जानेसे सम्पूर्ण ज्ञानोंमें यह शद्धोंका अनुगम करना तो नहीं साधा जा सकेगा कि सूक्ष्मा वाणी सभी ज्ञानोंमें विद्यमान है। अर्थात्—ज्ञानोंमें शद्धकरके अनुविद्धपना नहीं है, जिससे कि अन्य वाचक शद्धोंकी अपेक्षा करते करते इन्द्रियजन्य, लिंग-

मार्गदर्शक :— आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जन्य आदि ज्ञानोंमें अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष नहीं हो सके। अर्थात्—ज्ञानको चारों ओरसे शब्दसे गुथा हुआ माननेपर अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष आते हैं। क्योंकि शब्दाद्वैतवादियोंने सभी प्रकारोंसे शब्दानुविद्धपनेका एकान्त चारों ओर स्वीकार कर लिया है। अतः जान करके शब्दका संसर्ग करनेपर उसी सम्वेदन और अन्य सम्वेदनों द्वारा जाननेमें उक्त दोष उपस्थित हो जाते हैं। यहांतक ' वाग्रूपता ततो न स्यात् ' इस कारिकाके प्रथमसे उठाये गये प्रकरणका उपसंहार करदिया गया है।

स्याद्वादिनां पुनर्वाचो द्रव्यभावविकल्पतः।
द्वैविध्यं द्रव्यवाग्द्वेधाद्द्रव्यपर्यायभेदतः ॥ १०६ ॥
श्रोत्रग्राह्यात्र पर्यायरूपा सा वैखरी मता।
मध्यमा च परैस्तस्याः कृतं नामांतरं तथा ॥ १०७ ॥

अब आचार्य महाराज इस वचनके विषयमें जैनसिद्धान्त दिखलाते हैं कि स्याद्वादियोंके यहां तो फिर द्रव्यवाक् और भाववाक्स्वरूप भेदोंसे वचनोंका दो प्रकार सहितपना है। तिनमें द्रव्यवाक् तो द्रव्य और पर्यायके भेदसे दो प्रकारकी है। यहां प्रकरणमें दूसरे शब्दाद्वैतवादी विद्वानों करके जो श्रोत्र इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य वाणी मानी गयी हैं, वे पर्यायरूप वाक् हैं। दूसरोंने उस पर्यायरूप वाणीका तिस प्रकार वैखरी और मध्यमा ये दूसरे नाम करलिये हैं। अतः शब्द मात्र भेद है। तात्पर्य अर्थ एक ही है। पुद्गलकी कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य पर्यायको शब्द माना गया है।

द्रव्यरूपा पुनर्भाषावर्गणाः पुद्गलाः स्थिताः।
प्रत्ययान्मनसा नापि सर्वप्रत्ययगामिनी ॥ १०८ ॥
भाववाग्व्यक्तिरूपात्र विकल्पात्मनिबंधनं।
द्रव्यवाचोभिधा तस्याः पश्यंतीत्यनिराकृता ॥ १०९ ॥

दूसरी द्रव्यस्वरूपवाणी तो फिर भाषावर्गणास्वरूप स्थित हो रहे पुद्गल हैं, जो कि कण्ठ, तालु आदिको निमित्त पाकर अकार, ककार, अक्षरात्मक या अनक्षरात्मकशब्द परिणम जाते हैं। अतः यह द्रव्यवाक् तो ज्ञानसे और मनके द्वारा भी सम्पूर्ण ज्ञानोंमें अनुगम करनेवाली नहीं है। फिर अद्वैतवादियोंने व्यर्थ ही कहा था कि ज्ञानोंमें प्रकाशनेवाला पदार्थ वागूरूपपना ही है। दूसरा भेद जो भाववाक् किया गया है वह तो यहां पौद्गलिक या आत्मीय व्यक्तिस्वरूप होता हुआ

विकल्पज्ञान और द्रव्यवाक्के आत्मलाभका कारण है। भाववाक् भी व्यक्तिस्वरूप और शक्तिस्वरूप होकर दो प्रकार है। उस भाववाणीकी संज्ञा यदि अद्वैतवादियोंने पश्यन्ती धर दी है तो उसका निराकरण नहीं किया जाता है। भावार्थ—शद्धाद्वैतवादियोंने विकल्पस्वरूप निश्चयात्मक पश्यन्ती वाणी मानी है। हम जैन भी वीर्यान्तराय और मतिश्रुत ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयको पूर्णलाभ प्राप्त कर विकल्पोंका यथायोग्य अन्तर्जल्प करते हैं। वह पश्यन्ती या भाववाक् प्रकट होती हुयी द्रव्यवाणीका कारण है। यह भाववाक्का पहिला व्यक्तिरूप भेद हुआ।

वाग्विज्ञानावृतिच्छेदविशेषोपहितात्मनः।
वक्तुः शक्तिः पुनः सूक्ष्मा भाववागभिधीयताम् ॥ ११० ॥
तया विना प्रवर्तंते न वाचः कस्यचित्क्वचित्।
सर्वज्ञस्याप्यनंताया ज्ञानशक्तेस्तदुद्भवः ॥ १११ ॥
इति चिद्रूपसामान्यात्सर्वात्मव्यापिनी न तु।
विशेषात्मतयेत्युक्ता मतिः प्राङ्नामयोजनात् ॥ ११२ ॥
शद्धानुयोजनादेव श्रुतमेवं न बाध्यते।
ज्ञानशद्धाद्विना तस्य शक्तिरूपादसंभवात् ॥ ११३ ॥

भाववाक्का दूसरा भेद शक्तिभाववाक् है। वचनोंसे जन्य शाब्दबोधज्ञानको आवरण करने वाले कर्मोंके विशेष क्षयोपशमसे उपाधिग्रस्त हो रहे वक्ता आत्माकी जो शक्ति है वह शक्तिस्वरूप भाववाक् शब्दाद्वैतवादियोंकरके सूक्ष्मावाणी कही गयी दीखे है। क्योंकि उस शक्तिरूप सूक्ष्मावाणी के विना किसी भी जीवके कहीं भी वचन नहीं प्रवर्तते हैं। सर्वज्ञ भगवान्के भी अनन्तज्ञान, शक्ति या वीर्यशक्तिके होनेसे ही उस द्वादशांगवाणीकी उत्पत्ति हो रही मानी गयी है। अर्थात्—प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशम या क्षयके हो जानेपर प्रमेयोंका वाचन करानेके लिये या शब्दोंको यथायोग्य बनानेके लिये उत्पन्न हुयी पुरुषार्थ शक्ति ही शब्दोंकी जननी है। उसका भले ही सूक्ष्मा नाम धरलो, कोई क्षति नहीं है। इस प्रकार सामान्य चैतन्यस्वरूपकी अपेक्षासे उस शक्तिस्वरूप सूक्ष्मावाणीको सम्पूर्णभाषाभाषी आत्माओंमें व्यापक हो रही हम मान सकते हैं। किन्तु विशेष विशेषस्वरूपनेसे तो सर्वव्यापक वह नहीं है। जैसा कि शब्दाद्वैतवादियोंने कहा था, दो इन्द्रियवाले जीवोंकी वाणी शक्तिसे पंचेन्द्रियजीवोंकी विशेषशक्तियां न्यारी न्यारी हैं। इस प्रकार नामयोजनासे पहिले स्मृति

आदिक ज्ञान मतिज्ञानस्वरूप कहे गये हैं। सभी ज्ञानोंमें नामका संसर्ग अनिवार्य नहीं है। अतः शब्दकी पीछे योजना कर देनेसे ही श्रुत होता है, इस प्रकारका नियम भी उक्त अपेक्षा लगानेपर बाधित नहीं हो जाता है। कारण कि शक्तिस्वरूप ज्ञान वाणीके विना उस परार्थश्रुतकी उत्पत्ति असम्भव है।

लब्ध्यक्षरस्य विज्ञानं नित्योद्घाटनविग्रहं।
श्रुताज्ञानेपि हि प्रोक्तं तत्र सर्वजघन्यके ॥ ११४ ॥
स्पर्शनेंद्रियमात्रोत्थमत्यज्ञाननिमित्तकं।
ततोक्षरादिविज्ञानं श्रुते सर्वत्र संमतम् ॥ ११५ ॥

सर्व ज्ञानोंमें उत्कृष्ट केवल ज्ञान है। और सम्पूर्ण ज्ञानोंमें छोटा ज्ञान सूक्ष्म निगोदियाका जघन्यज्ञान है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने सम्भवनीय छह हजार बारह जन्मोंमें भ्रमण करता हुआ, अन्तके जन्ममें यदि तीन मोडेवाली गोमूत्रिका गतिसे मरे तब प्रथम मोडाके समयमें सर्व जघन्यज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञानमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। क्योंकि शक्तिके अंशोंकी जघन्यवृद्धिको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। "अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उड्ढी पएसाणं"। यह सबसे छोटा ज्ञान भी जघन्य अन्तरोंसे अनन्तगुणा है। अतः इस ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग-प्रतिच्छेद माने गये हैं। स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। ये कारण कार्यस्वरूप दोनों ज्ञान कुज्ञान हैं। किसी भी जीवको कदापि इससे न्यूनज्ञान प्राप्त होनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ और नहीं होगा। इतना श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम सदा ही बना रहेगा। अतः लब्धि यानी सबसे छोटे क्षयोपशमसे यह ज्ञान अक्षर यानी अविनश्वर है। इतना ज्ञान भी यदि नष्ट हो जाय तो आत्मद्रव्यका ही नाश हो जायगा। अतः यह जघन्य श्रुतज्ञान नित्य ही उघड रहे शरीरवाला है। यानी इसके ऊपर कोई आवरण करनेवाला कर्म नहीं है। जघन्यज्ञान निरावरण है। इसके ऊपरके श्रुतभेदोंको पर्यायावरण, पर्यायसमासावरण, आदि कर्म ढकते हैं। अतः लब्ध्यक्षर-ज्ञानवाले जीवके हो रहा नित्य प्रकाशमान शरीरवाला जघन्य विज्ञान है। सर्वज्ञानोंमें जघन्य कहे जा रहे कुश्रुतज्ञानमें भी पूर्वमें कहा गया शक्तिरूप श्रुत अवश्य भले प्रकार विद्यमान है। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके केवल स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये मत्यज्ञानको निमित्तकारण मानकर जघन्यज्ञान होता है। तिस कारण सिद्ध होता है, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, आदि विज्ञान भी सामान्य चिद्रूप-करके व्याप्त हैं। सम्पूर्ण श्रुतोंमें ज्ञानस्वरूपशब्दकी अनुयोजना करना हमको सम्मत है।

नाकलंकवचोबाधा संभवत्यत्र जातुचित्।
तादृशः संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहात् ॥ ११६ ॥

अतः इस प्रकरणमें श्री अकलंकदेवके वचनकी बाधा कभी भी नहीं सम्भवती है। क्योंकि तिस प्रकारके सर्वज्ञोक्त चले आरहे सम्प्रदाय (आम्नाय) का विच्छेद नहीं हुआ है। तथा शद्वकी योजनासे ही श्रुत होता है। इस सिद्धान्तमें भी पूर्वोक्त अनुसार युक्तियोंका अनुग्रह हो रहा है। शद्वकी योजनासे श्रुत ही होता है। इस पूर्वनियमको तो आचार्य महाराज सर्वथा इष्ट कर ही चुके हैं।

ननु न श्रोत्रग्राह्या पर्यायरूपा वैखरी मध्यमा च वागुक्ता शद्वाद्वैतवादिभिर्यतो नामांतरमात्रं तस्याः स्यान्न पुनरर्थभेद इति। नापि पश्यंती वाग्वाचकविकल्पलक्षणा सूक्ष्मा वा वाक्शद्वज्ञानशक्तिरूपा। किं तर्हि। स्थानेषूरःप्रभृतिषु विभज्यमाने विवृते वायौ वर्णत्वमापद्यमाना वक्तृप्राणवृत्तिहेतुका वैखरी। " स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णत्व-परिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना " इति वचनात्।

यहांपर शद्वानुविद्धवादीका पक्ष लेकर कोई विद्वान् अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि श्रोत्रसे ग्रहण करने योग्य वैखरी और मध्यमा वाणी जो शद्वाद्वैतवादियोंने कही है, वह जैनोंद्वारा मानी गयी पर्यायरूप वाणी नहीं है, जिससे कि उसके केवल नामका अन्तर समझकर उस पर्यायवाणीका दूसरा नाम ही मध्यमा या वैखरी हो जाय। किन्तु फिर अर्थभेद नहीं हो सके और इस प्रकार जैन लोग अपने मतानुसार कहनेवाले शद्वाद्वैतवादियोंकी उक्तियोंपर अधिक प्रसन्नता प्रकट करें तथा वाचकोंका विकल्पस्वरूप पश्यन्ती वाणी भी नहीं मानी गयी है। हमारे यहांपर पश्यन्तीका लक्षण न्यारा है। अतः हम जैनमतके अनुसार कह रहे हैं, ऐसा हर्ष नहीं मनाओ अथवा हम शद्वाद्वैतवादियोंके यहां शद्वशक्तिस्वरूप या व्यक्तिस्वरूप सूक्ष्मावाणी नहीं मानी गयी है। जो कि जैनोंके यहां वक्ताकी शक्तिस्वरूप होकर भाववाक् होती हुयी उनकी प्रसन्नताका कारण बने तो शद्वाद्वैतवादियोंके यहां वैखरी आदिक कैसी मानी गयी हैं ! इसका उत्तर यह है छाती, कंठ, तालु इत्यादि स्थानोंमें विभागको प्राप्त हो रहे वायुके रुककर फट जानेपर वह जो वायु हकार, ककार, इकार, आदि वर्णपनेका परिग्रह कर लेती है, वह वैखरी वाक् है। शद्वप्रयोक्ता जीवोंके श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिको कारण मानकर वैखरीवाणी उपजती है। हमारे ग्रन्थोंमें ऐसा वचन है कि तालु आदि स्थानोंमें वायुके विभाग हो जानेपर वर्णपनेका परिग्रह करती हुयी और शद्व प्रयोक्ताओंकी प्राणवृत्तिको कारण मानती हुयी वैखरीवाणी है। जैसे कि तुम्बी, वीन, वांसुरी आदिके छेदोंमेंसे मुखवायु विभक्त होती हुयी मिष्टस्वरोंमें परिणत हो जाती है। तथैव कानोंसे सुनने योग्य मोटी वैखरीवाणी शद्वब्रह्मका विवर्त है। तुम जैनोंके यहां पौद्गलिक शद्व तो ऐसे नहीं माने गये हैं। अतः हमारा तुम्हारा मिलान भला कहा जाय तो कैसे कहा जाय ! " कृतवर्णत्वपरिग्रहा " यों श्लोकके एक पादमें नौ अक्षर हुये जाते हैं, जो कि कचित् इष्ट किये गये हैं। अथवा " कृतवर्णपरिग्रहा " पाठ ही साधु है॥

तथा मध्यमा केवलमेव बुध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी वक्तृप्राणवृत्तिमतिक्रम्य प्रवर्तमाना निश्चिता " केवलं बुध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी, प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते " इति वचनात् । पश्यन्ती पुनरविभागा सर्वतः संहृतक्रमा प्रत्येया । सूक्ष्मात्र स्वरूपज्योतिरेवान्तरवभासिनी नित्यावगन्तव्या । " अविभागा तु पश्यंती सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागवभासिनी ॥ १ ॥ " इति वचनात् । ततो न स्याद्वादिनां कल्पयितुं युक्ताश्चतस्रोऽवस्थाः श्रुतस्य वैखर्यादयस्तदनिष्टलक्षणत्वादिति केचित् ।

अभी कोई विद्वान ही कहे जाते हैं कि तथा हम शब्दाद्वैतवादियोंकी मानी हुयी मध्यमा वाणी तो केवल बुद्धिको ही उपादान कारण मानकर उत्पन्न होती है । क्रमसे होनेवाले अपने स्वरूपके अनुसार हो रही चली आ रही है, और वक्ताकी प्राणवृत्तिका अतिक्रमण कर प्रवर्त रही निर्णीत हो चुकी है । हमारे दर्शनमें यों लिखा है कि केवल बुद्धिको उपादान कारण मानकर उपजी और क्रमरूपसे अनुपात कर रही तथा श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिका अतिक्रमण कर मध्यमा वाणी प्रवर्त रही है । फिर तीसरी पश्यन्ती वाणी तो विभागरहित होती हुयी सब ओरसे वर्ण, पद, आदिके क्रमका संकोच करती हुई समझनी चाहिये और यहां चौथा सूक्ष्मवाक् तो शब्द ब्रह्मस्वरूपकी ज्योतिः (प्रकाश) ही है । वह सूक्ष्मा अन्तरंगमें सदा प्रकाश रही नित्य समझनी चाहिये । इन दोनों वाणियोंके लिये हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कथन है कि जिसमें सब ओरसे क्रमका उपसंहार किया जा चुका है और विभाग भी जिसमें नहीं है, वह तो पश्यन्ती है, अर्थात्—अकार, ककार आदि वर्णके विभागरहित और वर्ण पदोंके बोलनेके क्रमसे रहित पश्यन्ती है और शब्द ज्योतिः—स्वरूप ही सूक्ष्मावाणी है, जो कि अन्तरङ्गमें प्रकाश कर रही है । स्याद्वादियोंने तो ऐसी द्रव्यवाक् भाववाक् तो नहीं मानी हैं । तिस कारण स्याद्वादियोंके यहां श्रुतकी वैखरी, मध्यमा आदिक चार अवस्थायें कल्पना करनेके लिए किया गया पण्डिताईका परिश्रम समुचित नहीं है । क्योंकि जैनोंके माने हुए वचनोंके वे लक्षण हम शब्दाद्वैतवादियोंको इष्ट नहीं हैं । इस प्रकार कोई शब्दानुविद्ध-वादी कह रहे हैं ।

तेऽपि न प्रातीतिकोक्तयः । वैखर्या मध्यमायाश्च श्रोत्रग्राह्यत्वलक्षणानतिक्रमात् । स्थानेषु विवृतो हि वायुर्वक्तृणां प्राणवृत्तिश्च वर्णत्वं परिग्रह्यत्यावैखर्याः कारणं । वर्णत्वपरिग्रहस्तु लक्षणं स च श्रोत्रग्राह्यत्वपरिणाम एव । इति न किञ्चिदनिष्टं । तथा केवला बुद्धिर्वक्तृप्राणवृत्त्यतिक्रमश्च मध्यमायाः कारणं तु लक्षणं क्रमरूपानुपातित्वमेव च तत्र श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वाविरुद्धमिति न निराक्रियते ।

अब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि वे विद्वान् भी प्रतीतियोंसे युक्त भाषण करनेवाले नहीं हैं । क्योंकि वैखरी और मध्यमाको शब्दवादियोंने श्रोत्रसे ग्रहण करने योग्य स्वीकार किया है ।

और हम स्याद्वादियोंके यहां पर्यायरूप द्रव्यवाक् भी कर्ण इन्द्रियसे ग्राह्य मानी गयी हैं। अतः कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्यपना, इस लक्षणका उल्लंघन नहीं हुआ है। आपने तालु आदि स्थानोंमें फैल रही वायु और वक्ताओंकी श्वासोच्छ्वासप्रवृत्ति ही वर्णपनेको परिग्रहण कर रही वैखरी वाणीके कारण माने हैं। वैखरीका लक्षण वर्णपनेका परिग्रह कर लेना है। और वह तो कान इन्द्रियद्वारा ग्राह्य हो जानापनस्वरूप परिणति ही है। जगत्में फैली हुयीं भाषावर्गणायें या शब्द-योग्यवर्गणायें पहिले कानोंसे सुनने योग्य नहीं थीं, अक्षर पद या ध्वनिरूप पर्याय धारनेपर वे कानोंसे सुनने योग्य हो जाती हैं। इस प्रकार हमको और तुमको कुछ भी अनिष्ट नहीं है। अर्थात्—हमारी श्रोत्रसे ग्राह्य हो रही पर्यायवाणी और तुम्हारी वैखरीवाणी एकसी मान ली गयी। तथा केवल बुद्धि ही मध्यमाकी उपादान कारण तुमने मानी है और प्राणवृत्तियोंका अतिक्रमण करना तो मध्यमाका निमित्त कारण माना गया है। तथा वर्ण, पद आदिके क्रमसे अपने स्वरूपका अनुगम करना ही यह मध्यमाका लक्षण भी श्रोत्रद्वारा ग्रहण करने योग्यपनसे विरुद्ध नहीं पडता है। इस कारण आपकी मध्यमाका निराकरण नहीं किया जाता है। स्याद्वादियोंके यहां पर्यायरूप अन्त-र्जल्पस्वरूप शब्द कानोंसे सुनने योग्य माने हैं।

पश्यन्त्याः सर्वतः संहृतक्रमत्वमविभागत्वं च लक्षणं। तच्च यदि सर्वथा तदा प्रमाणविरोधो, वाच्यवाचकविकल्पक्रमविभागयोस्तत्र प्रतिभासनात्। कथंचित्तु संहृतक्र-मत्वमविभागत्वं च तत्रेष्टमेव, युगपदुपयुक्तश्रुतविकल्पानामसम्भवाद्वर्णादिविभागाभावाच्चा-नुपयुक्तश्रुतविकल्पस्येति। तस्य विकल्पात्मकत्वलक्षणानतिक्रम एव।

शब्दाद्वैतवादियोंने पश्यन्तीका लक्षण क्रमोंका संहार किया जाना और विभागरहितपना किया है। इस पर हमें पूंछना है कि वाणियोंमें वह क्रमका संहार और अविभाग यदि सर्वथा रूपसे माने गये हैं, तब तो प्रमाणोंसे विरोध आवेगा। क्योंकि उन शब्दोंमें विकल्पज्ञानके अनुसार वाच्य और वाचकोंका क्रम तथा वर्ण, पद आदिकोंके विभागोंका प्रतिभास हो रहा देखा जाता है। हां, संहृत क्रमपना और विभागरहितपना यदि कथंचिद् माना जाय सो तो हमें भी वहां शब्दमें इष्ट ही है। उपयोगको प्राप्त हो रहे श्रुतके अनेक विकल्पोंका एक ही समयमें असम्भव है। सुमेरु पर्वत, ऊर्ध्वलोक, छठे गुणस्थानके भाव, अष्टसहस्री आदिका प्रबोध, युगपत् हो सकता है। किन्तु वाच्य वाचकके क्रमका संहार हो जाता है। भोजन कर रहे या विनोद कर रहे न्यायशास्त्रके वेत्ता विद्वान्में न्यायशास्त्रकी व्युत्पत्ति है। किन्तु श्रुतके विकल्पोंका उपयोगरूप परिणाम आत्मामें नहीं है। उस अनुपयुक्त हो रहे श्रुतके विकल्पके वर्ण, पद, पंक्ति, आदिका यों विभाग उस समय नहीं है। अतः उस पश्यन्ती वाणीके विकल्पस्वरूपपने लक्षणका हमारी मानी हुयी भाववाणीसे अतिक्रमण कैसे भी नहीं हो पाता है। कथञ्चित् लक्षणैक्य ही है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूक्ष्मायाः पुनरन्तःप्रकाशमानस्वरूपज्योतिर्लक्षणत्वं कथंचिन्नित्यत्वं च नित्योद्घाटितान्निरावरणलब्ध्यक्षरज्ञानाच्छक्तिरूपाच्च चित्सामान्यान्न विशिष्यते। सर्वथा नित्याद्वयरूपत्वं तु प्रमाणविरुद्धस्य वेदितमायम्। इत्यलं प्रपंचेन।

फिर चौथी सूक्ष्माका लक्षण तुमने अन्तःप्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप किया है, और उसको नित्य माना है, तहां कथंचित् नित्यपना ठीक है। हम स्याद्वादियोंके यहां नित्य उद्घाटित हो रहे और केवलज्ञानके समान निरावरण तथा क्षयोपशमलब्धिसे अविनाशी हो रहे, ऐसे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भी शक्तिरूप चैतन्य सामान्यसे अथवा अन्य क्षयोपशमिक शक्तिरूप लब्धियोंसे तुम्हारी सूक्ष्मा वाणीका कोई विशेष नहीं दीख रहा है। हां, सभी प्रकारोंसे उस सूक्ष्मावाणीको नित्य और अद्वैतस्वरूप मानोगे सो तो प्रमाणविरुद्ध है। अर्थात्—प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थको ही सर्वथा नित्यपना या अद्वैतस्वरूपपना भले ही कह दिया जाय, किन्तु प्रमाणसे उत्पन्न हो रही वस्तुमें सर्वथा नित्यपन या अद्वैतपन नहीं बनते हैं। इस बातको हम बहुत बार निवेदन कर चुके हैं, या समझा चुके हैं। तिस कारण यहां अधिक विस्तार करनेसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

"श्रुतं शब्दानुयोजनादेव" इत्यवधारणस्याकलंकाभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात्। तथा संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहाच्च सर्वमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्याक्षरज्ञानत्वव्यवस्थितेः।

शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, इस प्रकार श्री अकलंकदेवको अभिप्रेत हो रहे अवधारणका कभी भी विरोध नहीं पडता है। श्रोत्रसे अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंसे जन्य मतिज्ञान-द्वारा हुये अर्थान्तरके ज्ञानमें या अवाच्य श्रुतज्ञानमें अथवा अन्य श्रुतोंमें भी भाववाक्‌रूप चैतन्य शब्दोंकी योजना कर देनेसे ही श्रुतपना व्यवस्थित हो सकता है, अन्यथा नहीं। पूर्वसे चली आरहीं तिस प्रकारकी आम्नायोंकी विच्छित्ति नहीं हुयी है। इस कारण और युक्तियोंका अनुग्रह हो जानेसे भी सम्पूर्ण मतिज्ञानोंको पूर्ववर्ती कारण मानकर भी उत्पन्न हुये श्रुतको अक्षरज्ञानपना व्यवस्थित होगया है। यानी भावशब्दोंकी योजना कर देनेसे ही वे श्रुत हो सके हैं।

अत्रोपमानस्यान्तर्भावं विभावयन्नाह।

शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है अथवा श्रुत ही शब्दकी अनुयोजनासे होता है। इसका विचार कर अब नैयायिकोंद्वारा पृथक् प्रमाण माने गये उपमानके अन्तर्भावका विचार कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट व्याख्यान कहते हैं।

कृतातिदेशवाक्यार्थसंस्कारस्य क्वचित्पुनः।
संवित्प्रसिद्धसाधर्म्यात्तथा वाचकयोजिता ॥ ११७ ॥

प्रकाशितोपमा कैश्चित्सा श्रुतान्न विभिद्यते ।
शब्दानुयोजनात्तस्याः प्रसिद्धागमविच्चिवत् ॥ ११८ ॥

एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धोतिदेशः । किसी वनवासी पुरुषने ग्रामीणके लिये कहा कि गौके सदृश पशु तो गवयपद द्वारा कहा जाता है । पीछे ग्रामीणने किसी बन या खेतमें रोझको देखा, उस रोझमें जो गौके सदृशपनेका ज्ञान है, वह उपमितिका करण उपमान प्रमाण है । " प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् " यह गौतम सूत्र है । गौके सदृश गवय होता है, इस अतिदेश वाक्यके अर्थका किये गये भावनानामक संस्कारवाले पुरुषको फिर कहीं रोझ व्यक्तिमें प्रसिद्ध गौके समान धर्मपनेसे तिस प्रकार " यह गवय है " इस प्रकार गवय वाचकशब्दकी योजनापूर्वक जो ज्ञान होता है, वह किन्हीं नैयायिक विद्वान् करके उपमानप्रमाण प्रकाशित किया गया है । किन्तु " यह गवयपदसे वाच्य है " इस प्रकार हुयी वह उपमा तो श्रुतसे विभिन्न नहीं हो रही है । क्योंकि उस उपमितिके शब्दकी अनुयोजना लग रही है । जैसे कि अन्य प्रसिद्ध हो रहे शब्दानुयोगी आगमज्ञान इस श्रुतसे भिन्न नहीं हैं । भावार्थ—श्रुतमें ही उपमानप्रमाण गर्भित हो जाता है । " श्रुतं शब्दानुयोजनात् " यह लक्षण यहां घटित हो जाता है ।

प्रमाणान्तरतायान्तु प्रमाणनियमः कुतः ।
संख्या संवेदनादीनां प्रमाणांतरता स्थितौ ॥ ११९ ॥

यदि उपमान प्रमाणको नियत प्रमाणोंसे न्यारा प्रमाणपना माना जायगा तब तो तुम्हारे यहां प्रमाणोंका नियम कैसे हो सकेगा ? पचास, चालीस प्रमाण माननेपर भी परिपूर्णता नहीं हो सकेगी । संख्याके ज्ञान, रेखाओंके ज्ञान, आदिकोंको भी न्यारा प्रमाण माननेकी व्यवस्था करनेका प्रसंग होगा । जितने रुपयेकी मनभर (चालीस सेर) कोई वस्तु आती है, उतने ही आनोंकी ढाई सेर आवेगी । इस प्रकार अतिदेश वाक्यको स्मरण कर रहा मुनीम अवसरपर परिमित पदार्थोंका गणित लगा लेता है । " नौ सात त्रेसठ " इस प्रकार पहाडेको याद कर संस्कार रखनेवाला विद्यार्थी सात सात की नौ बिछीं हुयीं पंक्तियोंको देखकर त्रेसठ संख्याका ज्ञान कर लेता है । रेखागणितके नियम अनुसार विष्कम्भके वर्गको दशगुना करनेपर उसका वर्गमूल निकालनेसे परिधि निकल आती है । ऐसा स्मरण रखता हुआ बालक जम्बूद्वीप लवणसमुद्रकी आदि गोल पदार्थोंकी परिधिका ज्ञान करलेता है । किन्तु ये ज्ञान न्यारे प्रमाण तो नहीं माने गये हैं । श्रुतमें गतार्थ हैं ।

प्रत्यक्षं ह्यादिविज्ञानमुत्तरार्थर्यवेदनं ।
स्थविष्ठोरुदविष्ठाल्पलघ्वासन्नादिविच्च चेत् ॥ १२० ॥

नोपदेशमपेक्षेत जातु रूपादिवित्तिवत् ।
परोपदेशनिर्मुक्तं प्रत्यक्षं हि सतां मतं ॥ १२१ ॥

यदि तुम नैयायिक दो, दश आदि संख्याओंके ज्ञानको अथवा ऊपर नीचेपनके ज्ञानको तथा अतिस्थूलपन, मोटापन, अधिक दूरपन, अल्पपन, लघुपन, निकटवर्तीपन, लम्बापन, गुरुत्व, आदिके ज्ञानोंको प्रत्यक्ष प्रमाणरूप मानोगे, तब तो हम जैन कहेंगे कि उक्त कहे हुये ज्ञान कभी भी उपदेशकी अपेक्षा नहीं करेंगे, जैसे कि रूप, रस, आदिके प्रत्यक्षज्ञानोंको अन्यके उपदेशकी अपेक्षा नहीं है । सम्पूर्ण ही सज्जन विद्वानोंके यहां प्रत्यक्षज्ञान नियमसे परोपदेश करके रहित माना गया है । भावार्थ—१ पन्द्रह छका नव्वे २ उच्च कक्षाके छात्र ऊपर रहते हैं, और नीचली श्रेणीके विद्यार्थी नीचे रहते हैं, ३ मानली गयी इतनी मोटाईसे अधिक मोटा हो रहा मनुष्य या वृक्ष अधिक स्थूल कहा जाता है, ४ यह खेत उस खेतसे अधिक विस्तीर्ण है, ५ यह मार्ग उस मार्गसे अधिक दूर पड़ता है, ६ यह आम्रफल उस आम्रफलसे छोटा है, ७ सोनेसे चांदी हलकी होती है, ८ यह ग्राम उस ग्रामसे निकट है, ९ यह नदी उस कुल्यासे लम्बी है, १० धातुओंमें पारा सबसे भारी है, इत्यादि वृद्धवाक्योंके संस्कारको धारनेवाले पुरुषोंके उत्पन्न हुये ज्ञानोंको यदि प्रत्यक्ष कह दिया जायगा तो इनमें परोपदेशकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी । अन्यप्रतीतियोंका व्यवधान नहीं कर जो साक्षात् विशदज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है । किन्तु अन्यज्ञानोंकी या परोपदेशोंकी इन ज्ञानोंमें तो आकांक्षा हो रही है । अतः उक्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । किन्तु विशेष श्रुतस्वरूप हैं ।

तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरपेक्षते ।
परोपदेशमध्यक्षं संख्यादिविषयं यदि ॥ १२२ ॥
तदोपमानतः सैतत् प्रमाणान्तरमस्तु वः ।
नोपमानार्थता तस्यास्तद्वाक्येन विनोद्भवात् ॥ १२३ ॥

यदि आप नैयायिक यों कहें कि किसी वनवासी भीलने एक नागरिकको कहा कि गायके समान ही गवय होता है । नागरिक कचित् गायके समान धर्मवाले अर्थको इन्द्रियोंसे देखता हुआ निर्णय करता है कि इस अर्थकी वाचक गवय संज्ञा है और यह रोझ व्यक्ति गवय संज्ञावान् है, यों संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति ही परोपदेशकी अपेक्षा करती है । छत्तीस, त्रेसठि आदिका ज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा नहीं करता है । अतः संख्या, अधिकस्थूलपना, दूरतरपना इत्यादिको विषय करनेवाला वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है । अब आचार्य

कहते हैं कि तब तो उपमान प्रमाणसे अतिरिक्त वह सम्बन्धकी प्रतिपत्ति ही तुम नैयायिकोंके यहां प्रमाणांतर हो जाओ, यह न्यारा प्रमाणपना दोष तदवस्थ रहा। उस उपमानवाक्यके विना ही उस सम्बन्ध प्रतिपत्तिकी उत्पत्ति हो जाती है। अतः उपमानप्रमाणमें उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है, जब कि वह उपमानका विषय नहीं हो सकी है। उपमानप्रमाण बननेके लिये वही समर्थ माना गया है, जिसकी उपमानवाक्यका स्मरण करते हुये उत्पत्ति होवे। इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान तो उपमानमें गतार्थ नहीं हो सकते हैं।

आगमत्वं पुनः सिद्धमुपमानं श्रुतं यथा।
सिंहासने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनं ॥ १२४ ॥

हां, फिर संख्या, स्थूलत्व, आदिके ज्ञानोंको जिस प्रकार आगमपना सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उपमान प्रमाणको भी श्रुतपना समझो। सिंहासनपर जो बैठा हुआ होय उसको राजा समझना, डेरी और छोटे आसनपर बैठे हुयेको मंत्री समझना, इत्यादिक आप्त शब्दोंको सुनकर पुनः राजसभामें जाकर उन शब्दोंके संस्कारसे उत्पन्न हुये उन उन व्यक्तियोंमें राजा, मंत्री, आदिके ज्ञानको जिस प्रकार श्रुतपना है, उसी प्रकार उपमानको भी श्रुतपना सिद्ध है। अर्थान्तरकी अभेदविवक्षा अनुसार कतिपय प्रत्यभिज्ञान मतिज्ञान समझे जाते हैं। किन्तु प्रकृत अर्थसे भिन्न माने जा रहे आर्थान्तरकी प्रतिपत्ति करनेवाले उपमान या प्रत्यभिज्ञान सभी श्रुतज्ञान हैं।

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानं, गौरिव गवय इति ज्ञानं। तथा वैधर्म्याद् योऽगवयो महिषादिः स न गौरिवेति ज्ञानं। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। अयं स गवयशब्दवाच्यः पिंड, इति सोऽयं महिषादिरगवयशब्दवाच्य इति वा साधर्म्यवैधर्म्योपमानवाक्यादिसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्योपजायते। इति द्वेधोपमानं शब्दात्प्रमाणान्तरं ये समाचक्षते तेषां द्र्यादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरं, गणितज्ञसंख्यावाक्याहितसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्र्यादिषु संख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्र्यादीनि तानीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्द्र्यादिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यं।

गौतमऋषिके बनाये हुये न्यायसूत्रमें कहा है कि प्रसिद्ध हो रहे पदार्थके साधर्म्यसे अप्रसिद्ध साध्यको साधना उपमान प्रमाण है, जैसे कि गौके सदृश गवय होता है, यह ज्ञान उपमान है। तथा प्रसिद्ध पदार्थके विलक्षण धर्मसहितपनेकरके भी अप्रसिद्ध साध्यका साधना उपमान है, जैसे कि जो गौ या गोसदृश गवयसे भिन्न भैंसा, ऊंट, हाथी आदिक पशु हैं। वे गौके सदृश नहीं हैं, यह ज्ञान भी उपमान है। ऐसा टीकाकारोंने वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञानका उपसंख्यान किया है कि साधर्म्य और वैधर्म्यकरके संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति हो जाना उपमान प्रमाणका प्रयोजन

(फल) है। अथवा वनमें दीख रहा यह पशुपिंड ही वह गवयपदसे वाच्य है। इस प्रकार ज्ञान होना सादृश्य उपमानका फल है। अथवा यह अंगुलीनिर्दिष्ट भैंसा, ऊंट आदिक पशु उस गवय शब्दके वाच्य नहीं हैं। इस प्रकार वैसादृश्य-उपमानका फल है। प्रसिद्ध पदार्थके समान धर्म अथवा विलक्षण धर्मसहितपनको उपमाको कहनेवाले वाक्य, संकेत, चित्रदर्शन, आदिका अनुभव कर पुनः भावना संस्कार रखनेवाले प्रतिपाद्य (शिष्य) के उपमानज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो प्रकारके उपमानको जो नैयायिक शब्दप्रमाणसे न्यारा प्रमाण अच्छे ढंगपूर्वक बखान रहे हैं, उनके यहां दो, छत्तीस आदिक संख्याओंका ज्ञान भी न्यारा प्रमाण हो जायगा। देखिये, गणित विद्याको जाननेवाले विद्वान्करके कहे गये संख्याओंके वाक्योंका संस्कार धारण किये हुये प्रतिपाद्यको पुनः दो आदि संख्यावाले नवीन स्थलोंपर वैसी संख्याओंसे विशिष्ट हो रहे द्रव्योंके देखनेसे ये दो दूनी चार हैं, ये पन्द्रह छक्का नब्बे रुपये हैं, इत्यादिक उसी प्रकार पहिले देखे हुये उन दो आदि संख्याओंके समान हैं, इस प्रकार संज्ञा संज्ञियोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति हो जाती है। वह दो आदि संख्याओंका ज्ञानस्वरूप प्रमाणका फल है, यह अतिप्रसंग समझ लेना चाहिये।

तथोत्तराधर्यज्ञानं सोपानादिषु, स्थविष्ठज्ञानं पर्वादिषु, महत्त्वज्ञानं स्ववंशादिषु, दविष्ठज्ञानं चंद्रार्कादिष्वल्पत्वज्ञानं सर्षपादिषु, लघुत्वज्ञानं तूलादिषु, प्रत्यासन्नज्ञानं स्वगृहादिषु, संस्थानज्ञानं त्र्यस्त्यादिषु, वक्रर्जवादिज्ञानं च क्वचित्प्रमाणांतरमायातं।

तथा सोपान (जीना) नसैनी, पटल, श्रेणी (कक्षा) आदिमें ऊपर नीचेपनका ज्ञान भी भिन्न प्रमाण मानना पडेगा। पंवोली, गांठ, सन्दूक, आदिमें अधिक स्थूलपनका ज्ञान और अपने घरके बांस, इक्षुदण्ड, कपाट, आदिमें महान्पनका ज्ञान तथा चन्द्रमा, सूर्य, मंगल, आदिकोंमें बहुत दूरपनेका ज्ञान एवं सरसों, तिल, बाजरा, वटबीज आदिमें अल्पपनेका ज्ञान और रूई, फसूकर, फेन आदिमें हलकेपनका ज्ञान तथा अपने गृह, बाग, कोठी, आदिमें निकटवर्तीपनेका ज्ञान तथैव तिकौनिया या तिकोने, चौकोने, गोल, लम्बे, आदि आकारवाले पदार्थोंमें तैसी पहिले दिखाई गयी रचनाका ज्ञान तथा कहीं कहीं लकुट, लेखनी आदिमें टेडेपन, सूधेपन आदिके ज्ञान भी दूसरे न्यारे न्यारे प्रमाण बन जायंगे। यह प्रसंग आकर प्राप्त हो गया। सहारनपुरमें चार बजे बम्बईसे डाक गाडी आती है। यह सुनकर पुनः किसी दिन चार बजे स्टेशनपर जाकर वहां खडी हुयी गाडीको देखकर बम्बईसे आई हुयी डाकगाडीका ज्ञान कर लिया जाता है। सामुद्रिक शास्त्र या ज्योतिषशास्त्रके अनुसार चिन्होंको देखकर विद्या, आयुष्य, धन, पुत्र, आदिकी प्राप्तिका ज्ञान कर लिया जाता है। नैयायिकोंके यहां ये सब न्यारे प्रमाण बन बैठेंगे। सादृश्य उपमान या बडी प्रेरणा होनेपर माने गये वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञानमें तो इनका अन्तर्भाव हो नहीं सकता है।

परोपदिष्टोत्तराधर्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य विनेयजनस्य पुनरौत्तराधर्यदर्शनादिदं तदौत्तराधर्यादीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेस्तत्फलस्य भावान्न हि संख्याज्ञानादि प्रत्यक्षमिति युक्तं वाक्, परोपदेशापेक्षाविरहप्रसंगात् रूपादिज्ञानवत्, परोपदेशविनिर्मुक्तं प्रत्यक्षमित्यत्र सतां संप्रतिपत्तेः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अज्ञात पुरुषको किसी हितैषीने सोपान (जीना) का ज्ञान उपदेश द्वारा कराया कि अमुक सीढी ऊंची है, और अमुक सीढी नीची है, इत्यादि वाक्योंके संस्कारोंका आधान रख चुके हुये विनीत पुरुषको फिर ऊपर और अधर धर्मवाले पदार्थका दर्शन हो जानेसे, यह वही उत्तरपना और अधरपना आदिक हैं । इस प्रकार उस उपमानके संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतिपत्तिरूप फलका सद्भाव है । अतः आप नैयायिक बतलाओ कि इनका कौनसे प्रमाणमें अन्तर्भाव करोगे ? संख्याज्ञान, स्थूलपनका ज्ञान, आदिक ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हो जायं, यह तो कहनेके लिये युक्त नहीं पडेगा । क्योंकि यों तो इन उक्त ज्ञानोंको परोपदेशकी अपेक्षा रखनेके अभावका प्रसंग हो जायगा, जैसे कि रूप, रस आदिके प्रत्यक्षज्ञान अन्यके उपदेशोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं । सम्पूर्ण प्रत्यक्षप्रमाण परोपदेशोंकी विशेषरूप करके अपेक्षा करनेसे सर्वथा रहित हैं । इस प्रसिद्ध सिद्धान्तमें सम्पूर्ण सज्जन विद्वानोंको भली भांति प्रतिपत्ति हो रही है । किन्तु संख्याके ज्ञान करनेमें गणित शास्त्रोंके करणसूत्रकी या पहाडेकी आकांक्षा हो रही है । यह बांसकी पंवोली स्थूल है । यह बांस लंबा है । सरसों छोटी है, इत्यादि ज्ञानोंमें स्मरण या छह चौक चौवीस, जितने रुपयोंकी एक सेर उतने ही आनोंकी एक छटांक, आदि परोपदेशोंकी अपेक्षा हो रही है । अतः ये उक्तज्ञान कथमपि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकते हैं ।

यदि पुनः संख्यादिविषयज्ञानं प्रत्यक्षमपरोपदेशमेव तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेरेव परोपदेशापेक्षानुभवादिति मतं तदा सैव संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरमस्तु, विनोपमानवाक्येन भावादुपमानेऽन्तर्भावितुमशक्यत्वात् ।

यदि फिर नैयायिकोंका यह मन्तव्य होय कि संख्या स्थूलता, महत्ता, अल्पता, ऊंचा, नीचापन, आदि को विषय करनेवाले ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं । इनमें परोपदेशकी कोई अपेक्षा नहीं हुयी है । हां, उनके संज्ञासंज्ञी सम्बन्धकी प्रतिपत्तिको ही परोपदेशकी अपेक्षा रखनेका अनुभव हो रहा है । अब आचार्य महाराज कहते हैं कि तब तो वह संज्ञा और संज्ञावाले अर्थोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति होना ही न्यारा प्रमाण हो जाओ। जब कि वे प्रतिपत्तियां समीचीन ज्ञान हैं तो आपके नियत हो रहे चार प्रमाणोंसे अतिरिक्त प्रमाण मानना चाहिये । उपमान वाक्यके विना ही हो जानेके कारण उपमिति प्रमाणमें तो अन्तर्भाव करानेके लिये असमर्थपना है । भावार्थ—गौके समान गवय होता है । मुद्गपर्णी औषधिके सदृश दूसरी औषधि विषको दूर करदेती है । इस प्रकार यथा, इव, वत्

प्रत्यय सादृश्य तुल्यता इनसे कहा गया उपमान तो उक्त वाक्योंमें नहीं है। वहां तो गणितशास्त्रके संस्कार या स्वयं पहिले देखे हुये छोटेपन, बडेपन, दूरपन, लघुपन, आदिके उपदेश अथवा अनुभव कार्यकारी हो रहे हैं। ऐसी दशामें तुम्हारे माने हुये उपमानमें उक्त संख्या आदिके ज्ञानोंका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण आदिके विना उक्तज्ञान हो रहे हैं। अतः अनुमानमें गर्भित नहीं कर सकते हो। अतः परिशेषसे शाब्दज्ञानमें उनका गर्भ करना अनिवार्य पड जायगा। अथवा उपमानके समान स्वतंत्र न्यारे न्यारे प्रमाण विवश होकर मानने पडेंगे, अन्य कोई उपाय नहीं है।

ननु चाप्तोपदेशात्प्रतिपाद्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणांतरमिति चेत्तर्ह्याप्तोपदिष्टोपमानवाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरं।

नैयायिक अपने पक्षका ही अवधारण करते हुये कह रहे हैं कि यथार्थ वक्ताके उपदेशसे उत्पन्न हुयी शिष्यको वह संज्ञासंज्ञियोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति तो आगमज्ञानका फल ही है। तिस कारण वह न्यारा प्रमाण नहीं है। प्रमाके करणोंको प्रमाणपना कहना ढूंढना चाहिये, प्रमितियोंके प्रमाणपनकी परीक्षामें अवसर खोना अच्छा नहीं है। प्रमाणोंके फल तो अनेक प्रतिपत्तियां हैं। उनको कहांतक प्रमाण माना जा सकता है। जैनोंने भी प्रमाणके फल अज्ञाननिवृत्ति, हान उपादान, और उपेक्षाको प्रमाणस्वरूप नहीं मानकर अभाव, त्याग, ग्रहण, और अनिच्छास्वरूप कार्य कहा है। देखो, व्याप्तिज्ञान प्रमाण है, और वह्निकी प्रमिति उसका फल है। उस वह्निकी प्रमाको पुनः प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि आप्तपुरुषद्वारा उपदेश किये गये उपमान वाक्यसे हो रही उस सादृश्य विशिष्ट गौ या गोविशिष्ट सादृश्यकी प्रतिपत्ति भी आगमप्रमाण ही हो जाओ। इस प्रकार श्रुतसे निराला उपमानप्रमाण नहीं हो सका। नैयायिकोंने जो यह कहा था कि प्रमाणके फलमें प्रमाणपनेका अन्वेषण नहीं करना चाहिये। इसपर हमारा यह कहना है कि प्रमाणसे अभिन्न हो रहे फल प्रमाणरूप ही हैं। अज्ञाननिवृत्ति कोई तुच्छ पदार्थ नहीं है। वह प्रमाण स्वरूप ही है। व्याप्तिका ज्ञान व्याप्तिको जाननेमें प्रमाण है। अग्निके अनुमानज्ञानकी उत्पत्तिमें व्याप्तिज्ञान निमित्त कारण है। सच पूछो तो अग्निकी अनुमिति ही अनुमान प्रमाण है। धूमज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। वन्हि और धूमका व्याप्तिज्ञान तो तर्क है, और वन्हिज्ञान अनुमान प्रमाण है। ज्ञान ही प्रमाण हो सकते हैं। इसको हम कह चुके हैं। कोई भी प्रमाणज्ञान चाहे वह किसी पदार्थका फल होय, किन्तु अपने विषयकी प्रमितिका करण होनेसे अवश्य प्रमाण बन बैठता है। प्रमिति, ज्ञप्ति, अनुमिति, आदि धर्मोंसे तदात्मक हो रहा वह प्रमाण उपजता है। अतः उपमान वाक्यसे हुयी वह सम्बन्ध प्रतिपत्ति भी आगम प्रमाण होगी, यह विश्वास रखो। फल कह देनेसे तुम छुट्टी नहीं पा सकते हो।

सिंहासनस्थो राजा पश्चके वामदेवीं सुवर्णपीठे सचिवः एतस्मात्पूर्वत एतस्मादुत्तरत एतस्माद्दक्षिणत एतन्नामेत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात्सोऽयं राजेत्यादिसंज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिः। षडाननो गुहश्चतुर्मुखो ब्रह्मातुंगनासो भागवतः क्षीराम्भोविवेचनतुण्डो हंसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य तथा प्रतिपत्तिर्वा यद्यागमज्ञानं तदा तद्वदेवोपमानमवसेयं विशेषाभावात्।

उपमान, उपमेय सूचक वाक्योंके विना ही अन्य प्रतियोगित्व, सामीप्य, तत्रस्थितपना, आदिके द्वारा सूचना देनेवाले आप्तवाक्योंसे हुये इन वक्ष्यमाण ज्ञानोंको आप नैयायिक यदि आगमज्ञान कहते हैं तो उपमान वाक्यसे उत्पन्न हुआ उपमान प्रमाण भी आगमज्ञान हो जाओ "आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" आप्तके वाक्योंको निमित्त पाकर जो ज्ञान उपजता है, वह आगम है। पहिले ही पहिले राजसभामें जानेवाले किसी नवपुरुषको दरबारमें आने जानेवाले किसी हितैषी मित्रने समझा दिया कि मध्यमें सन्मुख रखे हुये सिंहासनपर जो महान् पुरुष बैठा हुआ दीखे उसको राजा समझना और उसके डेरी ओर सुवर्णके उच्चासनपर बैठी हुयी स्त्रीको पट्टरानी समझो तथा दो हाथ लम्बे चौडे और आधे हाथ ऊंचे सुवर्णके पीठ (कुर्सी) पर मंत्री बैठा करता है। इससे पूर्व देशमें और इससे उत्तरकी ओर तथा इससे दक्षिणकी ओर इस इस नामवाले पदवीधर पुरुष विराजते हैं। कोई ग्रामोंके अधिपति हैं। नगरोंके अधिपति अमुक व्यक्ति हैं, इत्यादिक आप्तवाक्यके संस्कारोंको धारण करता हुआ पुरुष पुनः अन्यदा राजसभामें जाकर तिस ही प्रकार देखता है, और यह वही राजा है, यह स्त्री महादेवी है, यह सुवर्ण पीठपर बैठा हुआ मंत्री (दीवान) है, इत्यादि पहिली गृहीत की गयीं संज्ञायें और सम्मुख स्थित हो रहे संज्ञावाले जनोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति कर लेता है। वैष्णव पुराणोंमें प्रसिद्ध हो रहे छह मुखोंसे युक्त कार्तिकेयको गुह समझना चाहिये। जिसके चार मुख होंय वह ब्रह्मा है, उन्नत नासिकावाला पक्षी तो विष्णु भगवान्का वाहन हो रहा गरुडपक्षी भागवत है। मिले हुये क्षीर (दूध) और जलके पृथग्भाव करनेमें दक्ष हो रही चोंचको धारनेवाला पक्षी हंस होता है। सात सात पत्तोंके गुच्छोंको धारनेवाला जो वृक्ष है, वह सप्तच्छद समझा जायगा। तीन तीन पत्तेवाला ढाक वृक्ष होता है। छह पैरवाला कीट भ्रमर है। छोटी ग्रीवावाला और ऐंचाताना पुरुष धूर्त होता है, इत्यादि वाक्योंके संस्कारको धार रहे पुरुषको तिस प्रकार राजा, कार्तिकेय, आदिकी प्रतिपत्ति होना यदि आगमज्ञान माना गया है, तो उन्हींके समान उपमानको भी आगमज्ञान निर्णय कर लो। उपमान नामका ही एक प्रमाणभेद मानना तोषकर नहीं है। क्योंकि हंस, सप्तच्छद आदिके आगमज्ञानोंसे गौके सादृश्यज्ञानरूप उपमानमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती है। आप्तवाक्योंके धारण किये गये संस्कारोंद्वारा तिस प्रकार प्रतिपत्ति होना सर्वत्र एकसा है। कोई अन्तर नहीं है।

यदि पुनरुपमानोपमेयभावप्रतिपादनपरत्वेन विशेषादुपमानवाक्यादुत्पद्यमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरमित्यभिनिवेशस्तदा रूप्यरूपकभावादिप्रतिपादनपरत्वेन ततोऽपि विशिष्टादूपकादिवाक्यादुपजायमानं विज्ञानं प्रामाणान्तरमनुमन्यतां, तस्यापि स्वविषयप्रमितौ साधकतमत्वाद्विसंवादकत्वाभावादप्रमाणत्वायोगात् ।

यदि फिर नैयायिकोंका इस प्रकार आग्रह होय कि इव, यथा, समान, सदृश, तुल्य आदि शब्दोंकरके सूचित किये गये उपमान उपमेय भावको प्रतिपादन करनेमें तत्पर होनेके कारण विशेषताओंको धार रहे उपमान वाक्यसे उत्पन्न हो रहा उपमान प्रमाण तो श्रुतसे न्यारा प्रमाण ही है । गौ, गवय, मुख, चन्द, आदि उपमान उपमेयके प्रतिपादक वाक्योंसे अतिशय युक्त चमत्कारी ज्ञान होता है । तब तो हम जैन सिद्धान्ती कहेंगे कि रूपक अलंकार, उत्प्रेक्षा अलंकार, सहोक्ति अलंकार युक्त आप्तवाक्यों द्वारा कहे गये रूप्यरूपकभाव, उपमितउपमेयभाव आदिको प्रतिपादन करनेमें तत्परपना होनेके कारण उस उपमान वाक्यसे भी विशिष्ट हो रहे रूपक, उत्प्रेक्षा, अनन्वय, आदिके वाक्योंसे उत्पन्न हुआ विज्ञान भी न्यारा प्रमाण मानना पीछे आवश्यक पड जायगा । उन रूपक, समासोक्ति आदि वाक्योंद्वारा उत्पन्न हुये विज्ञानोंको भी अपने विषयकी चमत्कृतिजनक प्रमितिमें साधकतमपना है । विसंवादकपना नहीं है, अतः अप्रमाणपनेका अयोग है । अर्थात्—वे रूपक आदि वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञान अवश्य प्रमाण हैं । सैकडों अर्थालंकारोंके एक देश उपमालंकारयुक्त वाक्य जन्य ज्ञानको यदि एक स्वतंत्र प्रमाण मान लिया जायगा तो शेष बहुभाग अलंकार युक्त वाक्योंसे उत्पन्न हुये ज्ञान भी न्यारा न्यारा प्रमाणपना चाहेंगे । स्वयोग्य पिता अपने न्यायमार्गी पुत्रोंको धन बांटनेमें पक्षपात नहीं कर सकता है । अन्यथा धर्माधिकारी राजा द्वारा वह दण्डनीय होगा ।

अथ रूपकाद्यलंकारभाजोऽपि वाक्यविशेषादुपजातमर्थज्ञानं श्रुतमेव प्रवचनमूलत्वाविशेषादिति मतिस्तदोपमानवाक्योपजनितमपि वेदनं श्रुतज्ञानमभ्युपगन्तव्यं तत एवेत्यलं प्रपंचेन ।

इसपर नये ढंगसे नैयायिक यदि यों कहें कि रूपक, प्रतिवस्तु, उपमा, आदिक अलंकारोंको धारनेवाले भी वाक्य विशेषोंसे उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान तो श्रुत ही है । क्योंकि प्रवचनको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुआ ज्ञानपना उक्त ज्ञानोंमें विशेषताओंसे रहित है । जिनके प्रकृष्ट वचन हैं, उन आप्त पुरुषोंके द्वारा उच्चारित किये गये वचनोंके निमित्तसे रूपक आदि उपाधियोंसे युक्त ज्ञान हो जाते हैं । प्रकृष्टं वचनं यस्य ऐसा विग्रह करनेसे उक्त अर्थ निकलता है अथवा प्रकृष्टं वचनं प्रवचनं ऐसी वृत्ति करनेपर वाक्यद्वारा ही रूपक आदि सहित अर्थोंके ज्ञान हो जाते हैं । अर्थात्—" श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ", यहां मनरूपी बन्दरको श्रुतरूपी स्कन्ध (पींढि) में रमण कराओ । यह रूपक है, मुख मानू चंद्र ही है, आरोप्यआरोपक भावसे आक्रान्त हो रहे

पदार्थोंमें रूपक माना गया है । पृथक् पृथक् कहे हुये दो वाक्योंका जहां वस्तुस्वभाव करके सामान्यका कथन किया जाता है, वह प्रतिवस्तु–उपमा है, जैसे कि स्वर्गलोकका पालन करनेमें एक इन्द्र ही समर्थ है, तथैव छह खण्डोंके पालनेमें एक भरतचक्रवर्ती ही समर्थ है। इसी प्रकार गगन गगनके ही आकारवाला है । समुद्र समुद्रसरीखा ही गंभीर है, इत्यादिक अनन्वय अलंकारके उदाहरण हैं । इन अलंकारोंसे युक्त हो रहे कविवाक्योंको सुनकर जो ज्ञान होगा, वह शाब्द-बोधमें अन्तर्भूत हो जायगा । इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तव्य होनेपर तो हम जैन भी टकासा उत्तर देवेंगे कि तब तो गौके सदृश रोझ होता है । चंद्रमाके समान मुख है, इत्यादिक सादृश्य लक्ष्मीके उल्लासको धारनेवाले उपमान वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी श्रुतज्ञान है । इस सिद्धांतको भी तिस ही कारण यानी प्रवचनरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए होनेके कारण श्रुतज्ञानपना इष्ट कर लेना चाहिये। रूपक आदिको अंगूठा दिखाकर अकेले उपमानको ही न्यारा प्रमाण मानना निरापद मार्ग नहीं है । इस प्रकरणमें अधिक विस्तार करनेसे पूरा पडो, हमारा प्रयोजन सिद्ध होगया । अधिक कहना व्यर्थ है ।

प्रतिभा किं प्रमाणमित्याह ।

किसीका प्रश्न है कि कल मेरा भाई आवेगा, गेंहू मन्दा जायगा, चांदीका भाव चढ जायगा, इत्यादिक सत्य होनेवाले समीचीन विषयोंकी स्फूर्ति हो जाती है । सभाचतुर विद्वान् समयपर प्रतिभाद्वारा समयोचित कथन कर सभ्यजनोंके ऊपर विशेष प्रभाव डाल देते हैं । कविजन प्रतिभा बुद्धिके बलसे प्रसाद गुणयुक्त चमत्कारक अर्थको लिये हुये पदोंकी योजना शीघ्र कर लेते हैं । किन्ही विद्वानोंने प्रतिभा ज्ञानको स्वतंत्र प्रमाण माना है । अब आप जैन बतलाइये, कि वह प्रतिभा तुम्हारे यहां कौनसा प्रमाण है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज स्पष्ट समाधान कहते हैं ।

उत्तरप्रतिपत्त्याख्या प्रतिभा च श्रुतं मता ।
नाभ्यासजा सुसंवित्तिः कूटद्रुमादिगोचरा ॥ १२४ ॥

देश, काल, प्रकरण, अनुसार उत्तरकी शीघ्र प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा नामका ज्ञान है । और वह प्रतिभा हमारे यहां श्रुत ही मानी गयी है । क्योंकि अभ्यन्तर या बहिरंगमें शब्दयोजना करनेसे वह प्रतिभा उत्पन्न हुयी है । अतः श्रुतज्ञानमें ही उसका अन्तर्भाव है । हां, शब्दोंके विना ही अत्यन्त अभ्याससे जो शीघ्र ही उत्तरप्रतिपत्तिस्वरूप अच्छा सम्वेदन हो जाय वह प्रतिभा तो श्रुत नहीं है । किन्तु मतिज्ञान है । जैसे कि शिखर, धान्यराशि, लोहघन या वृक्ष, कुञ्जी, आदिको विषय करनेवाली प्रतिभा मतिज्ञान है । प्रज्ञा, मेधा, मनीषा, प्रेक्षा, प्रतिपत्ति, प्रतिभा, स्फूर्ति, आदिकज्ञान सब मतिज्ञानके विशेष हैं । हां, शब्दकी योजना लग जानेपर अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

हो जानेके कारण वे श्रुतज्ञान बन जाते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदि भी शब्दयोजना हो जानेपर श्रुतज्ञान कहे जाते हैं।

उत्तरप्रतिपत्तिः प्रतिभा कैश्चिदुक्ता सा श्रुतमेव, न प्रमाणान्तरं, शब्दयोजनासद्भावात्। अत्यन्ताभ्यासादाशुप्रतिपत्तिरशब्दजा कूटद्रुमादावकृताभ्यासस्याशुप्रवृत्तिः प्रतिभा परैः प्रोक्ता। सा न श्रुतं, सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपत्वात्तस्यास्तयोः पूर्वोत्तरयोर्हि दृष्टदृश्यमानयोः कूटद्रुमयोः सादृश्यप्रत्यभिज्ञा झटित्येकतां परामृशन्ती तदेवेत्युपजायते। सा च मतिरेव निश्चितेत्याह।

विशिष्ट क्षयोपशम अनुसार प्रथमसे ही उत्तरकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा है। किन्हीं लोगोंने उसको न्यारा प्रमाण कहा है। किन्तु हम जैनोंके सिद्धान्त अनुसार वह प्रतिभा श्रुतज्ञान ही कही गयी हुयी मानी गयी है। श्रुतसे न्यारे प्रमाणस्वरूप नहीं है। क्योंकि वाचक शब्दोंकी योजनाका सद्भाव है। किन्तु अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे कृषकजनोंको पलालकूट, वृक्ष, झोंपडी, आदिमें शब्द बोले विना ही जो उनकी शीघ्र प्रतिपत्ति हो जाती है। तथा प्रवृत्तिका अभ्यास नहीं किये हुये भी पुरुषको झटिति, कूट, वृक्ष, जल, आदिमें उस प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति हो जाती है। दूसरोंके द्वारा अच्छी कही गयी जो यह अनभ्यासी पुरुषकी प्रतिभा है, वह तो श्रुत नहीं है। क्योंकि वह प्रतिपत्ति तो सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूप होनेके कारण मतिज्ञानस्वरूप है। पहिले कहीं देखे हुये और बीचमें अभ्यास छूट जानेपर भी नवीन देखे जा रहे कूट, द्रुम आदिमें सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्वरूप–प्रतिभा द्वारा प्रवृत्ति हो गयी है। पहिले कहीं देख लिये गये और अब उत्तरकालमें देखे जा रहे कूट, वृक्ष आदिके एकपनका परामर्ष कराती हुयी " यह वही है " इस प्रकार झट सादृश्य प्रत्यभिज्ञा उपज जाती है। वह मतिज्ञान ही निश्चित कर दी गयी है। कोई कोई प्रतिभा अनुमान–मतिज्ञान स्वरूप भी हो जाती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदिक अविनाभावी हेतुओंसे अन्नकी तेजी मन्दीको प्रतिभाशाली व्यापारी जान लेते हैं। अतः प्रतिभाका मतिके भेदोंमें या श्रुतमें अन्तर्भाव हो जाता है। हां, ये वैसे ही कूट, वृक्ष आदिक है, ऐसा विषय करनेवाली प्रतिभा तो प्रत्यभिज्ञा है। इस बातका ग्रन्थकार स्पष्ट निरूपण करें देते हैं। सो सुन लो।

सोऽयं कूट इति प्राच्यौदीच्यदृष्टेक्षमाणयोः।
सादृश्ये प्रत्यभिज्ञेयं मतिरेव हि निश्चिता ॥ १२५ ॥
शब्दानुयोजनात्त्वेषा श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत्।
संभवाभावसंवित्तिरर्थापत्तिस्तथानुमा ॥ १२६ ॥

नामासंसृष्टरूपा हि मतिरेषा प्रकीर्तिता ।
नातः कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादामृतभोगिनां ॥ १२७ ॥

यह वही कूट है, इस प्रकार पूर्वकालवर्ती देखे गये और उत्तरकालवर्ती देखे जा रहे उसी एक पदार्थमें हो रही प्रतिभा तो एकत्व प्रत्यभिज्ञानस्वरूप है । तथा पूर्वकालमें देखे गये कूटके सदृश दूसरे कूटके वर्तमान कालमें देखनेपर सादृश्य विषयमें हो रही यह प्रतिभा तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानस्वरूप मतिज्ञान ही निश्चित कियी गयी है । किन्तु शब्दकी अनुयोजनासे उत्पन्न हुयी यह प्रतिभा तो श्रुतज्ञान है । ऐसा समझो जैसे कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञान भी यदि शब्दकी योजनासे प्ररूपित किये जांय तो वे श्रुतज्ञान हो जाते हैं । तिस ही प्रकार सम्भव प्रमाण, अभाव सम्वेदन, अर्थापत्ति प्रमाण, तथा अनुमान प्रमाण भी समझ लेना । अर्थात्—सौमें पचास हैं, पसेरी अन्नमें दो सेर अन्न अवश्य होंगे, ब्राह्मण है तो विद्या अवश्य होगी, इत्यादि ज्ञान सम्भवप्रमाण हैं। अष्टसहस्री ग्रन्थको पढ चुका छात्र देवागमस्तोत्रका ज्ञाता अवश्य हो चुका होगा । चार बज गये हैं, तो तीन अवश्य ही बज चुके होंगे, ऐसी प्रतिपत्तिओंको कोई कोई पौराणिक पण्डित न्यारा सम्भवप्रमाण मानते हैं । तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति, इन पांच प्रमाणोंके द्वारा वस्तुका सद्भाव नहीं गृहीत होनेपर पुनः जिस प्रमाणसे उस प्रतियोगी वस्तुका अभाव साध दिया जाता है, वह अभावप्रमाण है । अभावके आधारभूत वस्तुका ग्रहण कर और प्रतियोगीका स्मरणकर इन्द्रियोंकी अपेक्षा विना ही मनसे नास्तित्वका ज्ञान हो जाता है । मीमांसक अभाव प्रमाणको न्यारा छट्ठा प्रमाण मानते हैं । वेदके कर्त्ता और सर्वज्ञके अभावको वे अभाव प्रमाणसे साधते हैं । तथा अर्थापत्तिको भी उन्होंने न्यारा प्रमाण माना है, छह प्रमाणोंसे जान लिया गया अर्थ जिस पदार्थके विना नहीं हो सके, उस अदृष्ट अर्थकी कल्पना करानेवाले ज्ञानको अर्थापत्ति कहते हैं । वह्निके कार्य दाहका प्रत्यक्ष कर अग्निमें दहनशक्तिका प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्तिसे ज्ञान कर लिया जाता है । दूसरी देशसे देशान्तरको प्राप्त हो जानारूप हेतुसे सूर्यकी गतिका अनुमान कर अनुमानपूर्वक अर्थापत्तिद्वारा सूर्यमें गमनशक्तिका ज्ञान हो जाता है । यद्यपि सूर्यका गमन अधिक देरतक देखने पर चक्षु इन्द्रियसे जाना जा सकता है । किंतु कौन ऐसा ठलुआ बैठा है, जो कि घंटों ही सूर्यको देखता फिरे तथा चक्षु इन्द्रिय करके सूर्यको देखनेपर चकाचौंध हो जानेसे सूर्यका देखना अति कष्ट-साध्य भी है । तीसरी श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) पूर्वक अर्थापत्ति इस प्रकार है कि मोटा या स्थूल वक्षःस्थलवाला देवदत्त दिनमें नहीं खाता है, इस आप्तवाक्यको सुनकर देवदत्तके रात्रिभोजनका ज्ञान अर्थापत्तिसे कर लिया जाता है । चौथी दृश्यमान गवयके साथ सादृश्यको धारनेवाले गौमें ज्ञानग्राह्यताका परिज्ञान हो जाता है । यानी सादृश्यविशिष्ट गौ या गोविशिष्ट—सादृश्य तो उपमानसे जान लिया गया है । गौके समान गवय होता है । केवल सास्ना (गलकंबल) रूपमें

नहीं है, किन्तु उपमान ज्ञान द्वारा सादृश्यका गौ या सादृश्यसे है, यह तो अर्थापत्ति से ही जाना जा सकता है। एवं पहिली अर्थापत्तिसे जान ली गयी शद्वमें वाचक सामर्थ्यसे अनादि अनन्त कालतक शद्वव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये शद्वका नित्यपना द्वितीय अर्थापत्तिसे जाना जाता है। यह पांचवीं अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति है। अभाव प्रमाण द्वारा घरमें जीवित चैत्रका अभाव जानकर चैत्रका बाहर रहना छठी अभावप्रमाणपूर्वक अर्थापत्तिसे जाना जाता है। इस प्रकार यह अर्थापत्ति प्रमाण है। तथा अविनाभावी हेतुसे साध्यका ज्ञान होना अनुमानप्रमाण माना गया है। सम्भव, अभाव, अर्थापत्ति, अनुमान, इतिहास, उपमान, आदिको विद्वानोंने न्यारा न्यारा स्वतंत्र प्रमाण माना है। किन्तु ये सब शद्वयोजनासे रहित होते हुये मतिज्ञान माने गये हैं। और नामके संसर्गसे युक्त होते हुये ये सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञान श्रुतज्ञान भले प्रकार कह दिये जाते हैं। इस कारण अनेकान्त नीति अनुसार स्याद्वादरूप अमृतका भोग करनेवाले जैनोंके यहां कोई भी विरोध नहीं आता है। अन्य धर्मोंसे द्वेष रखनेका विषबीज जिन्होंने खा लिया है, उन्हें तो सर्वत्र विरोध दीखेगा। यहां तो अपेक्षाओंसे अनेक धर्मआत्मक पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणोंद्वारा प्रतिपन्न हो चुकी है। एक धर्मका दूसरे धर्मके साथ यदि उपलम्भ नहीं होता तो विरोध होना सम्भव था। अन्यथा नहीं। अमृतका भोजन करनेवालोंके साथ विरोध करनेवाला एकान्तवादी स्वयं मारा जायगा।

नामासंसृष्टरूपा मतिभा संभवविप्तिरभावविप्तिरर्थापत्तिः स्वार्थानुमा च पूर्वं मतिरित्युक्ता। नामसंसृष्टा तु सम्प्रति श्रुतमित्युच्यमाने पूर्वापरविरोधो न स्याद्वादामृतभाजां सम्भाव्यते, तथैव युक्त्यागमानुरोधात्। तदेवं पूर्वोक्तया मत्या सह श्रुतं परोक्षं प्रमाणं सकलमुनीश्वरविश्रुतमुन्मूलितनिःशेषदुर्मतनिकरमिह तत्त्वार्थशास्त्रे समुदीरितमिति परीक्षकाश्चेतसि धारयन्तु स्वमज्ञातिक्षयवशादित्युपसंहरन्नाह।

नामयोजनाके संसर्गसे रहित—स्वरूप हो रहीं प्रतिभा बुद्धि, सम्भवविप्ति, अभावविप्ति, अर्थापत्ति, स्वार्थानुमिति, प्रत्यभिज्ञानस्वरूप उपमिति, तर्कमति आदिक बुद्धियोंको पहिले "मतिस्मृति" आदि सूत्रमें मतिज्ञानस्वरूप ऐसा कह दिया गया है। और अब वाचकशद्व नामोंके संसर्गसे युक्त हो रहीं प्रतिभा आदिक बुद्धियोंको श्रुतपना ऐसा कहा जा रहा है। स्याद्वाद रूपी अमृतका सेवन करनेवाले अनेकान्तवादी जैनोंके यहां इस प्रकार पूर्ववर्ती और पश्चिमवर्ती ग्रन्थमें कोई विरोध दोष नहीं सम्भावित होता है। क्योंकि तिस प्रकार ही युक्ति और आगमके अनुरोधसे निर्णीत हो रहा है। अर्थात्—प्रतिभा, सम्भव, आदिकज्ञान तो शद्वयोजना नहीं कर देनेपर हुये मतिज्ञान हैं। और शद्वयोजनाके साथ हो रहे प्रतिभा आदिकज्ञान तो श्रुत हैं। तिस कारण इस प्रकार पूर्वमें कही गयी मतिके साथ यह इस सूत्रमें कहा गया श्रुतज्ञान ये दोनों अविशद प्रकाशी होनेसे परोक्ष प्रमाण हैं। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मुनीश्वरोंमें प्रसिद्ध है। मतिज्ञान और

श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदोंकी भले प्रकार सिद्धि हो जानेसे सम्पूर्ण प्रतिवादियोंके दूषित खोटे मतोंका समुदाय निराकृत कर दिया है। ऐसे परोक्ष प्रमाणका " आद्ये परोक्षम् " और " मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता " यहां से लेकर " श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् " यहांतक तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें भले ढंगसे श्री उमास्वामी महाराजने निरूपण किया है। परीक्षक जन इस बातको अपनी दूरगामिनी प्रज्ञा बुद्धिके चमत्कारकी अधीनतासे चित्तमें धारण करलो। महात्मा पुरुषोंके प्रसाद पानेका अवसर सर्वदा नहीं मिलता है। परम गुरुओंके आशीर्वाद भाग्यवानोंको ही कदाचित् प्राप्त होते हैं। तीसरे आह्निकके अन्तमें इसी बातका उपसंहार प्रकरण संकोच करते हुए श्रीविद्यानंद आचार्य महाराज आशीर्वादके समान स्पष्टवाणी बोलते हैं।

इति श्रुतं सर्वमुनीशविश्रुतं। सहोक्तमत्यात्र परोक्षमीरितं।
प्रमाणमुन्मूलितदुर्मतोत्करं। परीक्षकाश्चेतसि धारयन्तु तम् ॥१२८॥

प्रामाणिक सम्पूर्ण ऋषीश्वरोंमें प्रख्यात हो रहे श्रुतज्ञानको यहां तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें मतिज्ञानके साथ रखते हुए दोनों ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार युक्ति और आगमके अनुसार उमास्वामी महाराजने बखान दिया है। तभी तो मति और श्रुत इन दो परोक्ष प्रमाणोंकरके शब्दाद्वैतवादी, आदि विद्वानोंके दूषित मतोंके समुदायको लीलामात्रसे उखाडकर फेंक दिया है। इस कारण डंकेकी चोटके साथ परीक्षा कर चुके। हम परीक्षक सज्जनोंके प्रति साग्रह सूचना देते है कि ऐसे प्रमाण प्रसिद्ध उस परोक्ष प्रमाणको चित्तमें निर्धारण करो जिससे कि अज्ञान अन्धकारका विनाश होकर ज्ञानसूर्यका उदय होवे।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयमाह्निकम्।

इस प्रकार परोक्ष प्रमाणके प्रकरणकी समाप्ति करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीके तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थमें प्रथम अध्यायका तीसरा प्रकरणोंका समुदायस्वरूप आह्निक परिपूर्ण हो चुका है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें संक्षेपसे प्रकरण यों दिये गये हैं कि प्रथम ही परोक्ष प्रमाणके दूसरे भेदकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्रुतके निमित्त कारण और भेदप्रभेदोंके निर्णयार्थ सूत्रका प्रारम्भ करना आवश्यक बताया गया है। श्रुतके प्रतिपादक शब्दोंकी अपेक्षा श्रुतज्ञानके भी दो आदिक भेद हो जाते हैं। श्रुतज्ञान ऐसा स्पष्ट शब्द नहीं कहकर सूत्रकार महाराजका केवल श्रुत प्रयोग करना सामिप्राय है। छह अंग या सहस्र शाखावाले वेदकी सिद्धि वैसी नहीं हो पाती है, जैसी कि मीमांसकोंने मानी है। सम्यक् शब्दका अधिकार चला आ रहा है। सूत्रमें कहे गये एक एक पदकी सफलता और व्यभिचारनिवृत्तिको दिखलाते हुये शब्द आत्मक श्रुतको केवलज्ञान पूर्वक भी पुष्ट किया है। यह बात भव्यजीवोंके बडे लाभकी है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे हुये सभी मतिज्ञानरूप निमित्तोंसे श्रुत हो जाता है। मतिज्ञान पूर्वक न होनेसे स्मृति आदिक ज्ञान श्रुत नहीं हैं। श्रुतका " अस्पष्टतर्कण " लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। शब्दस्वरूप श्रुतको गौण रूपसे प्रमाणपना इष्ट कर लिया है। इसके आगे मीमांसकोंके माने हुये नित्यश्रुतका प्रत्याख्यान करना प्रारम्भ किया है,

कारणोंके द्वारा शद्वकी उत्पत्ति नहीं मानकर अभिव्यक्ति माननेमें अनेक दोष आते हैं। एक देशसे या सकल देशसे अभिव्यक्ति माननेपर शद्वको अंशसहितपना प्राप्त होता है। कर्त्ताका अस्मरण हेतु असिद्ध है। अन्य वादियोंको वेदके कर्त्ताका ज्ञान हो रहा है। वेदाध्ययन वाच्यपना हेतु समीचीन नहीं है। वेदका उच्चारण करते हुये ऊपर नीचे हाथ उठाकर नमाकार " ध्वं " आदि अनर्थक शद्वोंके उच्चारणकी लीला दिखलाना केवल बालविलास है। सम्भव है मंत्र प्रयोगोंमें उदात्त, अनुदात्त, के उच्चारणसे शद्वोंका शुद्धप्रयोग क्वचित् हो जाय, किन्तु एतावता शद्वस्वरूप वेद अनादि अपौरुषेय नहीं हो सकता है। स्वर्गमें पढकर मर्त्यलोकमें पढाना ऐसी बातें केवल श्रद्धागम्य हैं। परीक्षाकी कसोटीपर कसनेसे छिन्न भिन्न हो जायगी। नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, जैन तो वेदोंके कर्त्ताको अभीष्ट करते हैं। इस प्रकार अनेक युक्तियोंसे वेदके श्रुतपनेका निराकरण कर गुणवान् वक्ताके द्वारा कहे गये वाक्योंमें ही बाधारहितपन आदिक सिद्ध किये है। श्री समन्तभद्र भगवान्की नीति अनुसार सर्वथा एकान्त वादियोंका निराकरण कर श्री अकलंकदेवके मन्तव्यका विचार किया है। यहां युक्तियोसे अकलंक सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द आचार्यने साध लिया है। शब्दानुविद्धवादियोंका मत प्रशस्त नहीं है। वैखरी आदिक भेद तो जैनसिद्धान्त अनुसार माननेपर ही सधते हैं, अन्यथा नहीं। जगत्को शब्द ब्रह्मका विवर्त मानना प्रमाणोंसे बाधित है। द्रव्यवाक् और भाववाक्में सम्पूर्ण भेद प्रविष्ट हो जाते हैं। उपमान प्रमाण भी श्रुतमें गर्भित हो जाता है। शब्दयोजनासे सहित हो रहे, स्थूलपन आदिके आपेक्षिक ज्ञान श्रुतज्ञान ही हैं। उपमा, रूपक, तुल्ययोगिता, आदिसे आक्रान्त हो रहे वाक्योंसे उत्पन्न हुये ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। उत्तरकी प्रतिपत्ति हो जाना रूप प्रतिभा या सम्भव, अर्थापत्ति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदिक सभी ज्ञान इन शब्दोंकी योजना लग जानेपर श्रुत हो जाते हैं। क्योंकि अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान हो जाना यह श्रुतका लक्षण घटित हो जाता है। हां, नामका संसर्ग नहीं लगते हुए उत्पन्न हो रहे, उक्त ज्ञान तो मतिज्ञानस्वरूप हैं। यह पक्का सिद्धान्त समझो। स्वपरकल्याणको चाहनेवाले परीक्षकोंकरके पदार्थका निर्णय हो चुकनेपर उसको हृदयमें धार लेना चाहिये। ऐसी पूज्य पुरुषोंकी आज्ञा है। इस प्रकार ज्ञानोंका निरूपण करते समय मतिश्रुतरूप परोक्षज्ञानोंका विशद कथन करनेवाले तृतीय आह्निकको श्रीविद्यानंद आचार्यने प्रसन्नतापूर्वक पूर्ण किया है।

द्रव्येक्षानाद्यनन्तो निखिलमतिनिदानोद्भवाद्याङ्गभेदो।
निर्दोषो दुःखतप्तासुमदवनपटुर्निष्कलङ्काशिषेद्धः॥
विद्यानन्दाकलङ्कोक्त्यमृतकिरणभृत्प्रातिभाद्यैः कलाढ्यो।
भावाद्येकान्तवाणीतिमिरततिभिदे द्योततां वै श्रुतेन्दुः॥ १॥

इति श्लोकवार्तिक भाषाटीकायां तत्त्वार्थचिन्तामणौ श्रुतज्ञानविवरणं समाप्तम्।

श्रयुमास्वामिसमन्तादिभद्रयोः सूक्तयो भृशम्।
सर्वज्ञसम्पदायाप्ताः प्रामाण्यात्ताश्चकासतु॥ १॥

——×——

तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकसूची.

— तृतीय खंड —

श्लोक	पृष्ठ नं.
[अ]	
अग्निरित्यग्निरित्यादे–	६१८
अज्ञानत्वादतिव्याप्तेः	३५७
अत्र प्रचक्षते केचित्	६३२
अथस्वभेदनिष्टस्य	१
अज्ञातार्थ प्रकाशश्चे–	९१
अज्ञानात्मकतायां तु	४४७
अयंताभ्यासतो ह्याशु	४५१
अयोऽभ्यते येन	३२३
अर्थज्ञानस्य विज्ञानं	३९
अर्थग्रहणयोग्यत्वं	४६
अंस्य शद्धेषु शद्धत्वे	५२
अर्थक्रियास्थितिः प्रोक्ता	८४
अर्थसंशयतो वृत्तिः	११५
अस्यक्षस्य स्वसंवित्तिः	१५५
अर्थस्यासंभवेऽभावात्	१७०
अर्थाकारत्वतोध्यक्षं	२१२
अर्थक्रियाक्षतिस्तत्र	२३८
अथ निःशेषशून्यत्व–	४००
अदुष्टकारणारब्ध–	१००
अदृश्यानुपलब्धिश्च	२२९
अदृष्टिमात्रसाध्यश्च	३१६
अदुष्टहेतुजन्यत्वं	६२५
अंधकारावभासोस्ति	५५६

श्लोक	पृष्ठ नं.
अध्यक्षत्वं न हि व्याप्तं	५१८
अनुपप्लुतदृष्टीनां	७०
अनालंबनताव्याप्तिः	१६५
अनुमानमवस्त्वेव	१७०
अनुग्राहकता व्याप्ता	२६७
अन्यथानुपपत्येक–	२६९
अनेकांतात्मकं सर्वं	३०५
अन्यथानुपपन्नत्वं	३०८
अन्वयो लोहलेख्यत्वे	३१५
अन्वयव्यतिरेकौ च	३२५
अन्यथानुपपत्येक–	३८९
अनेकांतात्मके भावे	४४५
अन्यथा तैमिरस्याक्ष	४५८
अन्यथा नयनोध्यक्षं	४६२
अनुमेयेनुमानेन	६२९
अप्रमाणादपि ज्ञानात्	९८
अप्रसिद्धं तथा साध्यं	३०३
अप्रमाणत्वपक्षेपि	१६९
अप्राप्तिकारिणी चक्षुः	५२९
अप्रमाणत्वपक्षेपि	१६९
अबाधितार्थतात्र स्यात्	३१७
अयस्कांतादिना लोह -	५७४
अयस्कांताणुभिःकैश्चित्	५७५
अवध्यावृतिविध्वंस–	४

श्लोक	पृष्ठ नं.
अवग्रहगृहीतस्य	२६
अविज्ञातप्रमाणत्वात्	११५
अवग्रहादि विज्ञानं	१६४
अर्थक्रियायोविनाभावी	२७९
अभिधानविशेषश्चेत्	१९१
अवक्तव्योत्तराशेषा–	२८७
अव्युत्पन्नविपर्यस्तौ	३९४
अव्युत्पन्नविपर्यस्त–	३९५
अविनेयेषु माध्यस्थं	३९५
अव्युत्पन्नविपर्यस्ता–	३९६
अवग्रहगृहीतार्थ–	४६७
अवायस्य प्रमाणत्वं	४६९
अव्यक्तमत्र शब्दादि-	५१६
अस्पष्टं वेदनं केचित्	१६४
अस्पष्टप्रतिभासायाः	१८१
अस्पष्टत्वेन चेन्नानु–	२१२
अस्वसंवेद्यविज्ञान-	४३४
अक्षेभ्यो हि परावृत्तं	१६४
अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य	२०४
अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य	२०५
अक्षार्थयोगजादस्तु	४३७
अक्षज्ञानं हि पूर्वस्मात्	४६३
अक्षसंवेदनाभावे	४६४
अक्षज्ञानतयावैक्य–	४६८
अहेतुफलरूपस्य	३७८

[आ]

आकर्षणप्रयत्नेन	५७७
आगमादेव तत्सिद्धौ	६४३
आगमत्वं पुनः सिद्धं	६५५
आत्मा प्रयत्नवांस्तस्य	४४
आत्माभावो हि मस्मादौ	२९९
आत्माद्वैकत्व सिद्धिश्चेत्	५४१
आद्यप्रमाणतः स्याच्चेत्	१२७
आद्ये परोक्षमित्याह	१६१
आद्या यथा न मे दुःखं	३७९
आलोकेनापि जन्मत्वे	४२१

[इ]

इति ब्रुवन् महायात्रा	११६
इत्येवं स्वयमिष्टत्वात्	१९२
इति शब्दात्प्रकारार्थात्	१९९
इत्याचक्षणिकोनु-	२०६
इतीयं व्यापका दृष्टिः	२१०
इत्यन्योन्याश्रितं नास्ति	२३६
इत्यन्योन्याश्रितिर्न स्यात्	२३६
इत्ययुक्तं तथाभूत-	३५६
इत्येव तद्विरुद्धोप-	३६६
इत्ययुक्तमवक्तव्यं	३९२
इत्यप्यशेषविद्वोधेः	४२३
इत्ययुक्तं सदाशेष-	४४२
इति केचित्प्रभाषंते	४४७
इत्यागमश्च तस्यास्ति	५६९
इतरस्यावहोरेक-	४७४
इत्ययुक्तमयस्कांतं	५७५
इत्यकृत्रिमता सर्व–	६२०
इति संवेदनाभावात्	६२०
इति येपि समादध्युः	६३८

श्लोक	पृष्ठ नं.
इति चिद्रूपसामान्य–	६४७
इंद्रियानिंद्रियायत्त–	२५
इंद्रियार्तीद्रियार्थाभि–	४०४
इंद्रियानिंद्रियाभ्यां हि	४४६
इष्टः साधयितुं साध्यः	३९३
ईहादयः पुनस्तस्य	५१७
[उ]	
उत्पादादित्रयाक्रांतं	३५३
उत्पादव्ययनिर्मुक्तं	३५४
उत्तरप्रतिपत्त्याढ्या	३६१
उदेष्यति मुहूर्तांते	२७६
उदेष्यच्छकटं व्योम–	२७६
उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां	३८५
[ऊ]	
ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा	२०१
[ऋ]	
ऋचः कृता इति केयं	६२१
[ए]	
एकस्यानेकरूपत्वे	४९
एक एवेश्वरज्ञान–	८२
एकत्वगोचरं च स्यात्	२१६
एकसामग्र्यधीनत्वात्	३७०
एकस्यानेकरूपस्य	४८८
एतेनैवोत्तरः पक्षः	४५
एतेनैव सजातीय–	११४
एतेनैव हतादेश–	१३९
एतेनैव चतुःपंच–	१५१

श्लोक	पृष्ठ नं.
एतच्चास्ति सुनिर्णीता–	१७६
एतेन पंचावयवं [illegible]	१९
एतेन भौतिकत्वादि–	५७३
एवं समत्वसंसिद्धे	१०८
एवं विचारतो मान–	१३२
एवं हेतुरयं शक्तः	३५४
एवं प्रयोगतः सिद्धिः	४०१
एवं बहुत्वसंख्यायां	४८४
एवमर्थस्य धर्माणां	५१०
[क]	
कथंचिद्व्यपदेशादि–	२००
कथंचित्साध्यतादात्म्य–	३५३
कथं च मेचकज्ञानं	४८६
कलशादेरभिव्यक्तिः	६१२
केवलज्ञानवत्सर्व–	२४
कर्मत्वेनापरिच्छित्तिः	३६
कर्मत्वेन परिच्छित्तेः	३७
कर्तुः स्मरणहेतुस्तद्	६१७
कर्तृहीनवचोवित्तेः	६२६
करिष्यते च तद्वत्स	६३०
कवीनां किं न काव्येषु	६२१
कश्चित्परीक्षकैर्लोकैः	६२१
कार्यकारणभावात्स्यात्	२३
कारणेन बिना स्वेन	२८१
कार्यादित्रयवत्तस्मात्	३२६
कारणानुपलंभाच्चेत्	१३८
कारणात्कार्यविज्ञानं	३३४
कारणस्योपलब्धिःस्यात्	३४८

श्लोक	पृष्ठ नं.
कारणानुपलंभेपि	३४९
कार्योत्पादनयोग्यत्वे	३५०
कार्यकारणनिर्मुक्त–	३५३
कारणार्थविरुद्धा तु	३६०
कारणद्विष्टकार्योप-	३६२
कारणव्यापकद्विष्टो-	३६२
कारणव्यापकद्विष्ट	३६३
कारणं भणितस्तत्र	३६८
कार्ये हेतुरयं नेष्टः	३६९
कार्येण कारणस्यानु-	३७०
कार्यकारणभावास्ते	३७१
कारणानुपलब्धिस्तु	३७८
कार्यकारणभिन्नस्य	३७९
कारणव्यापकादृष्टि–	३८०
कारणव्यापकादृष्टिः	३८२
कारणव्यापकव्यापि–	३८२
कार्यकारणनिर्मुक्तात्	३८६
काचाद्यंतरितार्थानां	५३८
काचादिभेदने शक्तिः	५४०
काचाद्यंतरितानर्थान्	५४२
काचाद्यंतरितार्थेपि	५५०
काचाद्यंतरितार्थानां	५६८
कालात्ययापदिष्टस्य	५७३
कायांतर्गतलोहस्य	५७४
किं न तादात्म्यतज्जन्य	२७७
कालेन यावता शैलं	५६६
किंचिदित्यवभास्यत्र	४४४
किमुष्णस्पर्शविज्ञानं	५६०

श्लोक	पृष्ठ नं.
किं निमित्तं श्रुतज्ञानं	५९७
किमकृत्रिमता तस्य	६२५
कुड्यादिव्यवधानेपि •	५८२
कुतो भेदो नयात्सत्ता	४४५
कृतातिदेशवाक्यार्थ–	६५२
केवलान्वयि संयोगी–	३८८
केषां पुनरिमेऽग्र-	४७३
केवलो नार्थपर्याय–	५०९
केचिदाहुर्न तद्युक्तं	२७२
केवलव्यतिरेकीष्ट-	३२४
कौटस्थ्यात्सर्वभावानां	४९८
क्रमादवग्रहेहात्म–	४६६
क्वावस्थानमनेनैव	३३
क्वचिदात्मनि संसार-	३८०

[ग]

गत्वा सुदूरमेकस्य	१०१
गत्वा सुदूरमप्येवं	१९०
गुणोनेकस्वभावः स्यात्	४९०
गंधाधिष्ठानभूतस्य	५८२
गृहीतग्रहणाभेदात्	९२
गृहीतमगृहीतं वा	९८
गृहीतग्रहणात्तत्र	२०५
गृहीतग्राहयोरेका-	२२६
गृहीतग्रहणात्तर्को	२५५
ग्राह्यग्राहकभावो वा	२६२
गोचरामेदतश्चेन्न	२३
गौणश्चेच्चपदेशोयं	३५६

श्लोक	पृष्ठ नं.
[च]	
चंद्रे चंद्रत्वविज्ञान–	८१
चंद्रोदयाविनाभावी	२८०
चंद्रादौ जलचंद्रादि	२९४
चक्षुः प्राप्तपरिच्छेद–	५३१
चक्षुषा शक्तिरूपेण	५३३
चित्रसंज्ञव्यवहारस्य	४८८
चित्रं रूपमिति ज्ञानं	४९०
चेतनात्मतया वित्ते-	४०
चेतनं चैतदेवास्तु	४४
चेतनाचेतनार्थानां	३००
[ज]	
जात्याद्यात्मकभावस्य	१८६
जात्यादिकल्पनोन्मुक्तं	४४४
जिघ्रत्यतींद्रियज्ञानं	१९
जिज्ञासितविशेषस्तु	३९७
ज्ञानं संलक्षितं ताव-	२
ज्ञानशद्वस्य संबंधः	८
ज्ञाताहं बहिरर्थस्य	३४
ज्ञानं ज्ञानांतराद्वेद्यं	३८
ज्ञानांतरं यदा ज्ञानात्	३९
ज्ञानात्मकप्रमाणेन	४८
ज्ञातप्रामाण्यतो मानात्	११५
ज्ञानानुवर्तनात्तत्र	१६४
ज्ञानग्रहणसंबंधात्	१७३
ज्ञानस्य स्पष्टताालोक	५२५
ज्ञानात्मनस्तथाभाव	६०४
ज्ञानमार्थं स्मृतिः संज्ञा	६३३

श्लोक	पृष्ठ नं.
[त]	
तच्चेतनेतराकार-	८२
तच्चानुमानमिष्टं चेत्	१६८
तच्च स्याद्वादिनामेव	११९
तच्चोपचारितो प्राह्यं	५९८
तत्कर्मत्वपरिच्छित्तौ	३५
तत्त्वार्थव्यवसायात्म–	४०
तत्साधकतमत्वस्य	४३
तत्रेदं चिंत्यते तावत्	४४
ततो नात्यंतिको भेदः	४८
तत्रापूर्वार्थविज्ञानं	९१
तत्त्वार्थव्यवसायात्म–	९८
तत्र देशांतरादीनि	१००
ततश्च चोदनाबुद्धिः	१०८
तत्र प्रवृत्तिसामर्थ्यात्	११२
तत्र यत्परतोज्ञानं	१२५
तत्प्रमाणप्रमेयादि-	१२८
तत्प्रसिद्धेन मानेन	१३१
ततः सालंबनं सिद्धं	१६९
तत्राद्यकल्पनापोढे	१८१
ततोन्यथा स्मृतिर्न स्यात्	१८५
ततः प्रत्यक्षमास्थेयं	११९
तत्स्वार्थव्यवसायात्म	१९७
ततः प्रमाणशून्यत्वाम्	२०१
तत्सिद्धसाधनं ज्ञान-	२१७
तत्र यो नाम संवादः	२२४
तत्राध्यक्षांतरस्यापि	२२५
तत्र लिंगे तदेवेदं	२२६

श्लोक	पृष्ठ नं.
तत्तर्कस्याविसंवादो	२५३
ततस्तर्कः प्रमाणं नः	२६९
तत्साध्याभिमुखो बोधो	२७०
ततो यथाविनाभूते	२८१
ततो वैधर्म्यदृष्टांते	३२४
तत्तत्रैवोपलंभः स्यात्	३४८
तत्परीक्षकलोकानां	३५२
तत एव न पक्षस्य	३५४
तत्र पूर्वचरस्योप–	३६७
ततोऽतीतैककालानां	३७३
तत्र कार्याप्रसिद्धिः स्यात्	३७६
तत्राभिन्नात्मनोः सिद्धिः	३७९
तत्कार्यव्यापकासिद्धिः	३८१
तत्कार्यव्यापकाव्यापि	३८१
तच्छब्देन परामर्शो	४१७
ततो नाकारणं विप्तेः	४२३
तत्र यद्वस्तुमात्रस्य	४३९
ततो दृढतरायाय--	४४७
तत एव प्रधानस्य	४४९
तत्समक्षेतरव्यक्ति	४६६
तत्र प्रधानभावेन	४७८
तच्चिप्रज्ञानसामान्य–	४७८
तत्तद्विषय बह्वादेः	४७९
तत्पृष्ठजो विकल्पश्चेत्	४८१
तत एव न निःशेष-	५०९
तत्राप्राप्तिपरिच्छेदि	५३३
ततो नासिद्धता हेतो–	५६३

श्लोक	पृष्ठ नं.
ततोऽक्षिरश्मयो भित्वा	५६८
तत्रारेकोत्करः सर्वो	५९१
तद्व्यक्तेः ज्ञानपूर्वत्वं	६१०
तत्कारणं हि काणादाः	६१५
तत एव न धातास्तु	६१९
ततः सर्वानुमानानां	६२४
तत्साधनांतरं तस्य	६२७
तत्संज्ञासंज्ञिसंबंध–	६५४
तत्र परं च विज्ञानं	३१
तथास्विति मतं ध्वस्त-	३६
तथा च न परोक्षत्व–	३८
तथा परिणतो ह्यात्मा	४६
तथा च युक्तिमत्प्रोक्तं	४८
तथा भावश्च संयुक्त–	५२
तथा ग्रहोपरागादि–	७०
तथा सति प्रमाणस्य	९०
तथा मिथ्याभासित्वात्	१०४
तथैवास्वर्थयाथात्म्य–	१०४
तथैवानुपलंभेन	३५६
तथा सहचरदृष्ट-	३६४
तथोत्तरचरस्योप–	३७३
तथा साध्यमभिप्रेतं	३९१
तथानुक्तोपि चोक्तो वा	३९१
तथार्थजन्यतापीष्टा	४२५
तथैवालोचनादीनां	४५१
तथाशक्यदृश्येन	५५०
तथा न स्फटिकाभोत्र–	५५१
तथाण्वोर्न विरुध्येत	५५५

श्लोक	पृष्ठ नं.
तथानुद्भूतरूपं तत्	५६०
तथा च युगपज्ज्ञाना-	५६७
तथायस्कांतपाषाणं	५७५
तदेव ज्ञानमास्थेयं	४२
तथैव करणत्वस्य	५८०
तदा स्वप्नादिविज्ञानं	८३
तद्विज्ञानस्य चान्यस्मात्	११३
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्य-	१३८
तदा मतेः प्रमाणत्वं	१४२
तद्वक्षमाणकात्सूत्र-	१५५
तदकल्पकमर्थस्य	१८६
तदपाये च बुद्धस्य	१९३
तदप्रतिष्ठितौ कानु-	२०३
तदा संस्कार एव स्यात्	२१३
तदप्यसंगतं लिंगि-	२१४
तद्द्वित्वैकत्वसादृश्य-	२१५
तदित्यतीतविज्ञानं	२१७
तदेकत्वस्य संसिद्धौ	२३६
तदविद्याबलादिष्टा	२४६
तदेकलक्षणं हेतोः	२७४
तदिष्टौ तु त्रयेणापि	२७४
तदा धूमोग्निमानेष	२७६
तद्विशेषविवक्षायां	२८५
तद्वासनाप्रबोधाच्चेत्	२९०
तद्बाधाभावनिर्णीतिः	३२१
तद्धेतोस्त्रिषु रूपेषु	३०९
तद्विरुद्धे विपक्षेऽत्र	३०७
तद्विरुद्धे विपक्षेस्य	३२५

श्लोक	पृष्ठ नं.
तद्विलोपेखिलख्यात	३५०
तदसद्वस्तुनोनेक–	३५३
तदयुक्तं मनीषायाः	३५९
तद्धि मिथ्याचरित्रस्य	३६०
तदभावे च मत्याद्य–	३६४
तदेतत्सहचरव्यापि	३६५
तद्धेतुहेत्वदृष्टिः स्यात्	३८१
तदसद्वादिनेष्टस्य	३९२
तदप्रमाणकं तावत्	४००
तदिष्टसाधनं तावत्	४००
तदसंगतमिष्टस्य	४०१
तद्यत्र साधनाद्बोधो	४०९
तद्गृहीतार्थसामान्ये	४३८
तदसत्स्वार्थसंवित्तेः	४५७
तदाक्षवेदनं च स्यात्	४६२
तदाक्षानिंद्रियोत्पाद्यं	४६४
तदानुमा प्रमाणत्वं	४६९
तद्विशेषेण भावेन	४७८
तद्बोधबहुतावित्तिः	४८२
तदेवावग्रहाद्याख्यं	४९५
तदप्रातीतिकं सोयं	५४०
तदसच्चोचनस्यार्थ–	५१५
तदेवं चक्षुषः प्राप्य-	५८१
तदा स्वगृहमान्या स्यात्	६१६
तदयोगाद्विरुध्येत	६२४
तदागमस्य निक्षेतुं	६४३
तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा	६४३
तदोपमानतः सैतत्	६५४

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुनीलसागर जी महाराज

श्लोक	पृष्ठ नं.
तन्नानभ्यासकालेपि	१०९
तन्नाभ्यासात्प्रमाणत्वं	११९
तन्न प्रत्यक्षवत्तस्य	२६१
तन्नैकांतात्मना जीव-	३०३
तन्न साध्वक्षजस्यार्थ	४४०
तन्निर्णयात्मकः सिद्धो	४६०
तन्नानिसृतभावस्य	५००
तन्नो न पौरुषेयत्वं	६२७
तया यथा परोक्षत्वं	७१
तया यावत्स्वतीतेषु	११९
तयालंबितमन्यच्चेत्	२२६
तयोश्च क्रमतो ज्ञानं	५६७
तया विना प्रवर्तते	६४७
तर्कश्चैवं प्रमाणं स्यात्	१४१
तर्कादेर्मानसेऽप्यक्षे	१४१
तर्कसंवादसंदेहे	२५४
तर्ह्यप्राप्तेरभेदेपि	५७०
तस्य निर्वृत्यवस्थायां	७
तस्मान्मतिश्रुताद्भिन्ना	२९
तस्यैवादिमशब्देषु	५१
तस्मादेकमनेकात्म-	८२
तस्यापि च प्रमाणत्वं	९९
तस्मात्प्रेक्षावतां युक्ता	११६
तस्याविशदरूपत्वे	१३९
तस्यानर्थाश्रयत्वेर्थे	१६५
तस्माद्वस्त्वेव सामान्य-	१७१
तस्मात्प्रवर्तकत्वेन	२०४
तस्मात्प्रमाणमिच्छद्भिः	२५४

श्लोक	पृष्ठ नं.
तस्योद्गांतरतः सिद्धौ	२६०
तस्मात्प्रमाणकर्तव्य-	२६६
तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य	२९३
तस्मिन्सहचरव्याप्ति	३६४
तस्य तद्व्यवच्छेदत्वात्	३९३
तस्य बाह्यनिमित्तोप-	४१७
तस्यैव निर्णयोवायः	४३८
तस्य प्रत्यक्षरूपस्य	४६१
तस्य प्राप्ताणुगंधादि-	५७०
तस्य क्वचिदभिव्यक्तौ	६१४
तादृश्ययोग्यताहानेः	२२०
तादृशी त्रितयेनापि	१३४
तादृशी वासना काचित्	४५९
तादृशः किं न वाक्यस्य	६२६
तेषां स्वतोप्रमाणत्वं	१०२
तेषां संवित्तिमात्रं स्यात्	१२८
तेषां तत्किं स्वतः सिद्धं	१३३
तेषां तन्मानसं ज्ञानं	१४०
तेऽसमर्था निराकर्तुं	१९६
तेन लून पुनर्जात-	२१६
तेन कृतं न निर्णीतं	३०९
तेनानुष्णोग्निरित्येष	३९०
तेषां सर्वमनेकांतं	३९०
तेनार्थमात्रनिर्भासात्	४४५
तेजोनुसूत्रिता ज्ञेया	५५३
तेजोद्रव्यं ह्यनुद्भूत-	५६०
तैजसं नयनं सत्सु	५५३
त्रिधा प्रत्यक्षमित्येतत्	१५५

श्लोक	पृष्ठ नं.
त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं	३१२
त्रिरूपहेतुनिष्ठान–	३२२
त्रिधैव वाविनाभाव–	३७५
[द]	
दुष्टकारण जन्यस्य	१०१
दुष्टे वक्तरि शद्धस्य	१०७
दूरे शद्धं शृणोमीति	५८१
दूरे जिघ्राम्यहं गंधं	५८१
दृष्टदृष्टनिमित्तानां	१३०
दृष्टं यदेव तत्प्राप्तं	१६९
दृष्टासहचरद्दिष्टो-	३६३
दृष्टाद्धेतोर्विना येर्था	३७२
दृष्टांतनिरपेक्षत्वं	४१०
दृष्टेरभेदभेदात्म-	४४२
द्रव्येण तद्बलोद्भूत-	२१७
देशकालावपेक्षश्चेत्	२८२
देशतस्तदभिव्यक्तौ	६१४
देवदत्तादिरित्यस्तु	६२३
द्रव्यतोनादिरूपाणां	३७२
द्रव्यपर्यायसामान्य-	४५३
द्रव्यांतरितगंधस्य	५८२
द्रव्यरूपा पुनर्भाषा-	६४६
द्वयं परत एवेति	११२
द्वयोरेकेन नायुक्ता	१६३
द्वादशावस्थमंगानां-	६०८
द्विभेदमंगबाह्यत्वात्	६०८
[ध]	
धर्मिण्यसिद्धरूपेपि	३९७
धर्मिसंतान साध्याश्चेत्	३२८

श्लोक	पृष्ठ नं.
धर्मिधर्मसमूहोत्र	४०२
धर्मिणोप्यप्रसिद्धस्य	४०३
धारणाविषये तत्र	४९७
धूमादयो यथाग्न्यादि	१०६
ध्रुवस्य सेतरस्यात्र	५८३
ध्वस्तं तत्रार्थजन्यत्वं	४२१
[न]	
न मतिश्रुतयोरैक्यं	२२
ननु प्रमीयते येन	४३
न तावद्भौतिकं तस्या-	४४
ननूपप्लुतविज्ञानं	७१
न चैकत्र प्रमाणत्व-	७५
न च सामर्थ्यविज्ञाने	११४
नन्वसिद्धं प्रमाणं किं	१२६
ननु प्रमाणसंसिद्धि-	१२७
नचाप्रमाणतो ज्ञानात्	१३९
न च जात्यादिरूपत्वं	१८८
नन्वस्त्वेकत्वसादृश्य-	२२४
न वैसादृश्यसादृश्य-	२४१
ननूहस्यापि संबंधे	२६०
न चादर्शनमात्रेण	२९८
न वेद्यवेदकाकार	३०१
ननूपलभ्यमानत्व-	३४३
न चानुकूलतामात्रं	३४९
ननु प्रदेशवृत्तीनां	३५९
न रोहिण्युदयस्तु स्यात्	३६७
न च तस्यानुमा स्वोथ-	३७०
नन्वर्थांतरभूतानां	३७१

श्लोक	पृष्ठ नं.
ननु नेच्छति वादीह	३९२
नन्विष्टसाधनात् संति	४००
नन्विष्टसाधनं धर्मि-	४०१
ननु सन्मात्रकं वस्तु	४४२
नन्ववग्रहविज्ञानं	४४६
ननु दूरे यथैतेषां	४५०
नन्वनेकस्वभावत्वात्	४९१
ननु [illegible] धर्माः	[illegible]
नन्वर्थाविग्रहो यद्वत्	५१७
न क्वचित्प्रत्यभिज्ञानं	५४१
नन्वत्यंतपरोक्षत्वे	५४९
न चेक्षंतेस्मदादीनां	५५२
न स्यान्मेचकविज्ञानं	५६५
न च केवलपूर्वत्वात्	६०४
न स्मृत्यादि मतिज्ञानं	६०६
न वेदाध्ययने शक्तं	६१८
न सोस्ति ब्राह्मणोत्रादौ	६१९
न च हेतुरसिद्धोयं	६२९
न सो स्ति प्रत्ययो लोके	६३१
न ह्यवस्था चतस्रोस्य	६३८
नानिंद्रियनिमित्तत्वा-	२६
नानाज्ञानानि नेशस्य	८२
नाक्षलिंगविभिन्नायाः	११३
नाप्रमाणात्मनो स्मृत्वा	२१०
नार्थाज्जन्मोपपद्येत-	२११
नानुमानेन तस्यापि	२६३
नान्यथानुपपन्नत्वं	२७९
नानादिवासनोद्भूत	२८९

श्लोक	पृष्ठ नं.
नान्यथानुपपन्नत्व-	३४१
नाक्रमेणक्रमेणापि	३५४
नास्तिक्यपरिणामो हि	३८२
नापि पूर्ववदादीनां	३८५
नावश्यं निर्णयाकांक्षा	३९४
नापीयं मानसं ज्ञानं	४६१
नानुद्भूतद्वयं तेजो-	५६०
नापेक्षं संभवाद्बाधं	६१९
नानुमानात्ततोर्थानां	६४२
नाकलंकवचो बाधा	६४८
नामासंसृष्टरूपा हि	६६३
नित्यानित्यात्मकः शब्दः	३०५
नित्यानां विप्रकृष्टानां	३३२
निहंति सर्वथैकांतं	२३४
नित्यैकांतेन सा तावत्	२३५
नित्यानित्यात्मकेत्वर्थे	२३५
निश्चितं पक्षधर्मत्वं	२७२
निराकृतनिषेधो हि	२८७
निषेधहेतुरेवैक-	३४४
निश्चितानिश्चितात्मत्व-	३५४
निर्वृतेः कारणं व्याप्तं	३६२
निषेधेऽनुपलब्धिःस्यात्	३७६
निमित्तं कारकं यस्य	४१९
निःशेषं सात्मकंजीव	२९८
निःशेषवर्तमानार्थो	४२२
निःशेषपुद्गलौद्गत्य	४७६
निर्विकल्पकया दृष्ट्या	४५७
निष्क्रांतो निःसृतः कात्स्न्यात्	४७६
निसृतोक्तमथैवं स्यात्	५०१

श्लोक	पृष्ठ नं.
निपनार्थमिदं सूत्रं	५१६
निरंशोवयवी शैलो	५६५
नित्यस्य व्यापिनो व्यक्तिः	६१३
नीलसंवेदनस्यार्थे	२३६
नीलदर्शनतः पीत-	२८९
नेश्वरस्याक्षजं ज्ञानं	१९४
नेदं नैरात्मकं जीव-	२३२
नेहानिंद्रियजैवाक्ष-	४६०
नेत्याद्याह निषेधार्थ–	५२८
नैतत्साधु प्रमाणस्य	१२५
नैक द्रव्यात्मतत्वेन	३७०
नोष्णवीर्यत्वतस्तस्य	५६३
नोपदेशमपेक्षेत-	६५४
[प]	
परचित्तागतेष्वर्थे-	२०
परानुरोधमात्रेण	१२७
परलोक प्रसिध्यर्थं	११६
परास्युपगमः केन	१२८
परतोपि प्रमाणत्वे	१२८
परार्थानुमिती तस्य	१३८
पससहतयाख्यातं	१५६
परोक्षमिति निर्देशो	१६३
परापरानुमानानां	२०९
पल्वलोदकनैर्मल्यं	२९४
पर्णकोयं स्वसद्धेतु-	२९४
परिणामिनमात्मानं	३०३
पक्षधर्मत्वरूपं स्यात्	३१२
परस्पराविनाभावाद्	३५२
पक्षधर्मस्तदंशेन	३७५

श्लोक	पृष्ठ नं.
पक्षधर्मात्यये युक्ताः	३७५
परिणामनिवृत्तौ हि	३८२
पक्षाभासः स्ववाग्बाधः	३९०
परार्थेष्वनुमानेषु	३९३
परप्रसिद्धितस्तेषां	३९९
पक्षाव्यापकताहेतोः	५३६
परेष्व्यास्तीति चेत्तस्याः	५५६
परोक्षाविष्कृतेस्तस्य	६०२
परागमे प्रमाणत्वं	६३०
पश्यंत्या तु विना नैतत्	६३७
पारंपर्येण हानादि-	२१५
पारंपर्येण तज्जत्वात्	४४६
पित्रोर्ब्राह्मणता पुत्र-	२९४
पितामहः पिता किं न	३६८
पुनर्विकल्पयन् किंचित्	१८५
पुंसः सत्संप्रयोगे य	१९६
पुरुषार्थोपयोगित्व-	६१५
पूर्वोत्तर विवर्ताक्ष–	९६
पूर्वनिर्णीत दार्ढ्यस्य	२६८
पूर्वं प्रसज्यमानत्वात्	३२३
पूर्ववच्छेषवत्प्रोक्तं	३२३
पूर्वचारि न निःशेषं	३६७
पूर्वपूर्वचरादीनां	३६९
पूर्वोत्तरचराणि स्यु-	३७४
पूर्ववत्कारणात्कार्ये-	३८६
पूर्वशब्दप्रयोगस्य	६०१
पौनःपुन्येन विक्षिप्ता	५२९
पौर्वापर्यविहीनेर्थे	६२२
प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानं	३१
प्रत्यक्षं स्वपरज्ञानं	३७

श्लोक	पृष्ठ नं.
ज्ञानपरिणामरूपात्	४०
प्रमात्राधिष्ठितं तच्चेत्	४४
प्रमेये प्रमितावामि-	४४
प्रमाताभिन्न एवात्मं	४७
प्रमाणं यत्र संवादं	४७
प्रमाणफलसंबंधी	४८
प्रमाणं येन सारूप्यं	९६
प्रमाणव्यवहारस्तु	७२
प्रमाणमविसंवादि	८३
प्रामाण्यं व्यवहारेण	८७
प्रत्यक्षेण गृहीतोपि	९१
प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा चेत्	९५
प्रत्यक्षेणाग्रहीतेर्थे	९५
प्रमाणेन प्रतीतेर्थे	११३
प्रसूतिर्वा सजातीय-	११३
प्रेक्षावता पुनर्ज्ञेया	११८
प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य	१२७
प्रमाणमेकमेवेति	१३२
प्रत्यक्षांतरतो वास्य	१३३
प्रमाणांतरतो ज्ञाने	१३४
प्रत्यक्षमनुमानं च	१३५
प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां	१३७
प्रत्यक्षं मानसं येषां	१४०
प्रत्यक्षनिश्चितव्याप्ति	१४०
प्रत्यक्षादनुमानस्य	१४४
प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं	१५०
प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं	१५५
प्रत्यक्षमेकमेवोक्तं	१५६
प्रमाणे इति वा द्वित्वे	१६३
प्राप्यार्थापेक्षयेष्टं चेत्	१७०
प्रत्यक्षमन्यदित्याह	१७३
प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः	१७४
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं	१७९
प्रवर्तमाना केषांचित्	२०१
प्रत्येकमिति शब्दस्य	२०२
प्रत्यक्ष मर्थवन्न स्यात्	२११
प्रत्यक्षं मानसं ज्ञानं	२१४
प्रमाणत्वाद्यथालिंगि-	२१४
प्रत्यक्षवत्स्मृतेः साक्षात्	२१५
प्रत्यभिज्ञाय च स्वार्थं	२१९
प्रत्यक्ष विषये तावत्	२२४
प्राप्य स्वलक्षणे वृत्तिः	२२५
प्रत्यभिज्ञानुमानत्वे	२२६
प्रत्यक्षं बाधकं तावत	२२९
प्रत्यभिज्ञांतरादाद्य-	२३७
प्रत्यक्षांतरतः सिद्धात्	२२७
प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां	२५६
प्रमांतरागृहीतार्थ--	२९६
प्रत्यक्षानुपलंभादेः	२९६
प्रमाणविषयस्यायं	२६६
प्रमाणविषये शुद्धिः	२६६
प्रतिषेधे विरुद्धोप-	३१९
प्रत्यासत्तेरभावाच्चेत्	३७१
प्राणादयो न संत्येव	३८०
प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः	३९०
प्रमाणबाधितत्वेन	३०१
प्रतिबाधपि तस्यैतत्	३९२
प्रतिपाद्यस्ततस्त्रेधा	३९६

श्लोक	पृष्ठ नं.
प्रत्यक्षेणाप्रसिद्धत्वात्	३९८
प्रसंगसाधनं वेच्छेत्	३९९
प्रत्यासत्तिविशेषस्य	४५९
प्रत्यक्षत्वेन वैशद्य--	४६२
प्रत्यक्षं मानसं स्वार्थ--	४६४
प्रत्यक्षाणि बहून्येव	४८१
प्राप्यकारीद्रियैर्युक्तो	४९९
प्राप्यकारीद्रियैश्चार्थे	५२८
प्राप्तस्यांतरितार्थेन	५४९
प्रत्यक्षेणाप्रबाधेन	५५०
प्रत्यक्षेणानुमानेन	५७२
प्राप्ता हरीतकी शक्ता	५७६
प्रत्यक्षबाधनं तावत्	६१०
प्रसिद्धायां पुनस्तस्यां	६१४
प्रत्यक्षादिवदित्येतत्	६२८
प्रकाशितोपमा कैश्चित्	६५३
प्रमाणांतरतायां तु	६५३
प्रत्यक्षं ग्रादिविज्ञानं	६५३
प्रोक्तभेदप्रभेदं तत्	६३१
फलत्वेन फलज्ञाने	३७
[ब]	
बह्वाद्यवग्रहादीनां	४७४
बहोः संख्याविशेषस्य	४७४
बहुज्ञानसमभ्यर्च्य	४७८
बहुभिर्वेदनैरन्य--	४८२
बह्वर्थविषयो न स्यात्	४८३
बहुत्वेन विशिष्टेषु	४८४
बह्वाद्यवग्रहादीदं	४९५
बही बहुविधे चार्थे	४९७

श्लोक	पृष्ठ नं.
बहुकर्तृकता सिद्धेः	६१६
बाधवर्जिततात्पेषा	९८
बाधकोदयतः पूर्वं	९८
बाधकाभावविज्ञानात्	९९
बाधकाभावबोधस्य	९९
बालकोहं य एवासं	२१९
बाह्यं चक्षुर्यदा तावत्	५३१
ब्रह्माध्येता परेषां वा	६२०
ब्रह्मणो न व्यवस्थान	६४२
बुद्धौ तिर्यगवस्थानात्	१६२
बुद्धिर्मतेः प्रकारः स्यात्	२०१
[भ]	
भावाभावात्मको नार्थः	२८९
भावाभावेक्षणं सिद्धं	२९०
भावस्य प्रत्यभिज्ञानं	६२२
भावाद्येकांतवाचानां	६३०
भाववाग्व्यक्तिरूपात्र	६४६
भ्रांतेर्बीजाविनाभावात्	६४४
भिन्नावेतौ न तु स्वार्थ-	३४७
भिन्नाभिन्नात्मकत्वे तु	६११
भेदाभेदविकल्पाभ्यां	१४०
[म]	
मत्यावरणविच्छेद	३
मत्यादीनां निरुक्तश्चैव	५
मतिसंपूर्वतः साह-	६
मत्यादीन्येव संज्ञानं	१५
मतिमात्रग्रहादत्र	१५
मणिप्रभा मणिज्ञाने	१६६
मणिप्रदीपप्रभयोः	१६८

श्लोक	पृष्ठ नं.
मत्यादिष्ववबोधेषु	१९८
मतिरेव स्मृतिः संज्ञा-	१९९
मनसा जन्यमानत्वात्	२१३
मलावृतमणेर्व्यक्ति	२२३
मयि नास्ति मतिज्ञानं	३७९
मतिज्ञानविशेषाणां	४११
मतिज्ञानस्य सामर्थ्यात्	४१७
मतिज्ञानस्य निर्णीत–	४१६
मनसोर्युगपद्वृत्तिः	४५७
मनसोप्रत्यकारित्वं	५३७
मनसोणुत्वतश्चक्षु-	५६४
महीयसो महीध्रस्य	५६४
मनोऽनधिष्ठिताश्चक्षू–	६६८
मनोवद्विप्रकृष्टार्थ-	५६९
मतिसामान्यनिर्देशात्	६०५
मतिपूर्वं ततो ज्ञेयम्	६०४
मध्यमा तदभावे क	६३८
मानसस्मरणस्याक्ष	४६२
माथेयं बत दुःपारा	६४४
मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न	६५
मुख्यं प्रामाण्यमध्यक्षे	९१
मुख्या ज्ञानात्मकाभेद–	६०८
[य]	
यन्मनःपर्ययावार–	५
यथादिसूत्रे ज्ञानस्य	९
यथैकस्य विरुध्येत–	८२
यच्चार्थवेदने बाधा–	१००
यदि कारणदोषस्य	१०१
यथार्थबोधकत्वेन	१०३

श्लोक	पृष्ठ नं.
यद्यथार्थान्यथाभावा-	१०४
यथात्र जातमात्रस्य	१०५
यथा श्रद्धाः स्वतस्तत्व	१०६
यथा वक्तृगुणैर्दोषः	१०७
यथा च वक्त्रभावेन	१०७
यथा स्वातंत्र्यमभ्यस्त-	१२८
यत्राक्षाणि प्रवर्तते	१४०
यथैवास्तित्वनास्तित्वे	२८७
यत्प्रत्यक्षपरामर्शि–	१४३
यत्रेंद्रियमनोध्यक्षं	१४४
यथा तथा यथार्थत्वे	१६८
यथावभासतो कल्पात्	१८७
यत्र प्रवर्तते ज्ञानं	२२९
यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं	१३०
यथा संशयितार्थेषु	२६६
यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तं हि	२६८
यदि लोकानुरोधेन	२७७
यत्रैव जनयेदेनां	२९१
यस्य वैधुर्यदृष्टांता–	३२४
यच्चाभूतमभूतस्य	३४१
यथा चानुपलंभेन	३४४
यस्मादनुपलंभोत्र	३४७
यत्स्वकार्याविनाभावि	३९१
यस्यार्थस्य स्वभावोप–	३९३
यावान् कश्चिन्निषेधोत्र	३९६
यथानात्मा विभुः काये	३९८
यतो निश्शेषमूर्तार्थ-	३९९
यथैव हि पयोरूपं	३७१
यथा ह्युक्तो भवेत्पक्षः	३९१

श्लोक	पृष्ठ नं.
यथाऽप्रवर्तमानस्य	३९५
यतोभयं तदेवेषां	४०१
यथा नीलं तथा चित्रं	४८८
यथा नवशरावादौ	५२९
यथायस्कांतपाषाणः	९२९
यथासुखं निरीक्षंते	९९१
यद्यनुद्भूतरूपास्ते	९९२
यथैकस्य प्रदीपस्य	५५५
यथा कस्तूरिकाद्रव्ये	९७९
यथा कस्तूरिकाद्यर्थे	१७१
यथा गंधाणवः केचित्	९८२
यदपेक्ष्य वचस्तेषां	६३२
यावच्च साधनादर्थः	३२०
युक्त्या यन्न घटामेति	८९
युगादौ प्रथमस्तद्वत्	६१८
ये चार्वाक् परभागाद्या-	३७२
ये नाशक्यक्रियत्वस्य	६१७
येषामेकांततो ज्ञानं	७२
येपि चात्ममनोऽक्षार्थ-	१९४
येयं संबधितार्थानां	२४९
यैव बुद्धेः स्वयं वित्तिः	७६
योग्यतां कांचिदासाद्य	५३
योगिप्रत्यक्षतो व्याप्ति–	१३८
योगिनोपि प्रति व्यर्थः	१३८
योगिप्रत्यक्षमप्यक्ष–	१४६
योगजाज्ज्ञायते यत्तु	१९४
योग्यताख्यश्च संबंधः	२८४
यो विरुद्धोत्र साध्येन	३२५
योगिज्ञानवदिष्टं तत्	४९५
यो व्यक्तो द्रव्यपर्याय	५०९
[र]	
रश्मिवल्लोचनं सर्वं	५९३
राज्यादिदायकादृष्ट–	३१२
रूपत्रयस्य सद्भावात्	३१२
रूपाभिव्यंजने चाक्ष्णां	९९९
[ल]	
लक्षणं समये तावान्	१७६
लब्ध्यक्षरस्य विज्ञानं	६४८
लिंगशब्दानपेक्षत्वात्	१५०
लिंगलिंगिधियोरेवं	१६६
लिंगप्रत्यवमर्शेण	२२६
लिंगज्ञानाद्विना नास्ति	२५६
लिंगे प्रत्यक्षतः सिद्धे	३५६
लिंगादिवचनश्रोत्र-	६०३
लैंगिकादि–विकल्पस्य	४५८
लौकिकी कल्पनापोढा-	१९२
लौकिकस्याप्रबोध्यत्वे	३९६
[व]	
वक्तृत्वादावसार्वज्ञ–	२७३
वक्ष्यमाणं च विज्ञेयं	४१८
वर्णसंस्थादिसामान्यं	४४७
वाक्यभेदाश्रये युक्तं	४२०
वाक्क्रियाकारभेदादे–	२९९
वाक्येषु चेह कुर्वंतः	६२१
वाग्रूपता ततो न स्यात्	६३६
वाग्विज्ञानावृतिच्छेद–	६४७

श्लोक	पृष्ठ नं.
विशुद्धतरतायोगा–	७
विज्ञानस्य परोक्षत्वे	३२
विज्ञानादित्यनध्यक्षात्	३३
विवर्ताभ्यामभेदश्चेत्	९६
विज्ञानकारणे दोष–	१०९
विधूतकल्पनाजालं	१९२
विशिष्टोपयोगस्य	२०५
विशिष्टार्थात्परित्यज्य	२९०
विशेषतोपि संबंध–	२८४
विरोधान्नोभयात्मादि	२८७
विरुद्धकार्यसंसिद्धिः	३६०
विशिष्टकालमासाद्य	३६७
व्यवधानादहेतुत्वे	३६८
व्यंजनावग्रहो नैव	९२८
व्यक्तिर्वर्णस्य संस्कारः	६१२
विधौ तदुपलंभः स्युः	३८७
विशेषनिश्चयोवाय	४४७
विशेषणविशेष्यादि	४९०
विपरीतस्वभावत्वात्	४६८
विच्छेदाभावतः स्पष्ट–	४६८
विजानाति न विज्ञानं	४८१
विशेषविषयत्वं च	५१८
विभज्य स्फटिकादींश्चेत्	५३८
विनाशानंतरोत्पत्तौ	५४३
विकीर्णानेकनेत्रांशु	५६७
विशेषाधानमप्यस्य	६१२
विशेषणतया हेतोः	६१७
विरुद्धो हेतुरित्येवं	६२३

श्लोक	पृष्ठ नं.
विवर्तेनार्थभावेन	६४४
वेत्ति सा प्रत्यभिज्ञेति	६२२
वेदस्य प्रथमोध्येता	६२३
वेदवाक्येषु दृश्यानां	६२४
वेदस्यापि पयोदादि	६२८
वैकल्यप्रतिबंधाभ्यां	३४९
वैखरी मध्यमां वाचं	६३७
व्यापकार्थविरुद्धोप–	३५७
व्यापकद्विष्टकार्योप-	३५८
व्याप्तं तेनं विरोधीदं	३५८
व्याप्तिकाले मतः साध्य-	४०३
व्याप्तिः साध्येन निर्णीता	४०३
व्यक्तिजात्याश्रितत्वेन	४७५
व्यापिन्या सूक्ष्मया वाचा	६३८
व्याप्यव्यापकभावे हि	३९९

[श]

शब्दं श्रुत्वा तदार्थानां	२८
शक्तिरिंद्रियमित्येतत्	५३
शब्दलिंगाक्षसामग्री	१४६
शक्यं साधयितुं साध्यं	३८९
शब्दक्षणक्षयैकांतः	३९०
शक्तिरूपमदृश्यं चेत्	५३२
शक्तिः शक्तिमतोन्यत्र	५३३
शब्दात्मनो हि मंत्रस्य	५८०
शब्दज्ञानस्य सर्वेपि	६०९
शब्दात्मकं पुनर्येषां	६१०
शब्दादर्थांतरं व्यक्तिः	६११
शब्दव्यक्तेरभिन्नैक-	६११

श्लोक	पृष्ठ नं.
शक्यते तज्जसंवित्ते:	६२६
शद्धज्ञानवदाशंका-	६२६
शद्धानुयोजनादेव	६३२
शद्धानुयोजनादेव	६४७
शद्धानुयोजनात्वेषा	६६२
शास्त्रेण क्रियतां तेषां	८७
शाद्धस्य निश्चयोऽर्थस्य	१९१
शेमुषीपूर्वतासिद्धि	६१४
शैलचंद्रमसोश्चापि	५६६
श्रुतावरणविश्लेष	३
श्रुतस्याज्ञानतामिच्छं-	१६
श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे-	५९८
श्रुत्वा शद्धं यथा तस्मात्	६०५
श्रुतज्ञानावृतिच्छेद-	६०६
श्रोत्रस्याद्येन शद्धेन	५१
श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षं	१९५
श्रोत्रग्राह्यात्र पर्याय-	६४६

[स]

समतः पर्वयो ज्ञेयो	५
स्वाभिधानविशेषस्य	१९०
सर्वस्तोकविशुद्धित्वा–	७
संज्ञानमेव तानीति	१५
सर्वज्ञानमनध्यक्षं	३०
संयोगादि पुनर्येन	५०
सतींद्रियार्थयोस्तावत्	५०
संयुक्तसमवायश्च	५१
संयुक्तसमवेतार्थ	५१
सन्निकर्षे यथा सत्य–	६०
सर्वेषामपि विज्ञानं	७९
संप्रत्ययो यथा यत्र	१००
सर्वस्यापि स्वतोऽप्यक्ष-	१३४
संबंधोतींद्रियार्थेषु	१४०
सम्यगित्यधिकाराच्च	१७४
संहृत्य सर्वतश्चित्तं	१८४
संकेतस्मरणोपाया-	१८८
सर्वथा निर्विकल्पत्वे	१९१
[illegible]विचारा हि	१९२
समारोपव्यवच्छेदः	२०८
संवादो बाधवैधुर्या–	२२९
संबंधं व्याप्तितोर्थानां	२४८
संबंधो वस्तु सन्नर्थ–	२४८
समारोपव्यवच्छेदात्	२५८
संवादको प्रसिद्धार्थ-	२५८
संशयः साधकः प्राप्तः	२६६
स चेत्संशयजातीयः	२६६
सम्यक्तर्कः प्रमाणं स्यात्	२६७
सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वं	२७४
संयोगिना विना वन्हिः	२८१
संयोगादिविशिष्टः स्यात्	२८२
सत्यक्षसत्वशून्यस्य	२९८
सर्वकार्यासमर्थस्य	२९९
सर्वहेतुविशेषाणां	३४२
संक्षेपादुपलंभश्च	३४२
समर्थं कारणं तेन	३४९
समग्रकारणं कार्य–	३५०
समारोपव्यवच्छेदः	३९३
सहभावि–गुणात्मत्व–	३९४

श्लोक	पृष्ठ नं.
सहचारिनिषेधेन	३६३
सहचारिनिमित्तेन	३६५
सहचार्युपलब्धिः स्यात्	३६९
समानकारणत्वं तु	३७०
सर्वमुत्तरचारीह	३७३
सहचारिफलादृष्टिः	३८२
सहचारिनिमित्तस्य	३८३
सहभूव्यापकादृष्टिः	३८३
सहभूव्यापिहेत्वाद्य–	३८३
संशयो ह्यनुमानेन	३९४
समारोपे तु पक्षत्वं	३९७
सत्तायां हि प्रसिद्धायां	४०२
सत्यं स्वार्थानुमानं तु	४०५
समानाधिकरण्यं तु	४३८
सर्वेषां जीवभावानां	४४८
संवादकत्वतो मानं	४६३
सहभावी विकल्पोपि	४५७
सहभावोपि गोदृष्टि	४६९
संतानैक्ये तयोरक्ष–	४६३
सह स्मृत्यक्षविज्ञाने	४६३
संशयो वा विपर्यासः	४६७
समानसन्निवेशस्य	५४१
संतोपि रश्मयो नेत्रे	५६४
सहाक्षपंचकस्यैतत्	९६७
समं चादृष्टवैचित्र्यं	९७१
समं शब्दे समाधानं	९८२
सम्यगित्यधिकारात्तु	६०२
सर्वे स्वसंप्रदायस्य–	६१६
साध्यार्थेनाविरुद्धस्य	३६६

श्लोक	पृष्ठ नं.
साध्यसाधनता च स्यात्	३७४
साभीष्टा योग्यतास्माकं	४५९
सामर्थ्यं पारदीयस्य	९४०
साध्यते चेद्धवेदर्थ–	६१४
साधीयसीति यो वक्ति	६२६
सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं	२३७
सामान्याकारता स्पष्टा	२४२
साधनात्साध्यविज्ञान-	२६९
साक्षादिमानयं गोत्वात्	२८०
साध्यः पक्षस्तु नः सिद्धः	२९७
साध्ये सत्येव सद्भावः	३०६
साध्याभावे विपक्षे तु	३०८
साध्याभावे त्वभावस्य	३१६
साध्यादन्योपलब्धिस्तु	३५५
स्वंतत्वाल्पाक्षरत्वाभ्यां	६
सानुमानोपमाना च	१६
साहचर्यप्रसिद्धं च	२२
सारूप्यकल्पने तत्र	६२
सिद्धे हि केवलज्ञाने	२०
सिद्धः साध्याविनाभावो	४१०
सिद्धे जात्यंतरे चित्रे	४९३
स्यात्सूत्रितसुविनाशित्व	४९८
स्पष्टस्याप्यवबोधस्य	१६४
स्पर्शनेन च निर्भेद	९४३
स्पृष्टं शब्दं शृणोत्यक्ष–	९६९
स्पर्शनेंद्रियमात्रोत्थ	६४८
स्मृत्यादि वेदमस्यातः	९१
सिद्धं नापूर्णरूपेण	६१९
स्मृत्यादि श्रुतपर्यंत-	१७१

श्लोक	पृष्ठ नं.
सुप्रसिद्धश्च विक्षितः	३९७
सुखादिना न चात्रास्ति	४४८
सूत्रकारा इति ज्ञेयं	१७४
स्मृतेः प्रमाणतापाये	२०३
सुवर्णघटवत्तत्स्यात्	५६०
स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य	२०६
सूक्ष्मे महति च प्राप्तेः	५७०
सूर्यांशवो नयंत्यमः	५७८
स्मृतिमूलाभिलाषादेः	२०६
स्मृतिर्न लैंगिकं लिंग–	२०९
स्मृतिस्तदिति विज्ञान	२११
स्मृतिः किन्नानुभूतेषु	२२०
स्मरणं संविदात्मत्व-	४६२
स्मरणाक्षविदोर्भिन्नौ	४६३
स्मर्तारः कथमेवं स्युः	६२०
स्याद्वादो न विरुद्धोऽतः	१२९
स्यात्साधकतमत्वेन	३९७
स्याद्वादिनो पुनर्ज्ञाना	४६३
स्याद्वादिनां पुनर्वाचो	६४६
स्यात्प्रमाता प्रमाणं स्यात्	४९
स्वल्पज्ञानं समारभ्य	२०
स्वसंवेद्यांतरादन्य–	३४
स्वसंवित्तिक्रिया न स्यात्	३४
स्वरूपसंख्ययो केचित्	४२
स्वरूपे सर्वविज्ञान–	७३
स्वसंविन्मात्रतोऽपक्षा-	७६
स्वव्यापारसमासक्तो	८०
स्वतः सर्वप्रमाणान्त	१०२
स्वतस्तद्बलतो ज्ञानं	११४

श्लोक	पृष्ठ नं.
स्वतः प्रमाणता यस्य	१२४
स्वेष्टनिष्ठार्थयोर्ज्ञातुः	१२६
स्वकारणवशादेवा	२००
स्वस्यैव चेत्स्वतः सिद्धं	१३३
स्वतो हि व्यवसायात्म-	१८९
स्वतश्चेत्तादृशाकारा	२६२
स्वसंवेदनतः सिद्धेः	२६३
स्वकार्ये भिन्नरूपैक-	३९०
स्वरूपलाभहेतोश्चेत्	३६९
स्वकारणात्तथाग्निश्चेत्	३७२
स्वयं माध्यस्थ्यमालंब्य	३९९
स्वसंवेदनमध्यक्षं	४०१
स्वार्थवित्तौ तदेवास्तु	३९
स्वजन्यज्ञानसंवेद्यो	४२२
स्वात्मास्वावृतिविच्छेद-	५३
स्वसंविदः प्रमाणत्वं	६१
स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं	६६
स्वतो बह्वर्थनिर्भासि	४८३
स्वार्थनिश्चायकत्वेन	१०१
स्वतः संवेदनात्सिद्धिः	६४३
स्वार्थयोरपि यस्य स्यात्	१२९
स्वार्थव्यवसितिर्नान्या	१७९
स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात्	१८२
स्वार्थप्रकाशकत्वेन	२०७
स्वागमोक्तोपि किं न स्यात्	३९१
स्वार्थजन्यमिदं ज्ञानं	४२३
स्वादृष्टवशतः पुंसां	६१३
स्वाभिप्रेताभिलापस्य	६१४
सोऽयं कूट इति प्राच्यौ–	६६२
सैवास्पष्टत्वहेतुःस्यात्	५२६

श्लोक	पृष्ठ नं.
[ह]	
हतं मेचकविज्ञानं	८१
हंतासाधारणं सिद्धं	३१३
हेतुदोषविहीनत्व-	१०१
हेतोरन्वयवैधुर्ये	३०५
हेत्वाभासेपि तद्भावात्	११२
हेतुना यः क्रमेण	६५०
हेतोरनन्वयस्यापि	४०२
हेतोर्दिने निशानाथ	५५३
[क्ष]	
क्षणक्षयादिबोधेऽपि	९०
क्षणिकेषु विभिन्नेषु	९०

श्लोक	पृष्ठ नं.
क्षयोपशमतस्तच्च	२१८
क्षणप्रध्वंसिनः संतः	२३१
क्षणिकेपि विरुद्धे ते	२३३
क्षयोपशमसंज्ञेयं	२६३
क्षणिकत्वेन न व्याप्तं	३००
क्षणस्थायितयार्थस्य	४९८
क्षयोपशमभेदस्य	९१७
क्षायोपशमिकज्ञाना-	५
क्षितिद्रव्येण संयोगो	५०
क्षिप्रस्याचिरकालस्य	४७६

—×—